हिन्दी वैष्णव भक्तिकाव्य : काव्यादर्श तथा काव्य सिद्धान्त

(सन् १४०० ई० से १६०० ई० तक)

इलाहाबाद विश्वविद्यालय से सन् १९६५ मे डी० फिल० की उपाधि के लिए

स्वीकृत शोध प्रबन्ध

योगेन्द्र प्रताप सिंह,
एम० ए०, डी० फिल०,
प्राध्यापक, हिन्दी विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय

साहित्य भवन प्रा० लिमिटेड
इलाहाबाद-३

आदरणीय डॉ० ब्रजेश्वर वर्मा को सादर —

योगेन्द्र सिंह

आत्म-कथ्य

हिन्दी वैष्णव भक्तिकाव्य पर किया गया अधिकाश कार्य निगमात्मक (Deductive) पद्धति का अनुसरण करता है। आगमात्मक पद्धति से किए गए कार्यों की सख्या कम है। निगमात्मक पद्धति से शोध प्रक्रिया मे उत्पन्न होने वाला सबसे बडा दोष है, विषय की अस्पष्टता एव उसके अनेक पक्षो के छूट जाने का भय। फिर, जहाँ काव्य को मूलाधार मानकर उसमे निहित सिद्धान्त नियोजन का प्रश्न है, उस स्थिति मे आगमात्मक पद्धति ही एकमात्र आधार है। कला विषयक शोध-प्रक्रिया मे आगमात्मक पद्धति के समुचित प्रयोग का प्रश्न अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। यह सत्य है कि, इस पद्धति के आधार पर सम्पूर्ण कृतित्व मे निहित लक्ष्य का अन्वेषण हो जाता है, किन्तु कला विषयक सिद्धान्तो के अन्वेषण का कार्य आगमात्मक पद्धति से उपलब्ध ऑकडो को ज्यो का-त्यो रख देना मात्र नहीं है। उसके लिए, इससे भी, महत्त्वपूर्ण कार्य पुनर्मूल्याकन का है। कलाविषयक साख्यिकी के पुनर्मूल्याकन के बिना शोधकर्म अधूरा रहता है। इस शोध कार्य मे सम्पूर्णत इसी पद्धति को अपनाने का प्रयास किया गया है।

किन्तु, क्या कला विषयक शोध प्रबन्धो मे निगमात्मक पद्धति को भूला जा सकता है, मेरा विचार है कि यह असम्भव है। आगमात्मक पद्धति से प्राप्त तथ्यो के पुनर्मूल्याकन के लिए ऐतिहासिक विवेचन एव सैद्धान्तिक विश्लेषण को आधार बनाया जाता है। इस रूप मे निगमात्मक पद्धति के सहयोग के बिना कार्य हो सकना असम्भव है।

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध मे मेरी अध्ययन दृष्टि इसी पर केन्द्रित रही है कि आगमात्मक पद्धति से भक्तिकाव्य मे कौन-कौन सी शास्त्रीय तथा सैद्धान्तिक समस्याएँ उठती है, उनका ऐतिहासिक परिवेश क्या है तथा उनका पुनर्मूल्याकन एव सिद्धान्त-नियोजन किस प्रकार किया जाए? भक्तिकाव्य के विषय मे अनेक प्रकार के भ्रम है। कोई इसे मध्यकालीन पौराणिक प्रवृत्ति का प्रतिफलन स्वीकार करता है, कोई दक्षिण से आई भक्ति की अन्तिम कडी मात्र, किन्तु हिन्दी का भक्तिकाव्य दोनो का प्रतिफल मात्र नही है। इसकी प्रशस्त परम्परा सस्कृत काव्य मे पहले से चली आ रही है। वैदिक काल की समाप्ति के बाद लौकिक परम्परा से सम्बन्धित काव्य का आरम्भ सस्कृत

साहित्य के अन्तर्गत माना जाता है। लौकिक काव्य की यह परम्परा हिन्दी के रीतिकाल तक अनवरत गति से चली आती है। दूसरी ओर, लौकिक साहित्य के पृथक् भी उपदेशात्मक एव स्तोत्रमूलक शान्तपरक भाव के काव्य प्रणीत होते रहे है। काव्य के ये रूप धार्मिक परिवेश से सम्बद्ध थे। जैन, बौद्ध, शैव एव वैष्णव सम्प्रदायो मे इसकी विशाल परम्परा वर्तमान है। इस परम्परा का स्पष्ट सूत्र ईसा की चौथी शती से प्राप्त होने लगता है। उत्तर-मध्यकाल मे वैष्णव धर्म की प्रमुखता के फलस्वरूप प्रणीत भक्तिविषयक अनेक रचनाएँ मिलती है। पौराणिक एव साम्प्रदायिक आग्रह से इस परम्परा को और भी अधिक बल मिला है। इसी परम्परा का अन्तिम अवशेष हिन्दी का वैष्णव भक्तिकाव्य भी है।

शोध प्रबन्ध मे स्थल-स्थल पर यह सकेत मिलेगा कि भक्त कवि सस्कृत की बँधी बँधाई काव्यशास्त्रीय मनोवृत्तियो के समर्थक नहीं थे। सस्कृत के आरम्भिक आचार्य इन रचनाओ को उदात्त कलात्मक काव्य की सज्ञा न देकर 'अकाव्य' मात्र मानते थे। बाद मे, सस्कृत के अनेक काव्यशास्त्रियो ने इन्हीं भक्तकवियो की मनोवृत्ति का पालन भी किया, फिर भी उन्होने भक्तिकाव्य के विवेचन के लिए काव्यशास्त्रीय सैद्धान्तिक ग्रन्थ-रचना नहीं की। वैष्णव भक्तिकाव्य के विकास-काल मे भक्त आचार्यों ने भक्ति काव्य के मानक ग्रन्थो की रचना का प्रयास किया, जिनमे रूपगोस्वामी, मधुसूदन सरस्वती, कवि कर्णपूर गोस्वामी, जीवगोस्वामी, आचार्यवल्लभ, वोपदेव आदि का नामोल्लेख किया जा सकता है। किन्तु इससे भक्तिकाव्य की वे सम्पूर्ण समस्याएँ हल न हो सकी, जिनकी अभिव्यक्ति इसमे हुई है।

संस्कृत काव्यशास्त्रीय परम्परा मे स्वीकृत शैलीवादी सिद्धान्त किसी भी शब्दार्थ रूप काव्य पर आरोपित किए जा सकते है। अलकार, रीति, ध्वनि एव वक्रोक्ति शैली के गुण हैं। ये अभिव्यक्ति के माध्यम है, इष्ट नही। इनसे काव्य-सुरुचि जाग्रत हो सकती है, लक्ष्य मे उदात्तता नही आ सकती। भक्तिकाव्य लक्ष्य के उदात्तीकरण की ओर सचेष्ट है। उसे शैली सौन्दर्य की अधिक अपेक्षा नही है। यदि भली वस्तु भद्दे पन से भी व्यक्त हो जाय तो वे सन्तुष्ट हैं। इस प्रकार यह स्वत स्पष्ट है, कि सस्कृत के शैलीवादी काव्यशास्त्रीय सिद्धान्त भक्तिकाव्य पर आरोपित नहीं किए जा सकते। सस्कृत काव्य के अध्ययन के स दर्भ मे किसी पृथक्धर्मा सिद्धान्त का नियोजन अपेक्षित है। इसी क्रम मे भक्तिकाव्य की काव्यशास्त्रीय सम्भावनाएँ स्वत. उत्पन्न हो जाती हैं।

लक्ष्य की उदात्तता की ओर पहले ही सकेत किया जा चुका है। सोद्देश्य रचना उपयोगितावादी मूल्य की समर्थक है। किन्तु उपयोगितावाद आलोचना-क्षेत्र मे जिस अर्थ मे रूढ हो चुका है, भक्तिकाव्य मे वैसी उपयोगिता दृष्टि नहीं है। भक्तिकाव्य मे निहित उपयोगिता के स्वरूप को शुक्ल जी की शब्दावली मे लोकमंगलवाद कहा जाता रहा है। यदि भक्तिकाव्य की प्रकृति के आधार पर उसका नामकरण किया जाय तो, वह नैतिक हितवाद के नाम से पुकारा जा सकता। भारतीय काव्य मे हितवाद या मगलवाद की परम्परा आज की नही है। भारतीय साहित्य हितवाद का पर्याय है। इसके विकास की कडी वैदिक साहित्य से लेकर सम्पूर्ण मध्यकाल तक वर्तमान रही है। साहित्य निर्माण मे इस हितवाद के सैद्धान्तिक निरूपण एव पुनर्मूल्याकन की अपेक्षा है। इसके बिना भक्तिकाव्य का अध्ययन अधूरा समझा जावेगा। भक्ति, धर्म की रसात्मक अनुभूति न होकर ब्रह्म के नाम, रूप, लीला धाम की रसात्मक अनुभूति है। ईश्वर विषयक इसी रसात्मक अनुभूति को भक्ति एव इसकी अभिव्यक्ति को भक्तिकाव्य की सज्ञा दी जाती है। भक्तिकाव्य के अध्ययन के स दर्भ मे इस रसात्मक अनुभूति का अध्ययन करना अति आवश्यक है। इसी दृष्टिकोण को सामने रखकर रूपगोस्वामी आदि आचार्यों ने भक्तिकाव्य के मानक ग्रन्थो के निर्माण के प्रति सचेष्टता दिखलाई थी, फलत उनके सिद्धान्तो का पुनर्मूल्याकन एव भक्तिकाव्य मे निहित रस विषयक मान्यताओ का परस्पर सम्बन्ध-निरूपण इस अध्ययन का अभीष्ट है। इस शीर्षक से सम्बद्ध अध्याय के अन्तर्गत इस परम्परा पर तो विचार किया ही गया है, साथ ही, यह भी दिखाने का प्रयत्न किया गया है, कि भक्ति रस क्या उत्तर मध्यकाल के आचार्यों की कल्पना मात्र है? यदि नही, तो उसकी परम्परा के कौन-कौन सकेत उपलब्ध है। इस प्रकार भक्ति-रस की उत्पत्ति, विकास, भक्तिकाव्य मे उसकी अभिव्यक्ति का स्वरूप आदि समस्याओ पर विचार करना इस अध्याय का प्रयोजन रहा है।

काव्य मे अभिव्यक्त वस्तु के रूप, गुण, चेष्टा, स्वरूप एव तज्जन्य प्रियता का अध्ययन भारतीय वाङ्मय मे रसशास्त्र के अन्तर्गत किया है। पाश्चात्य देशो मे यही समस्याएँ सौन्दर्यशास्त्र के अन्तर्गत ली गई हैं। सौन्दर्य-शास्त्र रसशास्त्र से अधिक व्यापक है। रसशास्त्र मे सौन्दर्यशास्त्रीय समस्याओं का अध्ययन आलम्बन, उद्दीपन अनुभाव एवं स चारी की निश्चित परिधि से बँधकर करते हैं किन्तु, सौन्दर्यशास्त्र मे उनके अध्ययन के लिए स्वच्छन्द-सीमा वर्तमान है। भक्तिकाव्य मे रसात्मक अनुभूति का परिवेश अत्यधिक

व्यापक है और उसके अध्ययन के लिए मात्र रसशास्त्र ही उपयोगी नही है। भक्तिकाव्य मे प्राप्त सौन्दर्यमूल्य से सम्बन्धित भावो की सख्या ५ है— उदात्त, प्रियता, शृगार, प्रेम, प्रेम का आध्यात्मीकरण तथा आनन्द। इन मूल्यो का अध्ययन रसशास्त्र के आधार पर नही किया जा सकता। फलत इसका अध्ययन सौन्दर्यशास्त्रीय दृष्टिकोण से किया गया है।

हिन्दी वैष्णव भक्तिकाव्य मे ये ही तीन शास्त्रीय सिद्धान्त निहित हैं—रसवाद, उपयोगितावाद तथा सौन्दर्यमूल्य। इन तीनो के अतिरिक्त सस्कृत की काव्यशास्त्रीय कसौटी पर भी भक्तिकाव्य को कसने का प्रयत्न किया गया है। काव्यशास्त्रीय अध्ययन का प्रयोजन उसकी परम्परामूलक दृष्टि स्पष्ट करना है। सस्कृत के काव्यशास्त्रीय सिद्धान्त शिल्प की दृष्टि से इन पर चरितार्थ हो जाते है, किन्तु सम्पूर्णत· भक्तिकाव्य के अध्ययन के वे आधार नही हो सकते।

भक्तिकाव्य के सदर्भ मे अन्तिम समस्या काव्यरूपो की है। सस्कृत साहित्य शास्त्र मे निर्दिष्ट काव्यरूप सम्बन्धी सिद्धान्त-भक्तिकाव्य पर ज्यो-के-त्यो चरितार्थ नही होते। भक्तिकाव्य अपनी परम्परा के काव्यरूपो को ही स्वीकृति देता है। फलतः सिद्धान्त-नियोजन मे भक्तिकाव्य की प्रकृति एव उसकी वास्तविक परम्परा को ही आधार माना जा सकता है।

प्रथम अध्याय के अन्तर्गत काव्यादर्श की समस्या उठाई गई है। भक्तिकाव्य मे निहित काव्यादर्श पूर्णरूपेण स्पष्ट है। जीवनादर्श से सम्बधित होने के कारण ये काव्यादर्श भक्तिकाव्य की सम्पूर्ण प्रकृति का उद्घाटन करने मे सहायक हैं। ये काव्यादर्श तीन है—भक्ति के आदर्श, काव्य के आदर्श तथा भक्ति एव काव्य के मिश्रित आदर्श। भक्ति एव जीवन इनके काव्य की अभिव्यक्ति से प्रत्यक्ष सम्बद्ध है। फलत मूल्य निर्धारण के सदर्भ मे भक्ति एव जीवन सम्बन्धी मूल्यो को छोडा नही जा सकता है। भक्तिकाव्य मे प्राप्त मूल्य के स्थायित्व की दृष्टि से पाश्चात्य सिद्धान्तकारो से भी तुलना कर दी गई है। भक्तिकाव्य मे निहित काव्यादर्श अपनी परम्परा मे पूर्णरूपेण उदात्तकाव्य की भूमिका नियोजित करने मे समर्थ हैं।

हिन्दी वैष्णव भक्तिकाव्य मे निहित काव्यादर्श तथा काव्यशास्त्रीय सिद्धान्त के अनुशीलन के सदर्भ मे दृष्टिकोण को स्पष्ट कर देना आवश्यक है। समय की दृष्टि से यह विषय १४ वीं शती से लेकर १६

वीं शती तक अध्ययन के लिए स्वीकृत है। इस समय के अन्तर्गत प्रणीत अनेक काव्य अप्रकाशित है, प्राप्त काव्यो की सख्या कम है। परम्परा की दृष्टि से मूल सामग्री को ६ सम्प्रदायो मे विभक्त किया गया है रामानुज, रामोपासक-मधुर, वल्लभ, गौडीय, निम्बार्क एव राधावल्लभ सम्प्रदाय। मध्यकाल के साम्प्रदायिक वैष्णव भक्तिकाव्य का अध्ययन करना ही प्रस्तुत प्रबन्ध का अभीष्ट है। यद्यपि सम्पूर्ण साम्प्रदायिक साहित्य उपलब्ध नही हो सकता है, फिर भी प्राप्त साहित्य अध्ययन के दृष्टि से पर्याप्त रहा है। इनके अभाव मे निष्कर्ष निकालने मे किसी भी प्रकार की कठिनाई का अनुभाव नही करना पडा है। इस सदर्भ मे कीर्तन सग्रह, रागकल्पद्रुम एव निम्बार्क माधुरी से अधिक सहायता मिली है।

अध्ययन के सदर्भ सर्वाधिक कठिनाई 'निहित' शब्द के पालन मे हुई है। भक्त कवि अन्ततया कवि है, आचार्य नही। उन्होने काव्यशास्त्रीय शब्दो का यत्रतत्र संकेत मात्र ही किया है। उनकी काव्यपूर्ण शब्दावली को सैद्धान्तिक गद्य का रूप देना जटिल कार्य है, किन्तु जहाँ भी यह कार्य करना पडा है इस विषय पर ध्यान रखा गया है, कि उनके कथन की स्वाभाविकता न नष्ट होने पाए। द्वितीय अध्याय मे इस प्रकार का प्रयोग अधिक किया गया है। 'निहित' शब्द की पुष्टि रचना की प्रकृति से भी हुई है। कवि कथन एव रचना प्रकृति, दोनो ही इस दिशा मे सहयोगी रहे है।

यहाँ एक शब्द पर और ध्यान दे देना आवश्यक है। वह है काव्य-शास्त्रीय। यह काव्यशास्त्रीय शब्द सस्कृत की काव्यशास्त्रीय दृष्टि का सूचक न होकर सिद्धान्त नियोजन का पर्याय है, फलत यहाँ काव्यशास्त्रीय सिद्धान्त का अर्थ काव्यसिद्धान्त से ही समझा जाना चाहिए।

सन् १९६१, अक्टूबर मे डॉ० व्रजेश्वर वर्मा ने यह कार्य विशेष रुचि के साथ मुझे दिया था, उनकी सुरुचि की सन्तुष्टि इस कार्य से कितनी हो पाई है, मै स्वत. इसे नहीं जानता। मेरे शोध परीक्षक डॉ० धीरेन्द्र वर्मा ने कतिपय महत्त्वपूर्ण सुझाव दिए जिन्हे मैने आशीर्वचन की भाँति स्वीकार किया। डॉ० व्रजेश्वर वर्मा के प्रयाग छोड देने पर श्रद्धेय पण्डित उमाशकर शुक्ल ने अत्यन्त तत्परतापूर्वक मेरा मार्ग निर्देशन किया, किन्तु उनकी आत्मीयता को कृतज्ञता से क्या प्रयोजन! विभाग के वरिष्ठ सहयोगियो मे डॉ० रघुवश, डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी एव डॉ० राजेन्द्र कुमार के सद्भावो का मैं

उपकृत हू । शोध के सहयोग के सन्दर्भ मे कनिष्ठ शील को विस्मृत कर जाऊँ मेरे लिए असम्भव है ।

प्रकाशन की समुचित सुविधा नितान्त आत्मीयतापूर्वक श्री पुरुषोत्तम दास टन्डन (राजा मुनुआँ) ने साहित्य भवन से कराई है । लेखक उनकी व्यवहार-मृदुता एव सहायता के प्रति कृतज्ञ है ।

यदि यह कार्य किसी भी रूप मे हिन्दी के आचार्यों के मानस-विलास का साधन बन सका तो मै अपने श्रम को सार्थक समझूँगा ।

हिन्दी विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद —योगेन्द्र प्रताप सिंह
दीपावली, १६५८

विषय-सूची

अध्याय १

वैष्णव भक्तिकाव्य की पृष्ठभूमि तथा भारतीय काव्यशास्त्र की परम्परा

अध्याय २

हिन्दी वैष्णव भक्तिकाव्य में निहित काव्यादर्शों का सैद्धान्तिक अध्ययन

अध्याय ३

हिन्दी वैष्णव भक्तिकाव्य तथा रस सिद्धान्त

अध्याय ४

भक्तिकाव्य तथा उपयोगितावादी साहित्य सिद्धान्त

अध्याय ५

भक्तिकाव्य तथा सौन्दर्यबोध सिद्धांत

अध्याय ६

हिन्दी वैष्णव भक्तिकाव्य तथा काव्यरूपों का सैद्धान्तिक अध्ययन

अध्याय ७

भक्तिकाव्य का काव्यशास्त्रीय अध्ययन

सकेंत-सूची

अ०	अध्याय
अ० ख०	अध्याय खण्ड
आई० एच० क्यू०	इडियन हिस्टारिकल क्वार्टरली
उज्ज० नी०	उज्जवलनीलमणि
एस० के० डे	सुशील कुमार डे
का० प्र०	काव्य प्रकाश
कृष्ण०	कृष्णदास
चन्द्र०	चन्द्रगोपाल
चतु०	चतुर्भुज दास
चौ०	चौपाई
छ० स०	छन्द सख्या
छा० उ०	छान्दोग्य उपनिषद्
डॉ०	डॉक्टर
द० स्क०	दशम् स्कन्ध
दिस०	दिसम्बर
दो० स०	दोहा संख्या
दो०	दोहा
नाभा०	नाभादास
पं०	पडित
परमा०	परमानन्द दास
परशु०	परशुराम देव
प० स०	पद सख्या
प्र० स्क०	प्रथम स्कन्ध
पृ०	पृष्ठ
बा०	बालकाड
बाल०	बालअली
म० म०	महामहोपाध्याय
माधव०	माधवदास जगन्नाथी
मानस	रामचरितमानस
रा० च० मा०	रामचरितमानस
रो० स०	रोला संख्या
श्लो०	श्लोक
स० या सम्पा०	सम्पादक
स०	संवत्
हरि०	हरिदास

अध्याय १

वैष्णव भक्तिकाव्य की पृष्ठभूमि तथा भारतीय काव्यशास्त्र की परम्परा

हिन्दी वैष्णव भक्तिकाव्य की पृष्ठभूमि

वैष्णव भक्ति को मध्यकालीन धर्मसाधना के नाम से पुकारा जाता है। यह मध्ययुग या मध्यकाल समय-सूचक विभाजन है। अग्रेजी मे इसी के समानान्तर 'मेडिवल एज' शब्द का प्रयोग मिलता है। डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी के अनुसार यह शब्द अग्रेजी के मिडिल एजेज के अनुकरण पर बना लिया गया है।[1] किन्तु यह मध्यकाल समय से कही अधिक उन प्रवृत्तियो का सूचक है, जो इस समय वर्तमान थी। इस प्रकार मध्यकाल का अर्थबोध मध्ययुगीनता या मध्यकालिकता से अधिक स्पष्ट होता है। इसके समय-निर्धारण के विषय मे विद्वानो मे मतभेद कम है। डॉ० द्विवेदी के अनुसार यह युग सन् ४७६ ई० से लेकर १५५३ ई० तक व्याप्त रहा है। प० परशुराम चतुर्वेदी ने इसके समय-निर्धारण की ओर सकेत करते हुए भारत मे इसका आरम्भ पुराण-काल से स्वीकार किया है। इस प्रकार उनके अनुसार यह चौथी शती ई० से लेकर अठारहवी शती तक वर्तमान रहता है।[2] भक्तिकाल पर कार्य करने वाले विदेशी विद्वानो—फर्कुहर, ग्रियर्सन, ग्राउस, कारपेन्टर आदि ने मध्यकाल का आरम्भ चौथी शती के आसपास से ही स्वीकार किया है। सन् १९६१ मे प्रयाग विश्वविद्यालय से प्रस्तुत 'मध्ययुगीन भक्ति साहित्य मे वात्सल्य एव सख्य' शोधप्रबन्ध की शोधिका डॉ० करुणा वर्मा ने लोदीवश से लेकर स० १९०० तक के समय को मध्ययुग के नाम से पुकारा है। उनके अनुसार डॉ० द्विवेदी का मत असगत एव भ्रान्त है। पुनश्च लेखिका ने अपने मन्तव्य पर विशेष जोर देते हुए बताया है — 'हमारे विचार से पाश्चात्य मनोवृत्ति को ध्यान मे न रखकर यदि मध्ययुग का आरम्भ सन्त कबीर से ही किया जाय तो अधिक

---

१ मध्यकालीन धर्मसाधना, डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ० १०, तृतीय सस्करण, १९६२
२ मध्यकालीन मधुर साधना, प० परशुराम चतुर्वेदी, पृ० १७१ तथा १७२

सगत प्रतीत होता है।'[1] लेखिका को हिन्दी साहित्य के मध्यकाल एव भारतीय इतिहास के मध्यकाल की भिन्नता के विषय मे भ्रम है, वस्तुत भारतीय सस्कृति के क्षेत्र मे जिस मध्यकाल का अध्ययन किया जाता है, उसका आरम्भ चौथी शती के आसपास से होता है। हिन्दी का मध्ययुगीन भक्तिकाव्य इस परम्परा का अन्तिम अवशेष है।

ऊपर कहा जा चुका है कि मध्यकाल शब्द समय से अधिक मध्यकालीन प्रवृत्तियो का सूचक है। इस युग मे मनुष्य ज्ञान की अपेक्षा आस्था, विश्वास, आचरण, नैतिक निष्ठा एव भक्ति का अधिक पक्षपाती हो चुका था।[2] इसी युग मे वैष्णव धर्म की उन प्रवृत्तियो का विकास हुआ जो समाज, धर्म, जाति, नैतिकता, दर्शन आदि के रूप मे व्यक्ति के ऊपर थोपी जाने लगी। "इसने अपनी ऐतिहासिक आवश्यकताओ के अनुरूप ही मध्य युग के प्राचीन उपकरणो को लेकर वैष्णव भावना और भक्ति की यह पुनरावृत्ति उपस्थित की तथा युग के सस्कारी प्रयत्नो को नई केन्द्रीयता दी। यह नई वैष्णवता नए देश के लिये नया युगधर्म बन गई।"[3] हिन्दी का मध्ययुगीन वैष्णव भक्ति साहित्य इसी धार्मिक परम्परा की अन्तिम कडी है। इस दृष्टि से हिन्दी का मध्यकालीन वैष्णव भक्ति साहित्य शतियो से विकसित विशाल परपरा की शृखला प्रतीत होता है। यह धार्मिक साहित्य आरम्भ से किन-किन परिवेशो मे विकसित होता हुआ १८ वी शताब्दी तक इस वर्तमान रूप मे आया, इसी का अध्ययन करना यहाँ अपेक्षित है।

हिन्दी वैष्णव भक्तिकाव्य का आन्दोलन मात्र २०० वर्षों का प्रतिफलन ही नही है। इसकी पृष्ठभूमि के रूप मे भारतीय परम्परा की समस्त धार्मिक काव्यधारा वर्तमान है। इसकी परम्परा की सशक्त कडी न देखकर आचार्य रामचन्द्र शुक्ल को एक बार आश्चर्य भी हुआ था कि सूरपूर्व कृष्ण काव्य की कोई प्रशस्त परम्परा नही प्राप्त है, फिर भी एकाएक सूर इतने महान् कवि कैसे हो गए, इसी आश्चर्य का प्रतिफलन डॉ० शिवप्रसाद सिंह का शोधप्रबन्ध 'सूरपूर्व ब्रजभाषा और उसका साहित्य' है। किन्तु इस प्रबन्ध मे भी सूरपूर्व ब्रजभाषा मे कृष्णकाव्य की परम्परा का सम्यक् रूप से स्पष्टीकरण नही किया जा सका है। सूर ही नही, लौकिक भाषा मे प्राप्त तुलसी के पूर्व रामकथाएँ

१. मध्ययुगीन साहित्य में वात्सल्य एव सख्य, डॉ० करुणा वर्मा, पृ० १ से ४ तक प्रयाग विश्वविद्यालय पुस्तकालय, पु० स० ३७७४, १०—९५७

२ वैष्णव फेथ एण्ड मूवमेण्ट, एस० के० डे, भूमिका

३ डॉ० धीरेन्द्र वर्मा विशेषाक, मध्ययुग की वैष्णव सस्कृति, पृ० २४७

एक दर्जन से अधिक नही है। प्राय कहा जाता है कि प्रवृत्ति एव शिल्पकला की दृष्टि से सूर की रामकथा को छोडकर तुलसी अन्य किसी भाषा-कवि से प्रभावित नही होते। वस्तुत ऐसी बात नही है। इनके काव्य की पृष्ठभूमि एव परम्परा इतनी सशक्त रही है कि हिन्दी की कोई भी काव्य-परम्परा इससे टक्कर नही ले सकती।

वैष्णव धर्म का आन्दोलन अपनी परम्परा मे उतना ही प्राचीन ठहरता है, जितना कि वैदिक धार्मिक साहित्य, कारण कि, वैदिक धार्मिक साहित्य मे वैष्णव धर्म के प्राचीनतम उल्लेख मिल जाते है। इस दिशा मे कार्य करने वाले विद्वानो ने वैदिक साहित्य मे निहित वैष्णव धर्म एव उसकी प्रवृत्तियो का सविस्तर उल्लेख किया है।[1] यह सत्य है कि कतिपय विद्वान् इसे वैदिकोत्तर धर्म मानते है, किन्तु वैष्णव धर्म की अनेक प्रवृत्तियो के उल्लेख वैदिक साहित्य मे प्राप्त हो जाते है।

सम्पूर्ण वैदिक साहित्य की प्रवृत्तियो को ४ भागो मे विभक्त किया जाता है :—

१– व्यक्तित्व-उपासना विषयक प्रवृत्ति
२– अध्यात्म-चिन्तन की भावना
३– कर्मकाण्ड
४– कथोपकथनमूलक आख्यान

भारत का सम्पूर्ण धार्मिक वाङ्मय बौद्ध, जन, वैष्णव आदि इसी प्रवृत्ति-क्रम मे विकसित हुए है। प्रवृत्तिगत विशेषता को ध्यान मे रखते हुए सम्पूर्ण वैष्णव साहित्य वैदिक साहित्य से सहज रूप मे जुडा हुआ है।

आरम्भिक वैष्णव साहित्य पूर्णरूपेण धार्मिक, कर्मकाडमूलक या सैद्धान्तिक था। इसमे एक ओर वैष्णव सहिताओ एव आगमो की प्रधानता थी, दूसरी ओर सैद्धान्तिक भाष्यो की। डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने इस काल की विशाल ग्रन्थ-राशि की ओर सकेत किया है। उनके अनुसार पाचरात्र सहिताओ की सख्या १०८ तथा आगमो एव उपागमो की सख्या १९८ है। इसमे शैवागम भी सम्मिलित है। इस काल मे अन्य धार्मिक साहित्य-रूप भी निर्मित हुए है जिन्हें स्तोत्र एव धारणियो के नाम से पुकारा जाता है। वैष्णव-धर्म की आरम्भिक सहिताओ मे अहिर्बुध्न्य का नाम अधिक महत्त्वपूर्ण है। अवतारवाद के विषय मे सर्वप्रथम यही सकेत मिलता है।[2] यह अवतारवाद की

१ मध्यकालीन धर्मसाधना, डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ० २६
२. अवतारवाद, हिन्दी साहित्य कोश, भाग १, द्वितीय सस्करण

धारणा व्यूहवाद से पुष्ट है, किन्तु रचनात्मक दृष्टि से इसका स्थान अधिक महत्त्वपूर्ण नही कहा जा सकता।

वैष्णव भक्तिकाव्य की पृष्ठभूमि मे जहाँ तक रचनात्मक प्रवृत्ति का प्रश्न है, उसकी पीठिका मे दो ही कृतियाँ आरम्भकाल मे महत्त्वपूर्ण कही जा सकती है—रामायण तथा महाभारत। वाल्मीकि रामायण मे वैष्णवधर्म की सम्पूर्ण प्रवृत्तियाँ दृष्टिगत नही होती, किन्तु उनमे एतद्विषयक अनेक सकेत अवश्य प्राप्त हो जाते है। इसमे सुर-मुनियो का पीडित होकर विष्णु की प्रार्थना करना, परशुराम का वैष्णव रूप, युद्धकाण्ड के मदोदरी सवाद मे विष्णु का उल्लेख, रावण वध के उपरान्त ६ अवतारो विष्वक्सेन, कृष्ण, वामन, पद्मनाभ, महाऋषभ तथा राम का कथन आदि वैष्णव धर्म से सम्बन्धित जो वस्तुत बाद के जोडे हुए प्रक्षिप्त कथन के रूप मे प्रतीत होते है। लका काड मे रावण वध के उपरान्त एक श्लोक प्राप्त है जिसमे राम ने देवताओ से अपने विष्णु-रूप की चर्चा की है—

आत्मानं मानुषं मन्ये राम दाशरथात्मजम् ।
सोऽहम् यश्च यतश्चाह् भावास्तद ब्रवीतु मे ।[1]

'देवतागण! मै तो अपने को मनुष्य दशरथ-पुत्र राम ही मानता हूँ। जो मै हूँ और जहाँ से आया हूँ आप लोग मुझे बताइए।' इस श्लोक को फॉदर कामिल बुल्के ने वाल्मीकि रामायण की प्राचीनतम प्रतियो मे प्राप्त बताया है। युद्धकाण्ड मे राम को पुराण पुरुषोत्तम कहकर पुकारा गया है। यही इनके कीर्तन का भी फल सम्पूर्ण पारलौकिक मनोरथो की प्राप्ति, अमोघता, समस्त साधनो की प्राप्ति तथा अपराभव बताया गया है।[2] कुछ भी हो, वाल्मीकि रामायण रामकाव्य के सदर्भ मे मध्यकाल से लेकर आज तक किसी-न-किसी रूप मे अपना प्रभाव अवश्य डालती रही है। तुलसी ने स्वत वाल्मीकि रामायण को आधार बनाकर काव्य-प्रणयन की चर्चा की है। इस काव्य मे धार्मिकता के स्थान पर कलात्मक सजगता अधिक है।

धार्मिक सजगता की दृष्टि से महाभारत का स्थान अधिक महत्त्वपूर्ण है।

---

१ वाल्मीकि रामायण, युद्धकाड १११ सर्ग, श्लोक स० १२ तथा वैष्णव भक्ति सम्बन्धी अन्य सदर्भों के लिए बालकाड, पचदश सर्ग, श्लोक १८, १९, २१, २२ तथा षट्सप्तति-तम सर्ग, श्लोक १ से २४ तक, युद्धकाड सर्ग, श्लोक ११—१४ तथा सर्ग ११७ का १३—१८ तक आदि

२ रामकथा, उत्पत्ति और विकास, फॉदर कामिल बुल्के, पृ० ३४८

३ रामायण युद्धकाड, सर्ग ११७, श्लोक स० ३०, ३१

इसका मूल प्रतिपाद्य वैष्णवधर्म के समर्थन से है। महाभारत का शान्तिपर्व वैष्णवधर्म का आदिम प्रमाणग्रन्थ है। सम्पूर्ण रूप से महाभारत मे भारतीय धार्मिक साहित्य की तीनो प्रवृत्तियाँ–धार्मिक तत्त्वविचार, नैतिक आचरण एव उपाख्यानमूलकता वर्तमान है। महाभारत मे प्रमुख कथा के अतिरिक्त तत्कालीन पौराणिक उपाख्यान प्रभूत मात्रा मे वर्तमान है। यह पौराणिक आधार को निश्चित रूप से अपने कलेवर मे समेटे हुए मिलता है। इसमे प्राप्त उपाख्यान इस प्रकार हे–शिवि उपाख्यान, ययाति उपाख्यान, शकुन्तलोपाख्यान, मत्स्योपाख्यान, रामोपाख्यान, सावित्री उपाख्यान, नलोपाख्यान आदि। इसी लिए महाभारत का पौराणिक सदर्भ मध्यकालीन भक्तिपूर्ण रचनाओ की परम्परा मे महत्त्वपूर्ण माना जाता रहा है। महाभारत की ही भाँति वाल्मीकि रामायण मे भी अनेक पौराणिक कथाएँ मिलती है। यहाँ हरिश्चन्द्र, वामन, कार्तिकेय, परशुराम, ऋष्यश्रृग, सगरपुत्र एव गगा की उत्पत्ति तथा शुन शेष आदि की कथाएँ रामकथा के सदर्भ मे ही आई है।

रामायण एव महाभारत मे पौराणिक प्रवृत्ति के निर्माण की अनेक परिस्थितियाँ क्रियाशील रही है। मुख्य चरित्र का काल्पनिक अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन, उनकी वश-परम्परा का सविस्तर उल्लेख, पौराणिक विश्वासो का अनुमोदन, धार्मिक एव तात्त्विक कथनो की अधिकता आदि ऐसे अनेक तत्त्व है जो पुराणो मे बिना किसी परिवर्तन के स्वीकार किए गए है। हरिवशकार ने वाल्मीकि रामायण के श्लोको को बडी चतुरता से रूपान्तरित करके रख दिया है। वाल्मीकि रामायण मे नारद द्वारा आरम्भ मे किए गए राम की प्रशसा-सम्बन्धी श्लोको तथा हरिवश मे प्राप्त तत्सम्बन्धी श्लोको की तुलना करने से इस तथ्य का सरलता से अनुमान लगाया जा सकता है। महाभारत एव वाल्मीकि रामायण दोनो मे पुराण शब्द का प्रयोग किया गया है। वस्तुत पुराण लोक-प्रचलन मे स्वीकृत मौखिक कथा रूप थे जिन्हे क्रमिक रूप मे लिपिबद्ध कर लिया गया।[1] वैष्णव पुराणो की सख्या १८ बताई जाती है–ब्रह्मा, विष्णु, अग्नि, वायु, मत्स्य, स्कन्ध, कूर्म, लिंग, भविष्य, पद्म, भागवत, ब्रह्माड, गरुड, मार्कण्डेय, ब्रह्मवैवर्त, वामन, वराह तथा नारद। इनमे हरिवश का ऐतिहासिक महत्व है। महाभारत के खिल रूप मे कृष्ण की बाल-लीला का सर्वप्रथम परिचय यही कराया गया है। पुराणो मे अवतारवाद-सम्बन्धी प्राय सभी धारणाएँ मिल जाती हे। पुराणो मे विष्णु, अग्नि, वायु, ब्रह्मवैवर्त एव भागवत हिन्दी वैष्णव भक्ति-काव्य के प्रेरणास्रोत के रूप मे स्वीकार किए

---

१ इडियन हिस्टारिकल क्वार्टर्ली, भाग ३, दिस० १९६३, पृ० ७४९

जाते है। हिन्दी वैष्णव भक्ति-काव्य की न केवल कथात्मकता अपितु नैतिक एव लीला-विषयक उदात्त तथा मधुर भाव इन पुराणो से सम्बद्ध है। पूर्ववर्ती वैष्णव भक्ति मे जो स्थान भगवद्गीता का था, परवर्ती भक्ति मे वही स्थान भागवत को मिला। भक्तिकाव्य से सम्बन्धित काव्यमूल्यो के सदर्भ मे इन पुराणो का अध्ययन अगले अध्यायो मे हुआ है।

धार्मिक उपाख्यानमूलकता के साथ-साथ हिन्दी वैष्णव भक्तिकाव्य मे माधुर्य भाव एव गीतात्मक तत्त्व की प्रचुरता मिलती है। इसकी भी परम्परा मध्यकाल से ही प्राप्त होने लगती है। हिन्दी का वैष्णव भक्तिकाव्य इससे बहुत अधिक प्रभावित रहा है। इन रचनाओ मे भक्ति एव काव्य के तत्त्वो का अपूर्व सम्मिश्रण मिलता है। इनमे निहित भक्ति के स्वरूप के दो स्वभाव है, शान्तिमूलक तथा शृगारमूलक।

शान्त की स्थिति वैष्णव भक्तिकाव्य के आरम्भ मे ही दृष्टिगत होती है। वैष्णव भक्ति की प्रकृति आरम्भ मे मधुरोन्मुख न होकर शान्त्योन्मुख थी। अभिनवगुप्त के अनुसार शान्ति निर्वेद न होकर तृष्णा-क्षय सुख है। यह वैराग्य का समानार्थी न होकर आनन्द का उद्भावक है। इन्होने शान्त रस प्रकरण मे नागानन्द, तापस वत्सराज, हितोपदेश की चर्चा की है। डॉ० वी० राघवन् ने शान्त रस की समर्थक १७ काव्यरचनाओ एव ३८ नाटको की तालिका का उल्लेख किया है। ये काव्य-रचनाएँ इस प्रकार है—

१. राजतरगिणी [शान्तरस से सम्बन्धित प्रकरण]
२. कैवल्यावली परिणय विलास
३. ज्ञानमुद्रा परिणय काव्य
४ हंसदूत
५ इन्दुदूत
६ सेतुदूत
७. भक्तिदूत
८. मनोदूत
९. मनोदूत
१० मनोदूत
११ मनोदूत
१२ मेघदूत समस्यालेख
१३ शीलदूत
१४ मनोदूत
१५ सिद्धदूत
१६. ज्ञानविलास काव्य
१७ गीतावीतराग[1]

आर्थर मेक्डॉनेल ने नैतिक काव्य को Ethical poetry कहकर निम्न-लिखित रचनाओ को शान्तिपरक बतलाया है—

---

१ द नम्बर ऑव रसाज, वी० राघवन्, पृ० ३० से ४२ तक

१ नीतिशतक	४ चाणक्यशतक	७ शार्ङ्गधर पद्धति
२ वैराग्यशतक	५ नीति मंजरी	८ सुभाषितावली
३ शान्तिशतक	६ सदूक्ति कर्णामृत	९ धम्मपद[1]

भक्ति रस की भूमिका के अन्तर्गत इस परम्परा की सविस्तर चर्चा की गई है। यह सत्य है कि सभी रचनाएँ वैष्णवभक्ति से सम्बन्ध नही रखती है, फिर भी इनसे परम्परा का बोध अवश्य हो जाता है।

शान्त रस से पृथक् मधुर उपासना सम्बन्धी साहित्य की परम्परा का भी विस्तृत उल्लेख मिलता है। काव्य की दृष्टि से आलवार साहित्य की गणना इसके अन्तर्गत सबसे पहले की जाती है। १२ आलवारो की रचित एव सकलित 'नालियरा प्रबन्धम्' की स्थिति महत्त्वपूर्ण है। काव्य की दृष्टि से अत्य-धिक उच्च एव मधुर भक्ति के समर्थक इसमे ४ हजार पद सकलित है। यह एक प्रकार का कीर्तन-सग्रह है। इसके पूर्व का एक अन्य कीर्तन-सग्रह 'दिव्य-प्पिरवन्दम्' के नाम से प्राप्त है। फुटकल पद-सकलनो मे शठकोपाचार्य कृत तिरुवायमौलि, कुलशेखर त्रिवाकुर कृत मुकुन्दमाला, अदाल गोदा कृत तिरु-प्पावि नाच्चियार एव तिरोमालि अधिक उल्लेखनीय है। इनमे वैष्णव भक्तिकाव्य की मधुरोपासना की समस्त प्रवृत्तियाँ निहित बताई जाती हे।

मध्यकालीन वैष्णव भक्ति साम्प्रदायिक थी। साम्प्रदायिक मान्यताओ का प्रभाव इन काव्य-रचनाओ पर भी दृष्टिगत होता है। प्रत्येक सम्प्रदाय मे भक्तिकाव्य प्राप्त होते है। इस दृष्टि से यामुनाचार्य कृत चतुश्लो की एव आलवन्दार स्तोत्र का नाम लिया जा सकता है। निम्बार्क सम्प्रदाय के अन्तर्गत निम्बार्क की दो रचनाएँ 'दशश्लोकी'[2] एव 'श्री कृष्णराज स्तव' प्राप्त होती है। आचार्य वल्लभ के द्वारा १६ रचनाएँ अनूदित एव स्वतत्र 'षोडश ग्रन्थानि' के नाम से सकलित है। इनके पौत्र विट्ठलनाथ के तीन काव्य इसी परम्परा से सम्बन्धित है विद्वन्मडन, भक्तिहस तथा शृगाररस-मडन। चैतन्य मतावलम्बियो का इस विषय मे प्रभूत साहित्य प्राप्त है। इनका प्रतिपाद्य मधुर भक्तिरस ही है। रूपगोस्वामी ने यह प्रथम बार प्रयोग करके दिखाया था कि नाटक का अगीरस शृगार, वीर एव शान्त के अतिरिक्त भक्ति भी हो सकता है। इनकी काव्यकृतियाँ स्तवमाला, गोविन्द विरुदावली, मुकुन्द मुक्तावली, लघुभागवतामृत, हसदूत, उद्धवदूत या सदेश है।[2] इनके पश्चात् सनातनगोस्वामी का 'हरिभक्ति विलास' तथा जीवगोस्वामी की 'लघुतोषणी'

१ ए हिस्ट्री ऑव सस्कृत लिटरेचर, मेक्डॉनेल, पृ० ३२

२. उज्ज्वल नीलमणि में सभी स्थलों पर उद्धवदूत न मिलकर सदेश ही मिलता है।

का स्थान आता है। इस परम्परा मे प्राप्त अन्य काव्य इस प्रकार है–

१ विलापकुसुमाजलि
२ राधाष्टक
३ नामाष्टक
४ उत्कठादशक
५ अभीष्टप्रार्थनाष्टक
६ सचीनन्दनशतक
७ गोविन्दलीलामृत
८ कृष्णकर्णामृतटीका
९ वैष्णवाष्टक
१० रागमाला

इसके अतिरिक्त भक्तिरस की पुष्टि के लिए रूपगोस्वामी ने उज्ज्वल नीलमणि मे लगभग ६०० श्लोको का प्रयोग उदाहरण के रूप मे किया है। इनमे से कतिपय काव्यो के नामोल्लेख भी है, किन्तु अधिकाश पदो के मूल का सकेत नही मिलता। इस सदर्भ मे यह सरलतापूर्वक अनुमान लगाया जा सकता है कि वैष्णव भक्तिकाव्य का मध्यकालीन साहित्यिक परिवेश कितना व्यापक था। रूपगोस्वामी ने उज्ज्वल नीलमणि मे निम्न सकेत दिये है। यहाँ कवियो मे विल्वमगल तथा जगन्नाथ वल्लभ का उल्लेख है, किन्तु इनकी कृतियो का पता नही मिलता। उज्ज्वल नीलमणि मे भक्ति-विषयक रचनाओ के विषय मे इस प्रकार के उल्लेख प्राप्त है –

१ ललितमाधव
२ हरिवश
३ भागवत दशम स्कन्ध
४ विदग्ध माधव
५ हसदूत
६ रससुधाकर
७ उद्धवसंदेश
८ पद्मावली
९ दानकेलि कौमुदी
१० गीतगोविन्द
११. विष्णुपुराण
१२ द्वन्द्वमजरी
१३ मुक्ताचरित
१४ रुक्मिणी स्वयम्वर
१५ गोविन्दविलास
१६ क्रमदीपिका
१७ एकादश काव्य
१८ शिववाक्य
१९ कर्णामृत

इनमे प्राप्त कतिपय रचनाओ का उल्लेख सस्कृत साहित्य के इतिहास-ग्रन्थो मे अब भी नही मिलता। इसके अतिरिक्त अन्य फुटकल काव्यो मे अप्पय-दीक्षित भट्ट कृत वरदराजस्तव एव नारायणकृत कृष्णस्तोत्र का नामोल्लेख मिलता है। एस० के० डे महोदय ने चैतन्य सम्प्रदाय की कतिपय रचनाओ का उल्लेख किया है। इनमे रूपगोस्वामी रचित स्मरणमगलकादशम् (उज्ज्वल नीलमणि मे उल्लेखनीय एकादश काव्य से भिन्न), गीतावली, कुजविहाराष्टक,

१ देखिए, वैष्णव फेथ एण्ड मूवमेण्ट, एस० के० डे, पृ० ६४९ से ६७५ तक

अष्टदशछन्दम्, मामान्य विरुदावली तथा अन्य कवियो द्वारा रचित राधाकृष्णोज्ज्वल कुसुमकेलि, विशेषनन्द स्तोत्र आदि के नाम आये है ।[1]

उज्ज्वल नीलमणि की ही भाँति श्री हरिभक्तिरसामृतसिधु मे उन्होने अनेकानेक रचनाओ की सूचना दी है । डॉ० डे का कथन है कि ये रचनाएँ वैष्णव भक्तिकाव्य एव रस की विशाल साहित्यिक परम्परा से सम्बन्ध रखती है–

महाकाव्य आदि

महाभारत, रामायण, हरिवश तथा भगवद्गीता ।

पुराण तथा उपपुराण

श्रीमद्भागवत् (दशमस्कन्ध विशेष रूप से), पद्म, स्कन्ध, नारदीय, नारसिह, ब्रह्माड, विष्णु, अग्नि, वराह, आदिवराह, महावराह, कूर्म, महाकूर्म, वृहद्वामन, आदि पुराण, ब्रह्म, ब्रह्मवैवर्त पुराण, भविष्योत्तरपुराण, लिग, गरुड, पुराणतत्र आदि ।

अन्य धार्मिक रचनाएँ

विष्णु धर्मोत्तर पुराण, विष्णुधर्म, विष्णुरहस्य, वैष्णवतत्र, नारदपाचरात्र, नारदीय पाचरात्र, पचरात्र, शुकसहिता, अगस्त्य सहिता, ब्रह्मसहिता, कात्यायन सहिता, तत्र, भावार्थदीपिका, हरिभक्तिसुबोधय, हरिभक्तिविलास, नामकौमुदी, भक्ति विवेक ।

स्तोत्र–नारायणव्यूहस्तव, अपराध मजन, विल्वमगलस्तव, स्तवावली, यमुनाचार्य के स्तोत्र ।

काव्य–वैराग्यशतक, शिशुपालवध, कर्णामृत, गीतगोविन्द, विल्वमगल, गोविन्दविलास, मुकुन्दमाला तथा रूपगोस्वामी की स्वनिर्मित रचनाएँ ।

इसमे कुछ ऐसी भी रचनाएँ है जिनका उल्लेख उज्ज्वल नीलमणि मे भी हुआ है । किन्तु इसके अतिरिक्त भी यह सूची अत्यधिक विस्तृत है। इस तरह वैष्णव भक्तिकाव्य की पृष्ठभूमि को मात्र हिन्दी साहित्य तक ही सीमित रखना समीचीन नही है । प्रेरणा के रूप मे उसकी विशाल परम्परा शताब्दियो से चली आ रही थी । यही कारण है कि मध्यकाल मे आकर उसका साहित्यिक स्वरूप इतना सम्पन्न हो गया कि उसके समक्ष तत्कालीन राजाश्रय मे पनपने वाली लौकिक काव्य-प्रवृत्तियाँ क्षीण हो गई । इस पृष्ठभूमि के अध्ययन से ये निष्कर्ष निकाले जा सकते है ।

शुद्ध कलात्मक काव्यो से पृथक् धार्मिक काव्यो की रचना बहुत पहले से होती चली आ रही है । मध्यकाल मे जहाँ एक ओर सस्कृत साहित्य के ललित काव्य लिखे गए, वही धार्मिक परम्परा से प्रभावित अनेक काव्यरूपो

की भी रचना की गई । बौद्ध, जैन एव वैष्णव भक्ति सम्प्रदाय मे इस परम्परा से सम्बन्धित साहित्य की सख्या अधिक है ।

इन काव्यो मे कलात्मक सजगता के स्थान पर शुद्ध भावाभिव्यक्ति को अधिक महत्त्व दिया गया है । शान्त एव मधुर भाव से सम्बन्धित इन काव्य-रूपो मे काल्पनिक कलात्मकता का आवेश कम मिलता है । इसके साथ ही इनमे धार्मिकता के माध्यम से नैतिक आचरण की प्रतिष्ठा भी की गई है । नैतिक आचरण-विषयक मान्यताएँ उद्देश्य के रूप मे साकेतिक एव अभिव्यक्ति के रूप मे प्रत्यक्ष कथित है । नैतिक आचरण से सम्बन्धित एक निश्चित वर्ग, सामाजिक मान्यता एव तत्सम्बन्धी व्यवहारो का निर्देश इस परम्परा के काव्यो मे प्राप्त होता है । नैतिक उपयोगिता एव हितवाद का प्रबल समर्थन इन काव्यो का उद्देश्य है ।

भक्ति एव साम्प्रदायिक आग्रह भी इन काव्यो मे प्राप्त है । भक्ति सम्बन्धी मधुर एव शान्तपरक रचनाएँ पूर्णरूपेण भक्तिभावना का समर्थन करती है । जैन, बौद्ध एव वैष्णव भक्ति की परम्परा मे प्राप्त रचनाओ मे साम्प्रदायिक आग्रह के रूप मे तत्त्वदर्शन सम्बन्धी मान्यताएँ मिलती है। यह परम्परा मूलत वैदिक साहित्य से ही आरम्भ हो चुकी थी । काव्यत्व, तत्त्वदर्शन एव नैतिक सदाचरण का परस्पर सम्मिश्रण इन काव्यो का प्रतिपाद्य है । हिन्दी वैष्णव भक्तिकाव्य की प्रवृत्तियो के अध्ययन के सदर्भ मे इनकी सविस्तर चर्चा की जायेगी, किन्तु यहाँ इतना ही कहना आवश्यक है कि हिन्दी वैष्णव भक्ति साहित्य यकायक १४ वी शती की राजनीतिक एव सामाजिक प्रतिक्रियाओ का न तो मात्र प्रतिफलन है, न दक्षिण की विकसित परम्परा का परिणाम । यह काव्यपरम्परा मध्यकालीन भारतीय सस्कृति की अन्तिम कडी है, जिसके इतिहास-निर्माण मे लगभग १२०० वर्ष लग गए है । अगले अध्यायो मे इस काव्य की परम्परा की ओर यत्र-तत्र सकेत मिलेगा ।

हिन्दी का वैष्णव भक्तिकाव्य और कवि : (१५ वीं से १७ वीं शती तक)

मध्यकालीन हिन्दी वैष्णव भक्त कवियो की परम्परा एव तत्सम्बन्धी सूची का परिचय तत्कालीन सग्रह-ग्रथो मे मिलता है । इन कवियो के परिचय का सकेत नाभादास कृत भक्तमाल,गोकुलनाथ कृत चौरासी वैष्णवन की वार्ता तथा ध्रुवदास की भक्त नामावली मे प्राप्त है । वार्ता सम्बन्धी एक और रचना गोकुलनाथ कृत बताई जाती है, किन्तु वह अपेक्षाकृत परवर्ती रचना है । ध्रुवदास १८वी शती के कवि है । फलत उनकी सूची बहुत विस्तृत हो

गई है। इसमे परम्परा के अनेक कवि भक्त आ गए है। गोकुलनाथ कृत चौरासी वैष्णवन की वार्ता मे अष्टछाप तथा अन्य सम्प्रदायो के कवियो का सामान्य परिचय मिलता है। इसमे सर्वाधिक प्रामाणिक सूची भक्तमाल की है। इस सूची मे शुद्ध सगुण वैष्णवो के अतिरिक्त रामानन्दी सम्प्रदाय के सन्त भी आ गये है, साथ ही, कुछ ऐसे भक्तो का भी उल्लेख मिलता है जिनकी सम्प्रति कोई भी रचना उपलब्ध नही है और भक्त-परम्परा मे न उनकी प्रसिद्धि ही है। भक्तमाल मे मध्यकालीन भक्त कवियो की एक विस्तृत सूची मिलती है, जिसमे लगभग ४० कवि प्रस्तुत अध्ययन की सीमा मे आते है। साम्प्रदायिकता की दृष्टि से इन कवियो का विभाजन किया जाता है। इन कवियो की दृष्टि कितनी साम्प्रदायिक थी— यह विवादपूर्ण है फिर भी अनेक कवि अपने सम्प्रदाय को पुष्ट करने के लिए तत्सम्बन्धी कीर्तन, भजन, पद या अन्य प्रकार के काव्य-रूपो की रचना किया करते थे। इसके पहले स्पष्ट किया जा चुका है कि हिन्दी भक्ति-काव्य के पूर्व विभिन्न वैष्णव साम्प्रदायिक दृष्टि से रचनाएँ हो रही थी। हिन्दी वैष्णव भक्ति-काव्य पर इस परम्परा का प्रभाव पडना अनिवार्य है। अधिकाशत हिन्दी के भक्त कवियो ने वर्ण्य विषय-वस्तु विवेचन, समस्याओ, काव्य एव धर्म सम्बन्धी प्रवृत्तियो को अपनी साम्प्रदायिक परम्परा से ही अधिक प्राप्त किया है। फलत भक्त कवियो का साम्प्रदायिक दृष्टि से विभाजन करना असगत नही है। हिन्दी काव्य के सम्बन्ध मे इतना सत्य अवश्य है कि अनेक कवि परम्परा-मुक्त है। इनमे मीरा का नाम सर्वप्रमुख है। मीरा के पदो का वृहत्सग्रह 'मीरा सुधा-सिन्धु'[1] के नाम से प्रकाशित हो चुका है। हिन्दी साहित्य के इतिहासकार मीरा की रचनाएँ इस रूप मे बताते है—गीतगोविन्द की टीका, नरसी जी का माहरा,फुटकर तथा रागसोरठ के पद।[2] मीरा के अतिरिक्त अन्य कई ऐसे कवि मिलते है, जिनमे केवल वैष्णव धर्म के प्रति आग्रह मात्र है, उनमे सामान्य साम्प्रदायिकता नही है। तुलसीदास ऐसे ही कवियो मे रखे जा सकते है। मध्य-कालीन वैष्णव भक्तो को इन सम्प्रदायो मे विभक्त किया जाता है—

१ रामानुजीय सम्प्रदाय
२ वल्लभ सम्प्रदाय का अष्टछाप

---

१ श्री मीरा प्रकाशन समिति, भीलवाडा, राजस्थान, पृ० ४ तथा एक दूसरा सकलन भी वृहत् मीरा पद सग्रह, पद्मावती शबनम, लोक सेवा प्रकाशन, बनारस २००६ प्रकाशित हो चुका है।

२ हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, डॉ० रामकुमार वर्मा, पृ० ५८२

३ मध्व सम्प्रदाय
४ गौडीय सम्प्रदाय
५ राधावल्लभ सम्प्रदाय
६ रामोपासक मधुर सम्प्रदाय
७ निम्बार्क सम्प्रदाय. भक्त कवियो मे इसके दो रूप पाए जाते है
क हरिदासी सम्प्रदाय के भक्त कवि
ख हरिव्यासी सम्प्रदाय के भक्त कवि

मध्यकालीन हिन्दी वैष्णव भक्त कवि तथा उनके काव्य

रामानुजी सम्प्रदाय

विभिन्न मतवादो के होते हुए भी यह पूर्णत सिद्ध नही हो सका है कि तुलसी का सम्बन्ध किस सम्प्रदाय से था। फिर भी तुलसी के सिद्धान्त रामानुज सम्प्रदाय के अधिक समीप है । ब्रह्म, राम, जीव, माया, भक्ति एव ज्ञानादि सम्बन्धी धारणाओ मे वे अन्य सम्प्रदायो से कही अधिक विशिष्टाद्वैत का समर्थन करते है। किन्तु तुलसी के बाद उनकी परम्परा मे कोई ऐसा कवि नही मिलता, जो उनका पूर्ण प्रतिनिधित्व कर पाता। विद्वानो ने प्राणचन्द चौहान, केशवदास तथा सेनापति आदि परवर्ती कवियो को तुलसीकी परम्परा का बताया है। डॉ० रामकुमार वर्मा ने नाभादास को भी तुलसीदास के परवर्ती कवियो की परम्परा मे रखा है, किन्तु नाभादास को रामभक्ति शाखा के मधुर सम्प्रदाय के अन्तर्गत रखना ही प्रामाणिक है , शेष प्राणचन्द चौहान, केशवदास तथा सेनापति आदि तुलसी परवर्ती रामभक्ति शाखा के कवि साम्प्रदायिक न होकर सम्प्रदायमुक्त है। मध्यकालीन वैष्णव धर्म की अनेक प्रवृत्तियाँ उनके काव्य मे मिल जाती है, किन्तु समग्रतया ये कवि वैष्णव भक्ति सम्प्रदाय के अन्तर्गत नही रखे जा सकते। इस दृष्टि से रामानुजीय सम्प्रदाय के अन्तर्गत मात्र तुलसी को ही रखा जा सकता है। तुलसी की निम्न रचनाएँ प्रामाणिक समझी जाती है

१ रामलला नहछू
२ रामाज्ञा प्रश्न
३ जानकी मगल
४ पार्वती मगल
५ बरवै रामायण
६ तुलसी सतसई
७ दोहावली
८ कवितावली
९ रामगीतावली
१० कृष्ण गीतावली
११. विनय पत्रिका
१२. रामचरित मानस
१३ हनुमान बाहुक

डॉ० माताप्रसाद जी गुप्त ने तुलसी सतसई की प्रामाणिकता के विषय मे सदेह किया है।

वल्लभ सम्प्रदाय

सिद्धान्त तथा काव्य दोनो दृष्टिकोणो से यह सम्प्रदाय भक्ति आन्दोलन को अधिक सशक्त बनाने मे सहायक हुआ है। हिन्दी का मध्यकालीन वैष्णव भक्ति साहित्य अपनी समृद्धि के लिए इस सम्प्रदाय पर सर्वाधिक आधृत है। इस परम्परा के प्रख्यात आठ कवि आजीवन काव्य-साधना मे जुटे रहे। तत्कालीन वार्ता साहित्य मे इन्हे भक्त, कवि, गवैया तीन विशेषणो से पुकारा गया है। नाभादास ने भक्तमाल मे इन कवियो को महान् भक्त एव लोकोद्धारक कवि की सज्ञा दी है। ये अष्टछापी कवि के नाम से हिन्दी साहित्य मे बहुश्रुत है। शुद्धाद्वैत सम्प्रदाय के सस्थापक आचार्य वल्लभ द्वारा दीक्षित परमानन्ददास, सूरदास, कुभनदास, एव चतुर्भुजदास चार तथा विट्ठलनाथ द्वारा दीक्षित गोविन्ददास, नन्ददास, छीतस्वामी एव कृष्णदास क्रमश इन आठ भक्तो की मडली अष्टछाप के नामसे विख्यात रही है। वल्लभ नामक एक कविका उल्लेख भक्तमाल मे मिलता है और इस नामसे किसी कवि के कतिपय पद राग कल्पद्रुम मे भी पाए जाते है। किन्तु प्रामाणिक रूपसे यह नही कहा जा सकता कि ये पद आचार्य वल्लभ के ही है। इस सम्प्रदाय के कवियो की कृतियाँ इस प्रकारकी है

परमानन्ददास [सम्प्रदाय-प्रवेश स० १५७६ जन्म स० १५५० मृत्यु १६४०] रचनाएँ दानलीला, ध्रुवचरित्र, हस्तलिखित परमानन्द सागर। इनकी अन्य रचनाएँ अप्रकाशित है। परमानन्द सागर के दो सस्करण प्रकाशित हो चुके हे, जिसमे काकरौली सस्करण[1] अपेक्षाकृत प्रामाणिक है।

सूरदास [जन्म स० १५३५ के आस-पास, मृत्यु १६३८-१६३९] इनके द्वारा प्रणीत २४ ग्रन्थ बतलाए जाते है —

१. सूर सागर २ दशम स्कध भाषा ३ नाग लीला ४ सूर पचीसी (सूर सागर के साथ प्रकाशित) ५ भागवत भाषा ६ व्याहलो ७ सूररामायण (काशीनागरी प्रचारिणी से प्रकाशित सूर सागर के नवमस्कन्ध के अन्तर्गत)

८ मानलीला	९ राधा रस केलि कौतुक	१० सूर सारावली
११ सूर शतक	१२ हरिवश टीका	१३ एकादशी माहात्म्य
१४ प्राणप्यारी	१५ भवर गीत	१६ दान लीला
१७ सूर साठी	१८. सूर सागर सार	१९ साहित्य लहरी

---

१ प्रकाशित, विद्या विभाग, काकरौली, सम्वत २०१६

२० नल दमयन्ती २१ राम जन्म २२ सेवा फल
२३ भागवत भाषा २४ भवर गीत[1]

इनमे आठ रचनाओ का प्रकाशन हो चुका है। सूर सागर, सूर पचीसी, सूर रामायण, राधा रस केलि कौतुक, सूर सारावली, भवर गीत, सूर साठी तथा साहित्य लहरी अन्य अप्रकाशित है। डॉ० दीनदयाल गुप्त ने अपना निष्कर्ष निकालते हुए सिद्ध किया है कि सूर सागर, साहित्य लहरी तथा सूर सारावली ही अन्ततया सूर की प्रामाणिक रचनाएँ है। यही नही, अन्य १५ ग्रन्थ सूरदास के अवश्य है, किन्तु वे सूरसागर एव साहित्य लहरी मे ही आ जाते है। इसके विपरीत डॉ० ब्रजेश्वर वर्मा का मत है कि मात्र सूरसागर ही सूर की प्रामाणिक रचना है।

कुभनदास [जन्म सवत् १५३५, सम्प्रदाय-प्रवेश १५४९, मृत्यु स० १६३८] डॉ० दीनदयाल गुप्त के अनुसार इनके पदो के सग्रह के अतिरिक्त कुछ भी नही मिलता। हिन्दी ससार मे अभी तक इनका कोई पद-सग्रह प्रकाश मे नही आया, किन्तु कुभनदास के पदो का एक सग्रह विद्या विभाग, काकरौली मे प्रकाशित हो चुका है।[2]

कृष्णदास [जन्म सवत् १५५० के आसपास मृत्यु स० १६३२ तथा १६३८ के बीच] इनकी आठ रचनाओ का उल्लेख डॉ० दीनदयाल जी गुप्त ने किया है, किन्तु उनमे से समस्त रचनाओ को उन्होने प्रामाणिक नही माना है। ये रचनाएँ इस प्रकार है—

१ जुगलमान चरित्र ४ प्रेम सत्व निरूपण ७ कृष्णदास की बानी
२ भक्तमाल टीका ५ भगवत भाषानुवाद ८ प्रेम रस सागर
३ भ्रमर गीत ६ वैष्णव वन्दन

किन्तु ये रचनाएँ अप्रकाशित है। विद्या विभाग, काकरौली से कृष्णदास के पदो का सग्रह प्रकाशित हो चुका है।[3]

नन्ददास [जन्म स० १५९० वि० स०, सम्प्रदाय प्रवेश १६१६, मृत्यु स० १६४२] डॉ० दीनदयाल गुप्त ने निम्न १४ रचनाओ को प्रामाणिक माना है—

१ रस मजरी २ अनेकार्थ मजरी ३. मान मजरी
४ दशम् स्कन्ध भाषा ५ श्याम सगाई ६ गोवर्धन लीला

---

१. अष्टछापी कवियो की अधिकाश सूचनाएँ, डॉ० दीनदयाल गुप्त के शोध प्रबन्ध, अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय, द्वितीय भाग पर आधारित है।

२ विद्या विभाग काकरौली, स० २०१०

३ विद्या विभाग, काकरौली, स० २०१९

७ सुदामा चरित्र ८ विरह मजरी ९ रूपमजरी
१० रुक्मिणी मगल ११. रास पचाध्यायी १२ भवर गीत
१३. सिद्धान्त पचाध्यायी १४ पदावली

श्री उमाशकर जी शुक्ल ने रस मजरी, अनेकार्थ मजरी, मान मजरी, दशम्-स्कन्ध, श्याम सगाई, विरह मजरी, रूप मजरी, रास पचाध्यायी, मिद्धान्त-पचाध्यायी, रुक्मिणी मगल, भवरगीत इन ११ रचनाओ को ही प्रामाणिक स्वीकार किया है।[1]

चतुर्भुजदास [जन्म सवत् १५९७, सम्प्रदाय प्रवेश स० १५९७, मृत्यु स० १६४२] इनकी निम्न चार रचनाएँ प्रसिद्ध है —

१, मधु मालती २ भक्ति प्रताप ३ द्वादश यश ४ हितू को मगल
विद्या विभाग, काकरौली से इनके पदो का सग्रह प्रकाशित हो चुका है।[2]

गोविन्द स्वामी[जन्म स० १५६२ के आसपास, गोलोकवास स० १६४२] वल्लभ सम्प्रदाय के कीर्तन सग्रहो के आधार पर डॉ० दीनदयाल गुप्त ने इनके २७४ पदो का सकलन किया है। यह १९४० मे गोविन्द स्वामी के कीर्तन के नाम से बबई से प्रकाशित हो चुका है। इनके पदो का दूसरा सकलन विद्या विभाग, काकरौली से प्रकाशित है।[3]

छीत स्वामी[जन्म स० १५६७ के आसपास, मृत्यु स० १६४२ के आसपास] डॉ० दीनदयाल गुप्त ने इनके छपे हुए ६४ पदो का उल्लेख अपने शोध प्रबन्ध के अन्तर्गत किया है। विद्या विभाग, काकरौली से इनके पदो का सकलन प्रकाशित हो चुका है।[4]

अष्टछाप के इन कवियो के साथ इनके अगगायक के रूप मे भी कवि मिलते है। इनकी स्थिति इस प्रकार है—

परमानन्ददास—गोपालदास, आसकरन, गदाधरदास, सगुनदास, हरिजीवनदास, मानिकचन्द्र, रसिकविहारी।

सूरदास—जानमेन, अलीखाँ, जगन्नाथ, कविराय, हरिनारायण श्यामदास, मुरारिदास, मुकुन्ददास, कृष्णजीवन तथा लक्ष्मीदास।

कुम्भनदास—हितहरिवश, हरिदास, रसखान, लघुगोपाल, किशोरी, माधुरीदास, दास वैष्णव रसिक।

---

१ नन्ददास ग्रन्थावली, सम्पादक श्रीउमाशकर शुक्ल, प्रयाग विश्वविद्यालय, प्रयाग, प्रकाशन
२ विद्या विभाग, काकरौली, स० २०१४
३. विद्या विभाग, काकरौली, स० २००८
४. विद्या विभाग, काकरौली, स० २०१२

नन्ददास— हरिदास, ताज, कटहरिया, रामदास, घोघी, भगवानहित रघुनाथदास, जनहरिया।

गोविन्ददास— हरिराय, काका वल्लभ जी दास छाप द्वारिकेश, ब्रजाधीश, ब्रजपति, गगाबाई, श्री विट्ठल गिरिधरनछाप, कृष्णदास, कल्याण प्रभु।

चतुर्भुजदास—व्यासदास, मानसदास, दामोदर रहित, विचित्र विहारी, श्री भट्ट, प्रेमप्रभु, जगजीवन, विहारीदास।

छीत स्वामी—श्यामदास, सुघरराय, केशकिशोरी, अग्रदास, भगवानदास, हृषीकेश, माधुरीदास, जनगिरिधर।

कृष्णदास—रामराय, गोपालदास, चतुर विहारी, जन त्रैलोक्य, दामाधौ, जगजीवन, रूपमाधुरी, नागरीदास।[1]

इन बहुसख्यक कवियो मे कितने शुद्ध भक्त थे, कितने गायक तथा कितने मात्र कवि, इसका अनुमान अभी तक नही लगाया जा सका है। इनमे मे नागरीदास, गोपालदास, अग्रदास, श्रीभट्ट, हरिदास, हितहरिवश, रसखान, रामराय, भगवानदास, माधुरीदास, ताज, रसिकविहारी, आसकरन आदि के ही पद या स्वतत्र काव्य प्राप्त होते है।

राधावल्लभ सम्प्रदाय

इस सम्प्रदाय का सस्थापन श्री हितहरिवश ने किया है। प्रस्तुत प्रबन्ध की सीमा मे निम्नलिखित कवि एव उनकी रचनाए आती है।

हितहरिवंश [जन्म स० १५५६ तथा मृत्यु १६०६] रचनाएँ–१. राधा सुधानिधि (सस्कृत) इसकी १० टीकाओ का उल्लेख मिलता है। इसमे २७० श्लोक है। यह प्रस्तुत अध्ययन की सीमा के बाहर है। इसी तरह इनकी सस्कृतमे प्रणीत एक अन्य कृति 'यमुनाष्टक' भी प्रसिद्ध है। हिन्दी रचनाओ मे 'हित चतुरासी' ८४ पदो का सग्रह है[2]। इनकी स्फुटवाणी मे ४ सवैये, २ छप्पय, ३ कुडलिया तथा १४ पद प्राप्त है। इस प्रकार इनके स्फुट काव्य की छन्द सख्या २७ है।

दामोदरदास सेवक जी [जन्म स० १५७७ के आसपास तथा मृत्यु १६१०] इनकी रचना का नाम 'सेवक वाणी' है। यह चतुरासी पर आधारित तथा सोलह प्रकरणो मे विभक्त है।

हरिराम व्यास [जन्म स० १५६० के लगभग तथा मृत्यु-समय अज्ञात] रचनाए व्यासवाणी। इसमे ६५८ पद तथा १४८ दोहे या साखियाँ है। इनकी अन्य कृतियाँ रागमाला तथा नवरत्न एव स्वधर्म पद्धति सस्कृत मे है। रागमाला

१ देखिए, पोद्दार अभिनन्दन ग्रन्थ, स० डॉ० वासुदेव शरण अग्रवाल

२ प्रकाशित, ज्योतिषी प० रामलाल शर्मा, भागवती, रीवा, स० २०१४ सग्रहकर्ता, सेवक जी महराज, इस सग्रह का नाम 'श्री हितामृत निधि' है।

सगीतशास्त्र की रचना है। अन्य कवियो मे चतुर्भुजदास तथा ध्रुवदास का अधिक महत्त्व है। चतुर्भुजदास रचित द्वादशयश एव ध्रुवदास की ४२ रचनाएँ प्रसिद्ध है। किन्तु प्रस्तुत अध्ययन की समय-सीमा मे ये कवि नही आते। इस सम्प्रदाय के कुछ ऐसे भी कवि है जिनकी रचनाएँ सम्प्रति प्रकाश मे नही आई है। इनमे कल्याण पुजारी की वाणी के मात्र २०० पद उपलब्ध बताए जाते है। रसिक कवि 'नेही' नागरीदास की तीन रचनाएँ—सिद्धान्त पदावली, पदावली, रस पदावली के नाम से प्रसिद्ध है।[1]

निम्बार्क सम्प्रदाय

निम्बार्क सम्प्रदाय मध्यकाल मे वस्तुत हरिव्यासी और हरिदासी दो सम्प्रदायो मे विभक्त हुआ है। ये दोनो सम्प्रदाय यद्यपि कृष्ण की रसिक उपासना को ही आधार मानकर अपनी प्रेम-साधना मे तत्पर थे, किन्तु दोनो सिद्धान्तो मे पर्याप्त अन्तर है। इस अन्तर के ही फलस्वरूप इसकी दो शाखाएँ बन गईं। इन दोनो शाखाओ के कवियो एव उनकी रचनाओ की सूची इस प्रकार है—

हरिदासी सम्प्रदाय[2]

हरिदास स्वामी—[जन्म विक्रम की १६वी शती मृत्यु १७वी शती का मध्यकाल] इनके १२८ ध्रुपद प्राप्त है। १८ सिद्धान्त के पद १०८ या ११०, श्री राधाकुज विहार पद कहे जाते है। इन पदो का सग्रह केलिमाल के नाम से प्रसिद्ध है। इनके पदो का सकलन प्रभुदयाल मीतल के साहित्य सस्थान, मथुरा से प्रकाशित हो चुका है। मीतल ने इनके कीर्तन-सग्रहो मे प्राप्त कतिपय सदिग्ध पदो का उल्लेख किया है। ऊपर निर्देशित पदो का सग्रह निम्बार्क माधुरी मे है।

श्री विट्ठल विपुल—[जन्म एव मृत्यु स्वामी हरिदास के आसपास १६वी तथा १७वी शती के आसपास] इनके द्वारा रचित मात्र ४० पद बताए जाते है। इनके ७ पदो का संकलन प्रभुदयाल मीतल ने 'स्वामी हरिदास एव अष्टाचार्यों की वाणी' किया है। निम्बार्क माधुरी मे इनके ३९ पद सकलित हैं।

---

१ ये सूचनाएँ डॉ० विजेन्द्र स्नातक के शोध प्रबन्ध 'राधावल्लभ सम्प्रदाय सिद्धान्त और साहित्य' से ली गई हैं।

२ रचनाओं एव कवियों के लिए देखिए, 'स्वामी हरिदास तथा अष्टाचार्यों की वाणी' प्रभुदयाल मीतल एव 'निम्बार्क माधुरी', भक्त बिहारी शरण।

श्री बिहारिन दास [जन्म स० १५६१ मृत्यु स० १६५९] इनके रचे हुए ७०० दोहे (साखी के रूप मे), २०० सिद्धान्त पद तथा ४०० शृगार पद बताए जाते है। निम्बार्क माधुरी मे इनके ९० पदो का सकलन प्राप्त है।

नागरीदास [निज मत सिद्धान्त, के अनुसार उनका जन्म स० १६११ तथा मृत्यु स १६८३ के लगभग है] इनके द्वारा रचित वाणी मे कवित्त, सवैया और पद प्राप्त है। निम्बार्क माधुरी मे २० मवैये, ६ कवित्त एव २५ पदो का सकलन मिलता है।

हरिव्यासी सम्प्रदाय

हरिव्यासी सम्प्रदाय के प्रथम सिद्धान्त विवेचक श्री भट्ट जी कहे जाते है, जिनसे हरिव्यास देवाचार्य ने दीक्षा ली थी। इन्ही हरिव्यास देव जी ने हरिव्यासी सम्प्रदाय की स्थापना की थी।

श्री भट्ट जी का कविता-काल तेरहवी शताब्दी के मध्य से लेकर चौदहवी के मध्य तक है। इनकी रचना का नाम श्री जुगलसत है जिसके ४९ पद निम्बार्क माधुरी मे सकलित है।[1]

श्री हरिव्यासदेवाचार्य [जन्म स० १६२० तथा मृत्यु-काल अनिश्चित] इनके द्वारा निर्मित ३ ग्रन्थ बताए जाते है। सिद्धान्त रत्नाजलि, अष्टयाम, श्री-निम्बार्क अष्टोत्तर शतनाम की टीका, तत्वार्थ पचक, पच सस्कार निरूपण तथा श्री महावाणी। श्री जुगलसत का भाष्य है। निम्बार्क माधुरी मे इनके १० स्तोत्र तथा ७२ पद सकलित है।[2]

श्री रामदेव जी [जन्म स० १६ वी शती तथा मृत्यु अज्ञात] आपकी रचना परशुराम सागर के नाम से प्रसिद्ध है जिसमे बाइस सौ दोहे, छप्पय, छन्द, एव हजारो पद है।[3] श्री निम्बार्क माधुरी मे १०० दोहे तथा ३३ पद संकलित है।

गौडीय सम्प्रदाय

हिन्दी के गौडीय सम्प्रदाय के कवियो का विस्तृत परिचय अद्यावधि अनुपलब्ध था, किन्तु इस मत के ब्रजभाषा कवियो की एक विस्तृत एव प्रामाणिक सूची प्रभुदयाल मीतल ने 'चैतन्यमत और ब्रज साहित्य'[4] नामक पुस्तक मे दी है। प्रस्तुत अध्ययन की दृष्टि से यह विवरण इस प्रकार है।

१ श्री निम्बार्क माधुरी, बिहारी शरण, पृ० ७
२ वही पृ० २७
३ वही पृ० ७४
४ प्रकाशित, साहित्य सस्थान, मथुरा, १९६२

माधवदास जगन्नाथी [समय १५वी शती] इनके द्वारा लिखित कई रचनाओ की सूची मीतल ने इस प्रकार दी है—इतिहास कथासार समुच्चय, नारायण लीला, ग्वालिन झगरौ, मदालसा आख्यान, परतीत परीक्षा। इसके अतिरिक्त इनके अन्य छोटे ग्रन्थ भी है—बाल लीला, नागरी लीला, जनमकरन लीला, ध्यान लीला, रथ लीला, स्वयम्बर लीला तथा रघुनाथ लीला।

आनन्द घन [सुजान-प्रेमी राधावल्लभी सम्प्रदाय से पृथक्, जन्म स० १५५० तथा मृत्यु १६०० के आसपास] इनके द्वारा रचित मात्र कुछ फुटकल पद प्राप्त होते है। पोद्दार अभिनन्दन ग्रन्थ मे आनन्द घन के नाम से प्रकाशित पद इन्ही के बताये जाते है।

रामराय [स० १६०० के आसपास इनका जीवन-काल निश्चित किया जाता है] इनके द्वारा रचित दो ग्रन्थ बताए जाते है, आदि वाणी तथा गीत गोविन्द भाषा।

सूरदास मदनमोहन [इनका जीवन-काल स० १६०० के आसपास निश्चित किया जाता है] इनके द्वारा भागवत दशम स्कन्ध के भाषानुवाद का भी सकेत किया जाता है, किन्तु यह अप्राप्य है। प्रभुदयाल मीतल ने साहित्य-सस्थान, मथुरा से इनके पदो का सग्रह प्रकाशित कराया है।

गदाधर भट्ट [इनका भी जीवन-काल स० १६०० के आसपास स्थिर किया जाता है] गदाधर भट्ट की वाणी के नाम से इनके पदो का सम्पादन बाबा-कृष्णदास ने कराया है। इन पदो की सख्या १०० के लगभग है।

चन्द्रगोपाल [जन्म-काल स० १६०० के लगभग] इनकी सस्कृत और ब्रजभाषा दोनो मे रचनाएँ मिलती है। सस्कृत की इनकी रचनाएँ इस प्रकार है—श्रीराधामाधव भाष्य, गायत्री भाष्य तथा श्री राधामाधवाष्टक। चन्द्र चौरासी, अष्टयाम सेवासुधा, गौराग अष्टयाम, ऋतु विहार तथा राधा विरह उनकी ब्रजभाषा मे प्रणीत कृतियाँ है।

इसके साथ ही साथ इस सम्प्रदाय के अन्तर्गत रामराय तथा चन्द्र-गोपाल के शिष्यो का उल्लेख मिलता है। रामराय के बारह तथा चन्द्रगोपाल के चार शिष्य थे। इनमे गरीबदास, भगवानदास, विष्णुदास, जुगलदास, नागरीदास आदि अधिक महत्त्वपूर्ण कहे जाते है। मीतल के इन विवरणो के साथ-ही-साथ इस सम्प्रदाय के ६५ ज्ञात एव १६ अज्ञात अन्य कवियो का उल्लेख किया है। इस प्रकार ब्रजभाषा का गौडीय साहित्य मध्यकाल मे अत्यन्त प्रभावपूर्ण ज्ञात होता है।

रसिक सम्प्रदाय के हिन्दी कवि तथा उनकी रचनाएँ

रसिक सम्प्रदाय के कवियो को भी मध्यकालीन वैष्णव भक्त कवियो की सीमा के अन्तर्गत रखा जाता है। यद्यपि यह सत्य है कि इस सम्प्रदाय पर कार्य करने वाले विद्वानो को इनकी साहित्यिक अभिरुचि एव रचनात्मक प्रतिभा पर अविश्वास है और यह सत्य भी है, किन्तु भक्ति काव्य की परम्परा से सम्बन्धित होने के कारण यहाँ इस सम्प्रदाय का अध्ययन अपेक्षित है। इनके काव्य की प्रवृत्ति एक ओर कृष्ण भक्ति साहित्य से मेल खाती है, दूसरी ओर इस पर तत्कालीन काव्य-परम्पराओ का प्रभाव स्पष्टरूप से देखा जा सकता है। इसकी रसिकता का स्तर प्राय छिछला ही है। निश्चित ही इस प्रकार का साहित्य उस महान् धारा का तलछट ही कहा जा सकता है जिसने रामचरित के एक उपेक्षित पक्ष की ओर भावुक भक्तो का ध्यान आकृष्ट कर हिन्दी साहित्य मे एक नई चेतना उत्पन्न की। विद्वान लेखक इस प्रवृत्ति को नई चेतना कहता है तो कहे, किन्तु इन काव्यो मे निम्न स्तर की जिन रसिक क्रीडाओ की अभिव्यक्ति मिलती है उसे साहित्य का विद्यार्थी शुद्ध काव्य का विषय बनाने मे हिचकेगा अवश्य। इस सम्प्रदाय के अन्तर्गत निम्न कवियो का उल्लेख किया जा सकता है।

अग्रदास (उपनाम अग्रअली) [समय १६वी शती के आसपास] रचनाएँ—१ ध्यानमजरी, २ कुडलिया। डॉ० भगवती प्रसाद सिंह का कथन है कि इनमे प्रथम रचना 'राम ध्यान मजरी' तथा द्वितीय 'उपदेश उपखाण बावनी' नाम से भी प्राप्त होती है। इसके अतिरिक्त, 'शृगार रस सागर' अथवा 'अग्रसागर' नामक विशाल रसिक ग्रन्थ इनके द्वारा विरचित बताया जाता है। जनश्रुति है कि इसी तीसरे ग्रन्थ अग्रसागर को पढने के लिए मानस के प्रथम टीकाकार महात्मा रामचरण दास ने रवैसा जा कर अपना तिलक बदल डाला।[1] सस्कृत भाषा मे लिखित इनका एक अष्टयाम भी प्रकाशित बताया जाता है। ध्यान मजरी एव कुडलिया के कुछ पदो का सकलन भुवनेन्द्र मिश्र माधव ने अपनी पुस्तक 'रामभक्ति साहित्य मे मधुर उपासना' मे किया है।

नाभादास (नारायणदास नाभाअली) [१७वी शती] रचनाएँ—भक्तमाल, श्री राम से सम्बन्धित दो अष्टयाम, ब्रजभाषा पद्य तथा गद्य। रामचरित सग्रह नामक एक चौथे ग्रन्थ का भी उल्लेख विद्वानो ने किया है, किन्तु परीक्षा करने

१. रामभक्ति में रसिक सम्प्रदाय, डॉ० भगवती प्रसाद सिंह, पृ० ३८१

पर वह ब्रजभाषा मे रचित अष्टयाम के कतिपय छन्दो का सकलन मात्र ठहरता है।[1] भुवनेन्द्र मिश्र माधव ने इनके अष्टयाम का भी सकलन किया है।

बालकृष्ण या बालअली [१७वी शती] इनकी आठ रचनाओ का पता चलता है—ध्यान मजरी, नेह प्रकाश, सिद्धान्त तत्त्व दीपिका, दयाल मजरी, ग्वालपहेली, प्रेम पहेली, प्रेम परीक्षा, परतीत परीक्षा। इनकी ध्यान मजरी एव नेह प्रकाश का सकलन भुवनेन्द्र मिश्र माधव के ग्रन्थ मे प्राप्त है।[2]

डॉ० भगवती प्रसाद सिंह ने प्रस्तुत अध्ययन की सीमा मे आने वाले इन्ही तीन कवियो का उल्लेख किया है। प० भुवनेन्द्र मिश्र माधव ने मधुराचार्य कृत सुन्दर सन्दर्भ की परम्परा के आधार पर इसके निम्नलिखित प्रारम्भिक कवियो की चर्चा की है—

स्वामी रामानन्द, स्वामी अनन्तानन्द तथा कृष्णदास पयहारी। कृष्णदास पयहारी के दो शिष्य थे—कील्हदास तथा अग्रस्वामी। कील्हदास की परम्परा मे छोटे श्री कृष्णदास, श्री विष्णु दास, रसिकेन्द्र श्री नारायण मुनीन्द्र, श्री हृदयदेव, स्वामी प्रपन्न मधुराचार्य आदि आते है। अग्रअली की परम्परा मे नाभादास एव प्रियादास का नाम लिया जाता है।[3] किन्तु इन भक्त कवियो के काल-निर्णय तथा कृति के समुचित उल्लेख के अभाव मे प्राप्त सामग्री के ही आधार पर निष्कर्ष निकाला जा सकता है। वैसे प्राप्त सामग्री से इसकी विषयावस्तु एव विशिष्टता का सम्पूर्णत परिचय मिल जाता है।

वैष्णवभक्ति साहित्य के वर्ण्य विषय का प्रवृत्तिगत मूल्यांकन

इस सदर्भ मे देखा जा चुका है कि हिन्दी वैष्णव भक्तिकाव्य की प्रेरणा अत्यधिक प्राचीन एव सम्पन्न है। इस विशाल साहित्य की अन्तर्परिधि का विश्लेषण करने के लिए इसे ५ भागो मे विभक्त किया जा सकता है। इन प्रवृत्तियो का सम्बन्ध पूर्णरूपेण पूर्ववर्ती धार्मिक परम्परा से रहा है—

१ सामाजिक मूल्य २ नैतिक आचरण एव भक्ति ३ दार्शनिक आधार ४ भक्ति सम्बन्धी दृष्टिकोण एव लीला ५ काव्य दृष्टि।

---

१ रामभक्ति मे रसिक सम्प्रदाय, डॉ० भगवती प्रसाद सिंह, पृ० ३८४
२ वही पृ० ३८७
३ रामभक्ति में मधुर उपासना, भुवनेन्द्र मिश्र माधव, पृ० १३७, १३८

सामाजिक मूल्य—वैष्णव धर्म के आन्दोलन के मूल मे सामाजिक रचना का आदर्श प्रधान है। महाभारत शान्ति पर्व मे सामाजिक रचना का उच्च आदर्श मिलता है। शान्ति पर्व के आपद्धर्म पर्व मे सामाजिक रचना के घातक मूल्यो मे असत्य, हिसा, वैर न करना, अलोभ, काम, क्रोध आदि १३ अन्य मनोविकारो तथा नाना प्रकार के पापो एव उनके प्रायश्चित्त का विधान मिलता है। आचरण एव प्रायश्चित्त विधान से सम्बन्धित सहिताएँ मूलत इसी परम्परा से सम्बद्ध है। यह सामाजिक आदर्श वैष्णव धर्म की परम्परा मे स्वीकृत वैदिक आदर्श से सम्बन्धित है।[1] महाभारत शान्ति मोक्ष धर्म पर्व के अतर्गत वैष्णवोचित क्रियाओ आदर्शो एव परम्परागत प्राप्त सामाजिक मूल्यो का विधान मिलता है। भरद्वाज एव भृगु सवाद मे ठीक उन्ही सामाजिक मूल्यो का कथन है। यहाँ चारो वर्णो की उत्पत्ति, ब्रह्मचर्य एव गार्हस्थ आश्रम, धर्मो का वर्णन, धर्म की प्रशसा, शिष्टाचार आदि का विस्तृत विधान प्राप्त है।[2] हरिवश मे सामाजिक अनाचार से विमुख होने तथा वैदिक मर्यादाओ के पालन को समाज का उच्चतम उद्देश्य बताया गया है। यहाँ पितृकल्प के अन्तर्गत योगभ्रष्ट भरद्वाज-पुत्रो की कथा के सदर्भ मे बताया गया है कि जो अयाच्य से याचना नही करते, दीन पुरुषो का अपमान नही करते, धन की गर्मी से मदमत्त नही होते, जिनके आहार-विहार शास्त्रानुकूल होता है, जो सदा भोग मे नही लीन रहते, अनार्य चर्चा नही करते, ब्राह्मणो की सेवा करते है, जो आलस्य एवं अभिमान से युक्त नही होते, जितक्रोधी होते हे, वे (समाज के) उच्चतम पुरुष है। इन व्रतो के पालन करने वाले व्यक्ति सदैव कल्याण के पात्र बने रहते है तथा इनसे समाज की सनातन व्यवस्था भग नही होती।[3] निश्चित रूप से यहाँ उन सामाजिक आचरणो का विधान मिलता है, जिन्हे भक्त कवि 'वेदविहित धर्म' की सज्ञा देते है। विष्णु पुराण अश ६ के अन्तर्गत सामाजिक कुव्यवस्था की ओर सकेत किया गया है। पुराणकार के अनुसार कलि के फैल जाने पर समस्त सामाजिक मूल्यो का विनाश हो जाता है। शिक्षा, वर्ण-व्यवस्था, शक्ति, धर्म, स्त्री, राजा, प्रजा, आदि की गति वैदिक परम्परा के विपरीत दिखाई पडने लगती है, प्रजा मे अनाचरण, पाखड, स्वेच्छाचारिता, ब्राह्मणो का अपमान, वैदिक धर्मो का उल्लघन होने लगता है।[4] मत्स्य, ब्रह्म, लिग पुराणो मे तीर्थस्थान, दैनिक चर्या, व्रताचरण

१ महाभारत, शान्ति पर्व, पृ० ४८३२ से ४० तक
२ वही पृ० ४६०१ से १० तक
३ हरिवश, हरिवश पर्व, अध्याय २०, श्लोक ११ से १८ तक
४ विष्णु पुराण, अश ६, अध्याय १, श्लोक ५०५ से ५१० तक

नियम, उपवास, आदि का विधान मिलता है। ये विधान मध्यकालीन वैष्णवोपासना के अंग के रूप मे स्वीकृत थे। उनका मुख्य उद्देश्य समाज का धार्मिक संरक्षण ही था। श्रीमद्भागवत पुराण मे इस सामाजिक मान्यता का पूर्णरूपेण समर्थन प्राप्त होता है। भागवत माहात्म्य के अन्तर्गत भक्ति के फल का विधान सामाजिक मान्यता की परिपुष्टि के लिए ही है। भागवत कथा के श्रोता के लिए विधान मिलता है कि वह सात दिन तक निराहार रहकर मात्र दुग्ध का ही सेवन करे, काम, क्रोध, मद, मोह मान, मत्सर, दम्भ, लोभ, द्वेष को छोड कर वेद, वैष्णव, ब्राह्मण, गुरु, गो, तथा महापुरुषो की सेवा करे, धार्मिक व्यक्ति अन्त्यज, म्लेच्छ, पतित, गायत्रीहीन द्विज, ब्राह्मण द्वेष्ट, से कभी बात न करे। इस प्रकार के व्रताचरण से ही भागवत के फल की प्राप्ति होती है। भागवत कथा के फल की ओर संकेत करता हुआ पुराणकार उसे समस्त पापो के विनाश मे सहायक, मुक्ति का एक मात्र कारण, भक्तिवर्धक एव कल्याणकर तत्त्व बताता है।[1] इसके सप्ताह श्रवण से सामाजिक नैतिक धारणा को पुष्टि मिलती है। इसका श्रवण करके सत्य से च्युत, माता-पिता की निन्दा करने वाले, आश्रम रहित, स्त्री, दूसरो की उन्नति देखकर कुढने वाले आततायी पवित्र हो जाते है। मदिरापान, ब्रह्महत्या, स्वर्णचोरी, गुरुस्त्रीगमन, विश्वासघात पॉच पापो से मुक्त हो कर स्वर्ग के अधिकारी बनते है। इस प्रकार भागवत सामाजिक दूषण से मुक्ति देने का प्रबलतम साधन है।[2] कल्कि अवतार के अन्तर्गत कलियुग मे उत्पन्न होने वाले सामाजिक अनाचारो की वृद्धि एव उनसे मुक्ति का उपाय बताया गया है।

पौराणिक परम्परा से प्राप्त इसी सामाजिक आदर्श की पूर्ण प्रतिष्ठा हिन्दी वैष्णव भक्ति काव्य मे मिलती है। इसी संदर्भ मे विकसित मध्यकालीन हिन्दी वैष्णव भक्तिकाव्य मे प्राप्त सामाजिक रचना के कई स्तर दिखाई पडते है। इन्हे क्रमश तीन श्रेणियो मे विभक्त किया जा सकता है—

१ **उच्चतम मंगलमय मानव समाज की कल्पना** हिन्दी के वैष्णव भक्तिकाव्य मे उच्चतम मंगलपूर्ण मानव समाज की कल्पना मिलती है। तुलसी का रामराज्य एव सूर का कृष्ण राज्य इस मंगलमय समाज का उच्चम आदर्श है। इस आदर्श का विकास पौराणिक परम्परा से सम्बन्धित है। इस राज्य मे निम्न सामाजिक लक्षणो की

१ भागवत, माहात्म्य, अध्याय ५, श्लोक ५५-६० तक

२ भागवत माहात्म्य, अध्याय ४, श्लोक ११-१४ तक

ओर सकेत मिलता है। इस राज्य मे समस्त प्राणियो को हर्ष,आर्थिक, विषमता, दैहिक पीडा, मानसिक अन्तर्द्वद्व एव अन्य चिन्ताओ से पूर्ण मुक्ति मिलती है। व्यक्ति अपने व्यक्तिगत अभावो से पीडित नही होता। वह दैहिक एव भौतिक तापो से वचित रहता है। धार्मिक मूल्यो, जिनका उल्लेख पुराणो मे मिलता है, उसकी पूर्ण स्थापना मिलती है। वर्णाश्रम एव वेदसम्मत धर्म का प्रचार, श्रुतिकथित मार्ग का आचरण तथा मनुष्य मनुष्य मे प्रेम एव सद्भावना इस समाज का अन्तिम गुण है। इस समाज मे धर्म अपने चारो पैरो पर खडा रहता है। कोई भी व्यक्ति रोग, शोक एव मृत्यु-पीडा से पीडित नही होता।[1] रामराज्य की ठीक यही स्थिति कृष्ण राज्य मे आरोपित है। इन कथनो से दो निष्कर्स सरलतापूर्वक निकाले जा सकते है—

१. सामाजिक आदर्श का मापक तत्त्व धर्माचरण या धर्मप्रेरित नीति है।

२ इस समाज मे सबको वैयक्तिक सुख, सन्तोष प्राप्त करने एवं दुश्चिन्ताओ से मुक्त रहने का पूर्ण अधिकार है।

इस प्रकार वह सामाजिक आदर्श मानव-कल्याण की उच्चतम स्थापना पर निहित है। इस समाज का अन्तिम मूल्य नैतिक कल्याण या लोकमगल की स्थापना है। इस शुभ मूल्य का साधन नैतिक आचरण है। इस समाज के नागरिको मे वर्णाश्रम धर्म से अनुमोदित ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, उच्चतम सामाजिक शुभ मूल्य के स्थापक राम या कृष्ण (विष्णु के अवतार) तथा इन मूल्यो के पोषक सज्जन तपस्वी, साधु, महात्मा आदि है।

अधमतम समाज—इन भक्त कवियो ने जहाँ एक ओर राम या कृष्ण राज्य का उल्लेख किया है, दूसरी ओर उसी की ही मात्रा मे अपवित्र गर्हित अनाचारपूर्ण राज्य का भी सकेत किया है। रावण एवं कस का राज्य इसी का प्रतीक है। इस समाज मे प्रत्येक व्यक्ति शक्ति एव छल-प्रपचो को अधिकृत करके शुभ मूल्यो के विनाश का प्रयत्न करता है। रावण एव कस अधमतम अमरता के वरदान थे। कुभकर्ण ६ मास सोकर एक दिन उठने के बाद गर्हित एव अशुभतम कार्य कर डालता था। मेघनाथ घोर आधिभौतिक शक्तियो का स्वामी था। कृष्ण कथा मे प्रयुक्त तृणावर्त्त, शकटासुर, भौमासुर आदि असुर वर्ग विभिन्न उत्पीडक आधिभौतिक शक्तियो के अधिकारी थे। इनका उद्देश्य आधिभौतिक प्रचड शक्तियो से मनुष्य को पीडित करना था।

---

१ मानस, उत्तर काड, दो० स० २३ तथा २४

ये समस्त शक्तियाँ मिल कर एक अशुभतम उच्च सत्ता रावण या कस का समर्थन करती है। इस समाज मे मानव के अहित के लिए प्रयुक्त सबसे गर्हित मूल्य उच्च समझे जाते थे। यहाँ के सामाजिक मूल्य ऋषि, मुनि, ब्राह्मण, धेनु की हत्या, यज्ञ भग, धर्मावरोध, मास भक्षण, मदिरापान, रगनृत्य, विलास, आमोद-प्रमोद, स्वेच्छाचारिता आदि अमानवीय क्रिया-कलापो से सम्बन्धित थे।

इन अशुभप्रद मूल्यो के स्थान पर उच्चतम मूल्यो की स्थापना मध्यकालीन वैष्णव धर्म की मूल विचारधारा से सम्बद्ध थी। ये अशुभ मूल्य वेद-विरोधी, जनहित मे असमर्थ तथा मगलेच्छा से शून्य थे। इनके स्थान पर वेदसम्मत लोकहित तथा मगलमय मूल्यो की स्थापना इनकी कविता का अन्तिम उद्देश्य था। इस उद्देश्य की पूर्ति मे मात्र उच्चतम पूर्ण मूल्य (Highest absolute value) अर्थात् विष्णु ही सहायक है। रामभक्ति शाखा मे पदच्युत शुभ मूल्य के प्रतीक विभीषण एव कृष्णभक्ति शाखा मे वसुदेव तथा देवकी को समझा जा सकता है। अशुभतम मूल्यो के विनाश के बाद विभीषण एव वसुदेव पुन शुभमूल्यो का सस्थापन समाज मे करते है।

समाज के इन वर्गो की अपेक्षा लौकिक वर्ग इसी मे साकेतिक रूप से अन्तर्मुक्त हो जाता है। रामराज्य के समस्त आचरण, या स्थल-स्थल पर साकेतिक शुभ कर्म समस्त लोकवर्ग के लिए अपेक्षित हे। इनका विशेष विस्तार-पूर्वक अध्ययन व्यक्तिगत मूल्यो के सन्दर्भ मे होगा।

मानव-वर्ग के साथ-साथ मध्यकालीन वैष्णव धर्म की पौराणिकता ने पौराणिक विश्वासो एव प्रचलनो को सामाजिक मान्यता के रूप मे स्थापित किया है। इसमे तिर्यक योनि भुशुण्डि-गरुड, पशुयोनि बन्दर, भालु तथा गाये, पशु-पक्षी तक वैष्णव धर्म की सामाजिक रचना के अग बन गए है। भिन्न-भिन्न चेतना स्तर के ये जीव शुभ मूल्यो का समर्थन करते है। भुशुण्डि राम-कथा के परम शुभ मूल्यो के स्थापन एव अधमतम मूल्यो के विनाश मे पूर्णतया सचेष्ट मिलते है। जड वस्तुएँ मानव हित की मगलेच्छा से एक मात्र प्रेरित समाज को सम्पन्न तथा सुखी रखने की ओर प्रयत्नशील है। रामराज्य के प्रसग मे तुलसी ने जड प्रकृति की सामाजिक हितैषिता की ओर इस प्रकार सकेत किया है—मनुष्यो के लिए वृक्ष सदा फूलने लगे, पशुओ का नैसर्गिक बैर-भाव समाप्त हो गया, वे निर्भय होकर विहार करने लगे, सुरभि आनन्दित होकर बहने लगी, भ्रमर मकरन्द पान करके मस्त होकर विचरण करने

लगे, विटप के माँगने पर लताये मधुदान करने लगी तथा गाये स्वत कामालु होकर दूध देने लगी। पृथ्वी अन्न से सम्पन्न हो गई, गिरि-कन्दराओ मे प्रभूत धातु राशियाँ नि सृत होने लगी। समुद्र अपनी मर्यादा मे रहकर तट पर मणि विकीर्ण करने लगा एव आजीवक उनको चुन-चुन कर जीविकार्जन करने लगे। तडाग कमल पूरित दिखाई पडने लगे। चन्द्र की किरणो से पृथ्वी शीतल हो गई तथा सूर्य की प्रखर किरणे मात्र तेज के कार्यो मे ही निष्पन्न होने लगी। बादल व्यक्ति की इच्छा पर जल देने लगे।

सामाजिक मूल्यो के साथ-साथ वैयक्तिक मूल्यो की स्थिति वैष्णव भक्ति काव्य मे इस प्रकार है—

व्यक्ति की स्वेच्छा का अवरोध—वैयक्तिक दृष्टि से व्यक्ति मात्र शुभ कर्म करने के लिए ही स्वतत्र है। शुभ कर्म का फल ईश्वर के आधीन है। वह स्वतत्र रूप से फलभोक्ता नही है। क्योकि फल का अधिकार उसे नही है। ईश्वर व्यक्ति के शुभाशुभ कर्मो पर नियत्रण रखता है। इस शुभ-अशुभ कर्म के मूल मे व्यक्ति के सस्कार अधिक प्रभावशील होते है। विभीषण, हनुमान, भरत आदि सस्कारगत साधु थे, फलत शुभ मूल्यो के एकमात्र सस्थापक यही है। दूसरी ओर रावण आदि सस्कारगत अशुभ मूल्यो के प्रतीक है। ये दोनो शुभ एव अशुभ मूल्य एक ही सत्ता के द्वारा नियत्रित किए जाते है। वह सत्ता है पूर्ण प्रत्यय (Absolute Idea) की। यह पूर्ण सत्ता ब्रह्म की है। सक्षेप मे, व्यक्ति की कर्मेच्छा एव फल-निर्धारण इसी पूर्णसत्ता पर निर्भर है। इसके अतिरिक्त सासारिक वर्ण व्यवस्था मे विभक्त जाति एव वर्ग ये भी स्वतत्र नही है। इनके लिए परम्परागत वर्ण-व्यवस्था निर्धारित कर दी गई है, जिसमे इनका रहना अनिवार्य है। इन कवियो ने वर्ण-व्यवस्था को वैदिक परम्परा का अग मानकर इसे लौकिक व्यवस्था का मूलाधार सिद्ध किया है। फलत नैतिक, धार्मिक एव कर्म की दृष्टि से व्यक्ति पूर्णत परतत्र है। भक्ति एव आचरण के सदर्भ मे वैयक्तिक मूल्यो की स्थिति और भी स्पष्ट है।

व्यक्ति की विभिन्न कोटियाँ नैतिक आचरण एवं भक्ति

वैष्णव भक्त कवियो के अनुसार जीवन का अन्तिम मूल्य शुभ तत्त्वो की उपासना है। पौराणिक एव धार्मिक परम्परा से चले आते हुए वैष्णव धर्म के अन्तर्गत अर्थ, धर्म, काम एव मोक्ष समाज के सामान्य वर्ग के लिए

है। सामान्य वर्ग से ऊँचे उठकर मनुष्य धर्मापेक्षी मात्र रह जाता है। इस स्थिति से उठकर वह व्यक्ति सात्विक वर्ग के अन्तर्गत आता है। रामचरित मानस मे सामान्य वर्ग से ऊँचे उठे हुए अनेक पात्र आते है। उच्चतम सामाजिक मूल्यो का स्थापन सात्विक वर्ग के ही अन्तर्गत होता है। अयोध्याकाड मे राम के द्वारा पूछने पर वाल्मीकि सात्विक व्यक्ति एव सात्विकता का निम्न लक्षण बतलाते है। निरन्तर रामकथा के श्रवण के प्रति सुरुचि रखने वाला, रामकृपा का आकाक्षी, राम के स्वरूप पर लुब्ध होने वाला, ईश्वर को अर्पित करके भोजन करने वाला, गुरु को शीश झुकाने वाला, विनयशील, तीर्थों का पर्यटक, गुरु का सम्मान करने वाला, काम, क्रोध, मद, मोह, लोभ, क्षोभ, राग, द्रोह, कपट, दम्भ से रहित, सबको प्रिय, सुख-दु ख मे समभाव वाला, निरन्तर सत्यभाषी, दूसरे की पत्नी को माता के समान देखने वाला, निरन्तर राम की शरण मे रहने वाला, दूसरे के धर्म को विष की तरह देखने वाला व्यक्ति समाज के सात्विक वर्ग से सम्बन्धित है। ये उच्च सामाजिक रचना के विधायक मूल्य है। सात्विक वर्ग के पुरुष इनसे नि श्रेयस् तत्व की प्राप्ति करते है। सात्विक वर्ग से ऊँचे उठने पर सन्त एव साधु वर्ग आता है। साधु वर्ग के ये प्रतिनिधि निरन्तर शुभ मूल्यो का परिष्करण, मार्जन एव सस्थापन मे लगे रहते है। याज्ञवल्क्य, जनक, विश्वामित्र, नारद आदि इसी वर्ग के प्रतिनिधि है। कृष्ण-कथा मे भीष्म तथा विदुर को इसी श्रेणी मे रखा गया है। व्यक्ति एव वर्ग की दृष्टि से अन्तिम श्रेणी भक्त वर्ग की है। हिन्दी वैष्णव भक्त कवियो की दृष्टि मे भक्त समाज के उच्चतम साधक है। भक्तो के आचरण एव कर्तव्य की ओर मानस एव सूरसागर मे अनेक स्थलो पर उल्लेख मिलता है। शबरी के प्रसग मे मानसकार भक्त के लिए इस प्रकार के आचरण का विधान करता है। ये आचरण सत्सग, रामकथा मे रुचि, गुरुपद सेवा, रामभक्ति, मत्र जाप, दान, शील तथा विराग, यथालाभ सन्तोष एव सबसे छलहीनता है।[1] एक दूसरे स्थल पर कवि ने पुन भक्ति के साधनो या भक्त के कर्तव्यो की ओर सकेत किया है। विप्र चरण मे प्रीति, श्रुति द्वारा कथित वर्णाश्रम-व्यवस्था के अनुसार कर्म, विषय-विराग, धर्म-अकुरण, श्रवणादिक भक्ति की दृढता, लीलारति, सन्त चरण मे प्रेम, मन-वाणी-कर्म से भजन, पारिवारिक कर्तव्यो का पालन, ईश्वर का गुण-गान करते समय पुलकित हो जाना, गदगद होकर आँखो से अश्रु का गिराना,

१ मानस, अरण्यकाण्ड, दोहा स० ३५, ३६

काम, मद एव दम्भ से पार्थक्य भक्त के लिए सेव्य है ।[1] इस प्रकार वैयक्तिक दृष्टि से व्यक्ति के विभिन्न वर्गों के लिए विभिन्न प्रकार के कर्तव्यो का निर्धारण इन कवियो ने अपने काव्यो मे किया है ।

जीवन के अन्तिम मूल्य—इनके अनुसार मानव-जीवन के अन्तिम मूल्य का निर्धारण शुभ या अशुभ कर्तव्य से होना चाहिए । शुभ से प्रेरित जीवन-मूल्य उपास्य एव शेष त्याज्य है । इस शुभ मूल्य मे मुक्ति या मोक्ष तथा भक्ति की प्रीति जीवन का अन्तिम लक्ष्य है । मुक्ति की कल्पना इनके काव्य मे लोको से सम्बन्धित है । व्यक्ति शुभ कर्मों के द्वारा देवलोक, गौलोक, ब्रह्मलोक एव विष्णुलोक के अधिकारी होते है । इसी दृष्टि से सायुज्य, सारूप्य, सालोक्य आदि मुक्तियो की परम्परागत मान्यताएँ इनके काव्यो मे प्राप्त है । इन शुभ मूल्यो के नियंत्रक एव दाता विष्णु एव उनके सहायक ब्रह्मा तथा शकर है । ब्रह्मा एव शकर शुभ कर्मो के फल रूप मे शक्ति-सम्पन्नता, नि श्रेयस् तथा लोकवास दे सकते है । किन्तु सायुज्य, सालोक्य तथा सारूप्य आदि उच्चतम शुभ मूल्य के निकटवर्ती मूल्य पर उनका अधिकार नही है । उसके नियोजक एकमात्र विष्णु ही है ।

मध्यकाल के आरम्भ मे मुक्ति को समाज एव व्यक्ति का उच्चतम मूल्य समझा जाता था । किन्तु हिन्दी वैष्णव भक्ति काव्य को गौण एव भक्ति को उच्चतम मूल्य समझा गया है । वैष्णव भक्त कवियो के अनुसार समाज का भद्रतम व्यक्ति भक्त है तथा भक्ति उच्चतम मूल्य । भक्त अपनी साधना से मुक्ति की कामना न करके मात्र भक्ति की ही इच्छा प्रकट करता है ।

नैतिक आचरण एवं भक्ति

वैष्णव भक्त कवियो के अनुसार सामाजिक वर्ग-रचना को चार श्रेणी मे विभक्त किया जा सकता है ।

१ भक्त वर्ग	**३. सामान्य मानव वर्ग**
२. साधु या सज्जन वर्ग	**४. कुत्सित असुर वर्ग**

भक्त वर्ग इनमे सबसे श्रेष्ठ है, साधु, सामान्य एवं कुत्सित वर्ग के व्यक्ति भक्त बनकर उच्च वर्ग के व्यक्ति बन सकते है । भक्ति के

---

१ मानस अरण्यकाण्ड, दोहा स ० ३५

स्वरूप मे इसी दृष्टि से अनेक सशोधन किए गए है, ताकि उसका स्वरूप अत्यधिक सुगम एवं प्रचलित हो जाय। साधु, सामान्य तथा कुत्सित वर्ग क्रमश उच्चतम शुभ मूल्य के नीचे की श्रेणियाँ है। विभिन्न वर्गो के लिए इन मध्यकालीन भक्त कवियो ने इस प्रकार के मूल्यो की स्थापना की है और उन पर बल दिया है।

१ **नैतिक सदाचरण एव अनाचरण का द्वन्द्व**—इन कवियो के अनुसार समाज सद्-असद्, विवेक-अविवेक, आचरण अनाचरण के द्वन्द्व से युक्त है। समाज मे यह द्वन्द्व निरन्तर चलता रहता है। असद् एव अनाचार की प्रमुखता के कारण समाज मे अशुभ मूल्यो की स्थापना होती है। ये अशुभ मूल्य इस प्रकार है —जप, तप, योग, विराग तथा यज्ञ का विनाश, भ्रष्टाचार का प्रचलन, हिसा-बहुलता, समाज मे चोर, जुवारी, लपट, परस्त्रीगामी, धर्म-विपरीतता का बाहुल्य आदि।[1] इन अशुभ मूल्यो के उच्छेदन के लिए उच्चतम शुभ मूल्य का अवतरण होता है। उच्चतम शुभ मूल्य अपनी समस्त धार्मिक सजगताओ के साथ अनाचरण से द्वन्द्व करता है। परिणामस्वरूप समाज मे पुन शुभ मूल्यो की स्थापना होती है।

२. **शुभ मूल्यो का स्थायित्व**—इनके अनुसार शुभ मूल्य ही समाज के एकमात्र समर्थक है। शुभ मूल्यो के इन्होने अनेक लक्षण बताये हैं। इनके अनुसार ये पूर्ण, सनातन, परम्परया सक्रमित मूल्य है। इनका कभी भी विनाश नही होता। इस प्रकार वैष्णव साहित्य के अन्तर्गत नैतिक आचरण को प्रमुखता मिली है। यहाँ सात्विक वर्ग के जन सात्विकतापूर्ण एव भक्त वर्ग इनसे विशिष्ट आचरणो का पालन करते है। सात्विक वर्ग के जन समाज मे प्रचलित शुभ मूल्यो का प्रतिनिधित्व करते है। ये आचरण परम्परा से ही सम्बन्धित है। इनमे वैदिक परम्परा से समर्थित कर्मकाड, जप, तप, सत्य, अहिसा, तितिक्षा, दया, मैत्री, कर्तव्यपरायणता, शील, विनय, साधुता आदि सात्विक मूल्य है। आचरण तथा मानसिक पवित्रता का भी इन कवियो ने उल्लेख किया है।

नित्य सेवा तथा वर्षोत्सव सम्बन्धी आचरण की ओर हिन्दी वैष्णव भक्ति काव्य मे उल्लेख मिलता है। पौराणिक परम्परा मे मान्य शुभ तिथियो के अनुसार व्रत, पवित्र तीर्थस्थानो का पर्यटन, नैष्ठिकता का पालन

---

१. मानस, बालकाण्ड, दोहा स० १८३, १८४

इनके प्रेरणास्रोत रहे है। हिन्दी भक्त कवि कृष्ण की नित्य सेवा से सम्बन्धित उत्थापन, भोग, गोदोहन, छाक, शयन तथा वैष्णव धर्म मे स्वीकृत पवित्र, गनगौर, भइयादुइज, रामनवमी, राखी, होली, हिंडोल आदि पर्वो से सम्बन्धित आचरणो का विधान मिलता है। रामभक्ति की रसिकोपासक धारा मे भी नित्य सेवा के विषय मे यही परम्परा प्राप्त है। निम्बार्क सम्प्रदाय के कवियो ने नित्य सेवा को सर्वाधिक महत्वपूर्ण बताकर कृष्ण के प्रति किए गए सामान्य से सामान्य आचरण को पवित्र बताया है। इस दृष्टि से भोजन, बीरी, चवर, कलेऊ, पाँव दबाना, शैया आदि को व्रताचरण से भी अधिक पवित्र माना गया हे। इस प्रकार वैष्णव भक्ति साहित्य मे आचरण-विषयक मान्यताएँ जीवन मे व्याप्त व्यवहारो का स्पर्श कर लेती है।

दार्शनिकता

मध्यकालीन हिन्दी वैष्णव भक्ति काव्य की पृष्ठभूमि के अन्तर्गत कहा जा चुका है कि इन कवियो की दृष्टि साम्प्रदायिक एव स्वतत्र दोनो है। जहाँ तक साम्प्रदायिक मान्यताओ का प्रश्न है, इसे चार भागो मे विभक्त किया जाता है।

१ श्री सम्प्रदाय रामानुज विशिष्टाद्वैतवाद १२वी शती (स० १०३७-११३७)
२ ब्रह्म सम्प्रदाय आनन्दतीर्थ (मध्व) द्वैत मत १२वी शती (११९९–१३०३)
३ रुद्र सम्प्रदाय विष्णु स्वामी शुद्धाद्वैत १२वीं शती
४ सनक सम्प्रदाय निम्बार्क स्वामी द्वैताद्वैत ११वीं शती के आसपास

वैष्णव धर्म मध्यकाल मे व्यापकता की दृष्टि से अधिक महत्त्वपूर्ण था। यह बगाल, आसाम, मिथिला, मध्यदेश, गुजरात, महाराष्ट्र, कर्णाटक, आन्ध्र आदि विस्तृत भू-भाग मे प्रचलित था। हिन्दी के मध्यकालीन भक्ति साहित्य का प्रेरणा स्रोत यही रहा है। मध्यकालीन वातावरण मे इस धर्म की अनेक विकसोन्मुखी प्रवृत्तियाँ दृष्टिगत होती है। बगाल का गौडीय सम्प्रदाय १४वी शती के आसपास वृन्दावन आया था। इसके पूर्व रामानन्द १४वी शती के आरम्भ मे काशी मे आकर रामावत सम्प्रदाय का प्रचार कर चुके थे। आचार्य वल्लभ १५ वी शती के आरम्भ मे मथुरा, काशी, ब्रज तथा प्रयाग मे भ्रमण करके वैष्णव धर्म की श्रेष्ठता का प्रतिपादन कर रहे थे। इस आन्दोलन के विकास से वैष्णव धर्म मे स्वीकृत समस्त तीर्थ एव आराध्य

की लीलाभूमि को अधिकाधिक मान्यता मिली। फलत परवर्ती वैष्णव सम्प्रदाय इन्ही स्थानो मे अधिष्ठित हुए।

भक्ति तथा लीला

भक्ति शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग श्वेताश्वेतरोपनिषद् मे श्रद्धा समवेत् भावना के अर्थ मे हुआ है।[1] महाभारत के शान्ति पर्व मे भी भक्ति एव भक्त का उल्लेख मिलता है। उसके अनुसार भक्त चार प्रकार के है जिनमे एकान्तिन् एव अनन्यदैवत् श्रेष्ठ है। यहाँ एकातिन् भक्ति या भक्त का अर्थ निष्काम भक्ति से लगाया गया है। आचार्य शकर ने ब्रह्मसूत्र भाष्य के अन्तर्गत वासुदेव-उपासना की पाँच विधियो का उल्लेख किया है—वे क्रमश अधिगमन, उपादान, ईज्या, स्वाध्याय तथा योग है। परवर्ती काल मे भक्ति के साधनो मे इनका उल्लेख किंचित परिवर्तन के साथ मिलता है। स्वाध्याय, मत्रजाप तथा योग ध्यान परवर्ती काल मे, भक्ति के महत्त्वपूर्ण साधन माने गए है। अहिर्बुध्न्य सहिता मे भक्ति के साधनो मे आश्रय भक्ति का उल्लेख मिलता है। इसके साथ-साथ यहाँ भक्ति के साधनो मे कीर्तन, मनन, पूजन, ईज्या का भी स्पष्ट उल्लेख है। आरम्भ मे सम्भवतया भक्ति को योग के अधिक समीप रखा गया था। गीता मे भक्ति को योग की सज्ञा मिली है। गीता की भक्ति मे इसके सम्पूर्ण तत्व यत्र-तत्र कथित है। यहाँ भक्ति के तीन रूप दृष्टिगत होते है। १--ज्ञानमूलाभक्ति २--कर्ममूलाभक्ति तथा ३--श्रद्धामूलाभक्ति। महाभारत शान्ति पर्व मे भक्ति को योग की सज्ञा मिली है। श्रद्धामूलक भक्ति का एक वैदिक उल्लेख अधिक महत्त्वपूर्ण है, जहाँ अपाला नामकविदुषी इन्द्र के प्रति आत्मीयता प्रकट करने के लिए जूठे सोम को अर्पित करती है। यह दास्य भक्ति का उत्कट मनोभाव है जो किंचित् रूपान्तरण के साथ शबरी की भक्ति मे मिलता है। डॉ० विनयमोहन शर्मा के अनुसार गीता की भक्ति श्रद्धाप्रधान ही थी।[2] श्रद्धा को उपनिषदो मे आस्तिक बुद्धि की संज्ञा मिली है। श्रद्धा वस्तुत रागमूलक प्रवृत्ति है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार जब यह वैयक्तिक मनोवेग का अग बन जाती है, तो उसे भक्ति के नाम से सम्बोधित किया जाता है। महाभारत तथा रामायण की रामकथाओ के सदर्भ मे राम की भक्त-वत्सलता का अनेक रूपो मे सकेत मिलता है। महा-

---

१ तस्य देवे पराभक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ। तस्यैते कथिताऽस्यर्था प्रकाशन्ते महात्मनः॥ अध्याय ६ - २२

२ हिन्दीसाहित्यकोश—भक्ति, भक्ति के अग

भारत मे विभीषण के प्रति किए गए राम के कृपाभाव को भक्त वत्सलता[1] के नाम से पुकारा गया है। रामायण मे अनेक स्थलो पर राम के विष्णु के रूप मे अवतरित होने की चर्चा मिलती है। इस अवतार का कारण यहाँ लोकहित बताया गया है।[2] युद्धकाड मे राम को स्वत अपने विष्णु रूप मे अवतार लेने की बात ज्ञात थी। इस काड मे रामभक्ति के फल की भी चर्चा मिलती है। कवि के अनुसार राम की शक्ति से परलोक मे सर्वमनोरथो की पूर्णता एवं अमोघता प्राप्त होती है।[3]

इस प्रकार ऐतिहासिक दृष्टि से अध्ययन करने पर स्पष्ट है कि राम तथा कृष्ण-कथा के सदर्भ मे भक्ति-भावना बहुत पहले से चली आ रही थी। पुराण काल तक भारतीय सस्कृति प्राय आस्थामूलक हो चुकी थी। इस आस्थामूलक भावना के साथ-साथ अवतारवाद की धारणा का सम्पूर्णतः विकास भक्तिकाल तक हो चुका था। अवतारवाद की धारणा से प्रत्यक्ष सम्बन्धित होने के कारण भक्ति ने मध्यकालीन धार्मिक चेतना पर अधिकाधिक प्रभाव डाला।

मध्यकालीन पौराणिक भक्ति का स्वरूप स्पष्ट है। इसकी प्रवृत्तियो का पूर्ण प्रतिनिधित्व करने वाला पुराण भागवत है। सम्भवत अपनी भक्ति सम्बन्धी गभीर मान्यता के कारण मध्यकालीन आस्थावादी धार्मिक भावना को इसने सर्वाधिक प्रभावित किया। भागवत पुराण की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण धारणा एकान्तिक या प्रेमभक्ति की रही है। भागवत माहात्म्य के अन्तर्गत पुराणकार ने भक्ति को 'भागवतरसालय' की सज्ञा दी है। यह भागवतरस अपनी पूर्ण उपभुक्त दशा मे भक्तो को प्रेमविभोर कर देता है। नेत्र प्रेमाश्रु से पूर्ण हो जाते है, रोम कटकित हो जाते है, मन विह्वल हो जाता है तथा कठ रुँध जाता है। इसी प्रेम की चर्चा का उल्लेख भागवतकार ने रासपचाध्यायी के अन्तिम अध्याय मे किया है, जिसके अनुसार कृष्ण प्रेम वर्ग, जाति, योनि आदि के विभेद के परे शुद्ध आनन्दमय तथा मुक्तिदायक है। यह प्रेम है, कृष्ण के प्रति सर्वात्म समर्पण का भागवत को भक्ति, प्रेम को मूलाधार बनाकर लीला के माध्यम से सासारिक विषय-वासनाओ को कृष्ण

---

१ महाभारत, आरण्य पर्व, सर्ग ८२२: श्लोक २ अध्याय ६ ?३

२ १. वाल्मीकि रामायण, बालकाण्ड, पचदशसर्ग, श्लोक स० २१, २२

३ वाल्मीकि रामायण, युद्ध काण्ड, सर्ग ११७, श्लोक ३०, ३१, ३२

के प्रति समर्पण की ओर प्रेरित करती है। इस प्रकार पूर्ववर्ती भक्ति सम्बन्धी सयम की भावना के स्थान पर मध्यकाल मे प्रेममूला भक्ति की प्रधानता हो गई। मध्यकाल मे इस भक्ति के दार्शनिक आचार्यो रामानुज, वल्लभ, निम्बार्क, रामानद, मध्व से भिन्न अन्य कई आचार्य और हैं जो रागमूला भक्ति का पूर्ण समर्थन करते है। वे हैं—नारदभक्तिसूत्रकार, शाडिल्य-भक्तिसूत्रकार, आचार्य रूपगोस्वामी, मधुसूदन सरस्वती तथा वोपदेव आदि। इन्होने भक्ति को ज्ञान तथा कर्मयोग से उत्कृष्ट बताकर उसे स्वत निर्भर एव उसकी तुलना मे श्रेष्ठतम स्वीकार किया। सूत्रकारो के अनुसार ब्रह्म के प्रति उच्चतम प्रेम ही भक्ति है—'सा परानुरक्तिरीश्वरे' या 'सा त्वस्मिन् परम-प्रेमरूपा' भक्ति की प्रेम सम्बन्धी मान्यताओ के पोषक प्रारम्भिक सूत्र हैं। शाडिल्यभक्तिसूत्र की भक्ति प्रेम का उतना उत्कट समर्थन नही करती जितना कि नारदभक्तिसूत्र की भक्ति। नारदभक्तिसूत्र के अनुसार भक्त, भक्ति तथा भक्त की ईश्वरविषयक अनुभूति तीनो ही विलक्षण है। भक्त तथा भक्त की ईश्वरविषयक अनुभूति की ओर सकेत करते हुए सूत्रकार ने उसे मूकस्वादन की सज्ञा दी है और उसका उपभोग कर भक्त आतमराम, परितृप्ति, अमृत आदि की अवस्था प्राप्त कर लेता है। नारदभक्तिसूत्र मे मानसिक भक्ति विषयक परितृप्ति की एकादश भूमिकाएँ कथित है। ये भूमिकाएँ क्रमश कर्मकाड से आरम्भ होकर शुद्ध मानसिक प्रेमासक्ति मे अध्यवसित हो जाती है। ये है क्रमश गुणासक्ति, माहात्म्यासक्ति, पूजासक्ति, स्मरासक्ति, दास्यासक्ति, सख्या-सक्ति, वात्सल्यासक्ति, कान्तासक्ति, आत्मनिवेदनासक्ति, तन्मयासक्ति, परम-विरहासक्ति।[1]

रूपगोस्वामी के अनुसार भक्ति के चार भेद है—सामान्या, साधनाकिता, भावाश्रिता तथा प्रेमनिरूपिका। प्रेमनिरूपिका भक्ति इनमे श्रेष्ठ है। यह भक्ति भक्तो को स्वत आकर्षित करके अपने वश मे कर लेती है, अत इसका नाम कृष्णाकर्षिणी रखा है। इसके दूसरे भेद प्रेमनिरूपिका भक्ति को दो भागो मे विभक्त किया है—रागानुगा तथा कामानुगा या सम्बन्धा-नुगा। रागानुगा भक्ति गोपिकाओ को अत्यधिक प्रिय थी। जिस प्रकार एक प्रिया का सम्पूर्ण वासनासमर्पण प्रियतम के प्रति हो जाता है उसी प्रकार अपने को ब्रह्म मे लय कर देना ही रागानुगा भक्ति है। यह भक्ति व्रजाग-नाओ की थी। कामानुगा भक्ति सासारिक सम्बन्धो का कृष्ण के प्रति आरोपण है। ये सम्बन्ध स्वामी, पिता, मित्र, प्रियतम आदि किसी के भी

हो सकते है। सुबल, नारद, श्रीदामा आदि की भक्ति इसी श्रेणी मे आती है। रूपगोस्वामी ने स्पष्ट रूप से प्रेममूला रागात्मिका भक्ति को गौडीय सम्प्रदाय की भक्ति का मूलतत्व बताया है।[1] इस प्रकार इनकी भक्ति का आधार भाव है। यह भाव रागात्मक सम्बन्ध के कारण रति मे परिणत हो जाता है। यही रति कृष्णरस या भक्तिरस की निष्पत्ति मे सहायक होती है।

भक्ति के लक्षणो की ओर सकेत करते हुए इन्होने भक्ति की भूमिकाओ की ओर भी निर्देश किया है। यह भूमिका इस प्रकार है —

श्रद्धा, साधु सग, भजन क्रिया, निष्ठा, रुचि, आसक्ति, भाव, प्रेम।

यही प्रेम ही भक्ति के सदर्भ मे गूढ, अव्यक्त एव भागवत का अमृत तत्त्व है। भक्तो के लिए यही एकमात्र उपास्य है।[2]

रूपगोस्वामी की ही भाँति मधुसूदन सरस्वती की भक्ति-विषयक धारणा प्रेमाश्रिता ही है। उनके अनुसार भक्ति की परिभाषा इस प्रकार है—

चित्त को ब्रह्म मे केन्द्रित करने से उत्पन्न चित्तद्रवता ही भक्ति है। यह चित्तद्रवता सगुणोपासक भक्तो द्वारा कथित रागमूला भक्ति है। उन्होने पुन दूसरे स्थल पर चित्त की ब्रह्मविषयक धारावाहिक एकरूपता को भक्ति के नाम से सम्बोधित किया है। भक्ति की भूमिका का क्रम, उनके अनुसार इस प्रकार है—

महता सेवा, उनकी पात्रता, श्रद्धा, हरिगुणश्रुति, रत्याकुरोत्पत्ति, प्रेमवृद्धि, भगवद्धर्म-निष्ठा, परमप्रेम की उत्पत्ति, भक्ति। उनके अनुसार भक्ति की ये आठ भूमिकाएँ है।[3] इस प्रकार मधुसूदन सरस्वती भी भक्ति के रागात्मक स्वरूप की मान्यता का ही स्थिरीकरण करते है।

हिन्दी के मध्यकालीन वैष्णव भक्ति साहित्य मे प्रेममूलक भक्ति को अधिक महत्ता मिली है। तुलसी के अनुसार प्रेममूलाभक्ति सर्वोत्कृष्ट है। यद्यपि रामचरितमानस तथा उनकी अन्य रचनाओ मे दास्य एव कैकंर्य भक्ति का प्रतिपादन मिलता है, किन्तु जहाँ प्रेममूलाभक्ति का सम्बन्ध है, इस

---

१ भक्तिरसामृतसिन्धु, पूर्व विभाग, लहरी १, २, तथा ४

२. भक्तिरसामृतसिन्धु, पूर्व विभाग, लहरी ४

३ भगवद् भक्ति रसायन, प्रथम उल्लास, श्लोक २, ३, ४, ८ तथा ३३ से ३७ तक

दिशा मे सम्भवत तुलसी से अधिक जागरूक कोई भी कवि नही मिलता। किन्तु तुलसी की यह प्रेममूलाभक्ति रूपगोस्वामी की भाँति रागानुगा नही है। इनकी भक्ति के मूल मे दास्य की भावना निहित है। तुलसी का यह दास्य इतना अलौकिक एव सात्विक है कि उसमे दैन्य के स्थान पर आत्म-विलयन की प्रवृत्ति प्रधान हो उठी है।

सूर को दैन्य भक्ति प्रिय नही थी क्योकि आचार्य वल्लभ के सपर्क से उनका 'घिघियाना छूट चुका था। वे भक्ति के विषय मे विशुद्ध प्रेममार्गी बन चुके थे। "चित्त बुद्धिसवाद' उनकी भक्ति का प्रतिनिधि उदाहरण है। मिलन की एक ऐसी स्थिति होती है जहाँ न प्रेम है, न वियोग, जहाँ न भ्रम है न मोह, वह सात्विक प्रकाश का पुज है, जहाँ जरा-मरण का भय नही है। निगम रूपी भृङ्ग गु जार करते रहते है। और जहाँ आत्मा भक्तिरूपी अमृत रस का पान करती रहती है। वह ऐसी है, जहाँ निरन्तर लक्ष्मी के साथ विष्णु क्रीडा किया करते है। उस प्रेममूलाभक्ति की तुलना मे विषयरस तुच्छ है। इस संदर्भ मे भौतिक रागाकर्षणो को उसने नितान्त हेय बताया है।[1]

इस प्रकार की प्रेममूलाभक्ति कृष्ण लीला पर आश्रित है। सौन्दर्य सिद्धान्त निरूपण के सम्बन्ध मे इन कवियो की प्रेम सम्बन्धी धारणाओ का पुन अध्ययन किया जावेगा।

सूर के अतिरिक्त नन्ददास, परमानन्ददास, हित हरिवंस तथा हरीराम व्यास विशेष रूप से प्रेम भक्ति का स्पष्टीकरण करते है। व्यास ने सिद्धान्त पदो मे भक्ति को चार भागो मे विभक्त किया है—उत्तम, मध्यम कनिष्ठ तथा अधम। उत्तम भक्ति साध्यमूलक प्रेमभक्ति है, जो भक्त कवियो के लिए एकमात्र उपास्य है।[2] रामभक्ति के रसिकोपासको मे प्रेम की धारणा अत्यधिक तीव्र है। कील्हदास कृत सुन्दरमणि सदर्भ तथा सिद्धान्तमुक्तावली ग्रन्थो मे भक्ति प्रेम की उत्कटता सिद्ध करके उसे रस की कोटि तक स्थापित करने का प्रयत्न किया गया है। श्रीहरिभक्तिरसामृतसिन्धु की भाँति वहाँ भी भागवत विग्रह मे शान्त, दास्य, वात्सल्य, सख्य, शृगार को भक्ति रस का प्रमुख अग तथा इसके विपरीत काव्य के सात रस वीर, रौद्र, अद्भुत, भयानक, करुण, वीभत्स तथा हास्य को गौण बताया गया है। रस निष्पत्ति, रसविरोध-मैत्री, रसो की तटस्थता तथा रसाभास आदि की सम्पूर्ण स्थितियाँ

१ सूरसागर, प० स० ६६८, १०१२, १०११

२ भक्त कवि व्यास : जीवन तथा पदावली—दे० सिद्धान्त के पद

ठीक श्रीहरिभक्तिरसामृतसिन्धु पर ही आधृत[1] है। हरिदासी तथा हरिव्यासी सम्प्रदाय तक पहुँचते-पहुँचते यह प्रेम भौतिकता के स्तर पर पहुँच गया। हरिदास ने भक्तो के लिए प्रेम को भौतिकता के समीप तक पहुँचा दिया। इस प्रकार परवर्ती कृष्ण एव रामभक्ति साहित्य मे भक्तिनिष्ठ प्रेम हीन-स्तर का हो गया। उसकी सात्विकता की रक्षा इन कवियो द्वारा नही की जा सकी।

लीला

लीला शब्द की व्युत्पत्ति 'ली' धातु मे क्विप् सम्पादनार्थ प्रत्यय जोडने से हुई है, जिसका वाच्यार्थ क्रीडा, विलास-केलि, शृगार भाव चेष्टा आदि से है। लीला शब्द का सर्व प्रथम प्रयोग नाट्य के अन्तर्गत नायिका के अगज अलकार के सदर्भ मे किया गया। यहाँ लीला से तात्पर्य नायिका का अपने मधुर अगो की चेष्टाओ द्वारा प्रिय के वाग्वेषादि का शृगारिक अनुकरण कराने से था। रूपगोस्वामी ने उज्ज्वल नीलमणि मे बताया है—

'प्रियानुकरण लीला रम्यवेशक्रियादिभि.'

लीला का दूसरा अर्थ 'क्रीडा' से है। नाटको मे कई स्थानो पर इसे क्रीडा का समानान्तर बताया गया है हल्लीसक, वेणु तथा रासक आदि लीलाएँ क्रीडा के अर्थ मे ही प्रयुक्त है। भक्तिकाव्य मे लीला की परम्परा का सूत्रपात हरिवश से हुआ है। विष्णु पर्व के २० वे अध्याय मे हल्लीसक क्रीडा का वर्णन ३५ श्लोको मे किया गया है। यह लीला योषिताबहुल तथा शारदीय थी। भागवत मे भी लीला के लिए 'क्रीडा' शब्द का प्रयोग बार-बार किया गया है। पद्मपुराण मे लीला के दो भेद है—प्रगट लीला तथा अप्रगट लीला। आचार्य वल्लभ ने लीला का तीसरा स्वरूप रखा है। वह इन सबकी अपेक्षा अधिक गूढ तथा रहस्यपूर्ण है। यह अवतार के समानान्तर है, किन्तु अवतार नही है। आराध्य का समस्त आचरण, उसकी समस्त क्रीडाएँ जो प्रतीति मे सत्य है, किन्तु सत्य नही है। इस क्रीडा मे 'लीलाधारी' का कोई प्रयोजन नही है। न वह इस लीला के फल से प्रसन्न है, न दुखी। वह लीला को मात्र लीला भाव से करता है। उसमे कर्त्ता का कोई प्रयोजन नही हे। आचार्य वल्लभ ने लीला की यही व्याख्या की है। यह लीला सत्य नही, सत्याभास है। डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी के अनुसार लीला

---

१ रामभक्ति मे रसिक सम्प्रदाय, भगवतीप्रसाद सिंह, पृ० २५३

भारतीय भक्तो की सबसे ऊँची कल्पना है।[1] वस्तुत लीला शब्द सगुणोपासना के साथ ही अधिक विकसित हुआ है। आरम्भ मे ब्रह्म विषयक लीला का अर्थ प्रपच से था। मध्यकालीन काव्य मे वर्णित लीलाएँ भी ब्रह्म के प्रपच के ही रूप मे है। किन्तु उनका आधार अत्यधिक उदात्त है। भक्ति के सदर्भ मे देखा जा चुका है कि वैष्णव भक्ति का आरम्भिक स्वरूप क्रियाकाडमूलक था। यही विकसित होकर आसक्ति का अग बना। वैष्णव भक्ति के आरम्भिक स्वरूप मे कर्मकाड के साथ-साथ एक मनोवृत्ति को और भी प्रधानता मिली थी, वह है शान्त, शान्त विषयक निर्वेद आदि के मनोविकार धार्मिकता के प्रभाव से अकुरित होते है। फलत इस निर्वेद को वैष्णवी क्रियाकाड मे निहित भक्ति का आधार बनाया गया। आगे चलकर आसक्ति या रागमूलक भक्ति का विकास हुआ। इस आसक्ति का तात्पर्य था इष्ट की अधिकाधिक सन्निकटता की प्राप्ति। इस सन्निकटता की प्राप्ति के लिए दास, माता, पिता, पुत्र, मित्र एव कान्ता (स्त्री) सम्बन्धी सासारिक सम्बन्धो का अर्पण—भक्ति का एक मात्र अग बन गया। रूपगोस्वामी ने इसी सम्बन्ध के आधार पर भक्ति को भी सम्बन्ध स्वरूपा बताया।

इस क्रीडा शब्द का प्रयोग पुराणो मे श्रीकृष्ण की लीला के सम्पादन के अर्थ मे है।[2] इस अर्थ मे 'लीला' शब्द का प्रयोग अत्यधिक गूढ है। प्रस्तुत विवेचन का सम्बन्ध लीला के इसी अर्थ से है। वैष्णव भक्ति काव्य के सदर्भ मे लीला दो प्रकार की कही गई है प्रत्यक्ष लीला तथा परोक्ष लीला। प्रत्यक्ष लीला का सम्बन्ध अवतार से है तथा परोक्ष का सम्बन्ध विष्णुलोक से। रूपगोस्वामी का विचार है कि प्रत्यक्ष लीला के अवसर पर परोक्ष लीला का भाव निहित रहता है। इसका आशय लीला के अध्यात्मीकरण से है। तात्पर्य यह कि कृष्ण के सन्दर्भ मे परोक्ष गोलोक की लीला ब्रज मे सम्पन्न होती है। कृष्ण विष्णु एव राधा लक्ष्मी है।[3] कृष्ण के अष्ट सखा विष्णु के सहचर एवं लक्ष्मी की अष्टसखियाँ सहचरी है। वृन्दावन ही गोलोक है। इस प्रकार सम्पूर्ण लीला यहाँ आध्यात्मिक सन्दर्भ मे परिवर्तित हो जाती है। इस दृष्टि से प्रत्यक्ष लीला परोक्ष लीला की आभासक है।[4] परीक्षित को शुक के मुख से

१. मध्यकालीन धर्म साधना, पृ० १४३
२ दे०, सौन्दर्य शास्त्रीय सिद्धान्त, प्रस्तुत प्रबन्ध
३ लछिमी सहित होत नित क्रीडा सोभित सूरजदास
४. अब न सुहात विषय रस छीलर वा समुद्र की आस

कृष्ण तथा गोपी की इस लीला को सुनकर बडा आश्चर्य हुआ था। उन्होने साश्चर्य पूछा—

आप्तकामो यदुपति कृतवान् वैजुगुप्सितम् ।
किमभिप्राय एत न सशयं छिन्धि सुव्रत ।[1]

हे सुव्रत ! मेरे सशय का विनाश करो कि आप्तकाम यदुपति कृष्ण ने इतना घृणित कार्य (विलास लीला) क्यो किया, इसका अभिप्राग क्या है।

इस प्रश्न के उत्तर मे शुकदेव ने बताया कि धर्म अभिप्राय मे ईश्वर की लीला दूषित नही होती। वस्तुत यह लीला धर्म के अभिप्राय से सपुटित थी। उन्होने बताया कि सासारिक सम्बन्धो से कृष्ण की प्राप्ति तो सरल है— गँवार गोप बन्धुओ की मुक्ति ज्ञानादि से कैसे हो सकती है। यह ईश्वर का जीवो पर अनुग्रह है जिसने भक्ति को इतना सामान्य बनाकर समस्त लोक-जनो के लिए सुगम कर दिया। जो कृष्ण की इस लीला मे तत्पर होना है या श्रवण करके इसके रहस्य को समझता है, वह माया-मोह मे कभी भी नही पडता।[2] इस प्रकार कृष्ण की विलास लीला का आवरण आध्यात्मिकता से आच्छादित था। उसमे किसी भी प्रकार की वासनात्मक गन्ध नही थी। एम० के० डे महोदय ने चैतन्य सम्प्रदाय की कृष्ण लीला को इसी आध्यात्मिक परिवेश का प्रतिफल माना है। उनके अनुसार कृष्ण की तीन स्थिति है—

१ स्वयं रूप २ तदेकात्मरूप ३ आवेशरूप

स्वयरूप की स्थिति मे वे विष्णु लोक मे रहते है। उनका तदेकात्मरूप लीला की स्थिति मे प्रगट होता है। यह स्वरूप विश्व के भरण-पोषण एव नियत्रण मे सहायक है, साथ ही यह अनेक आकृतियो के माध्यम से विश्व मे प्रकट होता है। कृष्ण, राम आदि अवतार इसी रूप मे हैं। इसके दो भेद है—विलास तथा स्वाश। स्वाश की स्थिति मे वे स्वत अपने अशो मे ही सीमित रहते हैं किन्तु विलास की स्थिति मे उनकी शृगार लीलाएँ होती है। डे महोदय का कथन है कि परवर्ती चैतन्य सम्प्रदाय मे यह लीला नित्यानन्द के नाम से पुकारी जाती थी। यह नित्यानन्द ब्रह्म के सम्पर्क

१. भागवत, दशम् स्कन्ध, अध्याय ३२, श्लोक २६
२ भागवत, दशम् स्कन्ध, अध्याय ३२, श्लोक ३६-३८ तक

से उत्पन्न होने वाला भक्त का मानसिक आवेश है। ज्ञान, शक्ति तथा भक्ति के तीन आवेश भक्ति सम्प्रदाय मे स्वीकृत हुए। इस प्रकार ब्रह्म की लीला उसके तदेकात्म रूप से पूर्ण होती है और भक्ति आवेश से पुष्ट। इसी लीला से सम्बन्धित विष्णु के अवतार भी होते है जिसे लीलावतार कहा जा सकता है। भागवत मे कथित विष्णु के २४ अवतार लीला से ही सम्बन्धित है।

ब्रज की कृष्ण लीला तथा उसके सम्पर्क मे आने वाले विषयो को ध्यान मे रखकर इसे ४ भागो मे विभक्त किया गया है—दास्य, सख्य, वात्सल्य तथा माधुर्य। इसमे मधुर लीला भक्त कवियो को अधिक प्रिय रही है। लीला की दृष्टि से कृष्ण भक्तिकाव्य का वर्ण्य विषय इस प्रकार प्राप्त होता है :—

दास्य विषयक पद कवियो की आत्म-विगर्हणा मे अधिक सम्वन्धित है। उसका सम्वन्ध अवतारो से है।

वात्सल्य इस भाव के अन्तर्गत निम्न शीर्षको से पद प्राप्त होते है—जन्म, वधाई, नामकरण, अन्नप्रासन, कर्णभेद, शयनोत्थित, कलेऊ, पलना, मुखदर्शन, बाललीला, मृत्तिका भक्षण, दधि मथन, ऊखल बन्धन आदि। इससे अधिक सख्या सख्य विषयक पदो की है—गोचारण, छाक, खेल, यमुना तट पर कन्दुक क्रीडा, माखन चोरी, वेणु वादन, गोदोहन, बनचारण, विनोद आदि के पदो को इसके अन्तर्गत रखा जा सकता है।

मधुर इस भाव से सम्बन्धित पदो की सख्या कृष्ण भक्ति काव्य मे अधिक है—युगल, दर्शन, प्रेम, कुजकेलि, युगल विहार, दाम्पत्य प्रेम, नवविलास, सुरति प्रियमिलन, सुरतान्त, अग प्रत्यग वर्णन, मान, बलैया, चरण स्पर्श, शृगार वर्णन आदि से सम्बन्धित पद कृष्ण भक्ति काव्य के प्रमुख अग हैं।

इन लीलाओ के अतिरिक्त व्रताचरण से सम्बन्धित पद भी प्राय प्रत्येक कृष्ण भक्ति सम्प्रदाय मे मिल जाते है। आचरण के संदर्भ मे इनका सकेत किया जा चुका है—लीला के सदर्भ मे भी इनका अधिक महत्त्व है—फाग, होली, गनगौर, राखी, वसत, वर्षा विनोद आदि से सम्बन्धित पद मात्र आचरण-परक न होकर कृष्ण की शृगार लीला की भी पुष्टि करते हैं।

कृष्ण काव्य की भाँति रामभक्ति शाखा के अन्तर्गत लीला विषयक भावो की यही भावना देखी जा सकती है। तुलसी के मानस मे वात्सल्य का

पूर्ण परिपाक मिलता है किन्तु वहाँ सख्य एव मधुर भाव नही है । गीतावली मे मधुर तथा सख्य भाव के सकेत मात्र मिलते है । रसिकोपासको मे मधुर भाव का उसी तरह विधान है जिस प्रकार कृष्ण काव्य मे । वे भा वर्षोत्सव तथा नित्यलीला के भावो को आधार बनाकर रामोपासना का समर्थन करते है । सम्प्रदाय मुक्त कवियो मे मीरा के पदो की स्थिति कुछ भिन्न है । वे कृष्ण की सभी लीलाओ का उल्लेख करती है । मधुर को छोडकर समस्त लीलाओ मे भक्तिभाव प्रधान है किन्तु जहाँ मीरा मे मधुर भाव का आवेश होता है—वहाँ वह उनकी वैयक्तिक रति का अग बन जाता है । यह स्थिति रहस्यवाद एव लीलाजन्य आनन्द से भिन्न है । रहस्यवाद के अन्तर्गत आराध्य सगुण नही है किन्तु मीरा सगुणोपासक है । तीव्रता की दृष्टि से मीरा वही भाव आरोपित करती है, जो रहस्यवादी कवि । लीलाजन्य आनन्द आरोपित आनन्द है किन्तु मीरा का आनन्द उनकी प्रत्यक्ष ईश्वर विषयक रति से सम्बद्ध है ।

इस प्रकार मध्यकालीन भक्ति काव्य मे लीला एव प्रेमविषयक अनेक विकसित एव मार्जित प्रवृत्तियाँ दृष्टिगत होती है ।

निष्कर्षत मध्यकालीन हिन्दी वैष्णव भक्ति काव्य मे जहाँ तक शुभ मूल्यो का प्रश्न है उनके तीन स्तर है । सैद्धान्तिक दृष्टि से ये भक्त कवि अपने मत की पुष्टि के लिए **दार्शनिक** आधार रखते है । यह दार्शनिकता विद्वज्जनो के बीच प्रतिष्ठित होने के लिए सबल आधार थी । इसी के आधार पर आचार्य वल्लभ ने दिग्विजय प्राप्त की थी । शेष अन्य आचार्य एव भक्त अपने काव्य मे तत्त्व चर्चा को अपने काव्य का स्पष्ट मूल्य घोषित करते है । इस रूप मे सूर, तुलसी, नन्ददास, हरिदासी, हरिव्यासी, गौडीय तथा अन्य सभी कवियो ने अपने काव्य मे सिद्धान्त चर्चा अवश्य की हे । इनके काव्य के दूसरे मूल्य **नैतिक सदाचरण** के है । नैतिक सदाचरण के सम्बन्ध सामाजिक एव वैयक्तिक पवित्रता से है । इस पवित्रता के अभाव मे धार्मिकता का अभ्युदय सम्भव नही है । इनका **तीसरा** मूल्य भक्ति एव लीला है । भक्ति उनके दृष्टिकोण से उच्चतम सामाजिक वैयक्तिक मूल्य है । इस मूल्य के अभाव मे समाज एव व्यक्ति दोनो मुक्ति एव आत्मोद्धार से वञ्चित रह सकते है । इस प्रकार इनके ये मूल्य सामाजिक तथा वैयक्तिक हित से ही पूर्ण सम्बद्ध है ।

काव्य दृष्टि

उद्देश्य धार्मिक, नैतिक एव भक्ति विषयक धारणाओ के साथ-साथ इन कवियो का काव्य विषयक दृष्टिकोण अधिक महत्त्वपूर्ण है। यह सत्य है कि ये भक्त है तथा इनका मूल प्रतिपाद्य भक्ति से सम्बन्धित है किन्तु यह भी सत्य है कि अपने दृष्टिकोण को सर्वव्यापी बनाने के लिए इन्होने काव्य का आधार लिया हे। वैदिक परम्परा से सम्बद्ध काव्यो के विषय मे जो तर्क दिये गये है, वही इन पर भी चरितार्थ होते हे। इनकी काव्य दृष्टि कलावादी न होकर हितवादी है। यह सत्य है कि कलावाद के प्रबल समर्थक इनके काव्य को मध्यम श्रेणी का काव्य कहेगे किन्तु उनका मत एकागी समझा जा सकता है। आज का साहित्य दो भागो मे विभक्त है—

१ हितवादी या उपयोगितावादी साहित्य २ कलावादी साहित्य।

१ उपयोगितावादी साहित्य का समर्थक मानव हित को काव्य का उच्चतम गुण स्वीकार करता है। इस दृष्टि से मानव कल्याण से सम्बन्धित सामाजिक आदर्श के पोषक मूल्य उपयोगितावादी साहित्य के प्रधान अग है। हिन्दी भक्त कवियो की प्रवृत्तियो का विश्लेषण करके पहले कहा जा चुका है कि इस साहित्य मे उच्चतम सामाजिक शुभ मूल्यो की स्थापना मिलती है। ये शुभ मूल्य धार्मिकता एव नैतिकता से प्रेरित है। इनके काव्य का अधिक अश इसी से सम्बन्धित है। २ कलावादी साहित्य का मूल उद्देश्य कला के द्वारा कलात्मक तत्त्वो का पोषण एव कलाजन्य आनन्द से परितृप्ति प्राप्त करना है। इस दृष्टि से कलात्मक आनन्द को कृति या अभिव्यक्ति के आनन्द से पृथक् नही किया जा सकता। वैष्णव भक्त कवि भी भाव एव अभिव्यक्ति दोनो क्षेत्रो मे आनन्द मूल्य के समर्थक हे। लीला उनके आनन्द का मूल आधार है। किन्तु वैष्णव भक्ति भक्तिकाव्य मे स्वीकृत आनन्द कलानन्द से तीव्र एव भिन्न है। कला का आनन्द मात्र मानसिक सन्तोष है। यह सन्तोष कला की क्रीडामूलक प्रक्रिया पर आधारित है किन्तु भक्तिकाव्य का आनन्द ब्रह्मानन्द या आत्मानन्द है। यह आनन्द क्रीडा से प्रेरित न होकर भक्त कवियो के मनस् का अनिवार्य अग है, क्योकि यह उनकी दैनिक चर्या एव साधनागत एकनिष्ठता पर आधारित है।

अभिव्यक्ति—काव्य होने के लिए अभिव्यक्ति पक्ष की अनिवार्यता अपेक्षित है। इस दृष्टि से अभिव्यक्ति को शुद्ध एव मार्जित बनाने वाले मूल्य

इसके लिए आवश्यक हो जाते है । भक्ति काव्य मे कला विषयक असावधानी नही मिलती । कलात्मक सजगता का पूर्ण परिचय यहाँ प्राप्त है । इनके काव्य का मुख्य विषय उपयोगिता या हितवाद है । फलत ये अभिव्यक्ति पक्ष के लिये प्रयुक्त होने वाले काव्य अगो को साधन के रूप मे स्वीकार करते है । काव्य के वाह्य पक्ष रस, अलकार, ध्वनि, रीति, वक्रोक्ति, औचित्य, छन्द आदि सभी कुछ इनके काव्य मे अभिव्यक्ति के अङ्ग बनकर प्रयुक्त हुए है । यही नही, इन कवियो ने अनेक स्थलो पर इनकी साधनभूतता की ओर सकेत भी किया है । तुलसी, सूर, नन्ददास, नाभादास आदि अनेक कवि सस्कृत की काव्यशास्त्रीय परम्परा मे स्वीकृत मूल्यो की ओर स्पष्ट सकेत करते है । इस दृष्टि से इनका काव्य सम्बन्धी दृष्टिकोण अपने आप मे स्पष्ट एव सुलझा हुआ प्रतीत होता है ।

अभिव्यक्ति पक्ष मे काव्य साधनो के साथ इन कवियो ने एक और भी समस्या उठायी है—क्या लौकिक प्रेम के स्थान पर ईश्वर विषयक प्रेम को काव्य का विषय बनाया जा सकता है ? फलत इस दृष्टि से इनकी सारी काव्य सामग्री सस्कृत काव्य मे प्रेम के लिये प्रयुक्त काव्यशास्त्रीय मान्यताओ के बीच से ग्रहण की गई है । इसके अन्तर्गत इन्होने लौकिक शृगार की ही भाँति नायक-नायिका, दूत-दूती, सयोग-विप्रयोग, उसके समस्त भेद तथा इसमे प्रयुक्त होने वाले समस्त विभाव, अनुभाव, सचारिभाव का अपने काव्य का आधार बनाया । कलात्मक दृष्टि से इनके काव्य मे प्रयुक्त काव्यशास्त्रीय परिभाषाओ के पालन मे कोई त्रुटि नही दिखाई देती । सूर के मान को सस्कृत साहित्य मे उपलब्ध किसी मानजन्य विरह दशा से घटकर नही कहा जा सकता । व्यास के 'सुरति' एव 'सुरत्यन्त' वर्णनो मे काव्यशास्त्रीय विदग्धता वर्तमान है । तुलसी तथा सूर के अग प्रत्यग वर्णन की तुलना सस्कृत के किसी भी सशक्त कवि से बिना हिचके की जा सकती है । फलत उद्देश्य एव अभिव्यक्ति सम्बन्धी मूल्यो की दृष्टि से भक्त कवियो मे काव्य सम्बन्धी दृष्टिकोण की सम्पूर्ण सजगता मिलती है । इसके विस्तार के लिये 'भक्तिकाव्य का काव्यशास्त्रीय अध्ययन' शीर्षक अध्याय दृष्टव्य है ।

भारतीय काव्यशास्त्रीय परम्पराएँ एवं प्रवृत्तियाँ

भारत मे काव्य सम्बन्धी व्यवस्था के नियोजन के हेतु जिस शास्त्र की उद्भावना की गई, उसे काव्य शास्त्र के नाम से पुकारा जाता है । राज-

शेखर ने काव्यमीमासा, मे इसका नाम 'साहित्य विद्या' बताया है। उनके अनुसार यह नाम यायावरीय आचार्य द्वारा रखा गया था कतिपय विद्वान् इनकी उपाधि ही यायावरीय बतलाते है। 'साहित्य विद्या' के पूर्व इसका नाम अलकार शास्त्र मिलता है। भामह, दडिन् एव रुद्रट अलकार शब्द का प्रयोग काव्य के अर्थ मे करते है। उनके अनुसार काव्य के व्यवस्थासूचक शास्त्र को अलकार शास्त्र कहना चाहिये। इसके पूर्व काव्यशास्त्र के लिये क्रियाकल्प शब्द का व्यवहार मिलता है। आचार्य शुक्ल के अनुसार भारतीयो ने काव्य की गणना कला के अन्तर्गत नही की है।[1] उनका विचार है कि भारत मे काव्य की गणना कला के अन्तर्गत कभी भी नही की गई थी। किन्तु वात्स्यायन के कामसूत्र मे 'क्रियाकल्प' शब्द का उल्लेख मिलता है। वात्स्यायन के प्रसिद्ध टीकाकार जयमगल ने 'क्रियाकल्प' शब्द की इस प्रकार से व्याख्या की है—क्रियाकल्प इति व्याकरण विधि काव्यालकार. इत्यर्थ ।[2]

इस 'क्रियाकल्प' शब्द का प्रयोग सस्कृत की अनेक आरम्भिक रचनाओ यथा नाट्यशास्त्र, पाणिनीय व्याकरण, वाल्मीकि रामायण एव महाभारत आदि मे मिलता है। ये समस्त सदर्भ काव्यरचना प्रक्रिया का ही बोध कराते है। काव्यशास्त्र के लिये प्रयुक्त इन समस्त शब्दावलियो से स्पष्ट है कि काव्यशास्त्र भी अन्य शास्त्रो की भाँति पूर्णरूपेण काव्य की वस्तुनिष्ठ व्यवस्था का नियोजक शास्त्र था। आरम्भ से लेकर आज तक का साहित्य अधिकाशत इस साहित्य सिद्धान्त का उपजीव्य रहा है। हिन्दी वैष्णव भक्ति काव्य पर इसका प्रभाव पडना अनिवार्य है। फलत इस काव्य के सदर्भ मे सस्कृत की काव्यशास्त्रीय प्रवृत्तियो का विश्लेषण करना आवश्यक है। सक्षेप मे भारतीय काव्य के विषयवस्तु को दो भागो मे विभक्त किया जा सकता है—

१ · काव्य की पृष्ठभूमि का अध्ययन

२ : काव्य की मूलात्मा की खोज

सम्पूर्ण भारतीय काव्यशास्त्र सम्बन्धी मान्यताएँ इन्ही दो प्रयोजनों से सयमित है। काव्य की सम्पूर्ण विषयवस्तु के सम्बन्ध मे यशस्तिलक में इस प्रकार का श्लोक कहा गया है —

---

१. चिन्तामणि, भाग २, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ० १४०.

२ वात्स्यायन, कामसूत्र १ . ३ ·१६

त्रिमूलकं द्विधोत्थान पंचशाख चतुश्छदम् ।
योऽग वेति नवच्छायं दशभूमि च काव्यकृत ।।[1]

अर्थात् काव्यशास्त्र के अन्तर्गत त्रिमूल—लोक वेद आध्यात्म विषयक प्रयोजन, द्विधोत्थान —शब्दार्थ रूप काव्य लक्षण, पचशाख—पचवृत्तियॉ, चतुष्छद—अलकारवादी ४ सम्प्रदाय, नवच्छाय—नवरस, दशभूमिम्—दशगुण अध्ययन के विषय है ।

इस प्रकार काव्यशास्त्र के अन्तर्गत प्रयोजन, काव्यलक्षण, वृत्तियॉ, सम्प्रदाय, रसपरम्परा एव गुणो का अध्ययन किया जाता है । इसमे प्रयोजन तथा काव्यलक्षण का सम्बन्ध काव्य की पृष्ठभूमि से सम्बन्धित है । उपर्युक्त रूपक मे काव्यहेतु विषयक प्रश्न को नही उठाया गया है, जबकि भारतीय काव्यशास्त्र की पृष्ठभूमि के लिए यह सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण समझा जाता था ।[2] वृत्तियॉ, सम्प्रदाय एव गुण आदि का अध्ययन काव्य की मूलात्मा से सम्बन्ध रखता है ।

क काव्य की पृष्ठभूमि का अध्ययन . काव्य की पृष्ठभूमि के अन्तर्गत भारतीय काव्यशास्त्रियो ने काव्यमूल्यो एव काव्यरचना प्रक्रिया सम्बन्धी प्रश्न उठाया । इसके अन्तर्गत रखे जाने वाले निम्न प्रश्न थे —

१ **काव्य क्या है ?**
२ **काव्य के प्रयोजन क्या है ?**
३ **काव्य रूप कौन-कौन से है ?**
४ **काव्य रचना की प्रक्रिया मे सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण उपकरण क्या है, अर्थात् काव्यहेतु विषयक प्रश्न ?**

काव्य क्या है काव्यशास्त्रियो ने मूलात्मा तथा फलस्तुति का निर्देश करके प्राय इसी प्रश्न को उठाया है । भामह के अनुसार शब्दार्थ सहित शब्दावली काव्य है ।[3] शब्दार्थ सहित शब्दावली के ऊपर आक्षेप करते हुए डॉ० सुशील-कुमार डे ने कहा है कि यह अतिव्याप्ति दोष से दूषित है क्योकि समस्त लिखित विधाएँ चाहे वे काव्य हो या न हो शब्दार्थ सहित ही हैं ।

---

१. उद्धृत, हिस्ट्री ऑव स स्कृत पोएटिक्स, पी० वी० काणे, पृ० ३४६
२ द डाक्ट्रिन ऑव प्रतिभा इन इन्डियन पोएटिक्स, म० म० प० गोपीनाथ कविराज, एनाल्स भण्डारकर ओरियण्टल रिसर्च इस्टीट्यूट, भाग ५
३. भामह—१ १६

वस्तुत भारतीय अलकार विद्या की उत्पत्ति व्याकरण शास्त्र से हुई थी। यही कारण है कि काव्य की आरम्भिक परिभाषाएँ पूर्णरूपेण वस्तुनिष्ठ व्याकरण के मूलतत्व शब्द एव तत्सम्बन्धी अर्थ पर ही आश्रित हे।[1] शब्द एव अर्थ परस्पर वाच्य तथा वाचक सम्बन्धो से युक्त है। समस्त विद्या व्यापार वाच्य एव वाचक के ही कौतुक है। शब्दार्थ को काव्य कहने की परम्परा बहुत दिनो तक प्रचलित रही। रुद्रट तथा वक्रोक्ति जीवितकार कुन्तक ने भामह की ही परिभाषा दुहराई है। शब्दार्थ सम्बन्धी काव्य परिभाषाओ को लेकर एक अत्यन्त रोचक निबन्ध इडियन हिस्टारिकल क्वार्टरली, भाग ५ मे प्रकाशित है।[2] भामह के परवर्ती आचार्यों ने उनकी परिभाषा के दोष को समझ कर काव्य को मात्र शब्दार्थ न मानकर विशिष्ट शब्दार्थ युक्त बताया। तात्पर्य यह कि अन्य विद्याओ से काव्य को पृथक् रखने के लिए उसके पूर्व विशेषण का प्रयोग किया। सर्वप्रथम काव्यादर्श के प्रणेता आचार्य दडी ने कहा कि इष्ट अर्थ को प्रकट करने वाली शब्दावली शरीर मात्र है [शरीर तावदिष्टार्थ]।[3] यह शरीर आत्मावान् तब होती है जब इसे रीति से सयुक्त किया जाय, और यह रीति विशिष्ट पद रचना हे। इस प्रकार विशिष्ट पद रचना से युक्त शब्दार्थ ही काव्य है। विशेष या विशिष्ट के लिए उन्होने गुण शब्द का प्रयोग किया है। उनके अनुसार रीति की आत्मा गुण है। और यही गुण काव्यात्मा भी है। अग्निपुराण की परिभाषा भी इसी प्रकार की है। इष्टार्थ को प्रकट करने वाली शब्दावली से युक्त वाक्य, जिसमे स्फुट रूप से अलकार हो तथा वह गुण एव दोष से रहित हो, काव्य है। इस परम्परा मे काव्य परिभाषा का विकास मम्मट एव जयदेव तक मिलता है। मम्मट के अनुसार दोषरहित शब्दार्थ काव्य है किन्तु कभी-कभी वह अलकार सहित हो सकता है। जयदेव ने अग्नि की ऊष्मता की भाँति शब्दार्थ युक्त अलकार को काव्य का अनिवार्य गुण बताया हे। भामह द्वारा कथित शब्दार्थ अपने पूर्व विशेषण जोडता हुआ चला गया। हेमचन्द्र ने काव्याऽनुशासन मे शब्दार्थ के तीन विशेषण गिनाए है,

---

१ सम प्राब्लम्म् इन स स्कृत पोएटिक्स्, एम० के० डे पृ० २, ३, कलकत्ता १९५९,

२ देखिए—इन्डियन हिस्टारिकल क्वार्टरली, भाग ५, पृष्ठ २०६, पी० के० आचार्य का निबन्ध, फाइन आर्ट्‌स

३ काव्यादर्श—१ १०.

४ अग्निपुराण, अध्याय ३३७, श्लोक ६०७

अदोषौ, सगुणौ तथा सालकारौ अर्थात् दोषरहित, गुणसहित एव अलकार-युक्त।

काव्य की ये परिभाषाएँ वस्तुनिष्ठतावादी आचार्यों द्वारा दी गई है। ये आचार्य काव्य के द्वारा व्यजित अर्थ के ही पोषक थे, तथा काव्य को मात्र कलात्मक स्तर पर ही स्वीकार करना चाहते थे। इनके अनुसार काव्य मे रजनवृत्ति की प्रमुखता स्वीकृत थी। फलत शब्दार्थ पोषक परिभाषाएँ अलकार रीति एव वक्रोक्ति सम्प्रदाय मे ही मिलती है। इनके विपरीत सस्कृत काव्यशास्त्र की परम्परा मे एक और भी सम्प्रदाय था जो काव्य को क्रीडा व्यापार न मानकर मानव मस्तिष्क की भावात्मक प्रक्रिया का फल स्वीकार करता था। इनमे ध्वनिवादी आचार्य अभिनवगुप्त तथा रसवादी आचार्य विश्वनाथ कविराज एव पडितराज जगन्नाथ है। ध्वनिवादी आचार्य आनन्दवर्धन ध्वनि सिद्धान्त के अन्तर्गत दोनो सिद्धान्तो को समन्वित करते प्रतीत होते है।

अभिनवगुप्त के अनुसार रसविहीन काव्य उत्तम कोटि के काव्य की श्रेणी मे नही रखा जा सकता। उन्होने काव्य के अन्य सम्प्रदायो को मात्र रसाभिव्यक्ति का साधन बताया है। काव्य का साध्य रस है तथा अलंकार रीति गुण एव वक्रोक्ति आदि उसके पोषक साधन।[1] कविराज विश्वनाथ की परिभाषा के अनुसार रसात्मक वाक्य ही काव्य है। यद्यपि इस परिभाषा की अनेक टीका टिप्पणियाँ की गई किन्तु सस्कृत काव्यशास्त्र मे यह पहली परिभाषा थी जिसने काव्य का सम्बन्ध मानव मनोवेगो से जोडा। पडितराज जगन्नाथ ने इस परिभाषा को और अधिक पुष्ट करते हुए रमणीयार्थ प्रतिपादक शब्दार्थ को काव्य कहा। रमणीयार्थ के अन्तर्गत वस्तु एव रस दोनो की व्यजनाएँ निहित है।

इस प्रकार सस्कृत की काव्य सम्बन्धी परिभाषाओ मे वस्तुनिष्ठता एव व्यक्तिनिष्ठता दोनो तत्व प्राप्त हो जाते है। वस्तुनिष्ठ काव्यतत्वो के पोषक अलकार, गुण, रीति तथा वक्रोक्ति सम्प्रदाय है एव व्यक्तिनिष्ठता के पोषक रस एव ध्वनि सम्प्रदाय। दडिन् ने रस को अलकार के ही अन्तर्गत समाविष्ट करने का प्रयत्न किया है। किन्तु प्रेयस्, रसवत्, ऊर्जस्विन् आदि के द्वारा काव्य से प्रभावित होने वाले मानव मस्तिष्क के मनोवेगों की

---

१. ध्वन्यालोकलोचन, द्वितीय उद्योत, कारिका २१ की व्याख्या

समुचित व्याख्या वे न कर सके। रसवादी आचार्यों ने काव्य के वस्तुनिष्ठ तत्त्वो को हेय दृष्टि से देखा है।[1] किन्तु इस दिशा मे आनन्दवर्धन एव अभिनव-गुप्त के प्रयत्न अधिक महत्वपूर्ण कहे जा सकते है। इस विषय के सम्बन्ध मे उनका प्रतिपाद्य यही रहा है कि काव्य की आत्मा रस है, रस के अन्य-वस्तुनिष्ठ तत्त्व सहायक अगमात्र है।

काव्य प्रयोजन क्या है काव्य परिभाषा के बाद इन आचार्यों ने काव्य प्रयोजन की चर्चा की है। काव्य का मुख्य प्रयोजन क्या हो ? यह इस विषय का महत्वपूर्ण प्रश्न था। इसके विषय मे विस्तारपूर्वक चर्चा द्वितीय अध्याय मे की गई है। संस्कृत के काव्य अधिकाधिक राजाश्रय मे प्रणीत हुए है। राजाश्रय के अन्तर्गत किये जाने वाले काव्यो मे सम्मान की प्राप्ति एव प्रशसात्मक उक्ति के लिए चमत्कारबहुल शब्दावली तथा क्रीडा सम्बन्धी प्रवृत्तियो की प्रधानता मिलती है। इसका स्पष्ट प्रभाव काव्य प्रयोजनो के ऊपर देखा जा सकता है। सस्कृत काव्यशास्त्र मे काव्य के निम्न प्रयोजन प्राप्त होते है

१ काव्य के द्वारा चरमपुरुषार्थों की प्राप्ति
२ प्रीति की उद्भावना
३ कीर्ति या यशप्रसार की भावना
४ धनार्जन
५ शिवेतरतत्वो से सरक्षा
६ राजाश्रय की प्राप्ति तथा उनका कृपा पात्र बना रहना
७ सरसता की उद्भावना
८ कुछ सामान्य प्रयोजन भी थे, जिनकी पूर्ति अकाव्य या धार्मिक काव्य किया करते थे। धर्म प्रचार, व्याधिरक्षा एवं दंडरक्षा इनका मुख्य प्रयोजन था।[2]

अपने मूलरूप मे सस्कृत के अधिकतर आचार्य कलावादी मूल्य के समर्थक थे। उनके काव्य का मुख्य प्रयोजन कलात्मकता का सरक्षण था। कीर्ति, धनार्जन, प्रीति तथा सरसता की उद्भावना आदि उद्देश्य कलावादी मूल्यो

---

१ देखिए—सम कान्सेप्ट्स ऑव अलकार शास्त्र, वी० राघवन् का निबन्ध यूज एन्ड इव्यूज ऑव अलकार इन स स्कृत।

२ भामह, काव्यालकार, परिच्छेद १, श्लोक २

से सम्बन्ध रखते है। धनार्जन एव राजाश्रय की प्राप्ति सामन्तो की प्रसन्नता पर निर्भर करता है।

इसके अतिरिक्त उपयोगिता से सम्बन्धित सामान्य दृष्टिकोण यहाँ निहित है। शिवेतरतत्वो से रक्षा, राजाश्रय तथा अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष चतुर्थ पुरुषार्थो की प्राप्ति, वैयक्तिक एव सामाजिक उपयोगिता के तत्त्व है। एक ओर राजाश्रय एव अर्थप्राप्ति तथा शिवेतर मूल्यो से रक्षा आत्मसरक्षण के लिए आवश्यक था, दूसरी ओर यहाँ सामाजिक हित को दृष्टि मे रखकर अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष एव शिवेतर तत्त्वो से रक्षा को अनिवार्य बताया गया है। किन्तु काव्यमूलक प्रवृत्ति की प्रधानता के कारण द्वितीय दृष्टिकोण गौण हो गया है।

काव्यरूप कौन-कौन से है काव्यरूप का तात्पर्य काव्यभेदो से है। काव्य-शास्त्र की पृष्ठभूमि के अन्तर्गत सस्कृत के आचार्यों ने इस तत्त्व पर भी विचार किया है। इसके विषय मे स्वतत्र रूप से अध्याय ६ के अन्तर्गत विचार किया गया है। इस सदर्भ मे मात्र इतना कहना आवश्यक है कि इनमे भी कलात्मक सजगता प्रत्येक दृष्टियो से अग्रसर दिखाई पडती है। इसी के फलस्वरूप सस्कृत के काव्यरूप अधिक नियमबद्ध हो गए थे। प्रत्येक काव्यरूप मे कवि की स्वच्छन्दता का ह्रास मिलता है। एक ही प्रकार के रूप वर्णन महाकाव्यो, नाटको आदि मे मिलने लगे। आचार्यों के अकुश से कोई भी कवि काव्यरूप सम्बन्धी नियमो का उल्लघन नही कर सकता था। वस्तुत ये वर्णन इतने नियमबद्ध हो गए कि परवर्ती सस्कृत के काव्य मात्र नियमो के साँचे मे ढले मिलते है। इसका एक मात्र कारण कलात्मक विशिष्टता ही है। जब सस्कृत के कवियो ने लक्षण निर्धारण की बँधी बँधाई लीक तोडनी चाही तो क्षेमेन्द्र ने औचित्यविचारचर्चा लिखकर पुन कडी चेतावनी दी। इस प्रकार की सजगता काव्यरूप सम्बन्धी लक्षणो मे भामह से लेकर १६वी शती तक (पंडितराज जगन्नाथ) देखी जा सकती हैं।

काव्य का मूल हेतु क्या है

काव्य की सृजन प्रक्रिया के मूल मे कौन सा तत्व अधिक सक्रिय है, सस्कृत आचार्यो द्वारा इस विषय पर गंभीरतापूर्वक विवेचन किया गया है। रुद्रट के अनुसार काव्य की प्रेरक दो शक्तियाँ है—सहजा तथा उत्पाद्या। सहजा-शक्ति ईश्वरप्रदत्त होने के कारण जन्मजात है तथा उत्पाद्या अभ्यासअर्जित।

पुनश्च उन्होने बताया है कि काव्य हेतु तीन है–शक्ति, व्युत्पत्ति एव अभ्यास।[1] भामह ने काव्य को किसी-किसी ही प्रतिभावान् व्यक्ति का गुण माना है जो शव्दार्थ का सम्यक् ज्ञान करके काव्य के रूप मे उसका प्रयोग करता है।[2] दडी ने काव्यादर्श के अन्तर्गत बहुनिर्मल, नैसर्गिकी प्रतिभा को काव्य के लिए अनिवार्य माना है।[3] इस सम्बन्ध मे महामहोपाध्याय पडित गोपीनाथ कविराज ने 'भारतीय काव्यशास्त्र मे प्रतिभा का सिद्धान्त' नाम से 'एनाल्स भडारकर ओरियटल रिसर्च इस्टीच्यूट', भाग ५ मे महत्त्वपूर्ण लेख लिखा है। उनके अनुसार प्रतिभा जन्मजात् वह निर्मल मानसिक शक्ति है जो निरन्तर काव्योन्मेष के सदर्भ मे स्फुरित होती रहती है।

It means that mental faculty which presents everfresh flashes with उन्मेष everfresh delineations of matters to be described

रसगगाधरकार के अनुसार काव्य का मूल कारण प्रतिभा है, जो कविगत होती है।[4]

वाग्भट्ट ने बताया है कि काव्य का मूल कारण प्रतिभा है। व्युत्पत्ति तथा अभ्यास उसी के मार्जन के लिए है, वे काव्य हेतु नही है।[5] सभी का निष्कर्ष निकालते हुए मम्मट ने निम्नलिखित काव्य हेतुओ की ओर सकेत किया है—शक्ति-निपुणता, लोकशास्त्र, काव्यान्वेषण, काव्यज्ञशिक्षा तथा अभ्यास। लोकशास्त्र तथा काव्य मे निपुणता की प्राप्ति व्युत्पत्ति से ही सम्बद्ध है। शक्ति को छोड कर शेष तीन व्युत्पत्ति के ही अग है। अभ्यास इसके लिए साधनभूत तत्त्व है। इस प्रकार काव्य प्रक्रिया के सदर्भ मे प्रतिभा सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। इसी प्रतिभा या सस्कार को पुष्ट एव दृढ करने के लिए अन्य काव्यहेतुओ की आवश्यकता पडती है। फलत काव्य प्रक्रिया के सदर्भ मे इन सबका होना अपेक्षित है।

---

१ त्रितमिद व्याप्रियते शक्तिर्व्युत्पत्तिरभ्यास, रुद्रट, १ . १४
२ काव्यालकार, परिच्छेद, १, ५ तथा १०
३ काव्यादर्श—१, १०३
४ रस गगाधर, पृष्ठ ८
५ प्रतिभैव च कवीना काव्यकरण कारणम्। व्युत्पत्यभ्यासौ तस्या एव सस्कारकौ न तु–काव्यहेतु—अलकार तिलक, पृ० २

पृष्ठभूमि विषयक इन तत्त्वो के अतिरिक्त इसके अन्तर्गत सामान्य रूप से कही-कही काव्य के आवश्यक उपकरण, काव्य की आत्मा, परम्परा का सकेत, सहृदय की विशेषताओ आदि का भी उल्लेख मिलता है।

प्रवृत्तियो के सम्बन्ध मे पृष्ठभूमि विषयक अध्ययन के आधार पर यह स्पष्टतापूर्वक कहा जा सकता है कि इनमे कलात्मक मूल्यो का पोषण एव सरक्षण का सिद्धान्त निहित है। स्वत रसात्मकता भी कलात्मक सजगता का अग है। सस्कृत काव्यशास्त्र मे रसमूल्य भी कलात्मक सजगता के कारण इतना अधिक नियमबद्ध हो गया कि आगे चलकर उसकी विषयनिष्ठता समाप्तप्राय हो गई। ऐसा प्रतीत होने लगा जैसे रस मानव मस्तिष्क का अग न होकर काव्य मे सीमित मनोवृत्तियो का लेखा-जोखा मात्र हो। इस प्रकार पृष्ठभूमि विषयक सदर्भ मे सस्कृत के आचार्यों की कलात्मक मनोवृत्ति अधिक सक्रिय दिखाई देती है, उपयोगिता सम्बन्धी मनोवृत्ति गौण है।

ख : काव्य की मूलात्मा का विवेचन . सस्कृत के काव्यशास्त्रियो ने काव्य की पृष्ठभूमि विषयक समस्याओ के उपरान्त काव्य की मूलात्मा के विषय मे विचार किया है। मूलात्मा विषयक प्रश्नो या समाधानो को दो भागो मे विभक्त किया जा सकता है। प्रथम का सम्बन्ध काव्य के प्रति वस्तुनिष्ठ (Objective) दृष्टिकोण से है तथा दूसरे का दृष्टिकोण विषयनिष्ठ (Subjective) है। वस्तुनिष्ठ दृष्टिकोण के अन्तर्गत काव्य की शैली विषयक मान्यताएँ आती है जो बलात् या प्रयासवश काव्य की मूलात्मा के नाम से पुकारी गई। अलकार, रीति, वक्रोक्ति आदि को इसी के अन्तर्गत रखा जा सकता है। विषयनिष्ठ दृष्टिकोण के अन्तर्गत वह सिद्धान्त आता है, जो वस्तुत काव्य का अनिवार्य अग है। इसके अन्तर्गत रस सिद्धान्त को रखा जा सकता है। ध्वनि दोनो सिद्धान्तो को जोडने वाली कडी का कार्य करती है।

वस्तुनिष्ठ दृष्टिकोण : इस सिद्धान्त का मूल प्रतिपाद्य यह रहा है कि काव्य भावना का व्यापार नही है। उसका सम्बन्ध शब्दार्थ नियोजन से है। शब्दार्थ को किस विशिष्ट पद्धति मे रखा जाय जिससे कि वह चमत्कार उत्पन्न करके अनुरजन कर सके। इस प्रकार अलकार रीति एव वक्रोक्ति के मूल विषय शब्दार्थ, अन्वय विषयक चमत्कार ही है।

काव्य के क्षेत्र मे यह सिद्धान्त सर्वाधिक प्राचीन समझा जाता है। इसका आरम्भिक रूप काव्यशैया, काव्यपाक तथा काव्यलक्षण के अन्तर्गत देखा जा सकता है। काव्यशैया का उल्लेख वाणभट्ट ने किया है। उनके अनुसार कलालाप से युक्त, विलास से कोमल हृदय मे राग उत्पन्न करने वाली, कौतुकपूर्ण, मनोरजन करने वाली रुचिरवर्णो से युक्त आदि प्रवृत्ति काव्यशैया[1] है। इस प्रकार डॉ० डे ने अनुमान लगाया है कि इस प्रकार की क्रीडाप्रधान कोई काव्य पद्धति थी, जो लुप्त हो गई। इमी के साथ पाक का भी उल्लेख मिलता है। काव्यपाक का तात्पर्य काव्यसम्बन्धी परिपक्वता मे है। वामन ने पाक सिद्धान्त की चर्चा की है। पाक के दो विभेद है—शब्द पाक एव अर्थ पाक। राजशेखर ने परिणाम को पाक बताया है। इस पाक सिद्धान्त की व्याख्या काव्यमीमासा मे विस्तार से मिलती है। डॉ० डे का अनुमान है कि आगे चलकर सस्कृत के अन्य काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तो के प्रधान हो जाने से इन दोनो सिद्धान्तो को बहुत पहले ही समाप्त हो जाना पडा। when other and more convincing theories were advanced the शैया and पाक almost disappear from Sanskrit poetics [2]

इसी पाक के साथ, आचार्य वी० राघवन ने लक्षण पद्धति का उल्लेख किया है जो गुण तथा अलकार से पृथक् काव्यशास्त्र के आरम्भिक सिद्धान्तो का अग था। उन्होने 'द कान्सेप्ट आव अलकार शास्त्र' नामक पुस्तक मे इसके इतिहास का परिचय दिया है। भरत ने नाट्यशास्त्र मे काव्य के ३६ लक्षणो को अनिवार्य बताया है। इस सम्प्रदाय का उल्लेख उद्भट, भट्ट लोलट्ट, शकुक, अभिनवगुप्त, भट्टतौत, भोज आदि करते है। अभिनवगुप्त ने अपनी पूर्ववर्ती परम्परा के लक्षण विषयक मतो की सख्या १० बताई है जिसके अनुसार काव्यपद्धति ही लक्षण है। इसका स्वरूप इस प्रकार है—

१ **लक्षण का सम्बन्ध काव्यशरीर से है।**
२ **यह अलंकार से पृथक काव्य का सौन्दर्यवर्धक तत्व है।**
३ **यह गुण तथा अलकार से भिन्न है।**
४ **लक्षण काव्य की शोभा का वर्धन करता है जबकि अल कार काव्य का वाह्य आरोपित गुण है। इस प्रकार लक्षण काव्य का अन्तरग गुण है।**

---

१ हर्षचरित, वाणभट्ट, आरम्भिक श्लोक, ३ से ५ तक

२ Some problems in Sanskrit poetics, पृष्ठ ६

आचार्य राघवन ने इसे कवि की सुन्दर भाषा के नाम से पुकारा है।[1] आचार्य भरत के अनुसार ३६ लक्षण इस प्रकार है—भूषण, अक्षरसघात्, शोभा, उदाहरण, हेतु, सशय, दृष्टान्त, प्राप्ति, अभिप्राय, निदर्शन, निरुक्ति, सिद्धि, विशेषण, गुणातिपात, अतिशय, तुल्यतर्क, पदोच्चय, दृष्ट, उपदिष्ट, विचार, तद्विपर्यय, भ्र श, अनुनय, मात्रा, दाक्षिण्य, ग्रहण, अर्थापत्ति, प्रसिद्धि, सारुप्य, मनोरथ, लेश, क्षोभ, गुणकीर्तन, अनुक्तसिद्धि, प्रियवचन। ये तत्त्व पूर्णरूपेण काव्य को वस्तुप्रधान बनाने की ओर सजग है। किन्तु यह सम्प्रदाय कुछ दिनो के बाद ही समाप्त हो गया। लक्षणपद्धति के बाद अलकार सिद्धान्त का योगदान इस दृष्टि मे महत्त्वपूर्ण है। वस्तुनिष्ठ सिद्धान्तो मे इसका महत्त्व सबसे अधिक है। अलकार मम्बन्धी धारणा के विकास के तीन सोपान स्पष्ट रूप से दिखाई पडते है—

१ शब्दार्थसूचक दृष्टिकोण
२ शैलीपर्याय सूचक दृष्टिकोण
३ अलकार को साधन के रूप मे स्वीकार करने वाला दृष्टिकोण

शब्दार्थवाद : सस्कृत की आरम्भिक काव्यशास्त्रीय विचारधारा शब्द और अर्थ पर केन्द्रित थी। इसे तत्कालीन अलकार काव्य की परिभाषाओ से पुष्ट किया जा सकता है। सस्कृत का आरम्भिक काव्य शब्दार्थ से प्रत्यक्ष मम्बद्ध था। इसका प्रमुख कारण राजाश्रय एव काव्य के प्रति रजनात्मक दृष्टिकोण का आग्रह है। विशेष रूप से अलकारवादी आचार्य भामह, वामन, रुद्रट तथा वक्रोक्तिवादी कुन्तक के सिद्धान्तो मे इस प्रवृत्ति का पूर्णत समर्थन मिलता है।

भामह ने काव्यालकार मे कहा है कि प्रलय पर्यन्त स्थिर रहने वाली कीर्ति की इच्छा रखने वाले कवि को उत्तम काव्य की रचना के लिए प्रयत्न करना चाहिए।[2] इस उत्तम काव्य के तत्त्वो की ओर सकेत करते हुए उन्होने बताया है कि उपयुक्त पद विधान के प्रति सचेष्टता, सुष्ठु पदावली, कला मे विलक्षणता आवश्यक है। भामह के अनुसार काव्य की मूलात्मा प्रीति है।[3]

---

१ The लक्षण or beautiful language अभिधा itself distinguishes काव्य from other पृ० १६

२ काव्यालकार . १ : २, ६, ७, ८

३ भारतीय काव्य शास्त्र की भूमिका डॉ० नगेन्द्र, पृ० १५

यह प्रीति रसवाद के आनन्द की भाँति लोकोत्तर आह्लाद न होकर क्रीडा-जन्य आनन्द है, जिसे आधुनिक शब्दावली मे रजनवृत्ति के नाम से सम्बोधित किया जा सकता है। भामह की भॉति वामन ने भी सुन्दर काव्य के लिए प्रीति उद्देश्य को अनिवार्य बताया है। इस प्रीतिजन्य आनन्द से युक्त काव्य के लिए सालकारता, दोषाभाव तथा निर्मल पदावली उसके वाह्य रचना स्वरूप के समर्थक है। दन्डी ने राजाओ के प्रिय कवि को अत्यधिक महत्ता देते हुए यश का भागी बताया है।[1]

इस सदर्भ मे दो ही प्रश्न प्रधान है। काव्य क्या है तथा उसमे कौन-कौन से तत्त्व आवश्यक है। प्रथम के उत्तर मे ये आरम्भिक काव्यशास्त्री शब्दार्थ का नाम लेते है। उनके अनुसार शब्दार्थ ही काव्य है। भामह ने काव्य की परिभाषा देते हुए उसे शब्द और अर्थ से सहित बताया है। उनके अनुसार इस शब्द और अर्थ की विशेषता निर्दोषिता तथा सालकारिता है। दडिन् ने भी इस शब्दार्थ की चर्चा करते हुए उसे अलकार से युक्त रीति का विस्तारक बताया है। काव्यादर्श मे एक दूसरे स्थल पर वे शब्द तथा अर्थ को अधिक महत्त्वपूर्ण बताते है—

तै· शरीर च काव्यानालकाराश्च दर्शिता·
शरीर तावदिष्टार्थ व्यवच्छिन्ना पदावली
काव्य स्फुरदलङ्कार गुणवद्दोष विवर्जितम्

इस प्रकार काव्यादर्श के अनुसार अव्यवच्छिन्न पदावली, गुण तथा अलकार से युक्त होना काव्य का प्रमुख लक्षण है। रुद्रट तथा वक्रोक्तिकार कुन्तक ने काव्य मे स्पष्टत शब्दार्थ की अनिवार्यता की ओर सकेत किया है। आगे चलकर यह शब्दार्थ वाक्य, पदावली, पद, शब्द आदि तक केन्द्रित हो गया। किन्तु अलकार के समर्थक हेमचन्द्र, मम्मट, विद्यानाथ आदि परवर्ती काल तक काव्य की परिभाषा मे शब्दार्थ को ही दुहराते रहे। इस प्रकार स्पष्ट है कि आलोच्यकाल मे काव्य की परिभाषा शब्दार्थ पर ही केन्द्रित रही। काव्य की भॉति इस आलोच्यकाल मे अलकार को शब्द और अर्थनिष्ठ बताया गया। काव्य का प्रतिपादन शब्दार्थ से सम्बन्धित है और यही शब्दार्थ अलकार का मूल आधार है। यही कारण है कि तत्कालीन काव्य के लिए अलकार को अनिवार्य बताया गया है। इस दृष्टि से काव्य की मूल व्यजना अलकारमूलक है तथा अलकारविहीन काव्य सभव नही है

१ भारतीय काव्यशास्त्र की परम्परा, डॉ० नगेन्द्र, पृ० ७१

क्योकि काव्य और अलकार दोनो ही शब्द और अर्थ है। फलत काव्य-सम्बन्धी आरम्भिक धारणा अलकार प्रधान है।

रुद्रदामन, दूसरी शती, के अभिलेख मे अलकार की सबसे पहले चर्चा मिलती हे। वहाँ स्पष्ट रूप से अलकृति शब्द का उल्लेख सुन्दरता की वृद्धि के अर्थ मे मिलता है।

नाट्यशास्त्र मे अनेक स्थलो पर अलकार, भूषण एव विभूषण शब्दो के प्रयोग मिलते है। भूषण एव विभूषण शब्द अलकार के समानार्थी है। नाट्यशास्त्र के अनुमार भूषण का अर्थ अनेकानेक अलकारो एव गुणो से अलकृत होना बताया गया है। इस प्रकार यहाँ उपमा, दीपक, रूपक तथा यमक की महत्ता का उल्लेख मिलता[२] है। वामन ने काव्यालंकार का अर्थ सौन्दर्य से ग्रहण किया है। काव्य की शोभा वर्धन करने के कारण ही वे पूर्णत ग्राह्य है।[३] दन्डी ने उन लक्षणो का और भी अधिक विकास किया है। उनके अनुसार काव्य के शोभाकारक धर्म अलकार है।[४] वस्तुत भामह, दन्डी, वामन तीनो की दृष्टि रचना के वाह्य स्वरूप पर केन्द्रित थी। इसलिए तीनो आचार्यो के अनुसार अलकार काव्य के सर्वस्व माने गए। इस प्रकार आरम्भिक शब्दार्थवादी आचार्य काव्य मे मात्र अभिव्यक्ति को प्रधानता देते है। यह अभिव्यक्ति काव्य के गुण एव धर्म से सम्बन्धित थी। काव्यधर्म वस्तुत उसकी वाह्य शोभा से सम्बन्धित थे। इस काव्य का मूल उद्देश्य प्रीति था। इस प्रकार निष्कर्ष रूप से कहा जा सकता है कि—

१ काव्य शब्दार्थ से ही अलंकृत होते हैं।

२ अलंकरण का मूल कारण सौन्दर्य की अभिव्यक्ति है।

३. इससे प्रीतिभाव की उन्नति होती है। काव्यालंकार इस प्रकार प्रीति का उद्भावक है। यह प्रीति आत्मरजन के अर्थ में प्रयुक्त है। इस प्रकार अलकार सम्बन्धी धारणा रंजनवृत्ति से पुष्ट है। प्रेषणीयता के सदर्भ में पाठक, श्रोता तथा कवि के लिए यही प्रीति आवश्यक है।

---

१ विशेष के लिए देखिए, काव्य की परिभाषा

२. नाट्यशास्त्र, अध्याय १५ तथा १६, श्लोक से

३ काव्यालकारसूत्र, १ . १

४. दन्डी, काव्यादर्श २ : ३६७

शैलीगत सौन्दय वृद्धि के लिए अलंकार का प्रयोग

अलकार सम्प्रदाय अपने विकास के मध्यकाल मे शैली के पर्याय के रूप मे स्वीकृत हुआ। भामह, दन्डी तथा वामन मे परस्पर अलकार सम्बन्धी धारणा के विकास की क्रमिक स्थिति दिखाई पडती है। यह सत्य है कि शब्द एव अर्थ से सम्बन्धित वाक्य ही काव्य है, किन्तु प्रत्येक प्रकार के वाक्य काव्य नही होते। न्यायदर्शन तथा तर्क आदि के काव्य भी शब्दार्थ युक्त ही है। यही कारण है कि भामह एव वामन के परवर्ती आचार्यों ने शब्द-अर्थ के पूर्व अनेक विशेषणो का प्रयोग किया। ये विशेषण सालकारता, विशेष, निर्दोष, सगुण या गुण, रमणीयार्थ प्रतिपादक, रसात्मक आदि हैं। शब्द एव अर्थ के साथ प्रयुक्त होने वाला यह विशेष शब्द अधिक महत्त्वपूर्ण है। इसी के फलस्वरूप अलकार एव काव्य सम्बन्धी परवर्ती मान्यताओं मे अधिक परिवर्तन हुआ है। इस विशेष शब्द से सिद्ध हो जाता है, कि काव्य सामान्य वाणी व्यापार से उत्कृष्ट रचनारूप विशेष है। इसी विशेष के ही कारण गुण तथा रीति सम्बन्धी विचार काव्यशास्त्र के क्षेत्र मे उत्पन्न हुए। गुण के सम्बन्ध मे वामन एव दन्डी के मत अधिक विशिष्ट समझे जाते है। कुन्तक ने मार्ग निरूपण के सदर्भ मे तथा अन्य परवर्ती आचार्यो ने सकेतात्मक रूप से गुण की चर्चा की है। रीति को परिभाषित करते हुए वामन ने सर्वप्रथम गुण का विस्तार किया। विशिष्ट पद रचना रीति की व्याख्या करते हुए उन्होने इस विशिष्ट को गुण के नाम से अभिहित किया, और इस गुण को काव्य की आत्मा बताया।[1] दन्डी ने वामनपूर्व अलकार की परिभाषा के अन्तर्गत शोभाकारक धर्म का उल्लेख किया था। यही धर्म ही वामन के द्वारा अलकार के रूप मे स्वीकृत हुआ।[2] गुण का सकेत सर्वप्रथम आचार्य भरत ने किया था। दन्डी एव भरत के मतो मे भिन्नता कम है। इस सम्बन्ध मे वामन की विशिष्टता यह है कि उन्होने गुणो का शब्दमूलक एव अर्थमूलक दो भेद किया है। इस प्रकार वामन के अनुसार गुणो की सख्या २० हो गई। आलोच्यकाल मे ये गुण स्वीकृत थे—श्लेष, प्रसाद, समता, माधुर्य, सुकुमारता, उदारता, ओज, कान्ति एव समाधि। ये वस्तुत शब्दगत स्थित कोमल, मधुर, कर्कश आदि

---

१ काव्यालकारसूत्रवृत्ति १, २, ७, ८

२. काश्चिन्मार्गविभागार्थमुक्ताः काव्यादर्श २, ३ में उन्होंने गुण सम्प्रदाय की ओर सकेत किया है।

भावो के सूचक थे। इसीलिए वामन की धारणा पूर्णरूपेण युक्तिसगत जान पडती है कि गुण काव्य के शोभाकारक धर्म है तथा अलकार उत्कर्ष प्रदान करने वाले।[1] यद्यपि सत्य है कि वामन को दन्डी की अलकार सम्बन्धी परिभाषा पूर्णरूपेण स्वीकृत है, फिर भी वह अलकारो को प्रमुखता न देकर गुणो को ही प्रमुख बताते है। स्वत अलकार भी गुण के शोभावर्धक तत्त्व है। उन्होने स्पष्ट कहा है कि सौन्दर्य ही अलकार है और सौन्दर्य गुण के ही कारण ग्राह्य है। अत वह उपमा, रूपक आदि अलकारो को प्रमुख न मानकर काव्य के आन्तरिक गुण, सौन्दर्य को जिसका सम्बन्ध गुण से है, प्रमुख बताता है। इस मत के अनुसार अलकार काव्य का अनित्य तत्त्व है, गुण नित्य तत्त्व तथा रीति काव्य की आत्मा है। गुण रीति का भी धर्म है। फलत गुण निश्चित रूप से काव्य का नित्य तत्त्व है। इस प्रकार गुण अलकार की आत्मा मे स्थित है। इस प्रकार गुण की निश्चित पद्धति मे ओजादि के विकास के लिए शैली के रूप मे अलकार का प्रयोग होता है।

जहाँ तक रीति एव अलकार का सम्बन्ध है, यहाँ भी अलकार को रीति का माध्यम बताया गया है। शैलीवादी सिद्धान्तो मे रीति का अन्तिम स्थान आता है। वक्रोक्ति एव ध्वनिवादी आचार्य भी शैली के अधिक निकट हैं किन्तु वे काव्य की वाह्य रूपसघटना पर आश्रित न होकर उसके आन्तरिक पक्ष से सम्बन्ध रखते है। वामन ने रीति का अर्थ, विशिष्ट पद रचना से लिया है। भामह ने रीति के समानार्थी प्रवृत्ति शब्द का प्रयोग किया है। यह प्रवृत्ति शब्द ठीक शैली का पर्याय है। आचार्य दन्डी रीति को मात्र शैली के ही रूप मे नही स्वीकार करते। उनके अनुसार यही काव्य की मूलात्मा है। अलकारादि काव्य के वाह्यशोभावर्द्धक तत्त्व रीति के ही पोषक हे।

काव्य साधन के रूप मे अलंकार का प्रयोग : आगे चलकर ध्वनि-वादियो ने अलकार सम्बन्धी धारणा मे काफी परिवर्तन किया। उनके अनुसार अलंकार को काव्य के साध्य पक्ष से सम्बन्धित न होकर मात्र साधन के रूप मे प्रयुक्त होना चाहिए। इस दिशा मे सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण प्रयास आनन्दवर्धन, अभिनवगुप्त एव मम्मट का है। रसवादी आचार्य इस व्याख्या से पूर्णरूपेण सहमत है। उन्होने केवल अलकार को ही नही अपितु अलकार के मूल मे

---

१. काव्यालकार सूत्रवृत्ति . ३, १, १,२

२. सम प्राब्लम्स ऑव सस्कृत पोयटिक्स, पृष्ठ १०

स्थित शब्दार्थ, गुण आदि को भी ध्वनि का पोषक तत्त्व सिद्ध किया है। आनन्दवर्धन का मत है कि काव्य मे अलकार का प्रयोग साधन के रूप मे होता है। काव्य का मूल लक्ष्य प्रबन्ध ध्वनि को पुष्ट करना है। इस प्रबन्ध ध्वनि की मूलात्मा असलक्ष्य ध्वनि या रस है। कही-कही उन्होने प्रबन्ध ध्वनि तथा रस ध्वनि मे अन्तर ही नही माना है। काव्य के वाह्य उपकरण अलकार, रीति या मार्ग, वक्रोक्ति आदि सभी इसी प्रबन्ध ध्वनि रूप-रस के ही पोषक है। यही नही, अलकारादि रस के स्फुट प्रयोग का भी वे पोषण करते है।[1]

रीति सम्प्रदाय अलकार सिद्धान्त के पश्चात् वस्तुनिष्ठ सिद्धान्तो मे रीति का उल्लेख मिलता है। भारतीय काव्यशास्त्र मे रीति विषयक तीन प्रकार की धाराणाएँ मिलती है।

१ **भौगोलिक रचना पर आश्रित रीति जो प्रदेशाभिधानवाद के नाम से पुकारी जाती है।**

२ **विषय-अनुरूपता के अर्थ मे**

३ **अलकार वृत्ति या स्वभावाभिधान के रूप मे रीति का प्रयोग।**[2]

सस्कृत काव्य शास्त्र मे इस प्रकार रीति सम्बन्धी विकास की तीन परिस्थितियाँ दृष्टिगत होती है।

रीति सिद्धान्त के आरम्भिक विकास काल मे इसे अनेक नामो से पुकारा गया। रीति, मार्ग, सघटना, वृत्ति, पन्थ आदि इसके आरम्भिक नाम है।[3] रीति का सर्वप्रथम उल्लेख भामह ने किया था। उन्होने वैदर्भी रीति मे रचना करने वाले अश्मक वश विशेष का विरोध किया।[4] दडी ने काव्यादर्श मे अनेक स्थलो पर गौडीय तथा वैदर्भी रीतियो का प्रयोग किया है। उनके अनुसार गौडीय रीति मे शब्द समता का निरादर है तथा वैदर्भी रीति मे अनुप्रास अधिक है।[5] रीति के प्रतिपादक आचार्य वामन है। उनके अनुसार काव्य के १० गुण इसी रीति का ही पोषण करते है। वामन ने दडी तथा भामह की इस धारणा का खुल कर विरोध किया कि रीति किसी देश या स्थान से सम्बन्धित है। इसका विभिन्न स्थानो से सम्बन्ध मात्र इतना है

---

१ ध्वन्यालोक, उद्योत ?, कारिका स० १७, १८

२, देखिए—सम कान्सेप्टस ऑव अलकार शास्त्र, डॉ० वी० राघवन, पृष्ठ १३१, भारतीय काव्याग, डॉ० सत्यदेव चौधरी, पृ० २२६

३ भारतीय काव्याग, पृ० २२३

४ काव्यालकार १ ३३

५. काव्यादर्श १ ५४

कि वहाँ की रचना मे शुद्ध रीति का दर्शन होता है [तत्रत्यै कविभि यथार्थ स्वरूपमुपलब्धत्वात् तत्समाख्या] ।[1] किन्तु स्थान सम्बन्धी धारणा का प्रबल समर्थन रुद्रट एव राजशेखर के ग्रन्थो मे मिलता है। वक्रोक्तिकार कुन्तक रीति की स्थान विषयक धारणा का प्रबल खंडन करते है। इनका सबसे प्रबल आक्षेप यह है कि यदि देश के आधार पर रीति का नामकरण किया जाता है तो रीतियाँ अनन्त हो सकती है। कुन्तक रीति का अर्थ वामन की भाँति किसी देश की भाषागत व्यवहार की परम्परा से भी नही ग्रहण करते। इस विषय मे उनका प्रधान तर्क यह है कि काव्य ईश्वर प्रदत्त शक्ति है फिर भी इस शक्ति का प्रतिभा द्वारा मार्जन किया जाता है। काव्य की ये वस्तुएँ वैयक्तिक शक्ति से सम्बन्धित है, किसी देश विशेष से इनका सम्बन्ध नही है।[2] निष्कर्षत कहा जा सकता है रीति के लिये नैसर्गिक विशेषता अनिवार्य है, प्रादेशिक विशेषता नही। यदि प्रादेशिक विशेषता अनिवार्य है तो किसी विशिष्ट रीति-प्रधान देश के प्रत्येक व्यक्ति को कवि होना चाहिये। इस प्रकार वामन काव्य-मार्ग को मानव स्वभाव पर आश्रित करते है।

रीति का अर्थ : वैदर्भी तथा गौडीय रीति के सदर्भ मे भामह ने इनका निम्न लक्षण निर्धारित किया है वैदर्भी अपुष्टार्थ से सयुक्त, वक्रोक्ति रहित, प्रसन्न, ऋक्, कोमल, गेय पदावली से युक्त पेशल होती है। दूसरी ओर यह गौडीय वैदर्भी की तुलना मे अलकारत्व एव अग्राम्यत्व गुणो से युक्त होती है।[3] साकेतिक रूप से दडी भी रीतियो के सदर्भ मे अपना मत प्रकट करते है, किन्तु काव्यादर्श मे इस विषय मे कोई परिभाषा नही मिलती। रीति की प्रथम परिभाषा आचार्य वामन की मानी जाती। उनके अनुसार विशिष्ट पद रचना ही रीति है।[4] यह विशेष गुणात्मा है। इस प्रकार रीति एव गुण का परस्पर सम्बन्ध है। आनन्दवर्धन के अनुसार रीति सघटना है, जो माधुर्यादि गुणो को आश्रय बनाकर रस की अभिव्यक्ति मे सहायक होती है।[5] राजशेखर ने रीति को वचनविन्यास क्रम के रूप मे स्वीकार किया है।[6] अग्निपुराणकार के अनुसार रीति वृत्ति तथा प्रवृत्ति के निरूपण से

---

१ काव्यालङ्कार सूत्र वृत्ति १ · २ १०
२. हिन्दी वक्रोक्तिजीवितम् १ २४
३ काव्यालङ्कार १ ३४. ३५
४ काव्यालङ्कार सूत्र १ २ · ७
५ ध्वन्यालोक उद्योत ३ ६
६. वचनविन्यास क्रम. रीति, काव्यमीमासा, पृ० ६

सम्बन्धित है।[1] भोज ने इसे वाक्य विन्यास क्रम कहकर पुकारा है। उनके अनुसार रीति की व्युत्पत्ति रीङ् गतौ से हुई है, जिसका प्रकारान्तर से अर्थ मार्ग या पद्धति है।[2] मम्मट के अनुसार यह रस विषयक व्यापार की पोषक है। आचार्य विश्वनाथ ने इसे रस आदि भाव का उपकर्तृ माना है।[3] एक अन्य स्थल रीति को परिभाषित करते हुए वह उसे 'काव्याग सस्थानवत्' कहता है। इस प्रकार रीति की इन परिभाषाओ से ये निष्कर्ष सरलतापूर्वक निकाले जा सकते है

१ **रीति का आरम्भिक विकास प्रादेशिक गुणो के आधार पर हुआ था।**

२ **वामन ने इस अर्थ को विकसित करके इसे मानव व्यक्तित्व के सहज अग के रूप मे स्वीकार किया।**

३ **इस स्तर पर आकर वह रचना प्रकार के रूप मे स्वीकृत हुई।**

४ **अन्तिम स्थिति मे यह रसादि की अभिव्यक्ति मे सहायक साधन के रूप मे मानी जाने लगी। मम्मट ने इसे वाह्य अग रचना की भाँति पूर्ण रूप से वस्तुनिष्ठ स्वीकार किया तथा आचार्य विश्वनाथ ने इसे रस विषयक व्यापार का उपचारक तत्त्व माना। इस प्रकार रीति पूर्णरूपेण काव्य के शैली पक्ष का समर्थक तत्व है।**

वक्रोक्ति सिद्धान्त · वस्तुनिष्ठ सिद्धान्तो मे वक्रोक्ति का स्थान महत्त्वपूर्ण समझा जाता है। वाणभट्ट ने कादम्बरी मे वक्रोक्ति शब्द का प्रयोग अनेक स्थलो पर क्रीडा एवं परिहास के अर्थ मे दिया है।[4] इस शब्द का प्रयोग मम्मट तथा वामन ने भी किया है। भामह के अनुसार वक्रोक्ति का अभिप्राय शब्द और अर्थ की वक्रता से है। यही वक्रोक्ति शब्दार्थ के मूल मे रहकर उसे चमत्कृत बनाती है।[5] एक अन्य स्थल पर उन्होने अतिशयोक्ति तथा वक्रोक्ति को परस्पर पर्याय के रूप मे स्वीकार किया है।[6] इस प्रकार भामह के अनुमार वक्रोक्ति का मूल गुण शब्दार्थ मे वैचित्र्य उत्पन्न करना है तथा इसका मूल

१ अग्निपुराण अध्याय, ३४०
२ सरस्वती कठाभरण २, ३७
३ साहित्यदर्पण ६, १
४ हिस्ट्री आव सस्कृत पोएटिक्स, भाग २, पृ० ३८४–८५
५ काव्यालकार १ ६
६ काव्यालकार २ · ८५

गुण है अर्थ के विचित्र रूप का भावन।[१] इसके अभाव मे काव्य अलंकृत नही हो सकता। भामह ने वाङ्मय के दो भेद किए है—
स्वभावोक्ति तथा वक्रोक्ति

काव्यरूप वक्रोक्ति मे सहज वर्णन न होकर वक्रता या चमत्कार निहित रहता है। इस चमत्कार मे किसी न किसी रूप मे श्लेष का योग अवश्य रहता है।

So श्लेष—is a striking mode of speech often based on श्लेष and differing from the plain matter of fact ordinary mode of speech

वक्रोक्ति सम्बन्धी धारणाओ का पोषण वक्रोक्तिजीवितम् का लेखक कुन्तक करता है। सक्षेप मे वक्रोक्ति के सम्बन्ध मे कुन्तक की धारणा इस प्रकार है।

उसके अनुसार यह स्वभावत लोकोत्तर चमत्कार वैचित्र्य क समर्थक है। दूसरे शब्दो मे यह लोकोत्तर चमत्कार का उद्भावक है। इस प्रकार वक्रोक्ति का भावन व्यापार अन्तश्चमत्कार या लोकोत्तर से सम्बन्धित है। वक्रोक्ति की परिभाषा देता हुआ वह कहता है कि—

वक्रोक्तिरैव वैदग्ध्यभगी भणितिरुच्यते काऽसौ वक्रोक्तिरैव। कीदृशी वैदग्ध्यभगीभणिति वैदग्ध्य विदग्ध भाव, कवि कर्म कौशल तस्य भगी विच्छित्ति। तया भणिति विचित्रैवाभिधा वक्रोक्तिरित्युच्यते।[३]

चतुरतापूर्ण शैली से कथन रूप ही वक्रोक्ति है। वह कौन सा है प्रसिद्ध कथन से भिन्न प्रकार की वर्णन शैली वक्रोक्ति है। वैदग्ध्य अर्थात् चतुरतापूर्ण कवि कर्म का कौशल उसकी भगी या शोभा, उससे भणिति अर्थात् कथन करना। असाधारण प्रकार की वर्णन शैली ही वक्रोक्ति कहलाती है।

इस कथन का निष्कर्ष इस प्रकार निकाला जा सकता है:

१ वक्रोक्ति का अर्थ विचित्र अभिधा या उक्ति से है।

२ विचित्र शब्द का अभावात्मक अर्थ है प्रसिद्ध कथन शैली से भिन्न शैली। प्रसिद्ध कथन शैली का स्पष्टीकरण दो रूपो मे उन्होने किया है।

---

१ हिन्दी वक्रोक्तिजीवितम्, भूमिका, डॉ० नगेन्द्र, पृ० ४
२ सस्कृत पोएटिक्स, काणे, पृ० ३८५
३ हिन्दी वक्रोक्तिजीवितम्, प्रथोन्मेष, कारिका २

अ प्रसिद्ध का अर्थ प्रचलित व्यवहारसरणि से किया है। वक्रोक्ति इसका अतिक्रमण करती है।

आ . शास्त्र आदि के शब्द-अर्थ युक्त सामान्य प्रयोग।

३ इसके अतिरिक्त भी वक्रोक्तिकार ने वक्रोक्ति का अर्थ वैदग्ध्य-जन्य चारुता तथा कविकर्म कौशल से भी लिया है।[1]

इस परिभाषा के अनन्तर उसने इसके व्यापक परिवेश की कल्पना की है। उसके अनुसार शब्दार्थमूलक काव्य के लिए वक्रोक्ति ही एक मात्र आधार है क्योंकि यह शब्दार्थ से युक्त वक्रता के अतिरिक्त और कुछ नही (शब्दार्थौ सहितौ वक्र) है। कवि इसके स्वभाव को लोकोत्तरचमत्कारक्षम बताकर इसे स्वभावोक्ति से उच्च सिद्ध करता है। वक्रोक्ति के भेद के अन्तर्गत शब्दार्थ की जितनी भी स्थितियाँ हो सकती है, सभी प्राप्त है। वर्ण, पूर्वपद, उत्तरपद, वाच्य, वस्तु, प्रकरण तथा प्रबन्ध काव्य का समस्त वाह्यस्वरूप इसमे अन्तर्भुक्त है। यही नही, वह तत्कालीन प्रचलित समस्त वस्तुनिष्ठ सिद्धान्तो को तो इसमे समाहित करता ही है, सारे काव्य रूप भी इसके अग बन जाते है। प्रकरणवक्रता को ९ भागो मे विभक्त करके उसने कथा के सम्पूर्ण स्वरूप को वक्रोक्ति के ही अन्तर्गत समेटने का प्रयत्न किया। मात्र प्रवृत्ति उत्पाद्य कथा, उपकार्योपकारक आवृत्ति, प्रसंग, प्रकरण, रस, अवान्तरवस्तु, नाटकान्तर प्रयुक्त सध्यय विनिवेश आदि प्रकरण भेद कथा सघटना से मम्बन्धित होने के कारण वक्रोक्ति की ही व्यजना करते है। इसी प्रकार प्रबन्ध काव्य को भी रस परिवर्तन, समापन, कथाविच्छेद, आनुषगिक फल, नामकरण, कथासाम्य इन ६ भेदो मे विभक्त करके वक्रोक्ति का अग बताया है।

इस प्रकार वक्रोक्तिकार लोकोत्तर चमत्कार से युक्त शब्दार्थ रूप मे मन्निविष्ट इस तत्त्व को काव्य की मूलात्मा के समीप रखने का प्रयत्न करता है। आनन्दवर्धन एव अभिनवगुप्त वक्रोक्ति को मात्र काव्य के शैली पक्ष का समर्थक स्वीकार करते हैं। अन्य वस्तुनिष्ठ सिद्धान्तो की भाँति यह भी काव्य के वाह्य पक्ष का ही समर्थन करता है। वस्तुनिष्ठ सिद्धान्त की अन्तिम पर-णति औचित्यवाद मे मिलती है। क्षेमेन्द्र कृत 'औचित्य विचारचर्चा इस सम्प्रदाय का एक मात्र प्रामाणिक ग्रन्थ है। डॉ० वी० राघवन ने इसके इतिहास की एक निश्चित रूपरेखा बनाई है। इस सम्प्रदाय का तात्पर्य कवि के लिए

---

१ मात्रिकाभाग, पृ० ३१, ३२

उपयोगी एव आवश्यक उपकरणो की सुनिश्चित योजना बनाना है। कवि उनसे पृथक् नही जा सकते। औचित्य विचार का विस्तृत उल्लेख सर्वप्रथम राजशेखर की काव्यमीमामा मे प्राप्त होता है। उनके अनुसार औचित्य का स्वरूप इस प्रकार है—रसानुरूप सदर्भो का परिपालन औचित्य के लिए आवश्यक है। रति के प्रकर्ष मे कोमलभाव एव शब्दावली का प्रयोग उत्साह-वर्धन के लिए प्रौढ, क्रोध प्रकर्ष के लिए कठोर, शोक के लिए मृदु, विस्मय के लिए स्फुट शब्द सदर्भ अनिवार्य है। इस प्रकार वर्ण सघटना का औचित्य ही औचित्यवाद का विषय है।[1] इस प्रकार औचित्यवाद पूर्णरूपेण कलावादी सिद्धान्त प्रतिपादन मे सहयोग देता है।

निष्कर्ष रूप मे कहा जा सकता है कि वस्तुनिष्ठवादी दृष्टिकोण मात्र काव्य के वाह्य रूप पर आश्रित था। यही कारण है कि अलकार को काव्य का वाह्य शोभाकारक धर्म कहा जाता है। इसकी तुलना कनककुडल से की जाती है। अभिनवगुप्त ने सश्लिष्ट अलकार को बालक्रीडा वृत्ति का सूचक कुकुमालकरण की भाँति विलासिता की वस्तु बताया है।[2] भोज ने अलकारो को कनक कुडल की भाँति काव्य का वाह्य गुण बताया है। एक दूसरे स्थल पर उन्होने अलकारो को तीन भागो मे विभक्त किया है। उनके अनुसार अलकार के तीन भेद है वाह्य, अवाह्य एव वाह्याभ्यन्तर। वाह्य अलकार वस्त्र, माल्य तथा विभूषण की भाँति है, अभ्यन्तर दन्त परिकर्म नखच्छेद तथा अलक कल्पनादय की भाँति एव वाह्याभ्यान्तर स्नान, धूप, विलेपन के समान।[3] इन दृष्टिकोणो से स्पष्ट है कि सस्कृत के आचार्य परवर्ती काल मे इन सिद्धान्तो की वस्तुनिष्ठता से परिचित हो चुके थे।

विषयनिष्ठ सिद्धान्त विषयनिष्ठ सिद्धान्त का आरम्भ रस के रूप मे आचार्य भरत के समय या उनके पूर्व हो चुका था। किन्तु इसकी क्रमिक व्याख्या आचार्य भरत से ही प्राप्त होने लगती है। इस सिद्धान्त के पोषक सस्कृत साहित्य मे ४ सम्प्रदाय है—गुण, स्वभावोक्ति, ध्वनि तथा स्वत रस। आरम्भ मे भामह ने अलकार के अन्तर्गत रसवत्, प्रेयस्, उर्जस्विन् के रूप मे इसे अलकार मे अन्तर्भुक्त करने का प्रयत्न किया था।, किन्तु वे सफल न हो सके। फलत इसका मूल्याकन स्वतन्त्र रीति से ही हुआ।

---

१. सम कान्सेप्ट्स ऑव अलकार शास्त्र, पृ० २००

२ ध्वन्यालोकलोचन, पृ० ११७, ११८

३ उद्धृत, सम कान्सेप्ट्स ऑव अलङ्कार शास्त्र, पृ० ४६

गुण रीति के सदर्भ मे सबसे पहले वामन ने गुण सिद्धान्त को विकसित किया। वामन के पूर्व भरत, भामह एव दडी की रचनाओ मे गुण के विभेदो का पूर्ण उल्लेख मिलता है। भरत, भामह एव दडी ने गुणो की सख्या दस मानी है। इनके अनुसार गुणो के दो भेद है शब्द गुण एव अर्थ गुण। ये गुण इस प्रकार है—श्लेष, प्रसाद, समता, माधुर्य, सुकुमारता, अर्थव्यक्ति, उदारसता, ओज, कान्ति तथा समाधि। इनमे प्रसाद, समता, माधुर्य, सुकुमारता, उदारता ओज एव कान्ति ये भाषा के गुण होते हुए भी मानव मस्तिष्क के भावो से प्रत्यक्षत सम्बन्धित है। इसीलिए अभिनवगुप्त ने इसे काव्य की अन्तरात्मा से सम्बन्धित बताते हुए कहा है कि ओज, प्रसाद एव माधुर्यादि मानसिक वृत्ति के अग होने के कारण शैली या अलकार से कही अधिक रस से सम्बन्धित है। इस परम्परा के विकास की कडी काव्यप्रकाश मे दिखाई पडती है।

काव्यप्रकाशकार ने इसे शौर्यादि की भाँति आत्मा का नित्य गुण स्वीकार किया है।

गुण की ही भाँति स्वभावोक्ति का उल्लेख आरम्भ से प्राप्त होने लगता है। वी० राघवन का कथन है कि जाति के रूप मे स्वभावोक्ति का ज्ञान भामह को था।[1] दडि१ के काव्यादर्श मे इसका सामान्य उल्लेख हुआ है। यह अलकृति के रूप मे स्वीकृत है। यह द्रव्य के जाति गुण, क्रिया तथा स्वभाव पर आश्रित है।[2] भोज ने वाङ्मय को ३ भागो मे विभक्त किया है—वक्रोक्ति, रसोक्ति तथा स्वभावोक्ति। शृगार प्रकाश मे उन्होने पुन कहा है कि गुण की प्रधानता के कारण स्वभावोक्ति होती है। फलत गुण से शासित होने के कारण स्वभावोक्ति विषयनिष्ठ काव्य सिद्धान्त के अधिक समीप है।

ध्वनि सम्प्रदाय—ध्वनि सम्प्रदाय का मूल उद्देश्य यद्यपि कल्पना शक्ति को प्राथमिकता प्रदान करना है, फिर भी यहाँ काव्यशास्त्र के विभिन्न सम्प्रदायो के अगागि सम्बन्ध का निरूपण प्राप्त होता है। उस निरूपण के अन्तर्गत आनन्दवर्धन रस को अगी एव अन्य सम्प्रदायो को अग के रूप मे स्वीकार करते है।

---

१ अलङ्कार शास्त्र, पृ० ४८

२ काव्यादर्श २, ८

अलङ्कार—आनन्दवर्धन ने बताया है कि ध्वन्यात्मक शृगार मे सोच-समझकर प्रथम किया गया रूपकादि अलकार वर्ग वास्तविक अलकारता को प्राप्त होता है। वास्तविक अलकारता वस्तुत अलकार्य से सम्बन्धित है। इस दृष्टि से रस अलकार्य है तथा अलकार उसका पोषक साधनरूप। वाह्य आभूषण के समान प्रधानमूल (अगी) रस के चारुत्व हेतु होने से अलकार साधन बनकर रह जाता है। इस प्रकार अभिनवगुप्त ने रस दृष्टि को प्रमुख बनाकर अलंकार प्रयोग के औचित्य का भी उल्लेख किया है। ये सख्या मे ६ है—

१ रूपकादि की स्थिति सदैव रसपरक ही होनी चाहिए।
२ वे किसी भी दशा मे प्रधान न होने पावें।
३ रस निष्पत्ति के उचित अवसर पर उनका प्रयोग होना चाहिए।
४ रस निष्पत्ति के अनुसार औचित्य एव अनौचित्य पर विचार करके उनका त्याग भी कर देना चाहिए।
५ रस के सदर्भ मे अलङ्कारो के प्रयोग का यत्न नहीं करना चाहिए।
६ अन्यादि अलङ्कारो के प्रयोग हो जाने पर यह भी देख लेना चाहिए कि वह रस के लिए व्याघातक तो नही हो रहा है।[1]
एक अन्य स्थल पर भी वे उन्हे रसादि रूप अगीभूत तत्व का अग धर्म स्वीकार करते है।[2]

आनन्दवर्धन के इस कथन से स्पष्ट है कि वे रस सम्बन्धी मान्यता की प्रमुखता की ओर सजग है। उन्होने द्वितीय उद्योत के आरम्भ मे ही कहा है कि शृगार ही सबसे अधिक मधुर रस है। उस शृगारमय काव्य के आश्रित ही माधुर्य गुण रहता है।[3]

रस

इस विषय मे अन्तिम एव सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त रस का है। सस्कृत साहित्य मे रस सम्बन्धी धारणा के विकास का एक निश्चित इतिहास प्राप्त है। अन्य सिद्धान्तो की ही भाँति इसमे भी एकरूपता नही है। आरम्भिक आचार्य भरत एव पडितराज जगन्नाथ की रस सम्बन्धी धारणा मे निश्चित रूप से अनेक मौलिक अन्तर देखे जा सकते है।

---

१ ध्वन्यालोक, द्वितीय उद्योत, कारिका १७ तथा १८
२ ध्वन्यालोक, द्वितीय उद्योत, कारिका ६
३ ध्वन्यालोक, द्वितीय उद्योत, कारिका ७

रस की आरम्भिक स्थिति

आचार्य भरतपूर्व रस सिद्धान्त पूर्णरूपेण स्थिर हो चुका था। भरत पूर्व रसाचार्यो के सदर्भ मे तडु, नन्दिकेश्वर, शेष वा वासुकि के नाम लिए जाते है।[1] नाट्यशास्त्र के प्रयुक्त अनुवश्य श्लोको तथा वार्तिक अशो मे अनेक शैलीगत अन्तर वर्तमान हे। इसमे इतना तो अवश्य ही स्पष्ट हो जाता है कि भरत पूर्व रस सम्बन्धी धारणा का पूर्ण विकास हो चुका था। रस सम्बन्धी धारणा का आरम्भिक बीज वैदिक साहित्य मे उपलब्ध है। वह धारणा विशेष रूप से छान्दोग्य, वृहदारण्यक एवं तैत्तिरीय उपनिषद मे प्राप्त होती है। रस यहाँ सार तत्त्व, आनन्द तथा ब्रह्मतत्त्व के अर्थ मे प्रयुक्त है।

परम तत्व के रूप में

काव्य रस सम्बन्धी आरम्भिक धारणा का विकास ई० की दूसरी शती के आसपास पूर्णरूप से हो चुका था। नाट्यशास्त्र की व्याख्या, वात्स्यायन, कालिदास, अश्वघोष, भास के रस सम्बन्धी कथन इसके स्पष्ट प्रमाण है, आचार्य भरत नाट्यशास्त्र अध्याय ६ के अन्तर्गत, 'ऐसा मेरे पूर्व कहा जा चुका है' 'ऋषि ऐसा कह चुके है', 'इस प्रकार का पूर्व कथन है' आदि पदाशो का प्रयोग करते है। वात्स्यायन की रस सम्बन्धी धारणा का आधार कामशास्त्र है। वे परस्पर सम्मिलन से उत्पन्न आनन्दावेश को रस मानते है। अश्वघोष ने बुद्धचरित एव सौन्दरनन्द दोनो काव्यो मे धार्मिक वातावरण मे उत्पन्न होने वाले शान्तभाव एव शान्तरस की चर्चा की है। कालिदास ने 'विक्रमोर्वशीयम्' मे आठ रसो को भरत प्रयोग कहकर सम्बोधित किया है। डॉ० वी० राघवन् ने भास के द्वारा किए गए रस विषयक सकेत का उल्लेख किया है। इन उल्लेखो से स्पष्ट है कि मध्यकाल के आरम्भ मे रस सिद्धान्त भारतीय काव्य के अन्तर्गत मुख्य रूप से चर्चा का विषय बन चुका था।

आचार्य भरत तथा रस—आचार्य भरत नाटक के लिए रस की अनिवार्यता बतलाते है। उनका विचार है कि नाट्य की व्यजना रस के अभाव मे पाठक या प्रेक्षक तक नही पहुँच सकती। रस नाटक की मूलात्मा हैं। उन्होने विभावानुभाव एव सचारी के सयोग से रस की निष्पत्ति मानी है। उनके अनुसार इसकी निष्पत्ति उसी प्रकार होती है जैसे ईखादि के रस से गुड, खाद्य

---

१ इसके विशेष अध्ययन के लिए देखिए, 'द नम्बर ऑव रसाज,' वी०राघवन्, अध्याय १

२ छान्दोग्य उपनिषद् १ . १ . ? से ३ तक

द्रव्यो के सयोग से व्यजन, औषधियो को मिला देने से पानक रस आदि। साथ ही, रस के आन्तरिक स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए—वे आस्वादन के कारण को भी रस-रूप मानते है। आस्वादन के स्वरूप को और अधिक स्पष्ट करते हुए वे पुन कहते है जिस प्रकार नाना व्यजनो से युक्त सस्कृत अन्न खाने वाले पदार्थ-रस का आस्वादन करते है, उसी प्रकार सामाजिक भी।[1] यही मान्यता सम्भवत उनके पूर्व भी वर्तमान थी क्योकि इस निष्पत्ति के स्वरूप की ओर सकेत करते हुए उन्होने परम्परा का स्पष्ट उल्लेख किया है। उनके अनुसार वश-परम्परा मे रसोत्पत्ति के विषय मे इस प्रकार का सिद्धान्त था।

जिस प्रकार अनेक द्रव्यो से सयुक्त व्यजन को रसरूप मे जानने वाले पुरुष सामान्य रूप से नही अपितु विशेष रूप से खाते हुए उसका आस्वादन करते है, इसी प्रकार नाटक के विषय मे भी समझना चाहिए।[2] एक दूसरे स्थल पर भी रस निष्पत्ति के लिए पुन व्यजन का उदाहरण लिया है। इसी प्रकार एक अन्य स्थल पर भी भाव तथा रस के सम्बन्ध को बताने के लिए 'बीज एव वृक्ष' का रूपक प्रयुक्त किया है।[3] भरत अपने पूर्व शृगार की दस अवस्थाओ का उल्लेख करते हुए अपने पूर्व के वैशिक शास्त्रकार—काम कला के प्रणेता की भी चर्चा की है।[4] एक अन्य स्थल पर माली के द्वारा पुष्प के गूँथे जाने के भाव को रसोत्पत्ति के समान बताया गया है।

भरत के इन कथनो से स्पष्ट है कि रस सम्बन्धी आरम्भिक धारणा अति सामान्य थी। परवर्तीकाल मे रस के जिस उदात्त स्वरूप एव स्वभाव की कल्पना की गई है, भरत पूर्व या उनके समकाल मे वैसी नही थी। इसमे रस विषयक तात्त्विक उत्कृष्टता का सकेत अतिसामान्य है। व्यजन, पानक, औषधि, वृक्ष आदि के उदाहरण सामान्य जन को समझाने के लिए साधारण कथन के रूप मे है।

---

१ अभिनव भारती, अध्याय ६, पृ० ४६७

२ वही पृ० ५०१

३ वही पृ० ५१०, ५११, ५६०

४ नाट्य शास्त्र अध्याय २६, १०६ [काम से सम्बद्ध आनन्द को रस से उपमित करना इस तथ्य का स्पष्ट प्रमाण है, कि काव्य जन्य आनन्द को सामान्य मनोरजन के स्तर पर ही लिया जाता था और उसमें ब्रह्मानन्द सहोदरत्व की भावना नहीं थी।

भटटलोल्लट, शकुक तथा भट्टनायक के रस सम्बन्धी मत इन मतो का उल्लेख अभिनवगुप्त, पडित राज जगन्नाथ, विश्वनाथाचार्य, मम्मट आदि ने किया है। इनमे अभिगवगुप्त की व्याख्या तथा उद्धरण अधिक प्रामाणिक है।

भट्टलोल्लट—इनके अनुसार रस की स्थिति इस प्रकार है—विभावादि का जो सयोग स्थायी भाव के साथ होता है, उससे रस की निष्पत्ति होती है। उनमे से विभाव, स्थायिभाव चित्तवृत्ति की उत्पत्ति मे कारण होते है, अनुभाव शब्द से यहाँ रसजन्य अनुभाव विवक्षित नही है क्योकि उनकी गणना रस के कारणो मे नही की जा सकती अपितु भावो के अनुभाव, अर्थात् इसके कारणभूत अनुभावो मे रसादि स्थायी पीछे उत्पन्न होने के कारण अनुभाव कहलाते है, और व्यभिचारी भाव चित्तवृत्ति स्वरूप होने से यद्यपि स्थायिभाव के साथ नही रह सकते, किन्तु यहाँ रस के सस्कार रूप से विवक्षित है। इसलिए विभाव-अनुभाव आदि से परिपुष्ट किया हुआ स्थायीभाव ही रस है। अभिनवगुप्त की इस व्याख्या मे काव्य प्रकाशकार मम्मट ने थोडा सशोधन किया है। मम्मट के अनुसार भट्टलोल्लट का मत इस प्रकार है—

विभावो अर्थात् रस के आलम्बन तथा उद्दीपन के कारणभूत।[२] ललनादि आलम्बन विभाव और उद्यानादि उद्दीपन विभावो मे रति आदि स्थायी भाव उत्पन्न रति आदि की उत्पत्ति के, कार्यभूत कटाक्ष भुजाक्षेप आदि अनुभावो से प्रतीति के योग्य किया गया, और सहकारी रूप निर्वेद आदि व्यभिचारियो से पुष्ट मुख्य रूप से अनुकार्य रूप राम आदि मे, और उनके स्वरूप का अनुकरण करने से नट मे प्रतीयमान अर्थात् आरोप्यमाण इत्यादि स्थायीभाव ही रस है।[३]

---

१ विभावादिभि सयोगोऽर्थात् स्थायिनोस्तत. रस निष्पत्ति। तत्र विभावश्चित्तवृत्ते स्थायिनितिमकाय। उत्पत्तौ कारणम् अनुभावाश्च न रसजन्या अत्र विवक्षिता तेषा रसकारणत्वेन गणनानर्हत्वात् अपितु भावानामेव येऽभाव तथापि वासनात्वनेह तस्य विवक्षिता, हिन्दी अभिनवभारती, षष्ठ अध्याय, पृ० ४४२, ४३, तेन स्थाप्येत विभावानुभावदिभिरुपचितौ रस

२ विभावेत्मत्मनौद्यानादि मिशलम्बनौद्दीपनकारणै. रत्यादिको भावो जनित, का० प्र० चतुर्थ उल्लास, पृ० १०१

३. काव्यप्रकाश, चतुर्थ उल्लास, पृ० १०१

आचार्य लोल्लट का मत उत्पत्तिवाद के नाम से पुकारा जाता है। उनके अनुसार विभावादि की परिपुष्टि से अनुकार्य राम मे रस की निष्पत्ति होती है। उन्होने भावो एव स्थायी भाव के परम्पर सम्बन्ध की तीन कोटियाँ निर्धारित की है—

१ स्थायीभाव के साथ विभावो का उत्पाद्य सम्बन्ध है।

२ स्थायीभाव तथा अनुभावो का गम्यगमक सम्बन्ध है।

३ स्थायीभाव तथा व्यभिचारी भाव का पोष्यपोषक सम्बन्ध है। यही कारण है कि इनकी व्याख्या के अनुसार आलम्बनोद्दीपन विभावो से जनित अनुभावो से प्रतीति योग्य कृत तथा व्यभिचारी भावो से उपचित पुष्ट होने पर ही रस निष्पन्न होता है। इसके अनुसार रस की मूल स्थिति ऐतिहासिक पात्रो मे रहती है, वह गौण रूप से नटो मे पाई जाती है।

निष्कर्ष—विभाव, अनुभाव एव सचारी भावो के परिपक्व हो जाने पर रस की निष्पत्ति होती है। स्थायिभाव स्वत मे अनुपचित रहता है, किन्तु विभाव, अनुभाव एव सचारिभावो के ससर्ग मे आने पर ही उपचित होता है। उपचित होने के बाद वह रस मे परिणत हो जाता है। भावो की उपचितावस्था तक भाव को पहुँचने के लिए लोल्लट ने तीन सम्बन्ध बताए है–उनके द्वारा ही स्थायी भाव उपचित होते है। लोल्लट के अनुसार रस की उत्पत्ति ऐतिहासिक पात्र मे ही होती है। नट उसका अनुकरण मात्र करते है–
शकुक—अभिनव भारती मे शकुक का मत इस प्रकार दिया हुआ है—इनके सिद्धान्त को अनुमितिवाद के नाम से पुकारा जाता है—

कारण रूप विभावो, कार्य रूप अनुभावो तथा सहकारी रूप व्यभिचारी भावो द्वारा कृत्रिम प्रयत्नजन्य होने पर भी उस प्रकार के न प्रतीत होने वाले लिग के सामर्थ्य से अनुकर्ता (नट) मे प्रतीत होने वाला तथा राम आदि मे रहने वाला स्थायिभाव का अनुकरण रूप भाव (नटगत स्थायीभाव) ही रस होता है। अनुकरण रूप होने के कारण ही यह स्थायीभाव नाम से न कहा जाकर उससे भिन्न रस नाम से व्यवहृत होता है।[1]

---

१ तस्मात् हेतुर्भिविभावस्यै कार्येरनुभावभि सहचारिरूपैश्व व्यभिन्वारिय प्रयत्नार्जिततया कृत्रिमेरपि तथानभिमन्यमानै. अनुकर्तृस्थत्वेन लिंगवत् प्रतीयमान. स्थायिभावोमुख्यरामादिगत स्थायानुकरणरूप अनुकरणत्वादेव च नामान्तेण व्यपदिष्टो रसः। हिन्दी अभिनव भारती, षष्ठ अध्याय, पृ० ४४६

१ लोल्लट की व्याख्या और इनमे अन्तर आरोप एव अनुमिति की है। लोल्लट के अनुसार दर्शक राम मे नट का आरोप कर लेते हैं जबकि इनके द्वारा अनुमान, इनका प्रसिद्ध चित्रतुरग न्याय अनुमितिवाद का उदाहरण है।

२ इनके अनुसार भरत सूत्र के सयोग शब्द का अर्थ 'गम्यगमकभाव सम्बन्ध' है। विभावादि शब्द से व्यवहृत होने वाले कारण, कार्य और सहकारी भावो के साथ सयोग अर्थात् गम्यगम्यक भाव रूप सम्बन्ध से अनुमीयमान होने पर भी वस्तु के सौन्दर्य के कारण तथा आस्वाद का विषय होने से अन्य अनुमीयमान अर्थों से विलक्षण स्थायी रूप मे सभाव्यमान रति आदि भाव वहाँ नट के वास्तविक रूप मे न रखते हुए भी सामाजिक के सस्कारो से स्वात्मगतत्वेन रस-रूप मे आस्वाद्य होते हैं। यह शकुक का मत है।[1]

३ इस मत की सर्वाधिक महत्वपूर्ण विशेषता है, प्रेक्षक के द्वारा रस का अनुमान किया जाना।

भट्टनायक इनके मत को भोगवाद के नाम से पुकारा जाता है। इनके अनुसार "रस न प्रतीत होता है, न उत्पन्न और न अभिव्यक्त"[2] अपितु काव्य मे दोषाभाव तथा गुणालकारमयत्व रूप लक्षण के कारण और नाटक मे चार प्रकार के अभिनय से सामाजिक के भीतर रहने वाले समस्त अज्ञान आदि के निवारण करने वाले एवं विभावादि के साधारणीकरणरूप अभिधा के बाद द्वितीय अश से होने वाले भावकत्व व्यापार के द्वारा भाव्यमान साधारणीकृत रस, अनुभव स्मृति आदि से भिन्न प्रकार के रजोगुण तथा तमोगुण के मिश्रण के कारण द्रवीभाव विस्तार तथा विकासरूप सत्वगुण के प्राधान्य से प्रकाश तथा आनन्दमय साक्षात्कार मे विश्रान्तिरूप एव परमब्रह्म के आस्वाद के सदृश भोग, भोजकत्व व्यापार के द्वारा अनुभूत भोग किए

---

१ कार्यकारण सहकारिभि कृत्रिमैरपि तथा नभिमन्यमानेविभावादिशब्दव्यपदेश्यै. स योगात् गम्यगमकभाव रूपात अनुमीयमानोपि वस्तुसौन्दर्यबलात रसनीयत्वेन नान्यामीयमान विलक्षण स्थायित्वेन स भाव्यमानौ रत्यादिर्भावस्तत्रासन्नपि सामाजिकाना वासनया चर्वमाणो रस इति श्री शकुक।
काव्यप्रकाश. चतुर्थ उल्लास, पृ० १०३

२. रसो न प्रतीयते नोत्पद्यते नाभिव्यज्यते, पृ० ४६२, हिन्दी अभिनव भारती

जाते है। यह भट्टनायक का सिद्धान्त है।"[१] इनके मत को काव्यप्रकाशकार ने अत्यन्त सक्षेप मे इस प्रकार दुहराया है—"न ताटस्थ्येन नात्मगत्वेन रस प्रतीयते नोत्पद्यते नाभिव्यज्यते अपितु काव्ये नाट्ये चाभिधातो द्वितीयेन विभावादिसाधारणीकरणात्मना भावभावकत्व व्यापारेण भाव्यमान स्थायि, सत्वोद्रेक प्रकाशानन्दमय सविदिवश्रान्तिसत्वेन भोगेन भुज्यते इति भट्टनायक।"[२]—"न तटस्थ रूप से रस की प्रतीति होती है और न उत्पत्ति होती है, न अभिव्यक्ति होती है किन्तु काव्य अथवा नाटक मे अभिधा से भिन्न विभावादि के साधारणीकरणस्वरूप भावकत्व नामक व्यापार से साधारणीकृत स्थायीभाव योगाभ्यास काल मे सत्व के उद्रेक से ब्रह्मानन्द सदृश प्रकाश तथा आनन्दमय अनुभूति की स्थिति के सदृश भोग से आस्वादित किया जाता है।

अभिनवगुप्त . इनके मत को अभिव्यक्तिवाद के नाम से पुकारा जाता है। अभिनवगुप्त के रसोत्पत्ति सम्बन्धी मत अभिनव भारती एव ध्वन्यालोकलोचन मे निहित है। इसके अतिरिक्त मम्मट ने इनके मत को अत्यधिक सरलता से काव्यप्रकाश मे व्यक्त किया है। रस के सम्बन्ध मे अभिनवगुप्त की धारणा इस प्रकार है—

१ **काव्य मे रसो की भावना या अनुभूति की जाती है। इस भावना का अर्थ भोग नही है। यह सवेदन नाम से व्यग्य आत्मसाक्षात्कारात्मकप्रतीति का विषय और आस्वादनरूप है। फलत. यह अनुभव काल मे अनुभूत होने वाला सवेदना का विषय है।**[३]

२ **रस का स्वभाव अलौकिक है। वह देश, काल, प्रभाव आदि के बन्धन से पृथक् होने के ही कारण साधारणीकरण का**

---

१ तत्काव्य दोषाभावगुणालकारमयत्वेन नाट्ये चतुर्विधाभिनयरूपेण निविडनिजमोह सकटतानिवारणकारिणा विभावादिसाधारणीकरणात्मना, अभिधातो द्वितीयेनाशेन भावकत्वव्यापारेण भाव्मानो रसो,अनुभवस्मृति आदि विलक्षणेन रजस्तमोनुबध वैचित्र्य वलाद् द्रुति विस्तारविकासलक्षणेन सत्वोद्रेकप्रकाशानन्दमय निजसविद्विश्रान्ति लक्षणेन परब्रह्मास्वादस विधेन भोगेन पर भुज्यते इति। हिन्दी अभिनव भारती : पृ० ४६४

२ काव्यप्रकाश, चतुर्थ उल्लास, पृ० १०७

३ हिन्दी अभिनव भारती, पृष्ठ ४६७

विषय बनता है । यदि देश-काल आदि के बन्धन मे यह बंधा रहता तो रस की एक-सी अनुभूति पाठको या श्रोताओ को न होती । फलत साधारणीकरण के सदर्भ मे रस देश-काल की सीमा से निर्मुक्त है ।[1]

३ रस वासना या सस्कार के रूप मे सामाजिको मे वर्तमान रहता है । साक्षात्कारात्मक मानस अध्यवसाय के प्रभाव से यह सस्कार जाग्रत करता है । फलत रस वासना के रूप मे निरन्तर स्थायी रहने वाला सनातन तत्त्व है ।[2]

४ अभिनवगुप्त ने रस के साधारणीकरण के सदर्भ मे ७ व्याघातक तत्त्वो का उल्लेख किया है । रस प्रक्रिया के सदर्भ मे मात्र किसी एक तत्व के आ जाने से रस खडित हो जाता है ।[3]

मम्मट तथा परवर्ती आचार्य

रस सम्बन्धी यह मान्यता पहले से किंचित् भिन्न है । यहाँ रस की अलौकिकता का प्रतिपादन अनेक रूपो मे मिलता है । विषयनिष्ठ सिद्धान्त को यहाँ चरम उत्कर्ष प्राप्त है । रस के माहात्य की ओर उल्लेख करते हुए मम्मट ने कहा है, यह लौकिक प्रत्यक्षादि प्रमाण एव मितज्ञान प्राप्त करने वाले योगियो की अनुभूति से विलक्षण अलौकिक सवेदन का यह विषय है। इसी के साथ उन्होने पुन कहा है कि इस रस का ग्रहण करने वाला ज्ञान निर्विकल्पक नही है क्योकि उसमे विभावादि के सम्बन्ध की प्रधानता रहती है। वह सविकल्प नही है क्योकि स्वानुभूति से उस ज्ञान की सिद्धि हो जाती है। इस प्रकार रस अपूर्व लोकोत्तर चमत्कारपूर्ण है ।[4] अभिनवगुप्त ने बताया है कि रस अलौकिक चमत्कार स्वरूप स्मृति, अनुमान एवं लौकिक प्रत्यक्षादि ज्ञानो से पूर्ण भिन्न है ।[5] रस का ज्ञान किसी भी स्थिति मे सम्भव नही है। वह सम्पूर्णत अनुभूति का विषय है क्योकि वह मानसिक द्रवता का अग है।

---

१ हिन्दी अभिनव भारती, पृष्ठ ४६८
२ हिन्दी अभिनव भारती, पृष्ठ ४७०, ७१
३ हिन्दी अभिनव भारती, पृष्ठ ४७४
४ मम्मट, काव्यप्रकाश, चतुर्थ उल्लास, श्लोक २८ की कारिका
५ अभिनव भारती, अध्याय ६, पृ० ४८५

उसका आस्वादन मात्र प्रतीति से होता है—अत अभिनवगुप्त के अनुसार भी यह अलौकिक मानसिक व्यापार का अग है। पडितराज जगन्नाथ ने रस की परिभाषा देते हुए उसके विभावादि को अलौकिक कहा है।[1] यही नही, उनके अनुसार रस व्यापार भी अलौकिक है—वह शीघ्र ही प्रभावादि को अपने आनन्द से प्रभावित करके विगलित कर देता है। कविराज विश्वनाथ ने साहित्य दर्पण के अन्तर्गत इसे पूर्णरूपेण ब्रह्म स्वाद सहोदर सिद्ध किया है। उनके अनुसार रस सत्वोद्रेक, अखड, प्रकाशानन्द, चिन्मय, वेद्यान्तर स्पर्शशून्य एवं लोकोत्तर चमत्कार से पूर्ण है। अल्लराज ने 'रसरत्न प्रदीपिका' मे रस को नित्य ब्रह्म स्वरूप बतलाया है।[2]

इन व्याख्याओ से स्पष्ट है कि रस मानव मस्तिष्क का अग है। मानव मस्तिष्क काव्य के सम्पर्क मे आकर एक विशिष्ट प्रकार के आनन्द का अनुभव करता है जिसे रस कहा जाता है। इस प्रकार यह व्याख्या पूर्ण-रूपेण विषयनिष्ठ है। निष्कर्ष रूप से रस भारतीय काव्य शास्त्रीय सिद्धान्तो की चरम परणति का सूचक है। सौन्दर्य शास्त्र की आधुनिक मनोवैज्ञानिक व्याख्याओ से रस की सार्थकता पर पूर्ण रूपेण प्रकाश पडता है। उनके अनु-सार काव्यानन्द का सिद्धान्त पूर्णरूपेण तर्कसगत है।[3]

निष्कर्ष—सम्पूर्णत कहा जा सकता है कि भारतीय काव्य शास्त्र मे कलात्मक सजगता को अधिक स्थान दिया गया है। इस कलात्मक सजगता के दो पक्ष है एक शैली पक्ष जो कला को मुख्य नियोजक तत्त्व स्वीकार करता है। इस दृष्टि से अलङ्कार, रीति, वक्रोक्ति आदि को एक ओर रखा जा सकता है। दूसरा काव्य के अनुभूति पक्ष का समर्थन करता है। उसके अनुसार काव्य मे आनन्द को प्रमुखता दी जानी चाहिए। यह आनन्द भी कलात्मक सजगता का ही अग है। इसके पोषक गुण स्वभावोक्ति एव रस सम्प्रदाय हे।

भक्तिकाव्य की व्याख्या मे शास्त्रीय मूल्यों की उपयोगिता का परीक्षण

काव्यशास्त्रीय मूल्यो के संदर्भ मे देखा जा चुका है कि इनकी दृष्टि कलावादी रही है। ये कलात्मक परितोष को काव्य का उच्चगुण स्वीकार

---

१. रस गगाधर, पृ० २१ तथा २२ काव्यमाला सीरीज, १८८८

२ रसरत्नप्रदीपिका, १, १० से १३ तक

३ रस सिद्धात स्वरूप विश्लेषण, आनन्द प्रकाश दीक्षित, पृ० २२४

करते है—वस्तुनिष्ठ समस्त मूल्य प्राय शैली या काव्य के वाह्य पक्ष के समर्थक है। अलकार भाषा का सौन्दर्य है। रीति एक विशिष्ट प्रकार की पदयोजना एव वक्रोक्ति उक्ति वैचित्र्य से सम्बन्धित होने के कारण काव्य की विषयवस्तु से हटकर शैली या शब्दार्थ से सम्बन्धित है। अलकार, रीति एव वक्रोक्ति को प्रधान या एक मात्र तत्त्व के रूप मे स्वीकार करके प्रणीत काव्य मात्र चमत्कार या कौतूहल प्रकट करता है। यही कारण है कि ध्वनिवादी आचार्य काव्य मे इनके स्वतत्र प्रयोग की अवहेलना करते है। उनके अनुसार रस, अलकार एव रीतिसम्बन्धी सिद्धान्त काव्य की मूलात्मा—रस के पोषक है।

हिन्दी वैष्णव भक्ति काव्य के सदर्भ मे वस्तुनिष्ठ काव्य सिद्धान्त का प्रयोग किया जा सकता है किन्तु उसी रूप मे जिसका ध्वनिवादी आचार्य सगत करते है अर्थात् भक्ति काव्य मे भी साधन के रूप मे वस्तुनिष्ठ काव्य सिद्धान्तो का प्रयोग किया जा सकता है किन्तु इसका अर्थ यह नही कि भक्ति-काव्य की आत्मा एक मात्र रस है। उपयोगिता सम्बन्धी सिद्धान्त उसकी मूलात्मा से सम्बद्ध है क्योकि इस काव्य का मूल हेतु नैतिक सरक्षण है, जिसके कारण वह लौकिक काव्य से पृथक् दिखाई देता है। इस दृष्टि से नैतिक सरक्षण एव रस दोनो की मान्यताओ का पोषण काव्यशास्त्र के इन मूल्यो को करना होगा। इस दृष्टि से इसके अध्ययन मे निम्नलिखित प्रकार की सावधानी अपेक्षित है।

१ कवि अलकार रीति एव वक्रोक्ति को साधन के रूप मे प्रयुक्त किया जा सकता है।
२ जहाँ इस साधन पक्ष की प्रमुखता मिलती है, उसका प्रमुख काव्य मूल्य गौण हो जाता है।
३ यह आवश्यक नही है कि अलंकार, रीति या वक्रोक्ति का प्रयोग हो ही। यदि कवि का कार्य बिना इसके सुचारु रूप मे चल जाता है तो उसे इसके प्रयोग की आवश्यकता नही है।
४ अलकार रीति तथा गुण के प्रयोग का उद्देश्य अलंकरण न होकर विषय का स्पष्टीकरण हो।

इस प्रकार भक्ति काव्य के लिए रीति, अलकार एव ध्वनि की अनिवार्यता नही है। यदि काव्य के साधन के रूप मे कही इसका प्रयोग हो जाता है, तो ये कवि करने के लिए तैयार है। विषयनिष्ठ सिद्धान्त के अन्तर्गत

रस सम्प्रदाय को लिया जा सकता है। रस का सम्बन्ध भक्ति काव्य से है इसी के फलस्वरूप भक्त आचार्यों ने भक्ति काव्य के लिए भक्ति रस नाम से एक पृथक् रस स्वीकार किया। भक्ति रस अपनी प्रकृति मे काव्यरस से पृथक् है। रस सामान्य मानव मस्तिष्क का अग है, किन्तु भक्ति रस इससे भिन्न अलौकिक सम्बन्धो से अनुभूत उज्ज्वल एव पवित्र है, किन्तु भक्ति रस काव्यरस की पीठिका पर ही आधारित है। काव्यरस की ही भाँति इसमे भी विभाव, अनुभाव एव सचारियो की स्थिति वर्तमान है। साधारणीकरण तथा रस बोध की ही भाँति इसका भी अपना पृथक् रसबोध-सिद्धान्त है। जिस प्रकार रस का स्वभाव अखड, प्रकाशानन्द एव चिन्मय है, उसी प्रकार भक्ति रस भी है। किन्तु उसके होते हुए भी, सस्कृत की काव्यशास्त्रीय परम्परा मे प्राप्त रससिद्धान्त से इस सिद्धान्त की व्याख्या नही की जा सकती। इसके विभावानुभाव एव सचारियो की प्रकृति लौकिक जगत के भावो की भाँति नही है। भक्तो का मानसिक भावन व्यापार भी सामान्य प्रमाताओ से भिन्न है। सामान्य प्रमाता उस स्तर पर पहुँच ही नही सकता। फलत रसबोध के सिद्धान्त की प्रकृति भी यहाँ बदल जाती है। इस प्रकार सस्कृत साहित्य के रस सिद्धान्त से भक्ति रस या भक्ति काव्य की व्याख्या सम्पूर्णत नही की जा सकती।

सस्कृत साहित्य शास्त्र मे प्रयुक्त रस सिद्धान्त की सार्थकता प्राकृतिक सवेदनो को उसी रूप मे स्वीकार करने मे है। तात्पर्य यह कि, यहाँ किसी रस की व्यजना तत्सम्बन्धी भाव को ही पुष्ट करने मे है। किसी कवि का शृगार वर्णन मात्र शृगार की ही पुष्टि के लिए होता है। किन्तु वैष्णव भक्ति काव्य मे रस के उदात्तीकरण की प्रवृत्ति प्रधान है। यहाँ वर्णित शृगार रस की मूल व्यजना शृगारमूलक न होकर आध्यात्मिकता की व्यजना से सम्बन्धित है। सस्कृत काव्यशास्त्र मे इस प्रकृति का निरूपण रसाभास या भाव के अन्तर्गत किया गया है किन्तु हिन्दी भक्ति काव्य मे यही दृष्टि प्रमुख है और उसका समुचित विवेचन रसाभास या भाव आदि के द्वारा नही किया जा सकता।

रस के सदर्भ मे एक तीसरी बात और भी द्रष्टव्य है। सस्कृत के शास्त्रकार भयानक, रौद्र एव अद्भुत को सामान्य लक्षण निरूपण की ही परिधि तक सीमित रखते है। भक्ति काव्य मे भयानक रौद्र एव अद्भुत का व्यापक चित्रण मिलता है। इनसे सम्बन्धित समस्त भावो को भयानक रौद्र

एव अद्भुत के सामान्य लक्षण क्रमो से सीमित कर देना उचित नही है। इस दृष्टि से इसका व्यापक विवेचन अपेक्षित है। इनकी रस सम्बन्धी सकीर्णता से बचने के लिए भक्ति काव्य का सौन्दर्यशास्त्रीय अध्ययन अपेक्षित है।

पहले कहा जा चुका है कि भक्ति काव्य का प्रमुख अग सैद्धान्तिकता की दृष्टि से उपयोगितावाद से सम्बन्धित है। भारतीय काव्यशास्त्र मे उपयोगिता सम्बन्धी दृष्टि अति सामान्य है। फलत तत्सम्बन्धी सिद्धान्तो का विवेचन इसमे प्राप्त नही है। इस दृष्टि से भक्ति काव्य के अध्ययन के लिए सस्कृत काव्यशास्त्र का पूर्णरूपेण आधार ग्रहण करना समीचीन नही है

इसके अतिरिक्त काव्य के अनेक ऐसे तत्त्व है, जिनके विषय मे सस्कृत के आचार्य निषेध करते है। काव्य रूपो के सम्बन्ध मे ऐसी अनेक बाते आती है। आचार्यो द्वारा कथित प्रबन्धकाव्य मे अगीरस की समस्या, नायक-नायिका वर्णन, मुक्तक के वर्ण्यविषय आदि से सम्बन्धित सिद्धान्त आवश्यक नही है कि भक्ति काव्य पर चरितार्थ ही हो। काव्य रूपो के सम्बन्ध मे इनकी पृथक् दृष्टि ही मिलती है। भक्ति काव्य क्षेत्र मे अनेक ऐसे काव्यरूप मिलते है, जो सस्कृत साहित्य मे है ही नही। फलत उनके लक्षण का निर्धारण प्राप्त काव्यो के आधार पर ही किया जा सकता है। दोष के विषय मे भी यही स्थिति है। सस्कृत काव्यशास्त्र मे अनेक ऐसे दोष है, जो भक्ति काव्य मे उच्चतम गुण के रूप मे स्वीकृत है। भक्तिरस को देवताविषयक रति कहकर आचार्यो ने निषिद्ध बताया था किन्तु हिन्दी के वैष्णव भक्त कवि उसी को अपना आधार बनाते है।

इस प्रकार सस्कृत काव्यशास्त्र के सदर्भ मे यह कहा जा सकता है कि हिन्दी वैष्णव भक्ति काव्य की वास्तविक समीक्षा मे वह पूर्णरूपेण सहायक नही है। वैष्णव भक्ति काव्य का अपना पृथक् काव्यशास्त्रीय दृष्टिकोण आवश्यक है। रूपगोस्वामी आदि भक्ति के आचार्यो ने इस दिशा मे बहुत पहले ही प्रयत्न करके दिखा दिया है कि भक्ति काव्य का अपना पृथक् शास्त्र होना चाहिए।

———

अध्याय २

हिन्दी वैष्णव भक्तिकाव्य में निहित काव्यादर्शों का सैद्धान्तिक अध्ययन

काव्यमूल्य काव्यादर्श काव्य प्रयोजन

'मूल्य' शब्द वस्तुत अर्थशास्त्रीय पारिभाषिक शब्दावली का एक अग है। साहित्य के क्षेत्र मे इसका आगमन साहित्य मे उपयोगितावादी दृष्टिकोण के आगमन से ही हुआ है। इसलिए 'मूल्य' शब्द को कलावादी आलोचक साहित्य के क्षेत्र मे रखना नही चाहते। जेसा कि गुलाबराय जी का विचार है "अग्रेजी भाषा मे 'वैल्यू' शब्द का अर्थ हिन्दी की अपेक्षा अधिक व्यापक हो गया है। किन्तु वहाँ भी वह आर्थिक व्यजना से निर्मुक्त नही हुआ है और शायद इसी से विशुद्ध कलावादी जो कला को सब मूल्यो से परे मानते हे, साहित्य के साथ यह शब्द जुडा देखकर चौक उठते है।"[१] यह तथ्य इस बात की ओर सकेत करता है कि आज साहित्य के क्षेत्र मे यह शब्द पूर्णतया व्यवहृत हो रहा है। इस प्रचलन ने 'मूल्य के अर्थ मे प्रयुक्त समस्त शब्दावलियो का बहिष्कार-सा कर दिया है। इसकी अर्थ व्यापकता ने ही आज आलोचना प्रक्रिया को मूल्याकन की प्रक्रिया बना दिया है। इस मूल्याकन के प्रश्न को उठाते हुए आई० ए० रिचर्ड्स ने मूल्य को आलोचना क्षेत्र मे एक मात्र स्थायी प्रक्रिया के रूप मे स्वीकार किया है।[२] प्रसिद्ध दार्शनिक बी० बोसाके ने स्वीकार किया है कि यह एक ऐसा तथ्य है जो निश्चित रूप से जीवन के व्यावहारिक एव सैद्धान्तिक पक्षो मे केन्द्रबिन्दु के रूप मे निहित है।[३] इस प्रकार अर्थशास्त्रीय शब्दावली मे प्रयुक्त वह 'मूल्य' शब्द आज व्यापक अर्थ मे आलोचना, दर्शन, नीतिशास्त्र आदि क्षेत्रो मे प्रयुक्त हो रहा है।

---

१ अध्ययन और आस्वाद, साहित्य के मूल्य, पृ० १

२ प्रिंसिपुल्स ऑव लिटरेरी क्रिटिसिज्म, पृ० ४०

३ द प्रिन्सिपुल ऑव इ डिविजुअलिटी एन्ड वैल्यू, पृ० ७३

इस स्थिति मे काव्यमूल्य के विषय मे भी प्रश्न उठना आवश्यक है। गुलाबराय ने इस 'मूल्य' शब्द की व्यावहारिक एकागिता एवं कला के क्षेत्र मे इसकी अतिशय व्यापकता की ओर सकेत करते हुए लिखा है कि शायद ऐसी ही आपत्तियो से बचने के लिए भारतीय काव्यशास्त्र मे प्रयोजन शब्द का व्यवहार हुआ।[1] अत मूल्य एव प्रयोजन प्राय एक ही अर्थ की सूचना देते है। भारतीय काव्यशास्त्र मे काव्य के चतुष्टय अनुबन्धो मे प्रयोजन को सर्वप्रथम स्थान मिला है। कुन्तक का विचार है कि समस्त अनुबन्धो से मुक्त काव्य ही धर्मादि सिद्धि का मार्ग है।[2] प्रयोजन की अनिवार्यता को स्वीकार करके कहा हुआ 'श्लोक यावत् प्रयोजन नोक्त तावत्-तत्केन गृह्यते' निश्चय ही इस बात का सूचक है कि बिना प्रयोजन के अभीष्ट का ज्ञान दुर्लभ हो जाता है। अत सस्कृत के काव्यशास्त्रियो ने प्रत्येक शास्त्र के प्रयोजन, अधिकारी, सम्बन्ध तथा विषय ये चार अनिवार्य अनुबन्ध स्वीकार किये है। आज की आलोचनात्मक शब्दावली मे जिस अर्थ का बोध 'मूल्य शब्द से होना है, भारतीय काव्यशास्त्रीय परम्परा मे उसे प्रयोजन शब्द से अभिहित किया जाता था। इस प्रयोजन के समानान्तर हिन्दी मे हेतु शब्द का भी व्यवहार होता है किन्तु यह हेतु काव्य का आन्तरिक कारण बताया गया है। इसके लिए प्रतिभा, अभ्यास, व्युत्पन्नता आदि अनिवार्य कारण माने गये हैं। अत हमारा तात्पर्य यहाँ काव्य हेतु से नही है।

काव्यमूल्य के साथ एक शब्द और भी स्वीकृत हो सकता है, वह है आदर्श। आदर्श के समानान्तर अग्रेजी का Ideal शब्द है। यह मूल्य शब्द से सकीर्ण है। मूल्य वस्तुत एक स्थायी गुण है। किन्ही निश्चित सिद्धान्तो को लेकर जब एक प्रकार के निश्चित मूल्यो की स्थापना की जाती है तो उसे आदर्श कहते है। इसीलिए आदर्श शब्द मूल्य का वह रूप है जो किसी निश्चित देशकाल के नियम से सम्बद्ध होकर प्रचलन मे व्यवहृत होता है। इस अर्थ मे ही हिन्दी के वैष्णव भक्त कवियो के काव्यादर्शों की समस्या निश्चित ही उनके उस काव्यमूल्य की समस्या है जो एक निश्चित साम्प्रदायिक धारा मे बँधकर निश्चित लक्ष्य की ओर गतिशील हुई थी।

---

१ अध्ययन और आस्वाद, पृ० १

२ वक्रोक्ति जीवितम्, १ : ३

हिन्दी मे वस्तुत इस मूल्य आदर्श एव प्रयोजन आदि के लिए एक निश्चित शब्दावली का व्यवहार नही है। सम्भवत इसी भ्रान्ति से बचने के लिए आचार्य नन्ददुलारे बाजपेयी की धारणा है कि प्रयोजन शब्द कभी निमित्त के अर्थ मे आता है और कभी उद्देश्य के अर्थ मे व्यवहृत होता है। इससे कभी हेतु या कारण का अर्थ लिया जाता है, कभी फल कर्म का। विशेष कर हिन्दी मे इसके प्रयोग की बडी विभिन्नता है।[१] वस्तुत प्रयोजन शब्द अतिव्याप्ति दोष से दूषित है। उसके अन्तर्गत कर्म, फल, उद्देश्य, हेतु, आदर्श तथा मूल्य आदि सभी अन्तर्भुक्त हो जाते है। अत इस काव्य प्रयोजन को काव्यादर्श कहना ही उचित है।

यद्यपि इस काव्यादर्श मे भी भ्रान्ति की सभावना खडी हो सकती है। काव्य जीवन के अन्य सामाजिक मूल्यो से चालित होता है क्योकि वह स्वत सामाजिक अस्तित्वो के बीच स्थित है। अत वाह्य रूप से इसमे सामाजिक के आदर्श भी आ जाते है। इसके साथ ही साथ रचनाकार साम्प्रदायिक प्रेरणाओ को भी आदर्श के रूप मे स्वीकार कर सकता है। यही नही, काव्य स्वत एक कला का रूप है क्योकि उसकी अपनी कलात्मक अभिव्यक्ति होती है। उसमे कला के आदर्शों की अनिवार्यता अपेक्षित हो जाती है। अत प्रश्न उठ सकता है कि इन जीवन और कला के आदर्शों मे मे किसका चुनाव करे क्योकि एक जीवन का आदर्श है दूसरा कला का आदर्श जिसे रचनादर्श कह सकते है। किन्तु काव्य के आदर्शो के सम्बन्ध मे यह द्वैत उसके स्वभाव के भेद का है। कला के वस्तुत दो आदर्श है—प्रथम कला के आदर्श और द्वितीय जीवन के आदर्श, जिसे वह व्यवहार क्षेत्र से ग्रहण कर अपना अनिवार्य अग बना लेता है। अत यहाँ दोनो आदर्शो का अध्ययन करना आवश्यक है। ये दोनो परस्पर भ्रान्ति के सूचक नही है।

शास्त्रीय क्षेत्र मे अनेकानेक मूल्य प्रचलित है। सामान्यत उन्हे भौतिक (Physical), तात्त्विक (Metaphysical) तथा सामाजिक (Social) तीन वर्गों मे विभक्त किया जाता है। काव्य मानव मस्तिष्क की एक प्रक्रिया है जो सामाजिक व्यवहारो की अपेक्षा करती है। अत उसे सामाजिक मूल्यो के अन्तर्गत रखा जाता है। लेकिन काव्य अपनी कलापरकता के कारण अन्य सामाजिक मानव मूल्यो (Social human values) से अलग हो

---

१. भारतीय काव्य शास्त्र की परम्परा, पृ० ५९८

जात। है । अत काव्य के आदर्श का मूल्य सामाजिक मूल्य है । किन्तु दूसरी ओर काव्य अपनी कलापरकता के कारण अन्य सामाजिक मूल्यो से पृथक् हो जाता है। अत काव्य अपनी प्रक्रिया मे उन समस्त विषयो से पृथक् है जो सामाजिक मूल्यो का अध्ययन करते है । इस रूप मे काव्य वाणी व्यापारो से युक्त अपनी एक निश्चित पद्धति मे सामाजिक मूल्यो को आदर्श बनाकर चलने वाली भावात्मक कला प्रक्रिया है। इसी आधार पर हिन्दी के वैष्णव भक्त कवियो के काव्यो मे निहित काव्यादर्शो की खोज करना इस निबन्ध का लक्ष्य है। इनके काव्यादर्शो या काव्यमूल्यो के अध्ययन के लिए उनके पूर्ववर्ती सस्कृत काव्यशास्त्रीय परम्परा मे कथित आदर्शो का अध्ययन करना अपेक्षित है ।

संस्कृत साहित्य के काव्यशास्त्रीय आदर्श और परम्परा

यह सत्य है कि काव्यशास्त्रीय सकेत आचार्य भरत के पूर्व से ही प्राप्त होने लगते है किन्तु इस विषय का प्रथम महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ नाट्यशास्त्र है।

नाट्यशास्त्र के अध्ययन से इतना निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि यह धर्मसापेक्षीय सामन्तवादी वातावरण की रचना है ।[1] इस युग तक प्राय आर्य एव अनार्य सस्कृतियाँ मनोरजन के स्तर पर मिल चुकी थी और वैदिक वर्णाश्रम के समर्थित जीवन मूल्य समाज मे पूर्णरूपेण स्वीकृत होकर चल रहे थे । इसके अध्ययन से यह भी ज्ञात होता है कि लौकिक जीवन को आध्यात्मिक जीवन से अधिक महत्त्वपूर्ण समझा जाने लगा था । इस लौकिक सदर्भ को वैदिक जीवन के सदर्भो के साथ जोडकर उन्हे एक नया क्रम दिया गया था। ठीक उसी तरह नाट्य शास्त्र की उत्पत्ति भी हुई । वह चतुर्थ वेदो के संयोजन से निर्मित पचम वेद के नाम से पुकारा जाने लगा, जिसका उद्देश्य लोकोपदेशजनता[2] तथा लोक विश्राम बताया गया। भारतीय कला सिद्धान्त अपनी मूल स्थिति मे कलापरक है । कला की आनन्दमूलक प्रकृति मन की सवेदनशील सत्ता पर अधिक आश्रित न होकर कला द्वारा सम्पादित क्रिया की उस विशिष्ट पद्धति पर

---

१ भरत के नाट्यशास्त्र में नृत्य, रगमच आदि के स दर्भ मे सामन्तवादी परम्पराओ की सूचना मिलती है।

२. नाट्यशास्त्र, अध्याय १, श्लोक ११७

आश्रित है, जो अनुरजनात्मक है । आरम्भ मे ठीक ऐसा ही कुछ उद्देश्य नाट्य शास्त्र का भी था—

वेद्यविद्येतिहासानामाख्यान परिकल्पनम् ।
विनोदजनन लोके नाट्यमेतद् भविष्यति ।।[1]

वस्तुत जहाँ नाट्यशास्त्र लोक विश्राम का उद्देश्य लेकर व्यवहार जगत मे आया था, वही विनोदशीलता की प्रवृत्ति भी उसके साथ जुट गई ।

लोकजीवन की इस मान्यता के साथ आचार्य भरत ने एक विशिष्ट वर्ग के लिये भी अपनी रचना का उद्देश्य बताया है । वह वर्ग है तपस्वियों का । उनके अनुसार दुखार्त, शोकार्त, श्रमार्त, तपस्वियो के श्रम के परिहारार्थ इस नाट्यवेद की रचना की गई थी ।[2] एक स्थल पर उन्होने तत्कालीन समाज प्रचलित मूल्यो को भी नाट्यवेद का लक्ष्य बताया है ।

धर्म यशस्यामाथुष्य हित बुद्धिविवर्धनम् ।
लोकोपदेशजनन नाट्यमेतद् भविष्यति ।।[3]

नाट्यशास्त्र उनके अनुसार धर्म, यश का प्रचारक, आयु का साधक, हित और बुद्धि का वर्धक तथा लोकोपदेष्टा होगा । निष्कर्षत भरत के अनुसार नाट्यशास्त्र के ये आदर्श होते है—धर्म, यश, आयु, बुद्धि, हित, और उपदेश ।

इन आदर्शो का यदि विश्लेषण करे तो ज्ञात होगा कि इनकी दृष्टि वस्तुपरकता की ओर अधिक सजग है । दूसरे शब्दो मे ये वस्तुगत है । ये समस्त नैतिक, सामाजिक एवं व्यक्तिगत आदर्श प्रेक्षक के लिये हैं । इसमे नाट्यकार को क्या प्राप्त होगा, इसकी कही चर्चा नही मिलती । इसका कारण सम्भवत यही है कि आचार्य भरत तक लिखे गए नाटक वस्तुत धार्मिक परम्परा से ही सम्बद्ध थे । उनका अनेक व्यक्तियो के द्वारा सकलन हुआ था, त्रिपुरदाह, अब्धिमथन, जिनका उल्लेख नाट्यशास्त्र मे किया गया है, वे एक व्यक्ति की कृति नही है । उनके बीच रचयिता के प्रति निर्दिष्ट किए गए प्रयोजनो का यहाँ अभाव मिलता है । अधिक से अधिक यदि

---

१ नाट्यशास्त्र अध्याय १, श्लोक ११६
२ वही ११४
३ वही ११५

रचयिता को ध्यान मे रखकर इन प्रयोजनो को निश्चित किया जाय तो वह विनोदजननता के अतिरिक्त और क्या होगा। नाट्यकाव्य के रचयिता नाट्कीय तत्त्वो के सयोजक मात्र थे, और ऐसे सयोजको को जिन्होने कथोपकथन ऋक् से, रस अथर्व से, गीति साम् से तथा कथा यजुष् से ली हो, उन्हे विनोद के अतिरिक्त और क्या मिल सकता है। इसलिए काव्य की मूल प्रवृत्ति आनन्द या विनोद रचनाकार की सवेदनशील प्रवृत्ति का द्योतक है। यही कारण है कि, इसी सदर्भ को ध्यान मे रखकर, इन प्रयोजनो की टीका करते हुए अभिनवगुप्त को कहना पडा :

तथापि प्रीतिरेव प्रधान प्राधान्येनान्द एवोक्तः[1]

इस प्रकार पूर्वकथित आनन्द प्रयोजन मे प्रीति ही प्रधान है। यह प्रीति कला की अनुरजनात्मक प्रकृति है न कि रसजन्य सवेदनशील आनन्द। अभिनवगुप्त अभिनवभारती मे 'आनन्द' और 'प्रीति' दोनो प्रयोजनो का ही समर्थन करते है।

इस प्रकार आचार्य भरत के द्वारा निश्चित किए गए नाट्यादर्श वस्तुपरक ही अधिक ठहरते है।

अलंकार एवं रीति सम्प्रदाय

आचार्य भरत के पश्चात् भारतीय काव्यशास्त्र की एक प्रशस्त परम्परा प्राप्त होने लगती है। यह अपनी दिशा मे विशुद्ध कलावादी दृष्टिकोण से चालित है। इस दिशा मे दो सम्प्रदाय आते है—प्रथम रीतिवादी, दूसरे अलकारवादी। अलंकारवाद निश्चित रूप से, अलकार्य (विषय-वस्तु) के रूप, गुण, क्रिया आदि के उत्कर्ष विधायक तत्त्वो की ओर अधिक सचेष्ट रहने के कारण आनन्द (जिसका सम्बन्ध वस्तुनिष्ठ रसात्मक सत्ता के प्रति सवेदनशील प्रवृत्ति के द्योतन से है) का तिरस्कार कर अलकृति के माध्यम से चित्त की चमत्कृति का विधान करता है। यह स्थिति उस समाज की है, जहाँ कि मानव समुदाय को आरम्भिक आवश्यकताओ की तृप्ति के लिए अधिक प्रयत्न नही करना पडता। काव्यशास्त्र का यह युग चन्द्रगुप्त-विक्रमादित्य तथा हर्षवर्धन के काल तक (४ थी शती से ८ वी तक) रहता है। यही भारत का स्वर्णयुग कहा जाता है। इस युग मे मानवीय

---

१. ध्वन्यालोकलोचन, पृ० १४

आवश्यकताएँ लोकसुख के लिये स्थिर हो गई थी। जीवनरक्षक मूल्य यथा लोकरक्षा, आत्मरक्षा, पापमुक्ति, भय आदि स्वत लुप्त हो चुके थे तथा उनके स्थान पर विनोद के मूल्य स्थायित्व पा चुके थे। ठीक इसी स्थिति मे अलकार एव रीतिवाद का पोषण हुआ जिनमे वात्स्यायन, भामह, दडी, वामन जैसे कलावादी आचार्य हुए और जिनका समय विक्रम की दूसरी शती से लेकर आठवी तक निर्धारित किया जाता है। इसी सदर्भ मे इनके काव्यादर्शो का अध्ययन करना अपेक्षित है।

काल की दृष्टि से सबसे प्राचीन आचार्य भामह है। उन्होने अपने 'काव्यालकार' नामक ग्रन्थ मे प्रयोजन विषयक चार श्लोक कहे है—वे ये है।[१]

१. उत्तम काव्यो की रचना करने वाले महाकवियो के दिवगत हो जाने के बाद भी उनका सुन्दर काव्य-शरीर "यावच्चन्द्र दिवाकरौ" अक्षुण्ण रहता है।

२ जब तक उनकी अनवरत कीर्ति इस भूमडल तथा आकाश मे व्याप्त रहती है—वे सौभाग्यशाली पुण्यात्मा देवपद का भोग करते है।

३ इसलिए प्रलयपर्यन्त स्थिर रहने वाली कीर्ति की इच्छा करने वाले कवि को उसके समस्त विषयो का ज्ञान प्राप्त कर उत्तम काव्य-रचना के लिये प्रयत्न करना चाहिए।

४ काव्य मे एक भी अनुपयुक्त पद न आवें, इसके प्रति कवि को सचेष्ट रहना चाहिए। बुरे काव्य की रचना से कवि की उसी प्रकार निन्दा होती है, जैसे कुपुत्र से पिता की।

५ कुकवि बनने की अपेक्षा तो अकवि होना अच्छा है क्योकि अकवित्व से तो धर्म प्रचार, व्याधि रक्षा एव दड रक्षा भी हो सकती है किन्तु कुकवित्व को विद्वान साक्षात् मृत्यु ही कहते है।

भामह ने एक अन्य स्थल पर समस्त प्रयोजनो का निष्कर्ष निकाल कर इस प्रकार कहा भी था—

---

१. काव्यालकार, प्रथम परिच्छेद, श्लोक स० ६, ७, ८, ९, १०

धर्मार्थ काममोक्षेषु वैचक्षरयं कलासु च ।
करोति प्रीतिं कीर्तिं च साधु काव्यनिबन्धनम् ॥[1]

भामह के इन प्रयोजनो से इस प्रकार के निष्कर्ष निकलते है —

१ काव्य के द्वारा जीवन के चरमतम पुरुषार्थो—अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष की प्राप्ति होती है ।

२ काव्य प्रीति का उद्‌भावक है ।

३ काव्य अन्ततया कीर्ति के प्रयोजन से ही प्रेरित है । कीर्ति प्रयोजन की व्याख्या के सदर्भ मे उन्होने कवि की यश-आकाक्षा की विस्तृत चर्चा की है । सत्कवियो की कीर्ति, वस्तुत · उनके दिवगत हो जाने पर 'यावच्चन्द्रदिवाकरौ' स्थिर रहती है तथा मृत्यु के बाद भी कवि उसके द्वारा देवपद का भोग करते हैं । इसलिए काव्य की कलापेक्षित शिक्षा ले लेना कवि के लिए अनिवार्य है ।

४ इसी प्रसग मे उन्होने अकवियो के काव्य प्रयोजनो का भी सकेत कर दिया है । वे ये हैं—

क धर्म प्रचार

ख व्याधि रक्षा

ग दण्ड से रक्षा

पहले कहा जा चुका है कि भामह उस कलावादी विचारधारा के समर्थक है—जहाँ कला का मूल उद्देश्य प्रीति से सम्बन्धित है । जीवन के परम पुरुषार्थो की प्राप्ति से इस कलावादी उद्देश्य का खडन नही होता । भारतीय सस्कृति आरम्भ से ही आदर्शपरक रही है । जीवन के ये ही चार पुरुषार्थ प्राय अन्य कलाओ के लक्षण के रूप मे मिलते है । वात्स्यायन के कामसूत्र का भी प्रयोजन इन्ही चतुर्थ पुरुषार्थो की प्राप्ति ही है । भामह का मूल प्रयोजन कला के माध्यम से जीवनरक्षक मूल्यो का समर्थन करना नही है । तीसरा प्रयोजन कीर्ति या यश काव्य का आन्तरिक प्रयोजन नही स्वीकार किया जा सकता है । यश जीवनगत मूल्य न होकर एक वैयक्तिक धारणा है, जिनका अस्तित्व रचनाप्रक्रिया मे न होकर रचना की मानसिक स्थिति मे है । यह रचनाप्रक्रिया, स्वरूप, शिल्प आदि को न

---

१ काव्यालकार, प्रथम परिच्छेद, श्लोक स० २

प्रेरित कर कवि की प्रेरणा को आगे बढाता है। इसीलिए सम्भवत डॉ० नगेन्द्र का विचार है कि इसमे सन्देह नही कि कीर्ति के प्रति बहुत बडी एषणा रहती है और कवि के लिये भी वह वाह्य दृष्टि से एक प्रबल प्रलोभन है फिर भी वह काव्य का आधारभूत प्रयोजन नही है।

" कीर्ति का प्रयोजन मानकर महान् काव्य की रचना सम्भव नही है।[1]"

भामह द्वारा प्रयुक्त 'प्रीति' शब्द ही तत्कालीन काव्यवृत्ति के उद्-घाटन के लिए पर्याप्त है। यह प्रीति आनन्दमूलकता है। यह आनन्दमल-कता कला के स्वभाव का अग है। इस स्वभाव का सरक्षण ही काव्यकला के सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण मूल्य का सरक्षण है। इस प्रीति को परवर्ती अनेक आचार्यों ने एकमात्र काव्य का स्वभाव बताया है। काव्य के वस्तुवादी समर्थक, विशेषत दन्डी, रुद्रट, उद्भट एव वक्रोक्तिवादी कुन्तक, इसी प्रीति को ही स्वीकृति देते है।

वामन ने अलकार काव्य के काव्य प्रयोजनो की चर्चा उठाते हुए कहा है—"सुन्दर काव्य एवं कीर्ति का हेतु होने के कारण दृष्ट (ऐहिक) और अदृष्ट (आमुस्मिक) फल का प्रचारक होता है।[2] इसी सम्बन्ध मे उन्होने चार और श्लोक कहे हैं। इन श्लोको के निष्कर्ष ऊपर की मान्य-ताओ का समर्थन करते है।[3]

काव्य प्रयोजनो का निष्कर्ष निकालते हुए उन्होने कहा है कि इस काव्यालकार सूत्र के विषय को अच्छी तरह हृदयंगम करने के बाद काव्य-रचना मे प्रवृत्त होने वाले कवि उत्तम काव्य की रचना मे समर्थ होकर कीर्ति के भाजन बनेगे और कुकवित्व के दोष से भी बच जायेंगे।[4] इस प्रकार वामन अपने पूर्ववर्ती आचार्य भामह तथा दडी के मतो का अनुधावन मात्र करते हैं। निष्कर्ष रूप से ये भी कलावादी आचार्य है। अलकारवादी रुद्रट भी ठीक इसी परम्परा का समर्थन करते हैं. "सालंकारता के कारण देदी-

---

१. भारतीय काव्याशास्त्र की भूमिका, पृ० १५.
२ काव्यालकार सूत्रवृत्ति, १ . १ . ५
३ वही कारिका के बाद के ४ श्लोक
४ काव्यालकार सूत्रवृत्ति, १: १' ५
५ वही कारिका के बाद के ४ श्लोक

ध्यमान और (दोषाभाव के कारण) निर्मल रचना का निर्माता महाकवि सरस काव्य की रचना करता हुआ अपने तथा अपने नायक के प्रत्यक्ष युगान्त तक रहने वाले जगद्व्यापी यश का विस्तार करता है।" इसी के साथ उन्होने काव्यादर्श सम्बन्धी १० श्लोको मे इन धारणाओ की पुष्टि की है[1]—

१ कवि चिरस्थायी महान् निर्मल आह्लादिक समस्त जनो को प्रिय राजादि के यश का विस्तार करता है।

२ रुचिर देवस्तुति की रचना करने वाला कवि धन, विपत्तियो का विनाश, असाधारण आनन्द अथवा मनोवाछित फल का भोक्ता होता है।

३ राजाओ का विनाश हो जाता है किन्तु उत्तम कवियो का विनाश नहीं होता।

४ कवियो को पुरुषार्थ सिद्धि की कामना रखनी चाहिए, क्योकि रसिक जन नीरस भाष्यो से भय खाते हैं। अतएव उनको शीघ्र सहज उपाय के द्वारा काव्य से चतुर्वर्ग की प्राप्ति हो जाती है। ये रुद्रट, भामह, दडी, वामन द्वारा कथित काव्यादर्शों का किंचित् विस्तार करते हुए दिखाई पडते है। रुचिर देवस्तुति का उन्होने एक अन्य प्रयोजन असाधारण आनन्द बताया है। वह असाधारण आनन्द आराध्य की इष्ट के प्रति सवेदनशीलता है जो भक्तिजन्य आनन्द के अधिक निकट है। इस स्तुतिपरक काव्य को भामह ने अकवित्व का गुण माना है। किन्तु रुद्रट इसे 'विरचित रुचिरसुरस्तुति' कहते है। तात्पर्य यह कि इन सरस स्तुतियो को काव्य की सीमा के अर्न्तगत रखने मे उन्हे किंचित् मात्र भी असन्तोष नहीं है।

इनकी दूसरी विशेषता है राजादि के यश के विस्तार के प्रयोजनो की चर्चा करना। इनके पूर्व के आलकारिको ने इस विषय मे सकेत मात्र किया था। रुद्रट उसका विस्तार करते हुए इनके गुणो की निम्न विशेषताएँ बतलाते है—निर्मलता, चिरस्थायित्व तथा आनन्दमूलकता। ये महान् चरित्र निश्चित ही पाठक मे महानता, निर्मलता, तथा आह्लादिकता का अंकुरण

---

१ भारतीय काव्य शास्त्र की परम्परा, पृ० ७१

२. काव्यालकार, १·४

करने मे समर्थ हो सकते है। अत रुद्रट तक पहुँचते-पहुँचते काव्य का उद्देश्य निर्मल, महान् एवं आह्लादिक चरित्रो का निर्माण करना सिद्ध हो चुका था। व्यावहारिक दृष्टि से महाकाव्य के शिल्प मे 'उदारता' को नायक का सर्वश्रेष्ठ गुण स्वीकार कर अश्वघोष और कालिदास से लेकर अब तक इन्ही आदर्शो के अनुसार महाकाव्य का प्रणयन होता रहा है।

रुद्रट एक अन्य स्थल पर कहते है 'रसिक नीरस भाष्यो को न पढकर भाषानुमोदित विषयो का ज्ञान सरस काव्यो से करते है।' इससे निष्कर्ष यह निकलता है कि नीरसता भाष्यो का गुण है तथा इसके प्रतिकूल काव्य का गुण है—सरसता। इसी सरसता के प्रतिपादन के लिए काव्य का प्रयोग होना चाहिए।

वक्रोक्ति सम्प्रदाय

इस सम्प्रदाय के प्रवर्तक कुन्तक ने चार श्लोको मे काव्यादर्शो की अत्यन्त स्पष्ट व्याख्या की है। उनके कथन का निष्कर्ष इस प्रकार रखा जा सकता है—

१ **काव्य का उद्देश्य उच्चकुल मे उत्पन्न मन्दबुद्धि राजकुमारो के हृदय को आह्लादित करके धर्मादि चतुर्थ परम पुरुषार्थो का ज्ञान कराना है।**

२ **नित्य प्रति लौकिक पुरुषो के लिए नूतन व्यवहार का बोध कराने वाले साधन के रूप मे काव्य प्रयोग अभीष्ट है।**

३. **वह काव्यामृत को समझने वाले पुरुषो के अन्त करण मे चतुर्थ वर्ग रूप फल के आस्वाद से भी बढकर चमत्कार उत्पन्न करने वाला एक साधन है।**[1]

कुन्तक का समय ११वी शती के आरम्भ का है। इस युग की उच्च कलाएँ संगीत, स्थापत्य, मूर्ति एव काव्य (एक कला की भाँति) प्रायः सामन्त वर्ग मे अधिकृत हो चुकी थी। लौकिक रचना के लिए काव्य के माप एव उनकी भाषा का आन्दोलन आरम्भ हो चुका था। इस युग की लिखी गई रचनाएँ अधिकाधिक सामन्तवर्ग की ओर उन्मुख होने लगी थीं। प्राय. इनके चरित्र सामन्तवर्ग के होते थे तथा रचनाएँ सामन्तवादी व्यवस्था तत्सम्बन्धी नीति एवं क्रिया-व्यवहार तथा राजपुत्रो के व्यवहार ज्ञान से

---

१. वक्रोक्ति जीवितम्, १ ३, १ ५, १.६

प्रत्यक्षत अभिप्रेत थी। प्रमादी राजपुत्रो के लिए नीरस जटिल शास्त्रोक्त नीति का ज्ञान धीरे-धीरे दुर्बोध एव क्लिष्ट होता जा रहा था। अतः उनकी व्यवहार नीति तथा शासन सम्बन्धी ज्ञान के लिए काव्य रचनाएँ निर्मित होने लगी थी। कथा साहित्य मे हितोपदेश की रचना का यही कारण है। ठीक इसी तरह के प्रयास हिन्दी के रीतिकाल मे भी हुए है।

इसके अतिरिक्त जैसा कि डॉ० नगेन्द्र का विचार है कि भारतीय काव्यशास्त्र मे राजवश, राजकुमार आदि का प्रयोग प्रतीकार्थ मे किया जाता था। उनके अनुसार अभिजात् शब्द से एक ध्वनि निकलती है, वह है—सस्कारशीलता की। दूसरी बात यह कि, काव्य आदि के द्वारा उन्हे शिक्षा सरलता से दी जा सकती है। अत यहाँ राजकुमार का अर्थ अभिजात्य समाज से ही निकालना चाहिए।[1] अत यहाँ भी राजकुमार आदि को प्रतीक अथवा उपलक्षण मानकर सहृदय समाज ही ग्रहण करना चाहिए।[2] किन्तु डॉ० नगेन्द्र का यह विचार यदि इस प्रकार होता तो और भी स्पष्ट था। यद्यपि राजकुमार आदि अभिजात्य वर्ग का प्रतिनिधित्व करने के कारण निश्चित ही उच्च सस्कृत वर्ग का प्रतिनिधित्व करते है, किन्तु प्रमादी राजकुमारो को शिक्षा देने का अर्थ है—सस्कारच्युत अभिजात्य वर्ग को पुनः सस्कारयुक्त बनाना। इस प्रकार डॉ० नगेन्द्र के ही शब्दो मे यदि कहा जाय तो इसका अर्थ होगा कि सस्कारच्युत समाज को सहृदयता के माध्यम से पुन सस्कारयुक्त बनाना इनके काव्य का एक स्पष्ट उद्देश्य था। अत इस प्रयोजन का तात्पर्यमात्र इतना ही हो सकता है कि सस्कारच्युत भद्रपुरुषो को पुन संस्कृत करना इनका स्वीकृत आदर्श था।

प्रथम प्रयोजन संस्कृत वर्ग के लिए, किन्तु दूसरा लौकिक पुरुषो के लिए है। एक ओर, काव्य राजकुमार के सस्कारो का मार्जन करता था तो दूसरी ओर लोकव्यवहार की जटिलताओ का समाधान करने का साधन भी है। इसका उद्देश्य जीवन को मार्जित करने एव उसे लोकनीति से पुष्ट सामाजिकता के बीच सुष्ठु बनाने से है। अत काव्य एक ओर जहाँ उच्च सामन्तवर्ग को नीति की शिक्षा देता है, वही लौकिक जनो को लोकनीति के ज्ञान से अशून्य भी रखता है।

---

१. भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका, डॉ० नगेन्द्र, पृ० २०५, २०६, २०७

२. भारतीय काव्य शास्त्र की भूमिका, डॉ० नगेन्द्र, पृ० २०५

कुन्तक का तीसरा प्रयोजन अपेक्षाकृत प्रौढ है । उनके अनुसार काव्य का अन्तिम प्रयोजन चतुर्थ पुरुषार्थों —अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष से महत्त्वपूर्ण सहृदयो मे अन्तश्चमत्कार की सृष्टि करना है । इस 'अन्तश्चमत्कार' को नाट्यशास्त्र मे 'विनोदजननता' की सज्ञा दी गई है । अलकारवादी भामह, रुद्रट, वामन, उद्भट आदि इसे 'प्रीति' की सज्ञा देते है । ध्वनि एव रसवादी इसे 'आनन्द' कहकर पुकारते है । वक्रोक्तिवादी वस्तुत रूपवादी या वस्तुनिष्ठ (Objective) शास्त्रकार है । वे अन्तर्सवेदना को काव्य के लिए इतना आवश्यक नही मानते जितना कि रस या ध्वनिवादी । इस वक्रोक्ति सिद्धान्त के द्वारा काव्य रस या उसके विषयीरूप (Subjective Aspect) की व्याख्या नही की जा सकती । काव्य का स्वभाव आनन्दमूलक है । यह तथ्य अस्वीकृत नही किया जा सकता क्योकि इसके बिना काव्य सभव नही है । अत. काव्य के इस आनन्द को वस्तुनिष्ठ बनाते हुए रीति एव अलकार-वादियो ने इसके लिए 'प्रीति' की सज्ञा दी । इसी सदर्भ मे वक्रोक्तिवादी आचार्य कुन्तक ने इसे 'अन्तश्चमत्कार' कहकर पुकारा है । इसका तात्पर्य कदाचित् यह है कि अर्थबोध से चित्त मे जो चमत्कृति उत्पन्न होती है, वही इस आनन्द का मूल कारण है । किन्तु यह धारणा असगत है । अन्तश्च-मत्कार एक ज्ञानवृत्ति है । वह रसबोध नही करा सकती क्योकि रसबोध एक निश्चित क्रम मे होता है जो मात्र अनुभवगम्य है, जिसे ध्वनिवादी आचार्यों ने असलक्ष्यक्रम कहा है । अत यह अन्तश्चमत्कार प्रीति या आनन्द की समकक्षता तक नही पहुँच सकता ।

परवर्ती रसवादी तथा ध्वनिवादी सम्प्रदाय

रस सम्प्रदाय की अन्तिम मान्यता है, काव्य मे रसवत्ता की प्रधानता स्वीकार कर उसके समस्त मूल्यो मे एकमात्र उसी की स्थापना करना । रस मूलतः आस्वादनशीलता, सुष्ठुस्वादुता एव द्रवणशीलता का द्योतक है । ध्वनिवादी आचार्यों के अनुसार ध्वनि ही काव्य की मूलात्मा है । किन्तु ध्वनि की मूलात्मा रस है । इसलिए ध्वनिवादी आचार्य आनन्दवर्धन ने काव्य मे रसयिता को ही सर्वोत्कृष्ट माना है, नियोगभागी एवं बोद्धा— अपेक्षाकृत गौण ।[1] रसवादी एव ध्वनिवादी आचार्यों के काव्यप्रयोजनो मे विशेष अन्तर नही है । रसवादी आचार्यों मे भरत का सर्व प्रथम नाम आता

१. ध्वन्यालोक, श्लोक स ० २

है किन्तु भरत ने 'आनन्द' को काव्य का प्रयोजन नही माना है, इसका स्वभाव उन्होने आनन्दमूलक अवश्य बताया है, किन्तु इस आनन्द को उन्होने लौकिक धरातल पर ही स्वीकार किया है।

ध्वन्यालोक मे 'आनन्द' की भूमिका के लिए आनन्दवर्धन ने सर्वप्रथम 'तेन ब्रूम सहृदयमन प्रीतये तत्स्वरूपम्'[1], के द्वारा इसका सकेत किया है। उन्होने सहृदय की व्याख्या करते हुए बताया है कि "येषा काव्यानुशीलनाभ्यासवशाद् विशदीभूते मनोमुकुरे वर्णनीयतन्मयीयोग्यता ये सहृदय सवादभाजा सहृदया।"

योऽर्थो हृदयसवादी तस्यभावो रसोद्भव।
शरीरे व्यापते तेन शुष्क काष्ठामिवाग्निना॥

इनके अनुसार काव्य के वर्ण्य विषय 'तन्मयीभावयोग्यता' 'सहृदय सवादभाजता' अर्थात् 'तत् विषय रसमयता' या 'तन्मयता' साधारणीकरण से युक्त होने के कारण सहृदय मे आनन्द की उपलब्धि कराती है। सहृदयता उसकी मूलात्मा है। सहृदय ही रसिक है। निश्चित ही, भाव अपनी हृदयसवादता के कारण रस निष्पत्ति मे सहायक होता है। इस प्रकार सहृदय ही रसभोक्ता होता है। इस कथन मे निश्चित रूप से आनन्द को चित्त का एक द्रावक गुण स्वीकार किया है जो आचार्य भरत के 'पानक रस' या 'व्यजन रस' से अधिक व्यापक है।

आनन्दवर्धन के व्याख्याता अभिनवगुप्त इसी आनन्द को काव्य की मूलात्मा स्वीकार करते है। उनका विचार है कि चतुर्वर्ग फलो की प्राप्ति मे आनन्द प्रयोजन ही सर्वोत्कृष्ट है —"**चतुर्वर्गव्यूत्पत्तेरपि आनन्द एव पार्यन्तिकम् मुख्यम् फलम्**" तथा इस 'आनन्द' को और भी स्पष्ट करते हुए उन्होने कहा है कि—

"**आनन्द इति रस चर्वणात्मन प्राधान्यदर्शयन् रसध्वनेरेव सर्वत्र मुख्यभूतमात्व दर्शयति**"[2] इसके साथ ही साथ उन्होने भामह द्वारा कथित 'कीर्ति एवं प्रीति' प्रयोजनो की भी व्याख्या की है। किन्तु वह अधिक महत्वपूर्ण नही है। अभिनवगुप्त की रस सम्बन्धी प्रमुख धारणा शान्तिरस की प्रतिष्ठा करने मे है। अत उनका आनन्द मात्र आनन्दवर्धन के भाष्य तक

---

१ ध्वन्यालक, श्लोक स० २

२ ध्वन्यालोकलोचन, रश्मिलोचनोपेत, आशालता, प्रथम उद्योत, पृ० २८

ही सीमित नही रखा जा सकता। ध्वनिवादियो मे काव्यादर्श की दृष्टि से सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण व्याख्या आचार्य मम्मट की है। इसका कारण यह नही कि उन्होने काव्य प्रयोजनो पर गभीरतापूर्वक विचार किया है अपितु इसका कारण मात्र इतना ही हे कि उन्होने परम्परा से चले आते हुए समस्त प्रयोजनो को स्पष्टत कवि और श्रोता की दृष्टि से विभक्त कर इन्हे अपेक्षाकृत सरल और स्पष्ट कर दिया है।

मम्मट के काव्यप्रयोजन यश, अर्थप्राप्ति, व्यवहारज्ञान, शिवेतर तत्त्वो से रक्षा, कान्तासम्मित उपदेश, सद्य परिनिवृत्ति—वस्तुत परम्परा से चले आते हुए प्रयोजनो के सकलन मात्र है।[1] इन प्रयोजनो मे उनका मूल दृष्टिकोण सद्य परिनिवृत्ति की ओर था जिसे उन्होने सकल प्रयोजनो की 'मूलभूतता' के नाम से स्वीकार किया है। यह '**सद्य परिनिवृत्ति**' काव्यानन्द है। इसकी दूसरी विशेषता है '**रसास्वादनसमुद्भूत विगलित वेद्यान्तरमानन्दम्**'[2] अर्थात् आत्मा के गुण आनन्द के समानान्तर स्वीकार करना। यह वस्तुत आचार्य मम्मट का ही प्रयास था—जिसका विस्तार कर साहित्यदर्पणकार ने इसे ब्रह्मानन्द सहोदर की सज्ञा दी।

साहित्यदर्पण के अनुसार काव्य प्रयोजनो की सूची इस प्रकार मिलती है—

चतुर्वर्ग फलप्राप्ति· सुखादल्पप्रियमपि।
काव्यादेवयतस्तेन तत्स्वरूपं निरूप्यते।

इसकी व्याख्या करते हुए डॉ० सत्यव्रत सिह ने कहा है कि "काव्य प्रयोजनो का निरूपण आलकारिक आचार्य परम्परा से करते चले आ रहे थे, किन्तु काव्य समीक्षा के प्रयोजनो का विचार सम्भवत विश्वनाथ कविराज ने ही किया। काव्य और काव्यसमीक्षा की विभिन्न कृतियो मे एकरूपता का अनुसधान कर जो प्रयोजनैक्य सिद्ध किया है, वह एक लौकिक कृत्य है।"[3] किन्तु इस प्रशसा मे अधिक बल नही है। शय्यद डॉ० सिह का विचार है कि चतुर्वर्ग फलप्राप्ति के अन्तर्गत ही मम्मट के षट्प्रयोजन आ गए है। यही उनका प्रयोजनैक्य है। इसी दृष्टि से उन्होने आगे स्वीकार भी किया है :- इस प्रकार पंडितराज विश्वनाथ परम्परा से चले आते हुए प्रयोजनो का

१. काव्यप्रकाश, श्लोक स० ३
२ साहित्यदर्पण, श्लोक स० २
३. साहित्यदर्पण विमर्शटीका, पृ० ३ तथा ४

कथन मात्र कर दिया है। चूँकि उनकी आस्था रस पर अधिक थी, अत उन्होने काव्यानन्द को ब्रह्मसहोदर की सज्ञा दी। मात्र यही इनकी मौलिकता कही जा सकती है।

सत्त्वोद्रेक से निष्पन्न, प्रकाशानन्द, अखड, चिन्मय, वेदान्तस्पर्शशून्य-ये समस्त विशेषण उपनिषदो मे ब्रह्म के लिए दिए गए हैं। ब्रह्म के उन विशेषणो को ब्रह्मानन्द सहोदर मे समाहित कर देना अपने आप मे विशेष मौलिकता नही है। इस प्रकार प्रयोजन विषयक धारणा मे इनकी मौलिकता अस्पष्ट है। इसी प्रकार पण्डितराज जगन्नाथ भी प्रयोजनो मे आनन्द की ही प्रमुखता स्वीकार करते है किन्तु उसमे परम्परानुमोदन मात्र मिलता है। परवर्ती अन्य काव्यशास्त्रियो मे हेमचन्द्र भोज, भानुदत्त, महाराज शिङ्भूपाल आदि के द्वारा परम्परा से चले आने हुए इन्ही प्रयोजनो का स्वीकरण किया गया है। वस्तुत यह सस्कृत काव्यशास्त्र का ह्रासोन्मुखी काल था। ऐसी अवस्था मे प्राय मौलिकता का अभाव पाया जाना अधिक आश्चर्यजनक नही है।

सम्पूर्ण व्याख्या से ये निष्कर्ष सरलतापूर्वक निकाले जा सकते है—

१ काव्य का मूलादर्श आनन्द की सृष्टि करना है। यही आनन्द लौकिक दृष्टि से विनोदजननता तथा आलकारिक दृष्टि से प्रीति है। वक्रोक्तिवादी इसे अन्तश्चमत्कार की संज्ञा देते है। परवर्ती रस एवं ध्वनिवादी आचार्यों ने इस आनन्द को लौकिक धरातल से उच्च ब्रह्मानन्द सहोदर के समकक्ष रख कर उपनिषद्-कथित आनन्द के समानान्तर ठहराया है।

२ काव्य का दूसरा प्रयोजन यश या कीर्ति की प्राप्ति को माना गया है। यह दो प्रकार से व्यवहृत हुआ (क) अक्षुण्य रहने वाली निर्मल कीर्ति-वर्णन (ख) अक्षुण्य यश प्राप्ति के लिए गुणानुवाद।

३ राजकुमारो को शिक्षा देना—जिसका तात्पर्य है, सस्कारच्युत को संस्कृत करना।

४. लोकव्यवहार की प्राप्ति में जिससे लोकनीति की शिक्षा मिले। व्यक्ति जिससे यह सोच सकें कि वे राम की भाँति आचरण करें, रावण की भाँति नहीं।

५ दैविक मधुर स्तुतियो द्वारा अनिष्ट का विनाश, द्रव्य की प्राप्ति तथा मनोकामनाओ की पूर्ति

६ राजाओ की प्रशसा द्वारा उनका विश्वासपात्र बने रहना तथा उनसे द्रव्यार्जन

७ धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष—चतुर्थ पुरुषार्थो की प्राप्ति

८ शिवेतर तत्त्वो से रक्षा के लिए काव्य सृष्टि

९ अकाव्य के सदर्भ मे ये प्रयोजन अपेक्षाकृत गौण है—

(क) धर्मप्रचारार्थ काव्य की सृष्टि
(ख) व्याधि से रक्षार्थ काव्य की सृष्टि
(ग) दड से रक्षार्थ काव्य की सृष्टि

इस प्रकार सस्कृत साहित्य के काव्यशास्त्रियो ने अनेक रूपो मे काव्यमूल्यो की व्याख्या करके काव्य की जीवन्तता का परिचय दिया है।

हिन्दी वैष्णव भक्त कवियों के काव्यादर्श

पहले कहा जा चुका है कि आदर्श और मूल्य वस्तुत एक ही है। वैष्णव भक्त काव्यो मे अन्तर्व्याप्त मूल्यो की खोज के लिए हमे उनके काव्यो मे निहित काव्यादर्शों का अध्ययन करना आवश्यक है। रचना के अन्तर-साक्ष्यो, उद्धरणो एव उसकी प्रकृति को इसके अन्वेषण का माध्यम बनाया जा सकता है। रचना के अन्तरसाक्ष्यो के सम्बन्ध मे सबसे भारी कठिनाई यह पडती है कि ये रचनाएँ मूलत काव्य के रूप मे ही प्राप्त है। साथ ही इनकी दृष्टि शास्त्रीय न होकर काव्यपरक है। ये शास्त्रकार न होकर कवि है। उन्होने अपने काव्यो के लिए अलग से काव्यशास्त्र नही लिखा है। जो कुछ सामग्री है, स्फुट रूप से कवि सुलभ मनोवृत्तियो से परिपूर्ण उद्धरण रूप मे ही। यद्यपि परवर्तीकाल मे भक्तिकाव्य को लेकर शास्त्र का स्वरूप देने का प्रयत्न किया गया, किन्तु उसके बाद भी उसके विश्लेषण की अनिवार्यता बनी रही है। अतः कवियो द्वारा यत्र तत्र कथित सूक्तियो को ही आधार मानकर इसकी खोज की जा सकती है। इन रचनाओ के उद्धरणो को तर्क की कसौटी पर कसने के लिए इन कवियो की रचनाएँ तथा काव्यप्रकृति पर्याप्त है जिनका इन कवियो ने सूत्र रूप मे सकेत किया है। प्राय उन समस्त आदर्शों की स्वीकृति उनके काव्य से हो जाती है अतः इसको इस विषय मे एक पुष्ट आधार माना जा सकता है। अन्तस्साक्ष्य के आधार पर वैष्णव भक्त कवियो के काव्यादर्श इस प्रकार है।

क लोकमगल की उद्भावना तथा रामनाम की अनिवार्यता

ये कवि काव्य का सर्वोत्कृष्ट लक्षण लोकमगल की भावना को ही मानते है। काव्य नि श्रेयस् की प्राप्ति का एकमात्र उपाय है। इस नि श्रेयस् के लिए इन्होने वाणी विनायक की स्तुति को अनिवार्य बताया है।[1]

काव्य और काव्य के अर्थभेद परमार्थ के साधन स्वरूप है।[2] व्यास आदि अनेकानेक कवि पुगवो ने अपने काव्य के द्वारा पुनीता सरस्वती की महिमा बढाई है। वे कवि वन्दनीय है जिन्होने राम के चारु चरित्र का गान कर लोक मे उनके विमल यश का प्रसार किया है।[3] काव्य स्वयं पावन है क्योकि वह 'राम नाम' से मडित है। इसके श्रोता एव वाचक दोनो ही पुनीत पद के अधिकारी हैं। यह 'रामनाम' काव्य के लिए अनिवार्य तत्त्व है। इस रामनाम से शून्य काव्य मूल्यहीन है।[4] यथा अलकृत नायिका नग्न होने पर निरादृत होती है तथैव काव्य रामनाम के बिना उच्चपद का अधिकारी नही हो सकता। समस्त गुणो से च्युत किन्तु रामनाम से युक्त काव्य समस्त सन्तो के लिए मधु मधुकरवत् ग्राह्य है। क्योकि 'रामनाम' से युक्त काव्य ही विश्वमगल के लिए अनिवार्य साधन है।[5] इस रामनाम से ही भक्त कवि के पास सरस्वती स्वत दौडी आती है। उसके स्मरण मे ही सरस्वती मानस से निकल कर मुखपकज मे आकर विमल विवेक की उद्भावना करती है। वह रामचरित्र के मानस मे मज्जन कर अपने श्रम का परिहार करती है।[6] इसीलिए उसके द्वारा प्रणीत होने वाला काव्य निश्चित रूप से समस्त दोषो का विनाश करता है। कवि तथा विद्वान गुणी नि सन्देह कलिमल के प्रक्षालनार्थ हरि का यश गान करते है।[7]। अत कविता वही श्रेयस्कर है जो 'रामनाम' से मडित हो। वह गंगा की भाँति सर्व जन हितार्थ प्रयुक्त होने वाली एक कृति है।[8]

---

१ रामचरित मानस, बालकान्ड, दो० स० ९, २, ११

२ नन्द०, अनेकार्थ० छ० स० ३४

३ राम०, बा० का०, दो० स० १४

४ वही, दो० स० ६

५ राम०, दो० स० ९

६ रामचरित मानस, बालकान्ड, दो० स० २९७

७ वही बालकान्ड, दो० स० ११

८ वही बालकान्ड, दो० स० १४

राम का चरित्र सर्वथा पवित्र, मनोहर एवं मगलमय है। इन कवियो ने इसे एक मानस के समान बताया है जिसमे सुमति भूमि है, वेद पुराण उदधि है, साधुजन मेघ हैं। इनसे प्रभावित काव्य ही समाज मे मगल-मय जल की वर्षा करता है। भगवान् की यह सगुण लीला जिसका गान कवि करते है, कलिमल का विनाश कर सात्विकता का स्फुरण करती है। रामभक्ति जलवत् है, उसके प्रति अर्पित प्रेम उस जल की शीतलता है, इसी जल से ही 'पुण्य' के खाद्यान्न उत्पन्न हो सकते है। यही 'पुण्य' रामभक्तो के लिए एकमात्र आधार है। यह शीतल जल श्रवण रन्ध्र से मेधा मे एकत्रित होकर मंगलमय काव्य की रचना करता है। यह सत्य है कि, अपना काव्य किसे अच्छा नही लगता, किन्तु काव्य तो वह हे जो सर्वजन हितग्राही हो।[1] जिस प्रकार मणि, माणिक्य, मुक्ता क्रमश अहि, गिरि, गज मे उतनी शोभा नही पाते जितनी कि नृप किरीट तथा तरुणी के शरीर पर उसी प्रकार सत्काव्य काव्यसहृदयो के बीच ही मडित होते है।[2] यदि हृदय सिन्धु है, तो मति सीप है। सरस्वती स्वाति जल है। सरस्वती की कृपा होने पर ही चारु कवित्व के मुक्ता का वपन होता हे, अन्यथा काव्य असभव है। इस सुष्ठु काव्य का सहृदय सामान्य जन नही हो सकता, सज्जन ही इसे युक्तिपूर्वक पिरो कर पहन सकते है। जिसके भोक्ता सज्जन है, जिसकी अभिव्यक्ति समस्त मानवीय उच्च भूमिकाओ से ही सम्भव है, वह काव्य सामान्य उद्देश्य के लिए कभी भी नही निर्मित हो सकता।[3] प्राकृत जनो के काव्य लोक कल्याण के लक्ष्य को पूर्ण नही करते इसीलिए उनके काव्य के प्रति साक्षात् सरस्वती को सर धुन कर पछताना पडता है।[4]

वैष्णव भक्त कवियो के इन सकेतो से इस प्रकार निष्कर्ष निकाले जा सकते है—

१ काव्य के लिए रामनाम या हरिनाम अनिवार्य है।

२ उसकी उद्भावना उदात्त पृष्ठभूमि मे ही सभव है।

३ अन्ततः वह काव्य लोकमगल की भावना का उद्भावक होता है।

---

१ रामचरित मानस, बालकाड, दो० स०, ३६
२. वही ११
३. वही ११
४. वही ११

ख काव्य से समस्त पुरुषार्थों की प्राप्ति

इन कवियो के अनुसार काव्य समस्त पुण्यो का एकमात्र आधार है क्योकि यह राम के पावन चरित्र से पूर्ण है। यदि सामान्य जन भी प्रेम-पूर्वक इस चरित्र मे अवगाहन करते है तो नि सन्देह वे चतुर्थ परम पुरुषार्थों के भोक्ता होगे।[1] जहाँ हरि कथा होती है, समस्त तीर्थों का वहाँ निवास होता है। यही नही, उसकी पवित्रता के कारण समस्त तीर्थ वहाँ दौडे चले आते है।[2] हरि कथा स्वत तीर्थ स्थान है, हरिहरकथा तीर्थराज प्रयाग की गगा-यमुना की दो वेणियाँ है, जिसका मात्र श्रवण समस्त पुण्यो का दाता है। इस काव्यावगाहन से त्रितापो का शमन होता है।[3] उनके काव्य मे निहित ज्ञान विज्ञानक मत निश्चित रूप से अर्थ, धर्मादि चतुर्फलो के उद्भावक है।[4] इस प्रकार निश्चित रूप से इन काव्यो के द्वारा ही समस्त पुरुषार्थों की प्राप्ति सभव है।

निष्कर्ष

वैष्णव भक्त कवियो के काव्य धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष इन परम पुरुषार्थों के हेतु है। अर्थार्जन की प्रेरणा उनसे नही मिलती। इनके द्वारा कथित चतुर्थ पुरुषार्थ को धार्मिकता का ही सूचक समझना चाहिए।

ग इन दो प्रयोजनो के समानान्तर **आत्मशुद्धि एव कलि-कलुष से पीडित मानवो के उद्धार की भावना का उदात्तरूप** इन काव्यो मे प्राप्त है।

रघुनाथ का चरित्र गान स्वान्त तम के विनाश का प्रबल कारण है। राम की विमल कथा के आरम्भ मात्र से काम, मद एव दभ का विनाश हो जाता है।[5] विनयपत्रिका के समस्त पद प्राय आत्मपीडा की मन. सस्थिति मे लिखे गए है। बाहुक एव कवितावली के अन्तिम अश इसी कथ्य की पुष्टि करते है। कवि अनेकानेक बार अपनी वैयक्तिक पीडा से बचने के लिए राम की दुहाई देता है। उसकी देह कलि की असह्य यातनाओ से जर्जर हो चुकी है। अनेकानेक दोषो से वह गल चुका है। असख्य पीडाएँ उसे नष्ट

---

१ रामचरित मानस बालकाड दो० स० ?
२ सूरसागर प्रथम स्कन्ध, पद स० २२४
३ रामचरित मानस, बालकाड, दो० स० ३६
४, वही ३७
५ रामा० उत्तरकांड, दो० स० १०३ ५

कर चुकी है। यही नही, समस्त कवियो के विनय पद वैयक्तिक सदर्भ से ही लिखे गए है। उनमे आत्मपीडा एव सासारिक क्लेश की तीव्र अनुभूति एव उनसे बचने की छटपटाहट तथा आकुलता का बार-बार सकेत मिलता है। यह कवि अपनी काव्य परम्परा के लिए पौराणिक देवताओ का आश्रय ग्रहण करने के लिए बार-बार जोर देता है। कलियुग मे योग, यश गान, तप, दान नही अपितु रामनाम ही पापनाशक है।[1] कलि के कुटिल जीवो के निर्वाह के लिए राम का गान अनिवार्य है।[2] क्योकि चक्रधारी विष्णु के चरण-कमल की बन्दना के बिना ससार का उद्धार असभव है। इन कवियो का दावा है कि वे जन्म से ही खोटे है, इस 'खोटेपन' से छुटकारा प्राप्त करने के लिए लीलागान ही एक मात्र आधार है। प्रभु की विरुदावली सर्वतोभावेन 'भव भार हरने वाली' है। अत उसके गान से कब न उद्धार होगा। वे अपने उद्धार के प्रति पूर्णरूपेण आशान्वित है।[3] क्योकि इनका विश्वास है कि जो मात्र 'हरिकथा' का स्मरण कर लेते है उनका उद्धार ध्रुव है। परम्परा मे अनेकानेक ऐसे उदाहरण प्राप्त है, जहाँ मात्र हरिगुण गान से 'आत्मोद्धार' की चर्चा है।[4] इसीलिए कलि मे रामचरित्र कल्पतरु है। यह 'कल्पतरु' अनेकानेक कल्पित पुण्यो का प्रसारक है। इस प्रकार इन कवियो ने अनेकानेक बार ससार को कलिमल सताप से मुक्त होने के लिए अपने काव्य को विष्णु का आश्रय मात्र सिद्ध किया है।[5] उन्होने स्पष्टत कहा है कि उनके काव्य का जो श्रवण करेगा, उसके पाप शीघ्र ही नष्ट हो जायेगे। इस पुनीत चरित्र को जो सुनता, सुनाता है उसे महान् पुण्य का अधिकारी समझा जाता है।[6] इन समस्त कथनो से इस प्रकार के निष्कर्ष निकाले जा सकते है।

१ काव्य के द्वारा ही वैयक्तिक पीडा, आत्मोद्धार एव कलिमल-शमन सम्भव है।

---

१ नाभादास : भक्त माल, छ० स० १११

२ गोविन्द स्वामी, पद स० १

३ सूर सागर प्र० स्क० प०, स० १३२, २१५

४ वही ३८२, १०१०

५ भागवत भाषा दसमस्कन्ध, नन्ददास, दो० स० २८

६. निर्देश आवश्यक नहीं है क्योंकि प्रायः प्रत्येक काव्यों के अन्त में इसी प्रकार की फलश्रुति मिल जाती है।

२. इससे मात्र कलिमलशमन ही नहीं होता अपितु अन्य भवजन्य क्लेशो का भी निवारण होता है।

३ आत्मरक्षा एव आत्मोद्धार के लिए इससे बढकर और दूसरा कोई साधन नही है।

घ रामचरित्र या कृष्णलीला को इन कवियो ने भक्ति का अनिवार्य अग माना है। इनके द्वारा भक्ति साध्य और साधन दोनो रूपो मे है। इस दृष्टि से रामचरित्र का गान ही, अपने काव्य का इन्होने एक मात्र प्रयोजन माना है। रामचरित्र का गान या तो रामचरित्र के लिए है या तो भक्ति के लिए। इसके अतिरिक्त इसका कोई अन्य प्रयोजन नही है। इसके द्वारा स्वत भगवान् प्रसन्न होते है। अत मात्र उन्ही को प्रसन्न करना काव्य का अन्तिम प्रयोजन है। इसका कारण उन्होने यह बताया है कि जो उन्हे अच्छा लगेगा वह सबको अच्छा लगेगा, जो उन्हे अप्रिय है, वह सभी को अप्रिय है।[1] पार्वती मगल मे तुलसी कहते हैं कि कवि-बुद्धि-रूपी मृगाच्छि ने अपने मगलहार से इसकी रचना की है।[2] अत इसे अलौकिक सौन्दर्यसार समझ कर धारण करना प्रत्येक का कर्तव्य है। इस प्रकार जो इन काव्यो का गान करता है वह ईश्वर को प्रिय है। इसीलिए कवि का आग्रह है कि निश्चित ही वही कवि है, वही एक मात्र गुणी है जो समस्त छलो का त्याग कर मात्र राम का गुण-गान करता है।[3] रस ब्रह्म का लीला रूप आनन्द स्रोत है। इस रसमय गुण के वशीभूत होकर रस विह्वल कवि यदि उसे प्रसन्न नही कर पाता तो उसका काव्य रचना व्यर्थ है।[4] इन्होने कवियो का अनेक दृष्टियो से वर्गीकरण किया है। इनमे श्रेष्ठ कवि सूक्ष्म अन्तर्दर्शी हैं। ये मात्र कृष्ण की लीला का गान करते है।[5] इन कवियो को इस, लीलागान के द्वारा और कुछ न चाहिए। वे ईश्वर के माहात्म्य से भली भाँति परिचित है। वह उनसे भौतिक साधन नही माँग सकता क्योकि उससे उसका क्या नाता है। उसके पास तो भक्ति पथ मात्र है। उसे 'ठकुराई' नही चाहिए उसे तो केवल भक्ति

१ रुक्मिणी मगल, १३०, १३३।

२. पार्वतीमगल, हरि० १६

३ रा० च० मा०, उ० का०, दो० १२७ की अर्धाली ८

४. ध्यान मजरी, बाल अली, पद स० १

५. रस मजरी, दो० स० २७ की १६, २१ अर्धाली

चाहिए, जिसके द्वारा आराध्य का गुणगान किया जा सके।[1] वह इस भक्ति के लिए किसी की शरण नही जाना चाहता। उसके लिए मात्र भक्ति ही शरण्य है। अत इन कवियो ने आराध्य को प्रसन्न करने के लिए ही अपने काव्यो की रचना की है।[2] उनके अनुसार माधुर्य रस स्वत दधि है। अमोघ वृन्दावन छाछ है। गोपियो ने अद्‌भुत (काव्य) कथन रूपी मथानी से मथकर नवनीत-प्रिय की भक्ति रूप अमृत को निकाला है।[3] भला यह किसे त्याज्य हो सकता है? इस प्रकार इन कवियो का इष्ट इसी भक्ति की प्राप्ति है। उन्हे मुक्ति नही चाहिए, अन्य प्रयोजन भी त्याज्य है, उन्हे तो युग-युग तक भगवद्‌भक्ति ही चाहिए ताकि इस भक्ति का वह प्रेमपूर्वक गान कर सके।[4]

निष्कर्ष

१ काव्य का एक मात्र उद्देश्य इष्ट या आराध्य को प्रसन्न करना है।

२ इसका कारण यह है कि वह प्रसन्न होकर भक्ति प्राप्ति का आशीर्वाद दे ताकि पुन भक्ति और उनके पावन चरित्र का गान कर सके।

३ काव्य का प्रयोजन भक्ति या हरिभजन मात्र है।

ड राधा कृष्ण की प्रेम लीला का गान या राम का यशगान

राधा कृष्ण का लीलागान इनके प्रमुख प्रयोजनो मे है। इनका विश्वास है कि कृष्ण कथा, कृष्ण नाम और कृष्ण भक्ति के बिना मनुष्य का जीवन व्यर्थ ही व्यतीत होता जा रहा है। वे व्यक्ति क्यो जीवित है जो कृष्ण चर्चा छोडकर अन्य चर्चाओ की ओर उन्मुख होते है।[5] वह श्रवण श्रवण नही है जिसमे कृष्ण लीला तथा कृष्ण कथा न हो। जो हरि की कथा का श्रवण नही करता, उसके श्रवण रन्ध्र अहिभवन के सदृश अर्थ शून्य है। राधाकृष्ण और सीताराम भेद सूचक न होकर अभेद सूचक हैं। एक निश्चित कालावधि मे ये राम थे अब कृष्ण है। इस भेदरहित लीला का गान इनका परम इष्ट है।

१ सूरसागर, प्रथम स्कध, प० स० ९३
२ सूरसागर, प्रथम स्कध प० स० ७४७
३ भक्त कवि व्यास, नील सखी की उक्ति
४ मानस अरण्यकाड, दो० स० ११ की चौपाइयाँ
५ परमानन्दसागर, परिशिष्ट, पद स० १३६५, १३०६

कृष्ण आनन्द निधि है, परम रसिक हैं। अत लीलामूलक काव्य कृष्ण 'रस-रीति' पर आधारित है। उनकी लीला का और कोई स्वरूप नही है, वह निश्चित ही रसरूप है। इस लीलागान मे आराध्य के रूप एव कृत्यो का ही वर्णन है।

कवि बाललीला से काव्य का आरम्भ करता है। कृष्ण तथा राम जन्म के अवसर पर वह बधाई देने के लिये 'भाटो' का स्वाग भरता है। कृष्ण का वृन्दावन प्रवेश, अघासुर का मर्दन एव बाललीला की अन्य घटनाएँ निश्चित ही भक्तो को इष्ट है। इस बाल प्रेम को देखकर गोप-गोपी ब्रज की गलियो मे प्रसन्न होकर गाते फिरते है। वे इस समय आनन्द-विह्वल है, कोई किसी की सुन नही रहा है। यह तो हुई बाललीला। इस लीला से कही अधिक बल प्रौढ लीला पर दिया गया है। कवि राधा कृष्ण केलि-विनोद को गाकर धन्य हुआ जा रहा है। कृष्ण अपनी लीला के नृत्य, गान मे निपुण रास-रस की वर्षा कर रहे है। समस्त कलाओ मे प्रवीण कृष्ण मुग्ध भाव से गोपियो को रस मग्न कर रहे है। ब्रजबालाओ के इस नृत्य पर सुर मुनि दोनो मग्न है।[1] गोवर्धन की यह लीला भक्तो की रक्षक है। यह रास रस कोमल है क्योकि वृन्दाविपिन के सुखपुज एव मलय समीरण की छाया मे यह रस विलसित था। गोपाल कृष्ण नट का वेष धारण किए है। राधिका की बाँह उनके गले मे है, यह युगल लीला पूर्णत आनन्दात्मक और भक्तरक्षक है।[2] इस लीला का गान ही नही अपितु श्रवण दोनो समस्त पापो का नाशक एवं आनन्दकर है। इस लीला की अलौकिकता जन साधारण की समझ के परे है। इसकी अतिशयता का गान शुक, शनक, नारद, सरस्वती आदि ने किया है। फिर भी, वे नही समझ पाते। यह उनकी समझ के परे है।[3] यद्यपि कमला निरन्तर उनके चरणो के पास पडी हुई उनकी सेवा मे संलग्न है, किन्तु वे भी इस लीला का रहस्य नही समझ पाती। वे पुन कहते है यह राम लीला रास रस है और रास रस नित्य है। गोपी एवं गोप बल्लभ कृष्ण नित्य है। नित्य देव कहते है कि नित्य नव देह नही मिलती। अत नव शरीर से ब्रह्म की नित्य लीला गान करना ही भक्तो का एक मात्र इष्ट है। दूसरी ओर, यह गोपाल की लीला परम अवधि तक वर्तमान, शिव, शुक,

---

१ कुम्भनदास पद स० १०

२ चतुर्भुजदास प चम अध्याय, ३०, ४०

३ रास प चाध्यायी, अध्याय ३०, ४०

नारद आदि के लिए महानिधि स्वरूप है। इन नवल नागरियो का यशगान भक्तो को स्वत प्रेमान्ध कर देता है। सासारिक वासना मे डूबे व्यक्ति इनकी मन्द मुसकान, कटाक्ष एव हास्यमुद्राओ को क्या समझ सकते है। इसके ज्ञान के लिए हरिदासो का सग अनिवार्य है तभी परम कान्तिमती एकान्त भक्ति सम्भव है।[1]

कृष्णरसिक भक्तो ने कृष्ण-चरित्र को लीला कहा है और उसके गान को लीलागान। प्रेम उसका आधार है। कृष्ण की क्रीडाएँ आलम्बन एवं विषय गोपिकाएँ है। मलयमन्द मारुत, वृन्दावन के कुंज कुटीर एव तमाल पक्ति से आच्छादित यमुना तट उद्दीपन है। परम आनन्द इस लीला का फल है।

किन्तु, इसके विपरीत राम भक्ति परम्परा मे राम के चरित्र को लीला तो कहा गया किन्तु राम के शौर्यपूर्ण कृत्य मे दैन्य एवं दास्य भाव की प्रधानता है। इस दैन्य एवं दास्य के पीछे करुण एव शान्त की मनोभावना निहित है। इसलिए कवि कहता है कि उसका उद्देश्य ग्राम्य गिरा मे सीता-राम के यश का गान करना है।[2] इस यश गान का कारण उन्होने रामचरित्र की पावनता, शक्ति, महत्ता तथा अतिशय कारुण्य बताया है इसी यश गान के द्वारा गायकों एवं श्रोताओ के कुल पवित्र हो जाते है। उनकी वाणी पुनीत हो जाती है तथा अपार-भव-सागर का सन्तरण हो जाता है।[3] अतः रामभक्त-कवि लीला गान की अपेक्षा यशगान को अधिक महत्त्व देते है।

निष्कर्ष

१. **कृष्ण कवियों द्वारा लीला गान तथा राम भक्त कवियो द्वारा यशगान इनके काव्य का प्रयोजन है।**

२ **दोनो काव्य रचना के द्वारा आत्मोद्धार एवं पवित्र सचेतना चाहते हैं।**

३. **पार्थक्य इस बात मे है, कि एक इस लीलागान के द्वारा आनन्द चाहता है तथा दूसरा इसके द्वारा लोकमंगल।**

४ **लीला गान रस रूप है किन्तु यशगान शील रूप।**

---

१. रास प चाध्यायी, प चम अध्याय, ११५, ११८ तक

२. रामचरितमानस, दो० स० १०

३ वही दो० स० ९ तथा ३ ६१ की ७वीं ८वीं अर्धाली

च आनन्द इन कवियो ने अनेक रूपो मे 'आनन्द' प्रयोजन को अपने काव्य का अन्तिम लक्ष्य माना है। इनका विचार है कि इस रस का आस्वादन करने पर अन्य रसो का विस्मरण हो जाता है। इसके आस्वाद से मन विह्वल हो जाता है।[1] यह सदैव एक रस है। श्याम रूपी कमल रस मे भक्त मन-भृ गी निरन्तर लीन रहती है। नवधा भक्ति उस कमल का किंजल्क है। वहाँ काम और ज्ञान एक रस हो जाते है और जहाँ निगम, शनक, शुक, नारद, शारदा तथा अनेकानेक मुनि रूप भृ ग निवास करते है। भला यह रस कब किसे अग्राह्य है। इस रस की कल्पना मात्र से स्वर गद्गद् हो उठता है, रोम पुलकित हो जाता है, अग-अग प्रेम से भीग जाते है।[2] ऐसे हरि का चरित्र गान करते हुए सम्पूर्ण जीवन व्यतीत कर देना इन भक्त कवियो का इष्ट था। कृष्ण चरण अम्बुज रस है और बुद्धि पात्र। भक्त अपने प्रेम से इसे पूर्ण करता है। इस रस के लोभ से भक्त सदैव अन्य सासारिक रसो का त्याग करके इसी का पान करता है।[3] इस रस के विचार से भक्त सदैव अन्य सासारिक रसो का त्याग करके इसी का पान करते है। इस रस के आलम्बन एक मात्र कृष्ण है जो आनन्द रस के चोर है। वही रस के कारण एवं आदि रस के रसिक भी है।[4] अग-अग की शोभा पर अमृतसिन्धु को न्योछावर किया जा सकता है फिर उनके स्वरूप की परिमित कैसी। गान करना तो और दूर की बात है। उनकी समस्त क्रीडाएँ इसी रस से पूर्ण है।[5] उनकी लीला का दर्शन मात्र ही इस आनन्द का कारण बन जाता है। भला मन ऐसी लीला को छोडकर कहाँ जा सकता है?[6] इस रस का वर्णन निश्चित ही असम्भव है क्योकि यह स्वत अपने आप मे अगाध है। इस रस की सीमा का अनुमान शिव, शेष, विधि एव श्रुति तक नही लगा सकते।[7] भक्त उस भक्ति आनन्द के सरोवर मे डुबकी लगाने के लिए आकुल रहते

---

१ भक्त कवि व्यास जी, प० स ० ५६ २ सूर सागर, प्र० स्क० प० स० ३३९

२ सूर सागर, प० स० ३३९

३. वही प्र० स्क० ३३८

४ वही प० स ० ६२ तथा ३०६

५ परमानन्द दास सागर, प० स ० ४४५

६ नन्द दास भ्रमरगीत, ४६ तथा छीत स्वामी प० स ० ५३ एव छीत स्वामी प० स ० ८३

७ भक्त कवि व्यास जी, पद स ० २५

है। इस आनन्द सरोवर के कमल को रात्रि के कारण संकुचन का भय नही है। यह आनन्द मुक्ति के सुभग मुक्ताफल से अलकृत है। पुण्य का यही अमृत रस भक्तो का पेय है। इस रस का त्याग कर कुबुद्ध ही सासारिक रस मे लीन रह सकता है। निश्चित ही इस रस की तुलना मे भौतिकता छीलर रस हैं। भौतिक रस का त्याग एव मधुर रस का ग्रहण ही भक्ति का अभीष्ट है।[1]

निष्कर्ष :—

१ भक्तिरस की तुलना मे अन्य रस गौण है
२ भक्तिरस का स्वभाव आनन्दमूलक है
३ यह आनन्द आत्मिक गुण है, न कि चित्त का
४ यह रस परम्परागत है तथा इसका आस्वाद निगम, शुक, शेष, सनक, नारद एवं अन्य मुनि कर चुके है। लौकिक कवियो मे व्यास, जयदेव, वल्लभ, सूरदास, मीरा एव हरिदास आदि ने इसके आनन्द का आस्वाद किया है।[2]

छ कृष्णरस का गान :

लीला और आनन्द के समान्तर इन कवियो मे एक और भी प्रयोजन मिलता है वह है 'कृष्ण-रस' का वर्णन। इन कवियो ने प्राय इसे लीला का फल बताया है। इसको आनन्द और लीला मे अन्तर्भुक्त करना उचित नही है। क्योकि लीला का फल आनन्द है, तथा कृष्णरस भी आनन्दमूलक है किन्तु यह आनन्द नही है अपितु आनन्द का कारण है। वस्तुतः लीला, रस एव आनन्द के प्रतिफलन से सिद्ध होती है।

इन कवियो का विश्वास है कि राधा कृष्ण परस्पर लुब्ध है। लुब्ध होने का कारण उनकी सम्पूर्ण रति क्रीडा रसपूर्ण है। इस क्रीडा के द्वारा वे कृष्ण रस की वर्षा कर रहे है।[3] अनेक स्थानो पर इन कवियो ने कृष्ण रस को लीला का कारण बताया है।[4] कृष्ण को इन कवियो ने रसिक रूप मे स्वीकार किया है। ये कवि इसी रस रूप को देखते-देखते अपना सम्पूर्ण

१ सूरसागर, प्र० स्क०, पद स० ३३७
२ भक्त कवि व्यास जी, पद स० ६
३. परमानन्ददास सागर, पद स० ५६०
४. वही ३८०

जीवन व्यतीत कर देने के लिए कृतसकल्प है क्योकि इस रसिकरूप का दर्शन आनन्दप्रद है, जो वस्तुत कृष्ण रस ही से निष्पन्न है। इन कवियो की प्रतिज्ञा है कि वे निरन्तर श्याम रस का ही पान करेगे। उनके अनुसार कृष्ण रस भोग मे ही जीवन्तता है। जो श्याम रस पीता है, वही तृप्त रहता है और वही बावला बनकर उसी आनन्द मे छका-छका घूमता फिरता है।[१] कृष्ण रस शरद् कुमुद की भाँति है तथा भक्तो की आँखे चकोरिनी की भाँति इसी रस के पान मे लिप्त रहती है।[२] इसी कृष्ण रस को इन कवियो ने उज्ज्वल रस की सज्ञा दी है। जिस प्रकार ये कृष्ण उदार चैतन्य रूप एव अखड है, वैसे ही उनका उज्ज्वल रस भी अखड है।[३]

निश्चित ही उज्ज्वल रस का स्वभाव बकिम (बाँका, अद्भुत) है। उसके प्रभाव मे अद्भुत ग्राह्यता, अद्भुत कथनशीलता नि सृत होकर काव्य रस का वर्धन करती है।[४] इस प्रकार उज्ज्वल रस की माला अनेक रत्नो से पिरोई हुई है। ये भक्त रसिको को इसके पान के लिए सदैव सावधान करते रहते है।[५]

निष्कर्ष —

१ **कृष्ण रस ही एक मात्र लीला का सार या तत्त्व है।**

२ **भक्तो को निरन्तर इसी कृष्ण रस का पान करना चाहिए।**

३ **यही कृष्ण रस उज्ज्वल या लीला रस है।**

ज. यथामतिगान–इन काव्यादर्शो के साथ एक और भी आदर्श मिलता है। इसे हम इन सब की अपेक्षाकृत अस्पष्ट प्रयोजन कह सकते है वह है— यथामति गान का प्रयोजन। तुलसीदास ने कहा है कि यद्यपि राम जानकी प्रेरणा के रूप मे वर्तमान है किन्तु इस राम कथा का गान वह यथामति ही करेगा।[६] पतितो एव जडो का उद्धारक यह हरिनाम जिसका गान श्रुति पुराण करते है,[७] ये कवि भी करते है किन्तु उसके साथ 'यथामति' का

---

१. भक्त कवि व्यास जी, पद स० २३३

२ चतुर्भुजदास, पद स० ८

३. कृष्णसिद्धान्त पचाध्यायी, रो० स० ९१

४ रास प चाध्यायी, रोला स० ७१, प्रथम स्कन्ध

५ वही प्रथम अध्याय : ४०, ४१, ४२

६. रामचरित मानस, बालकाड, दोहा स० ३६ अर्धाली १ : २

७. उत्तर काड, दोहा स० १३० की ४, ७ अर्धाली तथा हरिगीतिका

विशेषण जोडकर। हरिचरित्र का सर्वप्रथम गान व्यास ने किया था किन्तु ये कवि उलाहना देते हुए कहते है कि मैं तो नन्द के लाडले का गान 'यथामति' ही करूँगा।[1] जिस कृष्ण की चरण रज ब्रह्मादिक को भी दुर्लभ है, उस रज को व्रज की गोपिकाएँ अपने रास्ते और द्वार पर बुहारती है। यह कितना हास्यास्पद है। आखिर क्यो? इसी के लिए ये कवि हरि चरित्र गान के साथ यथामति शब्द का प्रयोग करते है। वे कहते है यह कृष्ण कथा-रस वही है जिसका परीक्षित ने प्रेमपूर्वक पान किया था, सुदामा ने जिस चारुचरित्र चिन्तामणि को अपनी हृदय-मजूषा मे सुरक्षित रखा था। और अब इस चरित्र के पाठ से भक्त सहज ही मुक्ति प्राप्त कर लेते है।[2] ऐसे चरित्र गान को इन कवियो ने 'यथामति' ही किया। ये कवि स्वीकार करते है कि भागवत अपने आप मे एक पूण एव फलदायिनी रचना है। उसका 'दशम स्कन्ध' प्राण स्वरूप है किन्तु मात्र उसके अनुवाद से ही वे तुष्ट नही है। वे उसकी कथा को 'यथामति' कहना चाहते है, और करते है। नन्ददास ने इस तरह यथामति का अनेक स्थलो पर प्रयोग किया है।[3] उन्होने नायक-नायिका भेद, रस सम्बन्धी ग्रन्थो तथा कोषो की भी रचना की किन्तु यथामति से प्रेरित होकर ही। वे सर्वत अपनी मौलिकता दिखाने की ओर सजग रहे है। उन्होने रस मंजरी को अपनी यथामति का ही फल माना है। वे कहते है कि उनकी तत्कालिक काव्य परम्परा मे प्रेम काव्य की एक विशिष्ट पद्धति वर्तमान थी। यद्यपि मैं भक्त हूँ फिर भी उस कथा का गान स्वमति से ही करूँगा।[4] इसी स्वमति के साथ इनका स्वान्त सुख भी आता है। स्वान्त सुख मे स्वमति से अधिक स्वच्छन्दता है।[5]

वे मानते है कि कृष्ण चरित्र अपने आप मे अनन्त है, अनन्त विधाएँ एव उसके लिए अनन्त दृष्टिकोण है।[6] किन्तु उन काव्य परम्पराओ मे मैं स्वमति को विस्मृत नही करूँगा।[7] इस प्रकार इन कवियो ने, जहाँ उन्हे

---

१ परमानन्ददास सागर, पद स० १०६४

२ सूरदास-मदन मोहन, पद स० ३

३ सुदामा चरित्र, नन्ददास अन्तिम अर्धाली

४. रस मजरी, २४

५ रामचरित मानस, बालकाड - श्लोक स० ७

६ रस मजरी, दो० ३३६

७ सूर सागर, प्रथम स्कन्ध, पद स० ४०५

अपने काव्यादर्श के विषय मे खुल कर कहने का अवसर मिला, स्वच्छन्द वृत्ति का परिचय अवश्य दिया है। तुलसी का स्वान्त सुख इसी का द्योत है।

निष्कर्ष

१ काव्य के मूल मे इनके अनुसार स्वच्छन्दता आवश्यक है। ये परम्परा के पिष्टपेषण मात्र से ही सन्तुष्ट नही थे।

२ इसका कारण वैयक्तिक स्वच्छन्दता है।

३ ये परम्परा से चली आती हुई काव्यरूढि के पक्षपाती नहीं थे।

४ इन्होने कही-कहीं अपने उद्देश्य के पालन के लिए भी यथामति शब्द का प्रयोग किया है।

इतर गौण काव्यादर्श —

हिन्दी के वैष्णव भक्ति काव्य मे उपर्युक्त प्रयोजनो के साथ-साथ कुछ ऐसे भी प्रयोजन मिलते है जो या तो काव्य स्वभाव के कारण आ गये है, या भक्ति के कारण। ये परम्परा से चलते-चलते इनके काव्य मे घिसपिट कर चले आये है। वे है वासनाओ की अचेतन तृप्ति, सत्सग, ज्ञान की प्राप्ति, हरिदासो का भजन, अपने पूर्व गुरु परम्परा की स्तुति आदि।

वासना की अचेतन तृप्ति इन कवियो की शालीनता एव आत्म विरति प्राय इन्हे भौतिक आदर्शो से पृथक् ही रखती है। ये विरागी है अत अर्थप्राप्ति की बात इनके लिए उठ नही सकती। फिर भी यश की भावना अप्रत्यक्ष रूप से इनके काव्य मे अवश्य मिल जाती है। इनका विचार है कि जिस प्रबन्ध रचना का विद्वान् आदर नही करते वह श्रम निरर्थक है। वह प्रयत्न मात्र बालिश है। कविता इतनी सरल और हृदयग्राहणी हो कि मानव अपने सहज द्वेष को विस्मृत करके उसकी प्रशंसा करने लगे।[1] व्यास आदि उसकी कवि परम्परा मे है। कलि के कवि भी किंचित उससे छूट नही पाते। वह अपनी पूर्ववर्ती परम्परा मे प्राकृत कवियो का भी स्मरण कर लेता है। इसका कारण वह केवल यह बताता है कि जिससे उसकी भक्ति का समाज मे पूर्ण आदर हो[2] सके। एकाध बार वह भक्ति के आवेश एव आदर्शमडित शालीनता के

१. रामचरित-मानस दोहा स० १४ की चौपाइयाँ

२ वही

वशीभूत होकर कह बैठता है कि अरे । क्या वह कवि नही है । वह तो मात्र भक्त है । कहाँ काव्य और कहाँ रामपद प्रेम वह तो समस्त कलाओ और काव्य विद्याओ से हीन है । काव्य तो वर्ण, अर्थ, अलकृति, छन्द, अनेक भाव-विधानो, भावभेदो, रसभेदो, अनेकानेक गुणो से परिपूर्ण एव दोषो से मुक्त होता है । इस साधारण कवि की इतनी पहुँच कहाँ । वह कोरे कागज पर लिखने के लिए तैयार है कि उसके अन्दर कवित्व विवेक नही है । किन्तु वह ठीक इसी के आगे एक विशाल रूपक बाँधता हुआ कहता है कि राम और सीता का यश अमृत के सदृश है, मनोरम वीचि-विलास, इम काव्य की उपमाएँ है ।

चारु चौपाइयाँ सघन पुरइन-पक्ति है । काव्योक्तियाँ मजु-मणि-सीप है । मरस दोहे, सोरठे तथा छन्द बहुरग कमल है । अनुपम अर्थ सौन्दर्याभास है, वही पराग है, वही सुवासित मकरन्द है । ध्वनि, वक्रोक्ति, काव्यजाति एव गुण इसके मीन है । धर्मादि चतुर्थ काव्य प्रयोजन विचार पूर्वक कहे गये ज्ञानतत्त्व है । जप, योग, विराग, नवरस, इस चारु तडाग के विभिन्न जलचर है।[1] इस प्रकार कवि समस्त भक्ति के उपकरणो को काव्य की परणति देता है । उसे भक्ति और काव्य दोनो प्रिय है और दोनो के समुचित प्रयोग से अपने काव्य को मडित करना चाहता है । इस प्रकार अपनी बुद्धि के प्रयोग से सुन्दर काव्य का निर्माण कर भक्त अपने काव्य ज्ञान का शिष्ट भाषा मे परिचय देता है । इन्होने ध्वनि, गुण, रीति, रस, वक्रोक्ति आदि समस्त सम्प्रदायो को साधन रूप मे स्वीकार किया है । फिर ऐसा कवि यशप्रिय क्यो न होगा । अनेक स्थलो पर वे स्वय कहते है कि आध्यात्मिक काव्य न लिखकर ये अपयश के अधिकारी होगे । अपने आराध्य के सौन्दर्य निरूपण के सदर्भ मे वे अनेक बार चुनौती देते है कि उनके काव्य से कौन तुलना कर सकता है । इन कवियो के ये समस्त कथन इस तथ्य की ओर सकेत करते है, ये काव्य से न केवल मानसिक तृप्ति प्राप्त करते थे, अपितु कविसुलभ यशलिप्सा की भावना भी इनमे निहित थी ।

अन्य छोटे प्रयोजनो मे सत्संग, ज्ञान एवं भक्ति की प्राप्ति आदि है । वे इस प्रकार हैं ।[2]

---

१. रामचरित मानस, दोहा स० ३७ की चौपाइयाँ
२. दोहावली दो० स० ३४०

हरिदास का भजन—यह काव्य का प्रयोजन न होकर पूर्णत भक्ति एवं नैतिक आचार का प्रयोजन है । उनके अनुसार इससे काव्य के किसी लक्ष्य की पूर्ति न होकर मात्र मुक्ति की प्राप्ति होती है । सत्सग से स्वर्ग की प्राप्ति होती है, कवि, कोविद, सत, श्रुति, पुराण, सद्ग्रन्थ इसकी महिमा का गान करते है । अत इनके काव्य का यह भी एक सामान्य प्रयोजन है ।

ज्ञान एव भक्ति की प्राप्ति

ज्ञान एव भक्ति इनके लिए जीवनगत आदर्शो मे थी । इनके प्रत्येक कृत्य भक्ति के आराध्य को दृष्टि मे रखकर किये जाते है । इनके अनुसार ज्ञान और भक्ति दोनो लोको के सुख के लिए एक मात्र आधार है तथा दु ख दूर करने वाले पथ है । यह भक्ति मार्ग प्रेम पथ से मुक्त है । यही सर्वोपरि सिद्धान्त तत्त्व है । इस सिद्धान्त तत्त्व के ज्ञान के बिना भक्त भक्त नही हो सकता । ठीक इसी का प्रचार करना इन भक्ति काव्यो का उद्देश्य है ।[२]

इसके साथ-साथ कही-कही पर पाठको के लिए भी ये फलश्रुति का निदेश, मनोकामना की पूर्ति, प्रेम पदार्थ की प्राप्ति, परलोक की प्राप्ति, सुयश की प्राप्ति आदि उद्देश्य बताते है, किन्तु ये प्रयोजन गौण है ।

अन्तस्साक्ष्य के आधार पर इन कवियो के निम्न काव्यादर्श है । इन पर इनके काव्य रचे गये हैं । सक्षेप मे इन काव्यादर्शो की सूची इस प्रकार रखी जा सकती है —

१ मानव मगल की भावना काव्य परमार्थ एव लोकहित की प्राप्ति का सर्वाधिक महत्त्व-पूर्ण साधन है । मानव मगल का स्रष्टा कवि मानव हित का नियोजन करके अमर पद का अधिकारी हो जाता है ।

२ काव्य के द्वारा चतुर्थ पुरुषार्थों की प्राप्ति एव त्रिदोषो का विनाश होता है ।

३ भक्ति काव्य का कोई अन्य प्रयोजन नहीं है । वह स्वतः केवल भक्ति के लिए है ।

४ कलिमल शमन के लिए भक्ति काव्य ही एक मात्र अनिवार्य है । इसलिए इस काव्य के द्वारा भक्ति का प्रचार एव भक्ति के प्रचार से कलि के पापो का शमन इनका अभीष्ट है ।

---

१ विरह मजरी दो० स० १०२

२ सूरसागर, द्वितीय, स्क० पृ० स० ३७५

५ कृष्ण कवियो ने लीलागान तथा रामभक्त कवियो ने राम के यशगान को अपना मुख्य आदर्श बताया है ।

६ यह लीलागान भक्ति रस के लिए है क्योकि इसकी तुलना मे अन्य रस गौण हैं। इस भक्ति रस का स्वभाव आनन्दात्मक है। अतः इनके काव्य का लक्ष्य आनन्द का प्रचार एवं उसकी प्राप्ति करना है।

७ काव्य का अन्तिम लक्ष्य कृष्ण रस का गान है । यही समस्त भक्ति एवं काव्य रस के लिए सारतत्त्व है ।

८ यथामति गान द्वारा ये परम्परा से चले आते हुए प्रयोजनो का तिरस्कार करते है ।

९ इनके गौण प्रयोजन इस प्रकार है :—

क यश की प्राप्ति के लिए काव्य रचना ।

ख काव्य रचना के द्वारा सत्संग एवं मनोकामना की पूर्ति ।

ग ज्ञान के लिए काव्य सृजन ।

घ हरिदास के भजन के लिए काव्य रचना ।

इन आदर्शों का सामान्य वर्गीकरण इस प्रकार कर सकते है ।

काव्य के आदर्श या सम्प्रदायमुक्त आदर्श

१ चतुर्थ पुरुषार्थों की प्राप्ति

२ यथामति गान

३ यश की प्राप्ति

४. कृष्णरस का गान

भक्ति के आदर्श या साम्प्रदायिक आदर्श

१ कलिमल शमन

२. सत्संग, मनोकामना की पूर्ति, हरिदासो का भजन

३ भक्ति का प्रचार

उभयगत आदर्श या मिश्रित काव्य प्रयोजन

१ मानव मंगल की भावना

२. लीलागान तथा यशगान

संस्कृत साहित्य मे पाठक और कवि की दृष्टि से प्रयोजनो का विभाजन किया गया है। इनका भी इस दृष्टि से विभाजन किया जा सकता हैं। पाठक के

लिए ये प्रयोजन क्रमश चतुर्थ पुरुषार्थो की प्राप्ति, कलिमलशमन, सत्संग, मनोकामना की पूर्ति, हरिदासो का भजन है। दूसरी ओर कवि की दृष्टि से यथामतिगान, यश की प्राप्ति, कृष्णरस का गान, भक्ति का प्रचार, लीला-गान या यशगान आदि प्रयोजन आते है।

किन्तु इन कवियो का दृष्टिकोण इतना विस्तृत है कि ये मात्र पाठक तथा स्वत तक अपने काव्य को सीमित नही रखना चाहते थे। मानव मगल का हित पाठक एव कवि की सीमा से ऊपर सामान्य मानव के लिए है। इसके अतिरिक्त इनकी वैयक्तिक मनस्चेतना स्वार्थ-परायण न होकर परार्थ-परायण थी।

कविगत्, भक्तगत् एव उभयगत् प्रयोजनो का तात्पर्य इतना ही है कि इनसे इन कवियो द्वारा निर्दिष्ट काव्यादर्शो की परम्पराओ की खोज की जा सके, इसी दृष्टि से भक्त एव काव्य के परम्परागत प्रयोजनो पर विचार किया जा सकता है।

काव्य परम्परा और पृष्ठभूमि

मध्यकालीन भक्ति साहित्य के मूलाधार राम तथा कृष्ण रहे है। इन कवियो ने मात्र इन्ही के चरित्र गान मे अपनी सम्पूर्ण साधना अर्पित की है। राम तथा कृष्ण के आख्यान से सम्बन्धित विशाल परम्परा संस्कृत एव अपभ्रंश साहित्य मे विद्यमान मिलती है। परम्परा के रूप मे यह रामायण, महाभारत, पौराणिक साहित्य, सस्कृत का ललित साहित्य, बौद्ध एवं जैनपुराण, अपभ्रंश आदि के माध्यम से राम तथा कृष्ण के जीवन के अनेकानेक पक्षो का अनेकानेक रूपो मे समर्थन किया गया है। यह सम्पूर्ण समर्थन विभिन्न भावो एवं प्रेरणाओ से ओतप्रोत हिन्दी वैष्णव भक्ति साहित्य के लिए सजीवनी के रूप मे था। हिन्दी के भक्त कवियो ने प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से इन मान्यताओ का उपयोग किया है। फलत वैष्णव भक्ति-काव्य के प्रयोजनो के सदर्भ मे इनकी विशिष्ट परम्परा को ध्यान मे रखकर विवेचन करना विशेष उपयोगी है।

हिन्दी के वैष्णव भक्त कवियो के काव्य प्रयोजनो से निश्चित हो जाता है कि ये सहृदय कवि थे। इनके काव्य प्रयोजनो मे भक्ति और काव्य के मिश्रित प्रयोजनो को देखकर यह ज्ञात होता कि पूर्व मध्यकाल मे भक्ति और काव्य दोनो प्राय समस्तरीय सिद्ध हो चुके थे। भक्ति मे कीर्तन एव भजनो को प्रमुखता मिल चुकी थी। वे आराध्य को रिझाने तथा आत्माभि-

व्यक्ति के लिए कीर्तन को अनिवार्य बताते है। चौरासी वैष्णवो की वार्ता मे इन भक्तो को 'कीर्तनिया' कवि कहा गया है। भक्तमाल मे सूर, तुलसी, नन्ददास, चैतन्य आदि को 'कवि' कह कर पुकारा गया है साथ ही, उनके काव्योचित गुणो से सम्पन्न उक्ति चोज, अनुप्रास, अर्थ की प्रशसा की गई है एव उन्हे रस प्रयोक्ता, वाल्मीकि के अवतार आदि नामो से पुकारा गया है। रीतिकालीन अनेक काव्यप्रशस्तियो मे तुलसी और सूर को कवियो का 'सरदार' कहा जाता है। तानसेन और सूर की जिस वार्ता का उल्लेख मिलता है उसमे तानसेन ने सूर की कवित्व शक्ति की मार्मिकता का स्वीकरण किया है। इस प्रकार निश्चित रूप मे ये भक्त और कवि दोनो एक साथ थे।

यही नही, तत्कालीन काव्य परम्परा मे काव्य के लिए भक्ति को अनिवार्य तत्त्व के रूप मे स्वीकार किया जाने लगा था। भक्ति परम्परा से मुक्त कवि गग तथा केशवदास आदि सामन्तवादी वर्ग के बीच काव्य सर्जना करने वाले कवियो ने भी भक्ति के अनेक तत्त्वो को आत्मसात कर लिया है। रामचन्द्रिका आलकारिक कृति होते हुए भी भक्तिपूर्ण कथनो से पुष्ट है। विज्ञानगीता वस्तुत कवि की तत्कालीन धार्मिक अभिरुचि की ही प्रतिफल है। गग के प्राप्त कवित्तो मे अनेक स्थलो पर राम के प्रति पूर्णदैन्य निवेदन की भावना मिलती हे। तत्कालीन भाषाभाषी कोई भी ऐसा कवि नही मिलता जिसके ऊपर मध्यकाल की धार्मिक वृत्ति का प्रभाव न हो। इस प्रकार मध्यकालीन वातावरण मे कवि और भक्ति दोनो व्यक्तित्व जेसे परस्पर घुल-मिल गए हो।

मध्यकालीन कवियो की परम्परा विशाल सस्कृत साहित्य से सम्बद्ध थी। हिन्दी का वैष्णव भक्ति काव्य सस्कृत काव्यशास्त्र के विघटन का काल था। इसमे अनेक प्रशस्त आचार्य विश्वनाथ, जगन्नाथ, अप्पयदीक्षित, भानुदत्त आदि एक विशिष्ट परिपाटी के अन्तिम समर्थक आचार्य थे। काव्यशास्त्रियो के बीच मम्मट, अभिनवगुप्त, आनन्दवर्धन, भट्टनायक, शकुक, भट्टलोलट्ट, तथा भरत आदि चर्चा के विषय थे। उनमे परस्पर अपने सिद्धान्तो की स्थापना का प्राबल्य मिलता है। यही नही, इस समय तक पूर्ववर्ती आचार्यों

---

१. भक्त माल में काव्यशास्त्रीय शब्दावली का सकेत इन भक्त कवियों के सन्दर्भ में निम्नलिखित पदों में मिलते हैं : ३९, ४३, ६०, ७०, ७२, ७३, ८८, ९३, ११०

की कृतियो पर अनेकानेक भाष्य लिखे जाने लगे थे। इसी समय मम्मट के काव्य प्रकाश पर लगभग एक दर्जन भाष्य लिखे गए। इनकी देखा-देखी भक्ति सम्प्रदाय के अन्तर्गत रस मजरी, विरहमजरी, कूट पद तथा सस्कृत में उज्ज्वल नील मणि, श्री हरिभक्तिरसामृतसिन्धु, भगवदभक्तिरसायन, शृगार-रसमडन आदि जेसे ग्रन्थ निर्मित होने लगे थे।

वैष्णव भक्ति काव्य में निहित काव्यादर्शों तथा संस्कृत के काव्यशास्त्रीय प्रयोजनों का तुलनात्मक अध्ययन

इस तुलनात्मक अध्ययन के सदर्भ मे इस काव्यधाराओ के आदर्शो से उनके काव्य स्वभाव का अनुमान सरलता से लगाया जा सकता है। भक्ति-काव्य के अनेक तथ्य पूर्ववर्ती सस्कृत काव्यधारा मे पूर्णत अप्राप्य है। साथ ही, सस्कृत काव्यधारा मे प्राप्त कतिपय मूल्य हिन्दी वैष्णव भक्ति काव्य मे नही मिलते, किन्तु न मिलने वाले मूल्यो की सख्या कम ही है। इन साम्य एव वैषम्यो के कारण स्पष्ट है, सस्कृत के काव्य की मूल दृष्टि कलात्मक सजगता से पुष्ट थी। कला के कलात्मक वृत्ति के सरक्षण की भावना की प्रधानता ने जीवन के अन्य आदर्शों को गौण बना दिया था। यही कारण है कि मम्मट तथा साहित्यदर्पणकार काव्य के प्रयोजनो मे अन्य प्रयोजनो को गौण तथा इनको काव्य का प्रधान प्रयोजन स्वीकार करते है किन्तु वैष्णव भक्ति काव्य मे निहित प्रयोजनो के संदर्भ मे दिखाया जा चुका है कि इनके काव्य प्रयोजन मात्र तीन भागो मे विभक्त किए जा सकते है—

१. **वैयक्तिक रुचि पर निर्भर काव्य प्रयोजन**
२. **सामाजिक काव्य प्रयोजन**
३ **काव्यात्मक प्रयोजन,**

इन कवियो ने काव्यात्मक प्रयोजनो को वैयक्तिक एव सामाजिक भावनाओ के अग के रूप मे समेटने का प्रयत्न किया है। यहाँ काव्य एक माध्यम बन गया है और काव्यात्मक उद्देश्य वैयक्तिक एवं सामाजिक रुचियो को अभिव्यक्त करने का साधन मात्र। दूसरी ओर, सस्कृत के काव्यशास्त्र मे एकमात्र साध्य कलात्मक मूल्य ही है। कला को मात्र सौन्दर्य अभिव्यक्ति निरूपण का अंग माना गया है। सौन्दर्य एवं अभिव्यक्ति निरूपण मानवीय संदनाओ पर आश्रित है और काव्यशास्त्र मे कला की सजगता पर आश्रित है। हिन्दी भक्ति काव्य के काव्यादर्श जीवन, तत्सम्बन्धी समस्याओं एवं

सिद्धान्तो के अधिक निकट है। पृथक्-पृथक् दोनो काव्यादर्शो का तुलनात्मक अध्ययन इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है।

१ **मगलवाद**—वैष्णव भक्ति मे लोकमगल की भावना, उनकी पहली समस्या है। अवतारवाद के सदर्भ मे इस धारणा का समर्थन सभी कवि एकमत से करते है। असुरविनाश एव धर्म की प्रतिष्ठा इसका प्रमुख तत्त्व है। रावण या कस वध के पश्चात् राम राज्य या कृष्ण राज्य की कल्पना पीडित लोक के उच्चतम सुखमूलक आदर्श की कल्पना है। राम कथा के बाद ये भक्त कवि लवकुश कथा से अपने काव्य की समाप्ति न करके राम राज्य, सैद्धान्तिक कथन से करते है। कथा आने ही नही पाती, अष्टछापी कवियो की रचनाओ की भी ठीक यही प्रकृति है। भागवत को आधार बनाने का लक्ष्य असुरो का विनाश और उसके द्वारा लोकमगल की स्थापना है। राम के आदर्शो की अन्तिम स्थापना रामराज्य मे होती है तो कृष्ण की द्वारिका की स्वर्णपुरी के आदर्श राज्य मे। सूर के वर्ण्य विषय का लगभग एक तिहाई भाग असुरों के विनाश के लिए ही लिखा गया है। इस प्रकार के समस्त काव्यो को दो भागो मे विभक्त किया जा सकता है।

१ **प्रबन्धात्मक** २ **मुक्तक**

प्रबन्धात्मक रचनाओ के अनेक क्रम निर्दिष्ट किए जा सकते है किन्तु विषयवस्तु एक ही प्रकार का है। शिल्प क्रम मे दो विशिष्ट प्रधान पात्र आते है। एक तामसिक वृत्तियो का प्रतिनिधित्व करता है दूसरा सात्विक। तामसिक प्रवृत्तियाँ जगत को अपने प्रभाव से आतकित कर सामाजिक एवं वैयक्तिक चेतना को गर्हित कर देती है। ठीक इसी चेतना से मुक्त करने के लिए सात्विक आदर्शो की स्थापना होती है। राम, कृष्ण या अन्य पात्र सात्विकता के उच्चतम स्तर से सम्बन्ध रखते है—दूसरी ओर विरोधी पात्र अपनी स्थिति मे क्षुद्रतम प्रवृत्ति का। इस प्रकार इसी क्षुद्रतम आसुरी वृत्ति के ऊपर सात्विक मनोवृत्ति की विजय इनके काव्यो का अन्तिम आदर्श है। इसी को इनकी रचनाओ की लोकमगलमूलक प्रवृत्ति कहा जा सकता है। मुक्तक काव्यो मे इसका सर्वथा अभाव नही मिलेगा। यहाँ भी कवि स्थल-स्थल पर इसका संकेत करते चलते है।

सस्कृत साहित्य मे यह आदर्श धार्मिक दृष्टिकोण से प्रभावित रचनाओं मे ही मिलता है। राम कथा से सम्बन्धित महाकाव्य जैसी कलापरक दृष्टि-कोण से प्रणीत कृतियाँ भी इस आदर्श की स्थापना नही कर सकी है। नाट्य

शास्त्र के अन्तर्गत आचार्य भरत ने इसकी ओर मात्र सामान्य सकेत किया है। आगे चलकर लोकव्यवहार की चर्चा भी इसी लोकमगल के सदर्भ मे ही की गई किन्तु वह अधिक महत्त्वपूर्ण नही थी। उस समय तक चतुर्थ पुरुषार्थों की ही लोग चर्चा करते रहे है। बाद मे, मम्मट ने 'शिवेत् रक्षतये' कह कर उसकी प्रबल पुष्टि की। इस प्रकार काव्यशास्त्रीय परम्परा मे लोकमगल की भावना सामान्य रूप मे मिलती है। जहाँ तक काव्यो का प्रश्न है सस्कृत साहित्य के प्रबन्धात्मक काव्य प्राय इसका समर्थन करते है किन्तु उनकी प्रकृति भिन्न है। रघुवश, किरातार्जुनीय, शिशुपालवध, अपनी स्थिति मे निश्चित ही इसी आदर्श से सम्बद्ध है। प्रबन्धकाव्य के लक्षणो मे चतुर्वर्ग की प्राप्ति, खलो का नाश, उपदेशो की युक्तता तथा उदात्त चरित्रो का सदर्भण प्राय इसी का समर्थन करते है, किन्तु भक्तिकाव्य एव सस्कृत काव्य की एतत्सम्बन्धी दृष्टियो के मूल मे अन्तर वर्तमान है। भक्ति काव्य की मूल प्रेरणा भक्ति की है। उसमे लोकमगल के सदर्भ काव्य के आदर्श से प्रेरित न होकर लोकनिष्ठा तथा धर्मनिष्ठा से प्रेरित है। दूसरे शब्दो मे यह धार्मिक काव्य है जो लोकहित को अपना अनिवार्य लक्षण बताता है। किन्तु सस्कृत का काव्य काव्यदृष्टि को प्रमुख मानकर चलता है, वह समाज-दृष्टि को सामान्य साधन के रूप मे स्वीकार करता है। इसलिए दोनो की अभिव्यक्तियो मे अन्तर आ गया है।

भक्ति काव्य मे जहाँ धार्मिक आदर्श, पौराणिक कथनो, दार्शनिक गूढ रहस्यो का प्रतिपादन है, वही सस्कृत काव्य मे श्लेषवर्णन, रूपक योजना, ध्वनिवैचित्र्य, व्यावहारिक निर्देशन, सध्या, सूर्येन्दु, रजनी, शैल, बन आदि के वर्णन प्राप्त होते है। इस दृष्टि का प्रभाव पात्रो के स्वभाव एव चरित्रो पर पडता है। तुलसी और रघुवश की रामकथा को तुलनात्मक दृष्टि मे रख कर इस तथ्य को आँका जा सकता है। इस प्रकार यद्यपि इन भक्त कवियो की लोकमगल की भावना तथा आदर्श की परम्परा पूर्ववर्ती भारतीय साहित्य मे मिल जाती है किन्तु दोनो मे सदर्भो का पर्याप्त अन्तर वर्तमान है।

काव्य के द्वारा चतुर्थ पुरुषार्थों की प्राप्ति तथा त्रिदोषों का नाश

यह आदर्शमूलक उपयोगितावादी काव्य का दूसरा लक्षण है। काव्य का अभिव्यक्ति-पक्ष वस्तुत इस दृष्टिकोण से निर्मित हो कि उसके अध्ययन एवं श्रवण से उज्ज्वल चरित्र एवं समाज के सत्प्रेरक तत्त्वों का सृजन हो

सके । इसी सदर्भ मे चतुर्थ पुरुषार्था की प्राप्ति के लिए सस्कृत के कई काव्य-शास्त्रियो ने चर्चा की है । महाकाव्य और नाटको के लक्षणो मे अनेक बार इस परम पुरुषार्थ को दुहराया गया है । वस्तुत इसका कारण है भारतीय आदर्शमूलक समाजनीति । सस्कृत के काव्यशास्त्रियो ने इसी सदर्भ मे इसका पालन किया है । यह अपने आप मे सिद्ध है कि भारतीय काव्यो के पूर्वादर्श मध्यकाल तक आते-आते भक्त कवियो द्वारा लक्ष्य के रूप मे स्वीकृत होते गए । अत इनके काव्य मे यह भावना प्रत्यक्षत धर्मप्रेरणा के रूप मे आई है जो एकमात्र इनके लक्ष्य के रूप मे स्वीकृत थी । सस्कृत के काव्य के समक्ष इस प्रेरणा का प्रत्यक्षत विशिष्ट महत्त्व नही था, मात्र परम्परा पालन के रूप मे ये स्वीकृत हुए थे । चतुर्थ पुरुषार्थो को यदि पृथक्-पृथक् मूल्यो के रूप मे रखा जाय तो वे इस प्रकार होगे—

क अर्थ—अर्थ प्राप्ति का प्रयोजन इन वैष्णव भक्त कवियो को पूर्णत अस्वीकृत था क्योकि उसे आसक्ति का साधन बता कर ये उससे वैराग्य ले चुके थे । दूसरी ओर, सस्कृत के लौकिक कवियो ने खुलकर इसका समर्थन किया है, और राजाश्रय का अवलम्बन ठीक इसी के लिए ही किया है ।

ख धर्म—सस्कृत के कवियो के लिए धर्म की भावना साधन के रूप मे थी । यह काव्य का एकमात्र लक्ष्य न होकर, लोकादर्श से मण्डित काव्य मे उपकरण के रूप मे स्वीकृत था क्योकि उनकी काव्य वृत्ति क्रीडापरक थी, उपयोगितावादी नही । इन कवियो ने इस धर्म को भक्ति का साधन बनाया और काव्य मे उसके व्यवहार के लिए उसके रसात्मक स्वरूप का अनिवार्यता के साथ आग्रह किया । आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इसी सदर्भ मे भक्ति को धर्म की रसात्मक अनुभूति की सज्ञा दी है ।

ग काम—काम वस्तुत कामेच्छा है, जो आसक्ति या वस्तु के प्रति राग उत्पन्न करती है । यह राग एषणा के माध्यम से मन को विषयासक्त बनाती है । लौकिक कवियो को इस राग से अधिकाधिक प्रेरणा मिली है । यह राग भौतिक स्तर पर प्रायः नायक-नायिकाओ, अलकरणो, सामग्रियो के सकलन का प्रेरक है, किन्तु भक्त कवि निष्काम थे । उनकी एषणा ईश्वर मे ही समर्पित थी । इस सदर्भ मे उन्होने जो कुछ कहा भी हे उसमे उनका वैयक्तिक स्व नही है । वे उसे ईश्वरनिष्ठ मानते है, किन्तु सस्कृत के कवियो ने इसे स्वनिष्ठ स्वीकार किया है ।

घ मोक्ष—भारतीय आदर्शवादी परम्परा मे जीवन का अन्तिम लक्ष्य मोक्ष स्वीकार किया गया है। सस्कृत के कवियो ने चतुर्थ पुरुषार्थो मे मोक्ष को भी काव्य के लक्ष्य के रूप मे स्वीकार किया है। उनके सामाजिक एव वैयक्तिक जीवन का मात्र यही अन्तिम लक्ष्य रहा है। भक्त कवि इसे अन्तिम लक्ष्य सामाजिक सदर्भ मे ही स्वीकार करते है। मोक्ष सम्बन्धी धारणा के विषय मे भी सस्कृत और वैष्णव भक्त कवियो मे पर्याप्त अन्तर है। उनके अनुसार भक्त जीवन का अन्तिम लक्ष्य मात्र भक्ति है। अपने काव्य का मूल लक्ष्य उन्होने भक्ति ही बताया है, किन्तु यदि समाज भक्ति को नही स्वीकार करता तो उसको अन्तिम लक्ष्य मोक्ष नही प्राप्त हो सकता है।

इस प्रकार सस्कृत और हिन्दी के मध्यकालीन वैष्णव भक्त कवियो के इस दृष्टिकोण मे स्पष्ट भेद दृष्टिगोचर होता है।

यथामतिगान

यह अपने आप मे एक अस्पष्ट मूल्य है क्योकि यह अपने प्रयोजन के बिना स्पष्ट नही हो सकता। उसके कारणो की खोज हम उन धारणाओ से कर सकते है जिनकी प्रतिक्रिया मे यथामति शब्द का प्रयोग किया गया है। जेसा कि यथामति प्रयोजन के सदर्भ मे स्वीकार किया जा चुका है, इन्होने अपनी भक्ति को काव्य दोनो के लिए यथामति विशेषण का प्रयोग किया है। काव्य की दृष्टि से, यथामति का तात्पर्य है स्वत निर्मित काव्यादर्श का प्रयोग। हरि चरित्र प्राकृत काव्य का विषय बनता जा रहा था। काव्य के मानदण्ड प्राय स्थिर हो चुके थे। ध्वनि, रीति, वक्रोक्ति, रस, अलकार आदि को काव्य के लिए एकमात्र आवश्यक बताया जाने लगा था। सस्कृत के काव्य-शास्त्रीय तत्त्वो के अभाव मे इस प्रकार कविता सम्भव नही थी। किन्तु इन कवियो ने अपने यथामति प्रयोजन द्वारा इस मत का खडन किया। उनके अनुसार काव्य का सर्वप्रथम तत्त्व हरियश का कथन है। यदि हरियश या हरिलीला काव्य मे आ गई है तो काव्यशास्त्रीय तत्त्वो के अभाव मे भी वह काव्य सहृदयो के बीच पूज्य होगा। रामनाम के अभाव मे काव्य का कोई मूल्य नही है।[1]

यथामति का दूसरा प्रयोग इन्होने भाषा के क्षेत्र मे किया है। काव्य परिपाटी मे सस्कृत भाषा को काव्य का उच्चतम आदर्श प्राप्त था। यद्यपि

---

१ मानस, बालकाण्ड, दोहा स० ११

प्राकृत और अपभ्र श मे भी रचनाएँ होती थी किन्तु वे समादृत नही थी। इसलिए व्यावहारिक उपयोगिता को ध्यान मे रखकर भाषा के क्षेत्र मे इन्होने यथामति प्रयोजन का प्रयोग किया है।[1]

यथामति प्रयोजन भक्तिकाव्य की परम्परा के अन्धानुकरण की भी अवहेलना करता है। वे नाना पुराण निगम आगम सम्मत क्वचित् अन्यत्र प्राप्त कथा को आधार बनाने की चर्चा करते है, किन्तु उनका स्वान्त सुख या यथामति एकमात्र उसी का समर्थन करता है। उसमे अन्धानुकरण की प्रवृत्ति नही है।

इस यथामति के साथ स्वान्त सुख की भावना निश्चित ही उनकी वैयक्तिक स्वतत्रता का परिचय देती है। वे किसी के आश्रय मे रह कर परत सुख के लिए अपने काव्य की रचना नही करते । उनके मूल मे मात्र स्वान्त सुख है। यह यथामति प्रयोजन सस्कृत के काव्यशास्त्रियो द्वारा अनिर्दिष्ट है। सस्कृत के काव्यशास्त्री अनेक बार काव्य की एक निश्चित परिपाटी पर चलने के लिए कवियो को बाध्य करते है। इसी बाध्यता को लेकर बाद मे एक पृथक् औचित्यवादी सम्प्रदाय की रचना कर ली गई, जो मात्र कवि परिपाटी मे बँधकर काव्यसृजन को मान्यता देता है। इस प्रकार सस्कृत और हिन्दी वैष्णव भक्त कवियो का यह आदर्श वस्तुत परम्परा से चले आते हुए काव्य की प्रतिक्रिया का फल ज्ञात होता है।

कलिमलशमन और लीलागान पूर्वकथित प्रयोजनो के पूरक है। लीलागान आनन्द का तथा कलिमलशमन लोकमगल का पूरक है। इन कवियो द्वारा यश का गान प्राय प्रच्छन्न प्रयोजनो मे है। ये कवि यश की लीला मे आए आराध्य के यश तक ही सम्बन्ध रखते हैं। यह यश सस्कृत के काव्यशास्त्रियो द्वारा निर्दिष्ट, नायक के उदात्त चरित्र के समानान्तर है। दूसरी ओर व्यक्तिगत यश की भावना इन कवियो मे प्रच्छन्नरूप मे मिलती है। सस्कृत के काव्य-शास्त्री पग-पग पर आत्मयश के लिए काव्य की अनिवार्यता सिद्ध करते चलते हैं। उनकी दृष्टि मे लोकविश्रुत कवि के लिए यश अपेक्षित है। वैष्णव कवि आत्मविसर्जन की भावना से प्रेरित होने के कारण अपने काव्य मे इसका स्पष्ट रूप से समर्थन नहीं कर सकते।

संस्कृत की काव्यशास्त्रीय परम्परा मे हिन्दी के वैष्णव भक्त कवियो के प्रयोजनो का अन्तर्भाव न्यूनाल्प ही हो पाता है । स्पष्ट है दोनो काव्यो

---

१ मानस. बालकाण्ड, दोहा स० ११

की परम्पराएँ अपने मूल मे ही भिन्न है। एक की शुद्ध काव्य की प्रेरणा है और दूसरे की भक्ति मिश्रित। काव्य के धरातल पर दोनो की थोडी बहुत सगति बैठ जाती है, किन्तु यह भक्ति का आधार इनके काव्य को उस परम्परा से पृथक् कर देता है। सस्कृत कवियो के महत्त्वपूर्ण प्रयोजनो का यहाँ कोई निर्देश ही नही मिलता। राजाओ की प्रशसा, उनकी चर्चा, विश्वासपात्र बने रहना, मनोकामना की पूर्ति, लोकव्यवहार का ज्ञान, राजकुमारो की शिक्षा ये सब काव्य के प्रयोजन वैष्णव भक्त कवियो मे नही प्राप्त होते। सस्कृत काव्य-शास्त्र मे लक्ष्य की उदारता का प्रबल समर्थन मिलता है। इसी उदारता के माध्यम से यदि कही उदात्तता आ जाती है तो वह दूसरी बात है किन्तु ये कला को प्राथमिकता ही देते है। किन्तु भक्त कवि की दृष्टि लोकहित, भक्ति-प्रचार एव लीलागान आदि विषयो की ओर सजग है, कलात्मक सजगता इसमे गौण है।

इस प्रकार निष्कर्ष रूप से कहा जा सकता है कि हिन्दी के वैष्णव भक्त कवियो के काव्य मूल्य अपनी मूलस्थिति मे सस्कृत काव्यशास्त्रियो द्वारा निर्दिष्ट काव्यादर्शो से पूर्णत पृथक् है—

१ **वैयक्तिक काव्यादर्श**

यश प्राप्ति

सत्सग-प्राप्ति

ज्ञान या भक्ति की प्राप्ति

भजन के लिए काव्य

२ **सामाजिक काव्यादर्श**

मानव मंगल

चतुर्थ पुरुषार्थों की प्राप्ति

कलिमलशमन

३. **कलात्मक काव्यादर्श**

कृष्णरस का गान

आनन्द का गान

लीलागान

इन आदर्शो का यदि विश्लेषण करें तो ज्ञात होता है कि उनका दृष्टिकोण उतना ही उपयोगितावादी है जितना कि कलात्मक। हम यहाँ

भक्ति के प्रयोजनो को किंचित् छोड दे तो ज्ञात होगा कि इनका कवि-व्यक्तित्व अपनी सम्पूर्णताओ से ही चालित है। उनके उपयोगितावाद मे वैयक्तिक आवश्यकताओ एव वैयक्तिक उपभोग की आकाक्षा का पूर्ण अभाव है। धर्म, काम, मोक्ष इसका मूलमत्र है। सस्कृत साहित्य के काव्यशास्त्रियो का उपयोगितावाद अर्थप्राप्ति प्रयोजन पर आश्रित था। एक आत्मसन्तोष एवं लोकव्यवस्था के लिए काव्यसृजन करता है, दूसरा आर्थिक सन्तुष्टि के लिए। सस्कृत कवियो मे सामाजिक सन्तोष एव सुख का प्रयोजन प्राय गौण पड गया है। सन्तो ने अपने लिए मात्र भक्ति की कामना की है और समाज के लिए भी, किन्तु इस भक्ति के द्वारा वे सामाजिक व्यवस्था का ही निर्देश करना चाहते थे। इसीलिए इसी सदर्भ मे उन्होने अनेक बार समाजमूलक उपयोगितावाद का पुनराख्यान किया है। उनके सामाजिकतामूलक आदर्श इसी के सूचक है। सन्तो का व्यावहारिक अनिवार्यताओ से सम्बन्ध न था। भौतिक आवश्यकताओ के निर्देश इसीलिए उनके काव्य मे अप्राप्य है।

कलात्मक अनिवार्यता का जहाँ तक प्रश्न है, ये कवि पूर्णत आनन्द-वादी ज्ञात होते है। इसका आधार आनन्द, कृष्णरस या रामसीता यशगान है। वे काव्यशास्त्रीय आनन्द या रस की भी चर्चा करते है, किन्तु यह भक्तिरस पर ही आधृत है। सस्कृत के काव्यशास्त्रियो ने जिस आनन्द की चर्चा की है, वह पूर्णत काव्यजनित आनन्द है, किन्तु इन कवियो का आनन्द भक्ति-जनित होने के कारण भक्ति का समर्थन अधिक करता है।

इन काव्यादर्शों के सदर्भ मे देखा जा सकता है कि काव्य सदैव दो मूल्यो से प्रभावित रहता है। प्रथम यह कि कवि मस्तिष्क भी मानव मस्तिष्क है और अन्य मस्तिष्को की भाँति ठीक उन्ही सामाजिक सघटनो, वैयक्तिक मान्यताओ एव शास्त्रीय विचारधाराओ से प्रभावित होता है, जिस प्रकार एक अन्य मस्तिष्क। इसलिए काव्य के बीच निश्चित रूप से सामाजिक मूल्यो की स्थापना अनिवार्य समझी जाती है। इसी सदर्भ मे इन कवियो द्वारा नैतिक मूल्यो का स्वीकरण हुआ है। इसके साथ ही काव्य अन्य सामाजिक मूल्यो की ही भाँति अपनी पृथक् सत्ता रखता है। दूसरा यह कि रचना एवं अभिव्यक्ति के क्षेत्र मे काव्य की एक विशिष्ट प्रवृत्ति होती है, यह प्रवृत्ति है, कलात्मक मूल्यो के सुरक्षा की। यह विशिष्ट प्रवृत्ति ही काव्य को उन काव्यमूल्यो, जिनका लगाव अन्य सामाजिक शास्त्रो से है, से अलग कर देती है।

इस प्रकार हिन्दी वैष्णव भक्तिकाव्य के दो मूल्य निश्चित होते है। प्रथम कला के मूल्य एव द्वितीय उपयोगिता के। इस प्रकार वैष्णव भक्त कवियो के सामाजिक एव वैयक्तिक मूल्यो की उपयोगिता तथा आनन्द एव लीला सम्बन्धी धारणाओ को कला विषयक मूल्यो के अन्तर्गत रखा जा सकता है।

पाश्चात्य काव्यशास्त्र : पाश्चात्य समीक्षाशास्त्र के क्षेत्र मे आज दो प्रवृत्तियाँ क्रियाशील है—उपयोगितावादी और कलावादी। आरम्भिक समालोचक दोनो मूल्यो को एक मे मिला कर रखने के पक्षपाती थे, किन्तु लगभग १८वी शती से दोनो मूल्यो मे पार्थक्य किया जाने लगा है। इसी सदर्भ मे अनेक साहित्यिक वैमत्य भी उठ खडे हुए और आज उनका समाधान भी असभव ज्ञात होता है। अत विवादो मे न जाकर मात्र दोनो मूल्यो के सदर्भ मे वैष्णव भक्त कवियो के काव्य प्रयोजनो का तुलनात्मक अध्ययन करना ही यहाँ अपेक्षित है।

वैष्णव भक्त कवियो के सामाजिक उपयोगितावादी मूल्यो मे लोकमगल, कलिमलशमन एव चतुर्थ पुरुषार्थो की प्राप्ति है। यदि सामाजिकता के सदर्भ मे इनकी व्याख्या की जाय तो इनका अन्तर्भाव लोकमगल मे ही हो जाता है। कलिमलशमन एक परम्परागत मूल्य है जो भक्ति के क्षेत्र मे एक विशिष्ट साम्प्रदायिक विश्वास के कारण स्वीकृत हुआ है। इस साम्प्रदायिक विश्वास से पृथक् यदि इसकी व्याख्या की जाय तो उसका अर्थ सामाजिक अनाचार से ही है क्योकि कलि की पुराण कथित भर्त्सनाएँ सामाजिक एव वैयक्तिक अनाचार की ही सूचक है। अत साम्प्रदायिक विचार से युक्त कलिमलशमन का अर्थ सामाजिक तथा वैयक्तिक अनाचार के उच्छेद से ही लिया जा सकता है। यह वस्तुत लोकमगल का निषेधात्मक मूल्य है। धर्मार्थकाममोक्ष जीवन के अन्तिम पुरुषार्थ हैं, जिनका सम्बन्ध मानव सुख एव परितोष से है। ये चतुर्थ पुरुषार्थ वैयक्तिक मूल्य होकर भी सामाजिक व्यवस्था की कडी है, क्योकि इनका लक्ष्य समाजनिष्ठा की ही ओर है। अत ये भी सामाजिक मूल्यो के पर्याय हैं। अत वैष्णव भक्ति काव्य मे प्राप्त मूल्यो को नैतिक उपयोगितावादी मूल्य कहा जा सकता है।

नैतिक उपयोगितावाद

पाश्चात्य दर्शन के अन्तर्गत सुखवाद के सदर्भ मे नैतिक उपयोगितावाद का जन्म हुआ था। इसका प्रवर्तक जान स्टुअर्ट मिल था। ऐपिक्यूरस

के भौतिक सुखवाद तथा हाब्स, स्पेसर के प्राकृतिक सुखवाद का प्रभाव पाश्चात्य साहित्य पर पड चुका था। उपयोगितावादी मिल के सिद्धान्त का भी प्रभाव साहित्य पर पडा होगा, किन्तु इसका स्पष्ट सकेत नही मिलता।

हम काव्यशास्त्र के सदर्भ मे इसका सूत्र खोजना चाहे तो इसकी कडी निश्चित ही प्राचीन ज्ञात होती है। इसका आरम्भिक स्वरूप यूनानी काव्यशास्त्र के आदि प्रवर्तको विशेषकर अरस्तू, प्लेटो, प्लाटीनस्, लोजाइनस् के काव्य सिद्धान्तो मे अच्छी तरह देखा जा सकता है। अरस्तू काव्य का अन्तिम मूल्य आनन्द स्वीकार करता है।[1] किन्तु बाद मे ड्राइडन १६३१ ई० से १७००) ने इस आनन्द को रूपान्तरित करके काव्य का प्रयोजन प्रीतिपूर्वक शिक्षा देना स्वीकार किया है। उसका प्रसिद्ध वाक्य 'काव्य प्रयोजन मूलत प्रीतिपूर्वक शिक्षा देना है'[2] बहुत ही प्रसिद्ध रहा है। यह उपयोगितावादी सिद्धान्त अवश्य है, किन्तु लोकमगल या सार्वभौतिक उपयोगिता सिद्धान्त का इसमे सकेत नही मिलता। सत्य तो यह है कि ड्राइडन ने गभीरतापूर्वक इस प्रयोजन पर विचार नही किया था। इस शिक्षा देने के प्रयोजन का सर्वप्रथम रोमी काव्यशास्त्री होरेस (६५ ई० पू०–८ ई० पू०) था।[3] उसका विचार है कि काव्य का मूल उद्देश्य शिक्षा देना तथा मनोरजन है। यह शिक्षा सामाजिक सस्कारो की है। अत वह सामाजिकता के मूल उद्देश्य का पूर्णत समर्थन करता है। बाद मे चलकर इस उपयोगितावादी मूल्य का प्रबल समर्थन सर फिलिप सिडनी (१६वी शती) के द्वारा हुआ। उनका सिद्धान्त पूर्णतः नैतिक उपयोगितावाद पर आधारित है। इनकी प्रसिद्ध पद्यात्मक आलोचनाकृति "द डिफेन्स आव पोएसी' (कविता की वकालत) इसी विचारधारा का प्रतिनिधित्व करती है। सिडनी काव्य के मूल्यो मे सर्वाधिक महत्ता नैतिक मूल्यो को देता है। सिडनी के पूर्व पाश्चात्य काव्य शास्त्र के अन्धकार युग मे कैथोलिक धर्म प्रचारको के कारण कवियो, अभिनेताओ, विदूषको आदि को शैतान का प्रतिनिधि समझा जाने लगा था।[4] दूसरी ओर अरस्तू के कानप्दवादी सिद्धान्त ने परवर्ती काव्य परम्परा को

---

१ आरस्तू का काव्यशास्त्र, भूमिका, पृष्ठ ८

२ आलोचना के सिद्धान्त, शिवदान सिंह, पृष्ठ १०७

३. काव्यकला: होरेस, अनु० चतुर्वेदी

४. Critical approches to literature, David Daiches, पृष्ठ ६३

अच्छी तरह प्रभावित कर लिया था। ठीक इन्ही दो सदर्भो मे सिडनी ने अपने नैतिक काव्यमूल्य की स्थापना की। उसके अनुसार काव्यमूल्य कैथोलिक धर्म प्रचार के विरोधी तत्त्व न होकर सहायक तथा दूसरी ओर आनन्दवादी मूल्य काव्य के लिए एक मात्र आवश्यक नही है। इस सदर्भ मे सिडनी ने प्लेटो के उस कथन का खडन किया जिसमे उसने काव्य को झूठी अनाचार-वर्धन क्रिया माना था। सिडनी का विचार है कि कविता नैतिक उपदेष्टा के सदृश ही इतिहास और दर्शन से पवित्र वस्तु है क्योकि वह मात्र दर्शन की भाँति कोरे तात्विक प्रश्नो के समाधान का प्रयत्न नही करती और न इतिहास की भाँति किसी तथ्य के सत्यासत्य निरूपण का लेखाजोखा ही तैयार करती है।[1]

इस प्रकार काव्य नैतिकता की शिक्षा देने मे साधारण वक्तव्यो से अधिक प्रभावशाली होता है। सिडनी निश्चित करता है कि काव्य नैतिक स्थापनाओ की ओर अधिक सजग रहकर सामान्यजन को सामाजिक उपयोगिताओ की ओर अग्रसरित करता है। इसका मूल उद्देश्य मानव कल्याण है। पाश्चात्य समालोचना के पुनर्जागरण युग के बाद नवशास्त्रीय युग आता है जिसमे मलार्व, बुअलो, रापे आदि इटली के कलावादी शास्त्रीय आलोचक, इगलैण्ड के ड्राइडन, एडिसन, जानसन, पोप आदि को प्रभावित करते है। ये समालोचक कला की ओर अधिक सजग रहे है। सार्वभौमिक उपयोगितावादी मूल्य स्वच्छन्दतावादी युग मे परस्पर वैयक्तिक मूल्यो से प्रभावित होकर एकागी हो गया। इस शास्त्रीय सक्रान्ति युग मे गेटे का व्यक्तित्व अधिक महत्त्वपूर्ण है। गेटे के साहित्यिक निबन्धो का सकलन ई० जे० स्पिगाने ने किया है। गेटे वस्तुत विश्व साहित्य सिद्धान्त नियम के अन्तर्गत भावो और विचारो की नैतिक एकता की ओर बल देता है।[2] किन्तु वह काव्य को एक मात्र सौन्दर्यबोध का साधन बताता है। अतः इन्हे पूर्णरूपेण उपयोगितावादी आलोचक नही कहा जा सकता। रोमाटिक कवियो कीट्स, शेली, कोलरिज आदि मानव नैतिकवाद का सकेत मात्र करके शान्त रह जाते है। उनकी वैयक्तिक पीडा उन्हे विस्तार मे जाने से रोक देती है। रोमाटिक कवियो के ठीक बाद ही पाश्चात्य दर्शन मे मार्क्स का स्थान आता है जो पूर्णत सामाजिक यथार्थ की पृष्ठभूमि पर मानव कल्याण

---

१ Critical approches to literature, David Daiches, पृष्ठ ६४

२ पाश्चात्य काव्य शास्त्र की परम्परा, पृष्ठ १३२

की चर्चा करता है। वह प्रत्येक कलाओ को आर्थिक प्रक्रिया से चालित मानव कल्याण के लिए प्रयुक्त साधन के रूप मे स्वीकार करता है। उसकी इस विचारधारा के समर्थक आलोचको मे बेलेस्की, हर्जन, चर्नीशेवस्की, दोब्रोत्युबोव आदि है। यह सामाजिक यथार्थमूलक उपयोगितावाद है किन्तु नैतिक उपयोगितावाद की प्राण प्रतिष्ठा पुन ईसाइयत के प्रभाव से टालस्टाय के द्वारा हुई। टालस्टाय के इस नैतिक उपयोगितावाद का खडन करके बाद मे आई० ए० रिचर्ड्स ने कला के क्षेत्र मे सार्वभौमिक या मनोवैज्ञानिक उपयोगिता का समर्थन किया।

बेलेस्की, सामाजिक यथार्थवाद का समर्थक था। एक ओर वह कला की प्रकृति को सुरक्षित रखने के लिए इसका तात्पर्य चित्रित करने, शब्दो, ध्वनियो, रेखाओ और रगो मे प्रकृति के सार्वभौम जीवन को मूर्त करने[1], किन्तु दूसरी ओर ठीक इसके प्रतिकूल कला का दूसरा अर्थ मानव जीवन की अभिव्यक्ति से लगता है। कला का उद्देश्य उसके अनुसार ऐसी सवेदनशीलता प्रदान करना है जिससे वह उस विश्वास का अनुभव कर सके जो विश्व मे व्याप्त है। इस प्रकार बेलेस्की नैतिकताविहीन मानव कल्याण की बात साहित्य के माध्यम से सोचता है। इसके अनुयायियो मे चर्नीशेवस्की अधिक ख्यात रहा है। उसने कला का लक्षण जीवन मे मानव की दिलचस्पी की हर एक चीज को पुनर्मूर्त करना बताया है। उसके अनुसार यह इसलिए है कि कला को सदैव मानव जीवन के साथ रहना है। इसी प्रकार हर्जन और दोब्रोल्युबोव ने भी कला को मानव जीवन के सदर्भ मे देखा है।

मार्क्स ने काव्य के ऊपर स्वतत्र रूप से कोई ग्रन्थ नही लिखा था, किन्तु उसकी यत्र-तत्र की प्राप्त टिप्पणियाँ कला के सदर्भ मे काव्य के उपयोगितावादी सिद्धान्त का प्रबल समर्थन करती हैं। इसके अनुयायियो मे सौन्दर्यवादी आलोचक काडवेल ने मध्यवर्गीय कला सिद्धान्तो का उपयोगिता के सदर्भ मे अनेक बार खडन किया है। मार्क्स कला को जीवन का एक प्रबुद्ध लक्षण स्वीकार करता है। इस सदर्भ मे वह विश्व साहित्य की भूमिका पारित करता है। उसके अनुसार मानव की अर्थमूलक आवश्यकताएँ तथा उनसे निर्मित सवेदनाएँ विश्वजनीन है। इसलिए इन्ही आवश्यकताओ पर निर्मित साहित्य विश्वव्यापी बन सकता है। उसका विचार है कि काव्य के माध्यम

१. पाश्चात्य काव्य शास्त्र की परम्परा, पृष्ठ ३१०

से अभिव्यक्त बौद्धिक सृष्टि राष्ट्र की सामान्य सम्पत्ति है। इसी के क्रमश विकास से साहित्य की सृष्टि होती है। क्योकि विकास के इस स्तर पर राष्ट्रीय एकागिता और सकीर्णता उत्तरोत्तर सकीर्ण होती जाती है और अगणित स्थानीय एव राष्ट्रीय साहित्यो मे से एक विशिष्ट विश्व साहित्य का अभ्युदय होता है। यही विश्वसाहित्य की पृष्ठभूमि है। वह साहित्य के माध्यम से प्राकृतिक रूप से मानव यथार्थ की ओर अग्रसरित होता है।[1]

इस सदर्भ मे वैष्णव भक्त कवियो का सिद्धान्त इनसे पृथक् हो जाता है। इनमे यथार्थ के प्रति मोह न होकर नैतिक विवेको की प्रतिष्ठा की ओर सजगता है। उनके अनुसार समाजनीति अर्थ व्यवस्था से न चालित होकर धर्म व्यवस्था से, जिसका तात्पर्य वे भक्ति से लेने है, चालित है।

इस नैतिकता का पूर्ण अभ्युदय टालस्टाय के निबन्धो मे मिलता है। उसके कला विषयक निबन्धो के सकलन मे जिस नैतिक विवेक की चर्चा मिलती है वह वैष्णव भक्त कवियो के सिद्धान्तो से प्राय मेल खा जाती है। टालस्टाय कला को चार सूत्रो मे परिभाषित करता है —

१ **कलाकार किसी अनुभूति को स्वय प्राप्त कर फिर उसी को दूसरे की अनुभूति बनाने के लिए उसे प्रेषणीय बनाता है।**

२ **कला का बाह्यरूप, विषयवस्तु भाव के पूर्ण अनुकूल होना चाहिए।**

३ **यह आवश्यक है कि कला के द्वारा ऐसे भावो का सचार किया जाय जो सात्विक हो, और जिससे ससार का कल्याण हो सके। कला का जीवन से गहरा सम्बन्ध है तथा जीवन पर उसका अधिकाधिक प्रभाव पडता है।**

४ **चूकि कला का जीवन से सम्बन्ध है अत स्वतत्र रूप से उसका मूल्य नहीं है। विज्ञान के समान और उसके साथ कला भी मानव जीवन के विकास का अभिन्न अग है।[2]**

पुनश्च टालस्टाय मानव जीवन की उपयोगिताओ की तीन प्रेरणा बताता है —

---

१ पाश्चात्य काव्य शास्त्र की परम्परा, पृ० ३१०

२ समालोचक पत्रिका ' सौन्दर्यशास्त्र विशेषाक, निबन्ध अग्रेजी आलोचना में सौन्दर्य चिन्तन

क मानव जीवन की उपयोगितामूलक भावना अधविश्वास धार्मिक रूढि या धार्मिक प्रवृत्तियो से प्रभावित होती है।

ख या सामाजिक उपयोगितावादी विचारो से चालित होती है।

ग या ईसाइयत के प्रचार से इस भावना का विकास होता है।

रूढिगत विचारधारा मात्र एक मम्प्रदाय को सन्तुष्ट कर सकती है। सामाजिक उपयोगितावाद परिवार, कुटुम्ब, जाति तथा राष्ट्र को सन्तुष्ट कर सकता है। किन्तु जहाँ तक ईसाइयत का प्रश्न है वह ईश्वर एव जीव-प्रेम पर आधारित है। अत वह समस्त मानवता का प्रतिनिधित्व करता है।[1] इस प्रकार के साहित्य का मूल उद्देश्य ईसाइयत के प्रेम का प्रचार करना है। इसीलिए वह कला को न मात्र आनन्द मानता है, न सन्तोष और न मात्र मनोरजन ही, अपितु इन सबसे ऊपर एक उदात्त प्रक्रिया स्वीकार करता है, इस प्रकार टालस्टाय कला के द्वारा मंगलवाद की पुष्टि तो चाहता है[2] और उसके अनेक तत्त्व हिन्दी वैष्णव भक्त कवियो के समानान्तर ही है। किन्तु टालस्टाय और हिन्दी वैष्णव भक्त कवियो मे अन्तर मूल प्रेरणाओ एव प्रयोजनो का है। ये वैष्णव कवि अपने मगलवाद के अतिरिक्त अन्य साहित्यिक एव भक्ति सम्बन्धी मान्यताओ का समर्थन करते है, किन्तु टालस्टाय के काव्य सिद्धान्तो मे इतना विस्तार नही है। उसका नैतिकवाद ईसाइयत का प्रचार मात्र करता है, जिसकी प्रेरणाएँ अहिसा, भलाई तथा उदारता पर टिकी है, किन्तु वैष्णव भक्त कवि इसके ऊपर जाकर मानव मगल के उस तत्त्व का समर्थन करने है, जिसकी प्रेरणाये समस्त उपयोगितावादी सिद्धान्तो मे निहित है। आई० ए० रिचर्ड्स[3] का सिद्धान्त यद्यपि उपयोगितावाद का है, किन्तु उससे हिन्दी के वैष्णव भक्त कवियो की कोई तुलना नही की जा सकती। वह उपयोगिता को कला का मनोवैज्ञानिक गुण मानता है तथा स्वीकार करता है कि इसके पृथक् उसका कोई अस्तित्व नही है। यह कला का तात्त्विक सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त को वैष्णव कवियो ने अपनी आत्मा मे बैठा लिया था। उनके काव्य मात्र उनके वैयक्तिक आनन्द के उपयोग एव विश्व मगल के लिए थे। ये कवि कोई शास्त्रीय आलोचक नही थे। इनके सिद्धान्त रचना प्रक्रिया काल मे स्वत इनकी मनस् चेतना

१ टालस्टाय, फिश्हेलर, पृ० १७ पादटिप्पणी

२ वही पृ० ३६

३ Principles of literary criticism, I. A Richards, पृ० ५८

के अग थे । अत हम इन्हे सैद्धान्तिक शास्त्रकार न स्वीकार कर उपयोगितावादी कवियो की ही भाँति व्यावहारिक शास्त्रकार कह सकते हे ।

आनन्दवादी दृष्टिकोण

ठीक इसी उपयोगितावाद के विरोध मे पाश्चात्य देशो मे आनन्दवाद का सिद्धान्त स्वीकृत हुआ था और आज भी कलावादी तथा सौन्दर्यवादियो द्वारा इसका प्रवल समर्थन हो रहा है। सौन्दर्यवादी सिद्धान्त की तुलनात्मक पृष्ठभूमि मे वैष्णव भक्त कवियो के आनन्दवाद की मौलिकता का परीक्षण हम कर सकते है। पाश्चात्य आनन्दवाद को तीन भागो मे विभक्त किया जा सकता है

१ कला के क्षेत्र मे स्वीकृत आरम्भिक आनन्दवाद जो एक ओर विनोदशीलता पर बल देता है, दूसरी ओर उदात्तता पर।

२ स्वच्छन्दतावादी आनन्दवाद जो रोमाटिक कवियो द्वारा स्वीकृत हुआ है, मासल प्रेम के उदात्तीकरण पर बल देता है।

३ शुद्ध कलावादी आनन्द।

क कला के क्षेत्र मे स्वीकृत आरम्भिक आनन्दवाद का सर्वप्रथम समर्थन अरस्तू करते है। उनके अनुसार यह अनुकरणजन्य प्रत्यभिज्ञान का आनन्द है।[1] यहाँ अनुकरण का तात्पर्य भावकल्पनात्मक पुनर्निर्मित से है। उसके द्वारा प्रत्यभिज्ञान की अपेक्षा उसमे प्रत्यक्ष अनुभव कम, भावना और कल्पना का योग अधिक रहता हे । यह पुन स्मरण किसी वस्तु या घटना का होता है जो वस्तुत भौतिक स्तर पर है। अत यह आनन्द भौतिक पर प्रत्यक्षो का आनन्द है। ठीक अरस्तू की भाँति प्लेटो ने इस काव्यानन्द को अधिक उत्कृष्ट नही बताया है। वह 'सार्क्रतस' तथा 'कल्लिक्लेस' के कथोपकथनो से काव्यानन्द की ओर प्रकाश डालता है। त्रासदी के परिणाम की ओर सकेत करके वह कल्लिक्लेस से पूछता है—इसमे कोई सन्देह नही हो सकता कि त्रासदी सामाजिक को आनन्द और परितोष की ओर उन्मुख करती है किन्तु उस आनन्द का स्वरूप क्या है।

सा०—और कल्लिक्लेस क्या यह ऐसी वस्तु नही है जिसे हमने अभी-अभी चाटुक्रिया (मिथ्या परितोष) शब्द से अभिहित किया ?

---

१ अरस्तू का काव्यशास्त्र, भूमिका, पृ० ३६

क —सत्य है ।[1]

निश्चित ही, प्लेटो के आनन्द को मिथ्या परितोषण की सज्ञा देता है । वह काव्य के खोखलेपन की ओर सकेत करता हुआ कहता है कि यदि उसे गीत, लय और छन्द आदि से वियुक्त कर दे तो वह मात्र भाषा ही रह जायगी । अत इस काव्यानन्द को वह मात्र मिथ्या आनन्द स्वीकार करता हे । आरम्भिक कलावादियो मे मात्र लोजाइनस् ही ऐसा है जो कला के आनन्द को उत्कृष्ट तत्त्व के रूप मे स्वीकार करता है । उसके अनुसार काव्य अपनी उदात्तता के ही कारण मान्य होता है । यह उदात्तता शैली के आवेश का गुण है, जो आनन्ददायक है । यह आनन्द उसका भावोद्रेक है ।[2] अत यह अरस्तू और प्लेटो के आनन्द से भिन्न है । काव्य के इसी आनन्द का समर्थक ड्राइडन है । वह कला का सबसे महत्त्वपूर्ण गुण आनन्द ही बताता है । किन्तु वह कोरा कलावादी मात्र नही है ।

इन आरम्भिक आनन्दवादियो की विचारधाराओ से स्पष्ट है कि वैष्णव भक्त कवियो के काव्यानन्द से इसकी कोई तुलना नही है । अरस्तू आनन्द को क्रीडाजन्य आनन्द मानते है और प्लेटो उसे शाब्दिक आनन्द मात्र । किन्तु वैष्णव भक्त कवि अपने आराध्य का स्वरूप ही आनन्दमय स्वीकार करते है । उनके काव्य का मात्र लक्ष्य इसी स्वरूप की अभिव्यक्ति तथा उससे सम्बद्ध तन्मयता है । उनके अनुसार काव्य की सर्वोच्चात्मा आनन्द है । लोजाइनस् यद्यपि आनन्द को उत्कृष्ट मानता है किन्तु उसे शैली का गुण स्वीकार करता है । ये वैष्णव कवि आनन्द को शैली का गुण न मानकर अपने काव्य और भक्ति का एक मात्र प्रयोजन स्वीकार करते है । उनके अनुसार काव्य कला की कोई सार्थकता नही है, यदि वह भक्ति से मडित न हो । उस भक्ति का कोई अस्तित्व नही, जो चित्त को विह्वल न बना दे, और यही विह्वलता काव्य का अनिवार्य अग है, जिसे रसवाद का अनिवार्य तत्त्व बताया गया है । अत इनका आनन्दवाद द्विमुखी होने के कारण शुद्ध काव्यानन्द से भी उच्चकोटि का ठहरता है ।

ख १८वी, १९वी शती के पाश्चात्य रोमाटिक काव्यानन्द के सस्थापको मे शैली, वायरन, कीट्स, कोलरिज का नाम विशेष उल्लेखनीय है । फ्रास की

---

१ पाश्चात्य काव्य शास्त्र की परम्परा, पृ० ४

२ काव्य मे उदात्ततत्त्व, भूमिका, पृ० १४

राज्यक्रान्ति ने सामूहिक सत्ता के प्रति तीव्र ठोकर दी । उसी समय औद्योगिक क्रान्तियो ने सामूहिक चेतना को खडित कर दिया था । दो विश्वव्यापी युद्धो से मानव-प्रेम, स्वार्थ, सत्ता आदि टूक-टूक हो चुकी थी । इसके फलस्वरूप वैयक्तिक चेतना, प्रकृति के प्रति मोह, वैज्ञानिक चेतना के प्रति द्रोह आदि प्रवृत्तियाँ पाश्चात्य काव्य एव दर्शन के क्षेत्र मे मध्यवर्ग के द्वारा उठाई जाने लगी थी । रूसो ने एमिली ग्रन्थ मे अपने युटोपिया के आदशवाद के माध्यम से एक काल्पनिक रामराज्य की स्थापना की । 'प्रकृति की ओर लौटो' का नारा सर्वप्रथम वर्ड्सवर्थ को प्रभावित करता है जो काव्य को मात्र प्रकृति के सहचार से उत्पन्न मानते है । बाद मे, वैयक्तिक प्रेम और कुठा से पीडित शेली और कीट्स प्रेमालाप के गीत गाने लगे । देखादेखी, रोमाटिक आनन्दवाद का प्रभाव पाश्चात्य काव्यशास्त्र के ऊपर पूर्णत छा गया । शेली ने अपना प्रसिद्ध निबन्ध (The Defence of poetry) लिख कर उसने काव्य के आनन्द के गुण के स्थायित्व की माँग की । उसका विचार है कि वैज्ञानिक प्रवृत्तियो से मानव-चेतना विचारोन्मुखता की ओर बढने लगेगी । फलत यह वैचारिक जगत काव्य की भावनामूलक प्रक्रिया को विध्वस कर सकने मे समर्थ है । अत व्यक्ति को वैचारिक दुनियाँ से पृथक् कल्पना और प्रकृति के क्षेत्र मे रमना है । इस प्रकार काव्य की सुरक्षा हो सकेगी अन्यथा काव्य के ह्रास का युग उत्पन्न होगा । ठीक इसी का समर्थन वायरन, कीट्स एव कोलरिज भी करते दीख पडते हैं ।

यद्यपि यह सत्य है कि हिन्दी के वैष्णव भक्त कवियो का आनन्द भी प्रेममूलक है जेसा कि इन कवियो का है, किन्तु उनका आनन्द अपनी प्रकृति मे इनसे भिन्न है । वह भौतिक मासल प्रेम का पक्षपाती नही है । वह भौतिक प्रेम मे डूबना नही चाहता जेसा कि रोमाटिक कवि चाहते है । वह अपने इस प्रेमानन्द के द्वारा भौतिक लिप्साओ एव वासनाओ से मुक्ति चाहता है । वह अपने आराध्य के प्रेम क्रीडा का आनन्द चाहता है जब कि ये कवि अपनी वैयक्तिक भौतिक प्रेमलीला का स्वाद लेना चाहते हैं । इस प्रकार दोनो की प्रेमपरक प्रवृत्तियाँ विपयगा दृष्टिगत होती है ।

ग कला के क्षेत्र मे तीसरा आनन्दवाद सौन्दर्यशास्त्रियो द्वारा उठाया गया है । सौन्दर्यशास्त्र के इतिहास लेखक अरस्तू के पूर्व से ही इसका सूत्रपात मानते है, किन्तु इसका प्रबल समर्थन शास्त्रीयकाल (Classical age) मे हुआ । सौन्दर्यशास्त्र आरम्भ से ही दर्शन का विषय माना जाने लगा

था। रोमाटिक कवियो के साथ ही साथ हीगेल ने सर्वप्रथम कला काव्य और दर्शन की एकान्विति की ओर जोर दिया था। आरम्भ मे फिश्टे आदि दार्शनिक दर्शन को मात्र विचारजगत की तथा काव्यकला को मात्र काव्यकला के जगत् की वस्तु स्वीकार करते है। अपने क्षेत्र के पृथक् वे अपना प्रसार नही कर सकते थे, किन्तु हीगेल की मान्यताओ ने इस दार्शनिक रुख ही बदल दिया। इसका परिणाम यह हुआ कि दार्शनिको मे काट, क्रोचे, साट्यना, बोमाके आदि ने काव्यकला के सौन्दर्यवादी सिद्धान्त की समीक्षा की। कलासिद्धान्त के इस आनन्दवाद का पूर्ण विकास वाल्टरपेटर (सन् १८३९-१८३४) के द्वारा किया गया तथा इस आनन्दवाद की पूर्ण परिणति डॉ० ब्रेडले[1] द्वारा मिली। डॉ० ब्रेडले आनन्द को काव्य का एक मात्र मूल्य स्वीकार करते है। इस सदर्भ मे उनकी दृष्टि विशिष्ट रूप से उपयोगितावादियो पर गई हे। उनकी आलोचना के साथ-साथ उन्होने वर्ण्यविषय, नैतिकता, धार्मिकता, शैली आदि को काव्य का गौण विषय मानकर मात्र आनन्द को उसका अन्तिम मूल्य निर्धारित किया।

हिन्दी के वैष्णव कवियो के आनन्दवाद से इस आनन्दवाद की भी तुलना नही की जा सकती। यह आनन्दवाद काव्य के अन्य उद्देश्यो को स्वीकार नही करता किन्तु, वैष्णव कवि व्यावहारिक रूप से इसका समर्थन करते है। पुनश्च इनके द्वारा प्रतिपादित आनन्द मात्र काव्य का आनन्द है जो उसका अन्तिम लक्ष्य है। वैष्णव कवियो का लक्ष्य एव साधन दोनो आनन्दवादी है। यह एक मात्र कला का ही गुण न होकर कला और भक्ति दोनो का गुण सिद्ध होता है।

इस प्रकार वैष्णवभक्त कवियो का आनन्द अपनी दृष्टि मे पूर्णत पाश्चात्य काव्य के आनन्दवादी सिद्धान्तो से भिन्न एव मौलिक है। इस दृष्टि से हिन्दी के वैष्णव भक्त कवियो के काव्य प्रयोजनो का वर्गीकरण इस प्रकार है।

१ उपयोगितावादी प्रयोजन

क चतुर्थ पुरुषार्थों की प्राप्ति

ख यथामतिगान

ग. यश की प्राप्ति

---

१. आक्सफोर्ड लेक्चर्स आन पोएट्री, डॉ० ब्रेडले,

घ कलिमलशमन
ङ. सत्सग, मनोकामना की पूर्ति, हरिदासो का भजन
च भक्ति प्रचार
छ मानव मगल

२ आनन्दवादी प्रयोजन
क कृष्ण रस का गान
ख आनन्द का गान
ग लीला का गान

इस प्रकार हिन्दी के वैष्णव भक्त कवि काव्यादर्श की दृष्टि से अत्यधिक मौलिक ज्ञात होते है। उनका काव्य मानव की उच्चतम नैतिक आख्याओ एव धार्मिक विश्वासो पर आधृत है। किन्तु वह मात्र हितवादी ही नही है, भारतीय अध्यात्म दर्शन का उच्चतम मूल्य आनन्द उनका अन्तिम मल्य है। इस दृष्टि से उनके काव्य सिद्धान्तो को दो भागो मे विभक्त किया जा सकता है—आनन्दवादी काव्य सिद्धान्त तथा हितवादी। प्रथम का सम्बन्ध रसवाद एव सौन्दर्य शास्त्र से है तथा दूसरे का नैतिक उपयोगितावाद से। अगले अध्यायो की शास्त्रीय मान्यताएँ इन्ही सदर्भ-सूत्रो पर आधारित है।

———

अध्याय ३

हिन्दी वैष्णव भक्तिकाव्य तथा रस सिद्धान्त

वैष्णव काव्य की रस विषयक पृष्ठभूमि

वैष्णव भक्तिकाव्य के शास्त्रीय सदर्भ मे रस सम्बन्धी मान्यता का आगमन कैसे हुआ, यह एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। शान्तरस की चर्चा वैष्णव भक्तिकाव्य के पूर्व काव्यशास्त्र मे बहुत पहले से मिलती है। इसी सदर्भ मे या इससे पृथक् परवर्ती काव्यशास्त्रीय वातावरण मे भक्ति को भी रस स्वीकार किया जाने लगा था। मध्यकाल मे आकर भक्ति का काव्यशास्त्रीय परिवेश अत्यधिक विस्तृत हो गया। इस सदर्भ मे देखना है कि भक्तिरस के विकास की कौन-कौन सी परिस्थितियाँ है, जो मध्यकाल मे आकर एक विशाल काव्य-शास्त्रीय पृष्ठभूमि के सयोजन मे सहायक सिद्ध हुई।

भक्तिरस का सूत्रपात काव्यशास्त्रीय परम्परा मे सम्भवत शान्तरस के ही रूप मे हुआ था। शान्तरस का मूलस्रोत आचार्य भरत के नाट्यशास्त्र का प्रक्षिप्त अंश ही समझा जाता है, किन्तु इस प्रक्षिप्त अश से पृथक् आनन्द-वर्धन के द्वारा शान्तरस का सर्वाधिक प्रबल समर्थन मिलता है। आनन्दवर्धन के पूर्व तथा शान्तरस सम्बन्धी प्रक्षिप्त अश से पृथक् आचार्य भरत काव्य की धार्मिक पृष्ठभूमि सम्बन्धी धारणा का सकेत करते है। उन्होने रसदेव निरूपण के सदर्भ मे वैष्णव भक्ति काव्य मे स्वीकृत विष्णु, महेन्द्र, प्रमथ, यम, ब्रह्मा आदि को विभिन्न रसो का देव स्वीकार किया है। तत्कालीन परम्परा मे उदात्त रूप मे स्वीकृत विष्णु की महत्ता की सूचना वे रसराज शृगार का अधिदेव स्वीकार करके देते है। नाट्य प्रयोजन का उल्लेख करते हुए उन्होने इस प्रकार का श्लोक कहा है—

क्वचिद्धर्म· क्वचित्क्रीडा क्वचिदर्थ· क्वचित्शम ।
दु खार्ताना, श्रमार्ताना, शोकार्ताना तपस्विनाम् ॥[1]

---

१ नाट्यशास्त्र, अध्याय ६, श्लोक स० १०६

इस श्लोक मे निर्दिष्ट शम को नाटक का एक निश्चित प्रयोजन स्वीकार किया गया है और यह शम शान्तिरस का स्थायीभाव भी है। इसी भाव के नाट्यशास्त्र मे लगभग ५ श्लोक मिलते है। आचार्य भरत ने सचारी भाव निरूपण के सदर्भ मे 'धृति' एव 'मति' नामक भावो की चर्चा करते हुए इनका स्वरूप इस प्रकार बताया है—

मति यह मति नामक सचारी भाव नाना शास्त्रो के चिन्तनादि विभावो तथा विकल्प बुद्धि से उत्पन्न भ्रम सशयमूलक भावो को नष्ट करने वाले अनुभावो से उत्पन्न होता है।[1]

धृति यह विज्ञान श्रुति, विभव, शौच, आचार, गुरुभक्ति आदि विभावो से उत्पन्न होता है—उन्होने दो श्लोको मे इसके स्वरूप को और अधिक स्पष्ट करते हुए कहा है।

भय, शोक, विषाद आदि विभावो से रहित विज्ञान, शौच, विभव, श्रुति आदि विभावो से उत्पन्न होने वाला भाव धृति सचारी है।[2]

आचार्य भरत द्वारा दिए गए इन विवरणो से स्पष्ट है कि उनके मस्तिष्क मे धममूलक काव्यो एव नाटको की रस विषयक सम्भावनाएँ निहित थी। आचार्य भरत के पश्चात् दन्डी ने प्रेयस् और रसवत् अलकारो के द्वारा प्रीतिनिष्ठा एव भक्ति की चर्चा की हे। इन्होने कृष्ण के प्रति विदुर के प्रेम, शकर एव वैदिक देवताओ के स्तुतिमूलक काव्यो को इसके अन्तर्गत रखा है।[3] किन्तु दन्डी की इस धारणा का विकास भामह, रुद्रट आदि आलकारिक आचार्यो तक ही सीमित रहा। अत भक्तिरस के विकास का श्रेय इन्हे नही दिया जा सकता, किन्तु इन धारणाओ से इतना स्पष्ट अवश्य है कि धार्मिक वातावरण का प्रभाव, काव्यशास्त्र पर पूर्णरूपेण पड चुका था। रस एक मानसिक मूलप्रवृत्ति है। वैराग्य की एक विशिष्ट अवस्था मे मानसिक वृत्ति का स्वरूप क्या होगा, यही शान्तरस का प्रतिपाद्य विषय है। तत्कालीन सामाजिक वैराग्यमूलक भावना का आरोप काव्य मे करके या उस अनुभूति को काव्यानुभूति की सज्ञा देकर काव्य मे स्वीकृत शृगार, हास्य आदि मानसिक वृत्तियो के समकक्ष शान्त रस को भी रखा गया। अभिनवगुप्त के पूर्व

---

१ नाट्यशास्त्र, अध्याय ७, श्लोक स० ७४

२ नाट्यशास्त्र, अध्याय ७ श्लोक स० ७५

३ दन्डी, काव्यदर्श, परिच्छेद २, २७५

शान्तरस के सकेत विरल है। कालिदास आठ रस का ही सकेत करते है और इनमे शान्तरस नही है। डॉ० वी० राघवन् ने सकेत किया है कि वररुचि के उभयाभिसारिका मे भी आठ रस की चर्चा मिलती है। दन्डी, काव्यशास्त्र[1] मे मात्र अष्टरसो को काव्य रस की मान्यता देते है। इस प्रकार रस सम्बन्धी आरम्भिक सकेत मात्र अष्टरस के लिए ही है और उनमे शान्तरस नही है। शातरस का सर्व प्रथम समर्थन आनन्दवर्धन,[2] ध्वन्यालोक मे करते है। रस प्रबन्धध्वनि की चर्चा करते हुए आनन्दवर्धन ने बताया है कि काव्य मे निश्चित ही एक अगीरस होता है और शेष उसके समर्थक। इसी प्रसग मे उन्होने महाभारत एवं रामायण का उल्लेख किया है। उनके अनुसार महाभारत मे शान्तरस एव रामायण मे करुणरस है। शान्तरस के सदर्भ मे कहा है कि यह पुरुषार्थ के अन्तिम लक्ष्य मोक्ष का सूचक है। इन्होने मोक्ष को शान्ति का अन्तिम लक्ष्य मानकर इसे भक्ति के प्रयोजन के समीप स्थित किया है।[3] शान्तरस की निष्पत्ति को उन्होने भगवान वासुदेव के संकीर्तन का फल बताया है—

"भगवान् वासुदेवश्च कीर्त्यतेऽत्रसनात।"

अर्थात् इसी शान्तरस के लिए भक्त सनातन से भगवान् वासुदेव का कीर्तन करते चले आए है। आनन्दवर्धन ने महाभारत के निष्पन्न शान्तरस को अत्यन्त गूढ एव रमणीक अर्थ का प्रतिपादक बताया है। उनके अनुसार इसकी समाप्ति हरिवश मे होती है। उनका स्पष्ट कथन है कि हरिवंश मे कृष्ण द्वैपायन वेदव्यास ने सस्कार के उद्धारार्थ भक्ति का अतिशय प्रवर्तन करके सासारिको के व्यवहार को वैराग्योन्मुख कर दिया। यही नही, गीता का प्रतिपाद्य विषय भी शान्तरस का समर्थक है। महाभारतेय एव हरिवश कृष्ण इन दोनो व्यक्तित्व को एक करते हुए आनन्दवर्द्धन ने पुन कहा है कि वासुदेव सज्ञा से गीता मे अभिहित अपरिमित शक्ति से युक्त कृष्ण ने मथुरा से उत्पन्न होकर अनेक क्रीडाएँ की जो शान्तरस की ही सूचक है।[4] शान्त-

---

१. दन्डी काव्यादर्श, पृ० १

२ हिन्दी ध्वन्यालोक, पृ० ४६४, ४६६

३ ततश्च शान्तो रसो रसान्तरे मोक्ष लक्षण पुरुषार्थ· पुरुषार्थन्तरैस्ते परत्वानुगम्य-मानोऽङ्गित्वेन विवक्षा विषया इति महाभारत तात्पर्य पृ० ४६

४. हिन्दी ध्वन्यालोक, पृ० ४७

रस का निष्कर्ष निकालते हुए उन्होने कहा है कि इस प्रकार भगवान को छोडकर अन्य समस्त वस्तुओ की अनित्यता प्रकाशित करने वाले शास्त्रदृष्टि से केवल मोक्ष रूप परम पुरुषार्थ तथा काव्य दृष्टि से तृष्णाक्षयजन्य सुख का परिपोषक शान्त ही महाभारत का प्रधान रस है। निष्कर्षत[1] काव्य मे शान्तरस का स्थायी भाव तृष्णाक्षय सुख है जो व्यावहारिक दृष्टि से परम-पुरुषार्थ का सूचक है।

आनन्दवर्धन के इस कथन से स्पष्ट है कि महाभारत, गीता एवं हरिवश मे कृष्ण का चरित्र काव्य दृष्टि से तृष्णाक्षय सुख का उत्पादक शान्तरस से ही पूर्ण है। हरिवश मे भक्ति के स्वरूप का गवेषणात्मक अनु-शीलन करते हुए डॉ० वजेश्वर वर्मा के बताया है कि इसका स्वभाव शान्तो-न्मुख है।[2] यह भक्ति की उस स्थिति की रचना है जब कि वैराग्यमूलक भक्ति माधुर्य भक्ति मे प्रवेश करने जा रही थी। इस प्रकार आनन्दवर्धन की शान्तरस विषयक धारणा भक्तिरस की समीपवर्तिनी ज्ञात होती है।

आनन्दवर्धन के उपरात भट्टतौत के शिष्य ध्वनि सम्प्रदाय के प्रबल समर्थक आचार्य अभिनवगुप्त ने अभिनत भारती मे शान्तरस प्रकरण के अन्तर्गत इसकी विस्तृत चर्चा की। अभिनव भारती मे उन्होने उन मतो का निर्देश किया है जो शान्त को रस न मानने का समर्थन करते है। उनके अनुसार ये मत सख्या मे सात है। इन सातो मे सम्भवत चन्द्रिकाकार[3] सर्वाधिक प्रबल ज्ञात होते है। किन्तु इनकी रचना अनुपलब्ध है। शान्तरस सम्बन्धी इन चर्चाओ का आधार नाट्यशास्त्र का प्रक्षिप्त अश ही था। प्रक्षेपकार ने बताया है कि इस शान्त का स्थायीभाव शम है। यह मोक्ष का सम्पादक एव तत्वज्ञान, वैराग्य, चित्तशुद्धि आदि विभावो से निष्पन्न होता है। यम, नियम, अध्यात्मध्यान, धारणा, उपासना सब प्राणियो पर दया, सन्यास आदि अनुभावो द्वारा इसका ग्रहण होता है। निर्वेद, धृति, स्मृति, शौच, स्तम्भ, रोमाच आदि उसके सचारी भाव हैं।[4] इस शान्त रस की विस्तृत चर्चा सर्वप्रथम अभिनवगुप्त ने अपनी

---

१ हिन्दी ध्वन्यालोक, पृ० ४७०

२ पोद्दार अभिनन्दन ग्रन्थ, हरिवश और हिन्दी वैष्णव काव्य डॉ० व्रजेश्वर वर्मा

३ ध्वन्यालोक लोचन, पृ० १७८

४ अभिनवभारती, पृ० ६०९

पूर्ववर्ती परम्परा के ७ मतो का खडन करते हुए शान्तरस की प्राथमिकता एव रसोत्कटता का समर्थन प्रबल शब्दो मे किया है। अभिनवगुप्त ने शान्तरस के अन्य भावो का उल्लेख भी किया है जो वस्तुत इससे पृथक् न होकर इसी के अवान्तरभेद मात्र है। ये क्रमश दयावीर और धर्मवीर है। उन्होने नागानन्द नाटक को दयावीरता का प्रबल समर्थक स्वीकार करके शान्तरस की अभिनेयता सिद्ध की है। इस प्रकार अभिनवगुप्त ने अपनी समस्त पूर्ववर्ती परम्पराओ को जिनमे शान्तरस का विरोध मिलता है, खडन करके शान्तरस की स्थापना की। अभिनवगुप्त के पश्चात् शान्तरस की मान्यता मे स्थिरता आ गई और परवर्ती आलकारिक आचार्यो ने उसका समर्थन रस के रूप मे ही किया।

धार्मिक वातावरण और भक्तिरस

जैसा कि पहले कहा जा चुका है रस के रूप मे शान्त रस काव्य के अन्तर्गत बाद मे स्वीकृत हुआ। इसका मूल आरम्भ मे काव्यशास्त्र मे न मिल कर धार्मिक ग्रन्थो मे ही प्राप्त होता है। बाद मे जब काव्यशास्त्र मे इसकी स्वीकृति हुई तब से सारी धार्मिक मान्यताएँ जो शान्तरस के साथ थी इसमे अवतरित हो गई। इस प्रकार शान्तरस को काव्य के अन्तर्भूत करने का कारण स्पष्ट है। जैन, बौद्ध एव पौराणिक साहित्य की काव्यशास्त्रीय परम्परा से पृथक् एक विशाल काव्यधारा निर्मित हो रही थी जिसकी प्रवृत्ति कलात्मक न होकर धार्मिक थी। उसका वातावरण, उद्देश्य, रचनात्मक प्रक्रिया, धार्मिक प्रचार आदि के साधन रूप मे व्यवहृत थे। डॉ० राघवन ने शान्तरस के सदर्भ मे जिन ग्रन्थो के नाम गिनाए है, वे ये है—

अश्वघोष रचित बुद्धचरित
सौन्दरनन्द
सारिपुत्त प्रकरण[1]

इसमे बुद्धचरित महाकाव्य तथा सौन्दरनन्द एव सारिपुत्त प्रकरण नाटक है। जैन ग्रन्थो मे डॉ० राघवन ने 'अध्यात्म कल्पद्रुम' का नाम बताया है। इसमे शान्तरस के लिए एक स्थल पर शान्तरस भाव तथा एक दूसरे सदर्भ मे शान्तमाहात्म्य का उल्लेख मिलता है। इसी के एक भाष्य मे शान्त को रसाधिराज तथा सर्व रससार कहा गया है। इसी सदर्भ

१ द नम्बर ऑव रसाज, पृ० २२

मे उन्होने जेनियो के प्रसिद्ध ग्रन्थ अनुयोगद्वार सूत्र की भी चर्चा की है।[1] उनके अनुसार अनुयोगद्वार सूत्र मे आए नव काव्य रसा[2] अर्थात् काव्य के नौ रस मे शान्त का भी कथन हो जाता है। आनन्दवर्द्धन ने शान्तरस की पुष्टि के लिए महाभारत, गीता एव हरिवश का उल्लेख किया है। अभिनवगुप्त ने इसकी पुष्टि के लिए शान्तरस प्रकरण मे योगदर्शन सूत्र तापस वत्सराज, नागानन्द, गौतम, धर्मसूत्र, ईश्वर कृष्ण कृत साख्यकारिका एव हितोपदेश की चर्चा की है। इसमे हितोपदेश को छोड कर शेष रचनाएँ धार्मिक है।

जैन एवं बौद्ध ग्रन्थो के अतिरिक्त शान्तरस की अनेक सम्भावनाएँ महाभारत एव वैष्णव पुराणो मे वर्तमान है। महाभारत मे शान्तिपर्व नामक एक पृथक् पर्व है जिसका लक्ष्य मात्र मोक्ष कथन है। इस शान्तिपूर्वक मे प्रमुख रूप से नारायणीय मत का आख्यान मिलता है। यह नारायणीय मत मूलत वैष्णव धर्म ही है। शान्तिपर्व के अन्तर्गत माहात्म्य निरूपण के सदर्भ में इसे महाफल की सज्ञा दी गई है। यही नही आदिपर्व मे व्यास द्वारा कथित महाभारत को मोक्षशास्त्र के नाम से स्वीकार किया गया है। सस्कृत के अनेकानेक काव्यशास्त्रियो आनन्दवर्धन, अभिनवगुप्त, क्षेमेन्द्र, भोज, विश्वनाथ, पडितराज जगन्नाथ आदि के द्वारा यह शान्तरस का एक मात्र प्रमाण ग्रन्थ स्वीकार किया गया है।

रस सम्बन्धी इस दृष्टिकोण के विकास का समर्थन धार्मिक सम्प्रदायो मे आरम्भिक समय से ही मिलने लगता है। आचार्य शकर ने सौन्दर्यलहरी[4] मे अनेक स्थलो पर शान्त रस की चर्चा की है। नौ रस के सदर्भ मे उसके व्याख्याता लक्ष्मीधर ने कहा है कि शान्तरस प्रधान है तथा अन्य गौण है। उक्त श्लोक के आगे दो श्लोको मे आचार्य शकर ने शान्तरस को वैराग्य से पुष्ट मानकर उसे शृंगार रस का विघातक या विद्रावक कहा है। इससे स्पष्ट है कि आचार्य शकर तत्त्वज्ञानजन्य वैराग्य एवं शम को रस के रूप मे स्वीकार करते है। आचार्य शंकर के बाद रामानुज ने ब्रह्म को अनेक सवेदनशील गुणो से विशिष्ट मानकर उसकी दया, करुणा आदि को जीव के लिए

---

१ द नम्बर ऑव रसाज, पाद टिप्पणी, पृष्ठ २३

२ वही पृ० २२

३. महाभारत आदि पर्व, श्लोक, ६२, २५

४ सौन्दर्यलहरी, आचार्य शकर, पृ० २१५ श्लोक ११, प्र० गनेश एन्ड को०, मद्रास

अनिवार्य बताया । दास्य भाव की यह भक्ति रामानुज की एक मात्र स्थापना है । आचार्य वल्लभ ने अपने भाष्यो मे ब्रह्म के सवेदनशील गुणो की जीव के लिए एकमात्र अनिवार्यता मानकर दास्य, वात्सल्य एव गोपी भाव की उपासना को ही जीव का धर्म बताया है । बाद मे चलकर मध्व एव निम्बार्क ने शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य एव मधुर इन पॉच भावो की उपासना अनिवार्य बताई है । इस प्रकार स्पष्ट है कि जैसे-जैसे कृष्ण के स्वरूप का विकास होता गया वैसे ही वैसे विभिन्न वैष्णव साम्प्रदायिक दृष्टिकोणो मे परिवर्तन के फलस्वरूप विभिन्न रस एव भाव की भी कल्पना होती गई । किन्तु उनमे मूलत शान्तरस ही प्रमुख था । इस शान्तरस की प्रधानता के साथ-साथ स्वीकृत अन्य रस धीरे-धीरे अपनी मान्यता मे प्रमुख होते गए । इस प्रकार निष्कर्ष रूप से कहा जा सकता है कि वैष्णव भक्तिरस की आरम्भिक पृष्ठभूमि शान्तरस प्रधान थी । यही शान्तरस धीरे-धीरे विकसित होता हुआ कृष्णचरित्र के अनेक भावो का योजक बन गया । परवर्तीकाल मे शान्तरस को गौण महत्व का स्वीकार किया जाने लगा और अन्त मे चैतन्य, राधावल्लभ, तथा निम्बार्क सम्प्रदाय के हिन्दी कवियो द्वारा इसको गौणतम स्थान दिया गया ।

शान्तरस के अतिरिक्त लगभग १२वी शती विक्रमी से लेकर आचार्य जगन्नाथ तक काव्यशास्त्रीय परम्परा मे भक्तिरस का निरूपण मिलता है । इस परम्परा मे भक्तिरस के विषय मे चर्चा करने वाले आचार्य अभिनवगुप्त, भोज, हेमचन्द्र, शिङभूपाल, भानुदत्त तथा जगन्नाथ है । इस परम्परा से इतना स्पष्ट अवश्य हो जाता है कि इन आचार्यो के समय तक भक्ति और शान्तरस के रूपभेद मे अन्तर समझा जाने लगा था या फिर भक्ति को शान्तरस का अंग स्वीकार किया गया था । इसमे प्राय दोनो ही संभावनाएँ मान्य हो सकती है । इसके साथ ही साथ भक्तिरस की चर्चा करने वाले सभी आचार्य शान्तरस की महत्ता का प्रतिपादन जोर देकर करते है । भूपाल हरिदेव का मत[1] इसके विपरीत है । उन्होने रसो की संख्या तेरह मानी है । उनके अनुसार भरत द्वारा स्वीकृत आठ रस तथा वात्सल्य, शान्त, संभोग, विप्रलब्ध एव ब्राह्म ये कुल तेरह रस है । ये रस वस्तुत इसी परम्परा के विकास की कडी है । यही ब्राह्मरस वैष्णव भक्त कवियो का भक्तिरस है । इस प्रकार

१ देखिए, द नम्बर ऑव रसाज, पृ० १४५

स्पष्ट है कि भारतीय काव्यशास्त्रीय परम्परा मे भक्तिरस शान्तरस का अग ही था।

भक्तिरस को पृथक् रूप से रस मानने का तीसरा कारण है, उपनिषदादि मे ब्रह्मस्वभावनिरूपण के सदर्भ मे उनका आनन्दमय कहा जाना। वैष्णव सम्प्रदायो के उपनिषद् तथा ब्रह्मसूत्र के भाष्यो मे इस आनन्दमयस्वरूप का पूर्णत प्रतिपादन मिलता है। ब्रह्मसूत्र के आनन्दाधिकरण[1] का उल्लेख करते हुए समस्त आचार्यो ने यहाँ कथित 'रसोवैस' का उद्धरण दिया है। ब्रह्म का यह रसात्मक स्वरूप जब अभिव्यक्ति के क्षेत्र मे स्वीकृत हुआ तो उसकी लीलाओ मे रसमत्ता का आग्रह अनिवार्य समझा गया। यही कारण है कि भागवत आदि पुराणो मे भक्ति का मधुर रूप ही प्रधान मिलता है। रूपगोस्वामी ने भी शान्तरस को गौण मानकर सर्वोच्च रसत्व मधुर भाव मे ही स्वीकार किया है। मधुसूदन सरस्वती भक्तिरस मे प्रीति को प्रमुखता देकर वात्सल्य, प्रेयन् एव मधुर इन्ही तीनो को शुद्ध भक्तिरस के अन्तर्गत मानते है। रूपगोस्वामी ने शान्त और भक्ति के आलम्बन मे भेद खडा करके उन्हे परस्पर पृथक् स्थितियो का सूचक बताया है। उनके अनुसार शान्तरस के आलम्बन चतुर्भुज कृष्ण शम के प्रतिनिधि द्विभुज है किन्तु भक्तिरस के आलम्बन कृष्ण जो प्रीति के प्रतिनिधि द्विभुज ही है दास्य, सख्य, वात्सल्य एव मधुर ये ही सासारिक सम्बन्धो के चार रूप रहे है। विष्णु से सम्बन्धित करके इन्हे क्रमश दास्य, सख्य, वात्सल्य एव मधुर भाव का सूचक माना गया। दास्य, सख्य, वात्सल्य एव मधुर भाव की उपासनाओ के माध्यम से भक्त अपनी सासारिक रागमूलकता को ब्रह्म मे तिरोहित कर देता है। इस प्रकार उपनिषद् मे कथित ब्रह्म का रसात्मकस्वरूप करुण, दास्य, वात्सल्य, सख्य एव मधुर भावो मे विभक्त हो गया किन्तु इसका प्रयोजन क्रमश दया, शरण्य, पौत्र, मित्र एवं कान्ताविषयक भावो की प्राप्ति न होकर वैराग्य एव आनन्द की ही प्राप्ति है, जो उपनिषद् आदि मे कथित रसोवैस के ब्रह्म का भी फल था। इस प्रकार उपनिषद् आदि भाष्यो मे कथित आनन्दमय ब्रह्म का स्वरूप परवर्तीकाल मे कृष्णाश्रय सुख एव आसक्तिजन्य आनन्द का उद्भावक हुआ। वैष्णव भाष्यो मे निर्दिष्ट ब्रह्म का यह स्वभाव केवल रसमय ही नही स्वीकृत हुआ अपितु उसकी लीलाएँ भी रसमय मानी गई। इन लीलाओ मे माधुर्य भाव की प्रधानता के ही कारण भक्ति के क्षेत्र मे इनकी रसरूप मे कल्पना की गई।

---

१. दे० ब्रह्मसूत्र, आनन्दाधिकरण, शङ्कर, रामानुज एव आचार्य वल्लभ के भाष्य

इस प्रकार भक्तिरस की व्यवस्था एव प्रधानता मे इन वैष्णवभाष्यो का महत्त्व-पूर्ण योग रहा है ।

मध्यकालीन भक्ति का स्वभाव पूर्णरूपेण रागमूलक है । वैष्णवभक्ति सूत्र ग्रन्थो मे विशेष रूप से नारदभक्तिसूत्र भक्तिरस की आरम्भिक भूमिका प्रस्तुत करता है । इसमे भक्ति को परम प्रेमरूप कह कर उसके विलक्षण स्वभाव का उल्लेख किया गया है । सूत्रकार के अनुसार इस भक्ति को प्राप्त कर भक्त न इच्छा करता है, न द्वेष करता है, न आगे देखता है, न पीछे देखता है, अपितु उसी मे उन्मत्त, विह्वल तथा आत्मराम रहता है । रस के तदात्मीकरण की स्थिति मे रसज्ञो ने रसभोक्ता की यही दशा बताई है । इसी सदर्भ मे काव्यशास्त्र के अन्तर्गत 'मधुमती भूमिका' एव 'चिदावरणभग' आदि शब्दो का प्रयोग किया गया है ।

यही नही, नारदभक्ति सूत्र[1] मे प्रयुक्त एकादश आसक्तियो के सदर्भ मे वैधी गुण, माहात्म्य, रूप, पूजा, एव स्मरण को गौण तथा आसक्तिमूलक दास्य, सख्य, वात्सल्य तथा कान्ताविषयक रति को प्रमुख बताया गया है । इसके बाद की भक्ति आत्मनिवेदन,तन्मय एव परविरहासक्ति कान्तासक्ति से ही सम्बन्धित है । ठीक इसी क्रम मे आचार्य निम्बार्क दास्य, सख्य, वात्सल्य एव कान्ताविषयक भक्तिभाव को क्रमश दास्यरति, सख्यरति, वात्सल्यरति एव कान्तारति की सज्ञा देते हैं । रूपगोस्वामी कथित भक्तिरस इसी परम्परा से सम्बन्धित है ।

नारदभक्ति सूत्र—दास्यासक्ति, सख्यासक्ति, वात्सल्यासक्ति, कान्तासक्ति
आचार्य निम्बार्क—दास्यरति, सख्यरति, वात्सल्यरति, उज्ज्वलरति
रूपगोस्वामी—दास्यभक्तिरस, सख्यभक्तिरस, वात्सल्यभक्तिरस, उज्ज्वलरस या मधुरभक्तिरस

इस क्रम से स्पष्ट है कि भक्तिरस की परवर्ती मान्यता अपने पीछे एक प्रबल धारणा लेकर चली है । भक्तिरस मे स्वीकृत शान्त का सदर्भ दिया ही जा चुका है । इससे सम्बन्धित काव्यशास्त्रियो के मतो का उल्लेख करना अधिक समीचीन नही ज्ञात होता । सख्य को स्नेह एव लौल्य रूप मे पहले से ही स्वीकार किया जाता रहा है । अभिनवगुप्त ने शान्तरस के सदर्भ मे स्नेह या सख्य के रसत्व का खड किया है । आगे चलकर भोज, हेमचन्द्र तथा

१. नारद भक्तिसूत्र, सूत्र सख्या ८२

भानुदत्त आदि ने भी इसकी चर्चा की है। किन्तु यह स्नेह या लौल्यरस परस्पर लौकिक वातावरण मे प्राप्त समवयस्क मित्रता के प्रेम का सूचक है। इसी प्रकार रूपगोस्वामी के पूर्व वात्सल्यरस की चर्चा सर्वप्रथम कविराज विश्वनाथ 'मुनीन्द्रसम्मत' कहकर करते हैं। उनका मुनीन्द्र से तात्पर्य सम्भवतया आचार्य भरत है, किन्तु आचार्य भरत ने वात्सल्य रस का कही भी उल्लेख नही किया है। कान्ता या मधुर रस वस्तुत सयमित रागात्मकवृत्ति से पुष्ट शृंगार के अतिरिक्त और कुछ भी नही है। इस प्रकार स्पष्ट है कि मध्यकालीन वातावरण के पूर्व धार्मिक काव्यो मे भक्तिरस के लिए उपयुक्त पृष्ठभूमि निर्मित हो चुकी थी। हिन्दी के वैष्णवभक्त आचार्यो एव कवियो ने इसी दिशा मे विकास किया है।

भक्त आचार्यों द्वारा कथित भक्तिरस का स्वरूप

भक्तिरस के व्याख्याता आचार्य

सामान्य रस से भक्तिरस के प्रवर्तन का श्रेय रूपगोस्वामी को दिया जाता है। रूपगोस्वामी सम्भवतया भक्तिरस के सर्वप्रबल व्यवस्थापक आचार्य है। मधुसूदन सरस्वती, आचार्य वल्लभ एव कवि कर्णपूर गोस्वामी की भक्तिरस सम्बन्धी मान्यताएँ उसकी व्यापक स्वीकृति के लिये स्पष्ट प्रमाण है। पुराणो मे विशेषकर भागवत के वेणुगीत एव रासप्रकरण मे रस का अनेक बार उल्लेख हुआ है। रूपगोस्वामी ने स्वय श्रीधर की चन्द्रिका का उल्लेख किया है किन्तु यह ग्रन्थ सम्प्रति अप्राप्य है।[1] साधारणीकरण की प्रक्रिया मे इन्होने ध्वनिवाद एव आचार्य भरत का भी नाम लिया है।[2] यह एक ऐसी परम्परा है जो शुद्ध काव्यशास्त्र से अपना सम्बन्ध जोडती है। मधुसूदन सरस्वती का प्रयत्न इस दिशा मे निश्चित ही रूपगोस्वामी से अधिक वैज्ञानिक एव तर्क-संगत है। रस निरूपण की प्रक्रिया के क्रम मे उन्होने शुद्ध काव्यशास्त्रीय परम्परा मे स्वीकृत ध्वनि, अलकार, रीति, वक्रोक्ति, व्यजना आदि को भक्तिरस पोषक एव सहायक तत्त्व स्वीकार किया है। उनके अनुसार भक्तिकाव्य मे व्यवहृत काव्य के ये तत्त्व भक्तिरस का वर्धन एव पोषण करते है। आचार्य वल्लभ भी प्राय काव्य के समानान्तर ही भक्तिरस की व्याख्या करते है।[3] उनके

---

१ श्रीहरिभक्तिरसामृतसिन्धु पश्चिमविभाग मुख्य भक्तिरस, पचकनिरूपणे प्रीतिभक्ति-रस लहरी, श्लोक स० १

२ पचमस्थायीभाव लहरी, श्लोक स० ७५ से ८४ तक,

३ रास पचाध्यायी एव वेणुगीत का भाष्य, आचार्य वल्लभ

अनुसार काव्य मे स्वीकृत रस शुद्ध रस है एव भक्तिकाव्यो का रस धर्ममूलक है। कवि कर्णपूर गोस्वामी आलकारिक आचार्य है। उन्होने भक्तिरस की व्याख्या काव्यरस के सदर्भ मे की है।

निम्बार्क सम्प्रदाय मे भक्तिरस की व्याख्या हरिव्यासदेव ने 'सिद्धान्त-रत्नावली' मे की है। किन्तु उसका आधार रूपगोस्वामी कृत 'श्रीहरिभक्ति-रसामृत सिन्धु' ही रहा है। आचार्य वल्लभ की परम्परा मे हिन्दी के कवियो मे नन्ददास का उल्लेख महत्त्वपूर्ण है। उन्होने रासपचाध्यायी, सिद्धान्तपचाध्यायी तथा रसमजरी मे भक्तिरस की चर्चा की है। स्फुटरूप से इस सिद्धान्त के अन्तर्गत रस सम्बन्धी उल्लेख एवं व्याख्याएँ रघुनाथ शिवाजी कृत वल्लभ-पुष्टिप्रकाश, विद्वन्मडनम्, आचार्य वल्लभ रचित सिद्धान्त रहस्यमय के हरिरास कृत भाष्य, बालकृष्णभट्ट विरचित प्रमेयरत्नार्णव, विट्ठलनाथ कृत शृगाररस मडनम् तथा गिरिधरजी कृत शुद्धाद्वैतमार्तण्ड आदि ग्रन्थो मे मिल जाती है। दूसरी ओर, रूपगोस्वामी के उज्ज्वलनीलमणि भक्तिरसामृतसिन्धु पर जीवगोस्वामी की टीका उपलब्ध है। चैतन्य चरितामृत मध्यभाग की व्याख्या मे कवि कृष्णदास एव वृन्दावनदास पुनश्च भक्तिरस की व्याख्या करते है किन्तु इनका आधार रूपगोस्वामी का ही मत रहा है। भक्तिरस की उत्पत्ति विषयक धारणा मे कवि कृष्णदास किंचित मौलिकता दिखाते हैं, किन्तु वह मौलिकता असगत है। आधुनिक लेखको मे बगाल के वैष्णव भक्त कवियो को लेकर भक्तिरस की उसी क्रम मे व्याख्या श्री दिनेशचन्द्रसेन, डॉ० सुकुमारसेन, एस० के० डे आदि ने की है। इनमे डॉ० डे का मत विशेष उल्लेखनीय है।[1] उन्होने भक्तिरस की विस्तृत व्याख्या 'इडियन हिस्टारिकल क्वार्टली' मे की है।[2] इसके अतिरिक्त उनकी 'वैशनव फेथ एन्ड मूवमेन्ट' भी इस दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। हिन्दी मे भक्तिरस के समर्थन की ओर प० रामदहिन मिश्र का प्रयत्न विशेष उल्लेखनीय है। डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी कृत 'सूर साहित्य' मे भक्ति रस के प्रयोग की चर्चा ऐतिहासिक दृष्टि से अधिक महत्त्वपूर्ण कही जा सकती है।

भक्तिरस : स्वरूप तथा स्वभाव

आलंकारिक काव्यशास्त्रियो की रस सम्बन्धी व्याख्याएँ पूर्णत स्पष्ट है। पहले ही कहा जा चुका है कि मध्यकालीन वैष्णव भक्ति काव्य

---

१ भा० एच० क्यू०, भाग ८, १९३२

२ रामदहिन मिश्र, काव्यदर्पण, रस प्रकरण

उनकी भक्ति विषयक अभिव्यक्ति का प्रबल साधन रहा । काव्य की इस साधन-भूतता ने इन कवियो के काव्यमूलक दृष्टिकोणो को भी आत्मसात् करने के लिए वाध्य किया क्योकि निश्चित मानदण्ड के बिना इनके काव्य की व्याख्या का कोई स्पष्ट आधार नही था । इसी सदर्भ मे जब भक्ति और काव्य एकमेव हो गए तो भक्ति भक्ति न रहकर भक्तिरस हो गई । अन्यथा भक्ति को रस मानने का कोई भी स्पष्ट प्रयोजन नही है । चूँकि रस की व्याख्या एक निश्चित पृष्ठभूमि मे हो चुकी थी, अत इन भक्त आचार्यो ने भी ठीक उसी पृष्ठभूमि को ग्रहण कर भक्तिरस की व्याख्या की । उनके लक्षणो, आलम्बन, उद्दीपन, कार्य-कारण आदि के ठीक वही क्रम रहे जो काव्यशास्त्रीय परम्परा मे पहले से मान्य थे । इस प्रकार इन आचार्यो ने अपनी पूर्ववर्ती काव्यशास्त्रीय परम्परा का इस सदर्भ मे सम्यक् उपयोग किया है ।

मधुसूदन सरस्वती एवं भक्तिरस

भक्तिरस स्वरूप एव उसकी परिभाषा मे इन भक्त्याचार्यो मे मतैक्य नही है । ये प्राय उसके स्वरूप के ही स्थिरीकरण मे प्रवृत्त दिखाई देते है । अत इन मतो मे परस्पर वैमत्य होना आश्चर्यजनक नही है । मधुसूदन सरस्वती भक्तिरस को इस प्रकार परिभाषित करते है ।

भक्ति विषयक विभाव, अनुभाव एव सचारी भावो के सयोग से सुखमूलक स्थायीभाव निर्मित होकर भक्तिरस की व्यंजना करते है ।[1]

इस परिभाषा मे दो महत्त्वपूर्ण तथ्य हैं—प्रथम विभावानुभाव संचारी के सयोग से सुखमूलमक स्थायी भावो की सृष्टि एव द्वितीय भक्तिरस का व्यजित होना । भरत के प्रसिद्ध रसोत्पत्ति के सूत्र मे सुखमूलकता का सकेत नही है । परवर्ती आचार्यो मे भट्टनायक तथा अभिनवगुप्त ही रसनिष्पत्ति के सदर्भ मे सुखमूलकता का सकेत करते है । मधुसूदन सरस्वती का यह विचार पूर्ण स्पष्ट है । उन्होने भक्ति की आनन्दमूलक भूमिका को स्पष्ट करने के लिए इसे सुखमूलक स्वीकार किया है । भक्ति काव्य मे विरतिमूलक रस करुण, वीभत्स, भयानक एव रौद्र के लिए सम्भवतया कोई स्थान नही है । यही कारण है कि इनके अनुसार रसभाव चार है—शुद्ध, मिश्रित, सकीर्ण मिश्रित ।[2] शुद्ध रस उनके अनुसार भक्ति ही है जो सख्या मे तीन है । ये वत्सल, प्रेयस

---

१ भक्तिरसायन, तृतीय उल्लास, श्लोक स ० २

२ भक्तिरसायन, द्वितीय उल्लास, श्लोक, स ० ३४, ३६

एव मधुर है—सकीर्ण भावो मे सुखमूलकता भी अत्यल्प ही है। वे भाव रौद्र, भयानक, वीभत्स, अद्भुत एव शान्त है। इनसे अधिक रस प्रबलभाव सकीर्ण मिश्रित है, जिनमे शृगार, हास्य आदि आते है। यही शृगार, हास्य आदि जब भक्तिकाव्य मे प्रयुक्त होकर भक्तिरस के अग बन जाते है, तब इन्हे केवल मिश्रित कहा जाता है। इस प्रकार मधुसूदन सरस्वती भक्तिरस का स्वभाव आनन्दमूलक मानते है।[1]

मधुसूदन सरस्वती की दूसरी धारणा है कि रस व्यजित होता है। यह वस्तुत. उनकी मौलिक स्थापना न होकर आनन्दवर्धन के मत का पुनराख्यान मात्र है। आनन्दवर्धन ने रस को असलक्ष्यक्रम ध्वनि के अन्तर्गत श्रेणीबद्ध करके इसकी व्यजकता का प्रबल समर्थन किया है। बाद मे अभिनवगुप्त ने इसी व्यजनाशक्ति के आधार पर अपने साधारणीकरण के प्रसिद्ध सिद्धान्त, अभिव्यक्तिवाद का प्रतिपादन किया जिससे प्रकट रस की अनुभूति का अनुभूति की अवस्था मे ज्ञान हो जाना स्वशब्दवाच्यत्वदोष कहलाता है। ठीक उसी प्रकार भक्तिरस की अनुभूति भी है—वह न तो दृश्य है, न श्रव्य है न ज्ञाप्य, अपितु तीनो से पृथक् मात्र अनुभूतिपरक है। अत न उसका प्रत्यक्ष आस्वाद हो सकता है, न अनुमानगम्य ही, अपितु वह विभावादि के माध्यम से व्यजित होकर भक्त को अनुभूत होती है। यह वस्तुत भक्तिरस की उत्कटता का प्रमाण है, दूसरे शब्दो मे मधुसूदन सरस्वती के अनुसार भी भक्तिरस की सुखमूलक अनुभूति उत्कट होने के कारण ही व्यग्य है अर्थात् भक्तिरस गुण की एक चरम स्थिति है —

इस प्रकार मधुसूदन सरस्वती के अनुसार भक्तिरस के दो लक्षण है—

१ यह सुखमूलक मानसिक स्थिति है।

२ साधारणीकरण या अनुभूति के स्तर पर यह अत्यधिक उत्कट होता है। मधुसूदन सरस्वती की इस धारणा का विकास आगे नही हो सका।

गौडीय सम्प्रदाय रूपगोस्वामी तथा भक्तिरस

रूपगोस्वामी की परिभाषा मधुसूदन सरस्वती से किंचित् भिन्न है। यदि मधुसूदन सरस्वती आनन्दवर्धन का समर्थन करते है तो

---

१. शुद्धा च वत्सलरति प्रेयोरति इति त्र्यी
भावान्तरामिश्रित्वादमिका रतिरुच्यते। ३ · ३४

रूपगोस्वामी आचार्य भरत का। उनके अनुसार भक्तिरस की परिभाषा इस प्रकार है—

विभाव, अनुभाव, सात्विक एव व्यभिचारीभाव से परिपुष्ट सामग्री रसरूपता को प्राप्त होती है। यही रसरूपता श्रवण आदि नवधा भक्ति के साधनो द्वारा सयुक्त होकर भक्तो के मनस् मे पुष्ट होती है। इस प्रकार इसका स्थायीभाव कृष्णरति है। इसी कृष्ण रति स्थायीभाव से निष्पन्न होने वाला रस भक्तिरस है[1]—

इस परिभाषा मे चार तत्त्व है किन्तु परस्पर एक दूसरे के पूरक है। वे ये है।

१ भक्तिरस समस्त विभावादि की सामग्री पुष्ट होकर रसता को प्राप्त होता है

२ यह भक्तो के हृदय मे आस्वाद्य होता है

३ इसके लिए कृष्णरति अनिवार्य है

४ यह कृष्णरति श्रवणादि साधनो से पुष्ट होती है

विभावो का पुष्ट होना काव्यशास्त्रीय रस परम्परा मे उसकी निष्पन्नता के लिए सर्वथा मौलिक तत्त्व है। आचार्य भरत ने रसनिष्पत्ति के लिए सयोग तथा भट्टलोल्लट ने विभावादि का सम्बन्ध अनिवार्य बताया था। शकुक के अनुसार रस निष्पत्ति के लिए अनुमान अपेक्षित है। भट्टनायक सामाजिको द्वारा माँग किए जाने पर रसभुक्ति अनिवार्य मानते है। अभिनवगुप्त के अनुसार विभावादि के ध्वनन से रस निष्पन्न होता है किन्तु रूपगोस्वामी इन सबके विपरीत विभावादि की पुष्टि को रसास्वाद का कारण स्वीकार करते है। इस पुष्टि के लिए उन्होने जिन साधनो का प्रयोग अनिवार्य बताया है वे नवधा भक्ति के श्रवणादि साधन है। अत भक्तिरस प्रक्रिया मे नवधा भक्ति रस को पुष्ट करने का प्रथम साधन है किन्तु रस प्रक्रिया के साधनो मे विभावादि परम्परा से ही चले आ रहे है। रूपगोस्वामी ने उनमे सात्विक भावो को और भी जोड दिया है जो असगत है। इन साधनो के द्वारा ही भक्ति रस की निष्पत्ति सम्भव है। भक्ति रस के विषय मे इनका भक्तिमूलक होना अनिवार्य है किन्तु इस परिभाषा के सदर्भ मे रूपगोस्वामी इसका कोई सकेत न करके पुनश्च भक्ति के साधनो को भक्तिरस की निष्पत्ति

---

१ दक्षिण विभाग, विभाव लहरी, श्लोक स० ५, ६

का साधन मानते है जो सर्वथा असगत है। उनके अनुसार भक्ति के साधन की कृष्ण रस की निष्पत्ति मे सहायक होते है, किन्तु इनका प्रयोग इन्ही विभावादि मे ही किया जाना अनिवार्य है। भक्तिरस के पृथक्-पृथक् निरुपण मे वे इसी का समर्थन भी करते है। अत श्रवणादि साधनो को विभावानुभाव आदि से पृथक् नही रखा जा सकता। रूपगोस्वामी के अनुसार यही भक्ति के भाव पुष्ट होकर रस बनते है। यहाँ पुष्टि का अर्थ है भक्तो की मनोवृत्ति का एक मात्र ईश्वरोन्मुख हो जाना। इसी वृत्ति के फलस्वरूप कृष्णरति का जन्म होता है। यही कृष्णरति अन्तत भक्तो के हृदय मे पुष्ट होकर भक्तिरस बन जाती है। इस प्रकार रूपगोस्वामी के अनुमार बिना ईश्वरोन्मुख मनोवृत्ति के भक्तिरस की निष्पत्ति असभव है।[1]

रूपगोस्वामी के अनुयायियो मे जीवगोस्वामी, कृष्णदास तथा वृन्दावन का नाम विशेष उल्लेखनीय है। जीवगोस्वामी का मत रूपगोस्वामी से भिन्न नही है। भिन्नता वस्तुत कृष्णदास के मत मे है। इनके अनुसार सौभाग्यवश व्यक्तियो मे ईश्वर के प्रति श्रद्धा उत्पन्न होती है। इसी श्रद्धा के कारण साधुओ की सगति मिलती है। साधुसग से भक्त श्रवण, कीर्तन आदि का अनुशीलन करते है। इसी क्रम से कृष्ण रति का उदय होता है। अधिकार भेद से यही कृष्णरति अन्तत रसरूप मे परिणत होकर शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य एव मधुर रूपो मे परिवर्तित हो जाती है।[2] श्री वृन्दावन के अनुसार दास्य एव सख्य रस की ही महत्ता बताई गई है। उन्होने मधुर वात्सल्य को गौण सा बना दिया है।[3] किन्तु कृष्णदास एव वृन्दावनदास के मतो मे विशेष मौलिकता नही दृष्टिगोचर होती। कृष्णदास के द्वारा निर्दिष्ट भक्तिरस की निष्पत्ति सम्बन्धी धारणा पूर्णत असगत है। उनके अनुसार सौभाग्यवश ही भक्ति की निष्पत्ति होती है किन्तु रस एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है। उसके लिए किसी भाग्य की अपेक्षा नही है।

आचार्य वल्लभ तथा उनके अनुयायी

भक्तिरस की निष्पत्ति के विषय मे वल्लभ सम्प्रदाय मे भी प्रयत्न किया गया किन्तु यह अपेक्षाकृत अस्पष्ट है क्योकि भक्तिरस पर स्वतन्त्र रूप

---

१ श्रीहरिभक्तिरसामृतसिन्धु, पूर्वविभाग भावभक्तिलहरी

२ अधिकार भेदे रति पच परकार। शान्त, दास्य ,सख्य, वात्सल्य, मधुर आर। एइ प च-स्थायीभाव हय पच रस। ये रसे भक्त सुखी कृष्ण हय वश। काव्यतत्त्व समीक्षा २४२

से कोई भी ग्रन्थ उपलब्ध नही होता। वल्लभाचार्य ने भक्तिरस का महत्त्वपूर्ण सकेत भागवत की सुबोधिनी टीका के रासपचाध्यायी एव वेणुगीत प्रसग मे किया है। वेणुगीत के श्लोक सख्या ४ मे उन्होने लीलारस को नाट्यरस के समान बताया है। इस प्रसग मे उन्होने भक्तिरस को धर्मसहित कहा है। इनके अनुसार काव्यरस केवल रस है जो नाटको मे प्राप्त होता है। इस धर्मसहित रस की निष्पत्ति उनके अनुसार इस प्रकार होती है।

काव्यरस की भाँति भक्तिरस के फल के बोधार्थ सर्वप्रथम भक्तिचेतना का स्फुरण होता है। शास्त्रज्ञान के फलस्वरूप यही अकुर आगे बढकर कलिका के रूप मे हो जाता है। जब सस्कार रूपी रात्रि भक्ति चेतना को आच्छन्न कर लेती है, तब इस गूढ स्थिति मे सुगन्धि रूप भक्ति रस की निष्पत्ति होती है। यदि आलकारिक भाषा को निकाल कर कहा जाय तो यह इस प्रकार है, शास्त्रज्ञान से भक्ति चेतना, जो वासना रूप मे भक्तो मे स्थित है,[1] अपने आवेग की अवस्था मे भक्तिरस मे परिणत हो जाती है। इस प्रकार उनके अनुसार भक्तिरस की निष्पत्ति का निम्नक्रम है---प्रथम शास्त्रार्थ ज्ञान से भक्त अपने सस्कार को जाग्रत करता है। इसका तात्पर्य मात्र इतना ही है कि एक ओर इस माया का तिरस्कार करता है एव दूसरी ओर आत्मा का कृष्णार्पण। इसके अभाव मे भक्तिरस की निष्पत्ति असम्भव है। कृष्णार्पण के पश्चात् भक्ति के सस्कार जाग्रत होकर भक्तिरस की निष्पत्ति कराते है। अत यह पहले से अधिक महत्त्वपूर्ण तथ्य है। भक्त के मस्तिष्क मे कृष्ण प्रेम की वासना उत्कट एव आह्लादक होने के कारण रस बन जाती है। यह वस्तुत भक्ति के द्वारा भक्तो को प्राप्त होने वाला आनन्द है। उनके अनुसार यही आनन्द ही भक्तिरस है। इन्होने भक्ति के रस-भेदो का पृथक् से उल्लेख नही किया है।

वल्लभ सम्प्रदाय के अनेक ग्रन्थो मे भक्तिरस का कथन मिलता है। वल्लभपुष्टिप्रकाश मे श्रीकृष्ण को चतुर्दशरसलीला का कर्ता माना गया है।[2]

---

१. वस्तुनिदेशमात्रेण श्रोतृणा काव्यवद् रस.। रसवद् फलबोधाय प्रथम पल्लवम्मतम। अहोरात्र वासना स्यात् तताच्छन्न स्मृतम्। रसोत्पत्तये एतावान् निरूपितमितिस्थिति। वेणुगीत श्लोक स० २ ३ वल्लभभाष्य

२ सो बन में चतुर्दश लीला किये सो स्थायी भाव कों प्रत्येक रमन में प्रकट करि ब्रजजन विषय उद्बोधन करने, नव रस कों स्थायी भाव तो नव होय, भक्तिरस को स्थायी भाव रति है। पृ० २२४

इसमे भक्तिरस का स्थायी भाव रति बताया गया है। इसमे यह भी कहा गया है कि कृष्ण के दक्षिण भाग मे राधा विराजमान है, जिनका स्वरूप शृगारात्मक है। यही शृगारात्मक वेष भगवान कृष्ण का उद्दीपन विभाव है और कृष्ण का स्वरूप इस शृगार रस का उद्भावक है।[1] भक्तिरस की निष्पत्ति का एक विचित्र उल्लेख इसमे मिलता है। कृष्ण और गोपिका यूथो के साथ प्रयुक्त क्रीडा मे विभक्त है। कृष्ण को दो भागो मे विभक्त किया गया है, प्रथम श्वेत है जो निर्गुण है, द्वितीय सगुण है जो नीलवर्ण युक्त है। दूसरी ओर कृष्णप्रिया राधा का यूथ है। इसमे निर्गुण ब्रह्म विभाव, सगुण ब्रह्म अनुभाव तथा प्रिया का यूथ व्यभिचारी भाव है। इन सभी के सयोग से भक्ति रस की निष्पत्ति होती है।[2] ऊपर कही हुई १४ रस की लीला को स्पष्ट करते हुए वल्लभपुष्टिप्रकाशकार ने बताया है कि चतुर्थ पुरुषार्थ चार रस है। इनका स्वरूप भी विलक्षण है

१	वृन्दावने श्रीमान्	धर्मरस
२	क्वचिद् गायन्ति	अर्थरस
३	क्वचिच्च कलहासाना	कामरस
४	मेघगम्भीरयावाच	मोक्षरस

इन चार रसो के अतिरिक्त शेष १० रस ये है—

१	चकोर	शृगार रस
२	क्रौच	वीर रस
३	चक्र	करुण रस
४	भरद्वाज	अद्भुत रस
५	बर्हि	हास्य रस
६	व्याघ्रसिंह	भयानक रस
७	क्रीडा	वीभत्स
८	नृत्यन्ते	रौद्र
९	क्वचित् पल्लव	शान्ति
१०	अपरे स्तनोक्ति :	भक्ति रस[3]

---

१. वल्लभपुष्टिप्रकाश, पृ० २३३
२ वही २७५
३. वही २७७

इस व्याख्या से इतना स्पष्ट है कि रस सम्बन्धी धारणा की पुष्टि इनके काव्यो मे अवश्य मिलती है, चाहे इनकी व्याख्या अतार्किक एव असगत ही क्यो न हो। इनके अतिरिक्त हरिराय एव बालकृष्णभट्ट के मत किंचित् उल्लेखनीय ज्ञात होते है। सिद्धान्त रहस्य मे हरिराय ने कृष्णावतार को रसरूप बताया है। उनके अनुसार यह रसरूप अवतार त्रिधा है—

१ सयोगरसात्मक २ मूलरसात्मक ३ विप्रयोगरसात्मक

इस अवतार मे ब्रह्म का आनन्दस्वरूप स्फुट रहता है। यही आनन्दात्मकता ही रस है। इस सदर्भ मे उन्होने रूपगोस्वामी की परिभाषा दुहराई है। उन्होने भक्तिरस की इन तीन अवस्थाओ के लिए कृष्ण की तीन लीलाओ को दुहराया है।[2] उनके अनुसार कृष्ण की बाल्यावस्था स्थायीभाव, कैशोर अवस्था सयोग और युवावस्था वियोग है। वियोग ही रस की पूर्ण और अगम्य अवस्था है। अत॰ वही मूलरूप मे कहा जाता है। ये अवस्थाएँ कृष्ण के तीन आनन्दात्मक स्वरूपो की समर्थक है—

१. **अवतीर्ण कृष्णानन्द**
२ **सयोगानन्द**
३. **विप्रयोगानन्द या अगणितानन्द**[3]

इस प्रकार हरिराय के अनुसार वात्सल्य, सख्य और मधुर विषयक भाव ही रस है क्योकि वे ही सच्चे अर्थो मे कृष्णानन्द के उद्भावक है।

वल्लभ सम्प्रदाय की शृगार रसात्मकता के मडन के भाव की व्याख्या 'प्रमेयरत्नार्णव' मे भी मिलती है। रत्नार्णवकार के अनुसार भाव और रति मे अन्तर है ही नही। कृष्ण के प्रति सर्वात्मभाव ही कृष्णरति है। ब्रज की गोपियाँ सर्वात्मभाव से ही कृष्ण मे लीन हुई थी। इसलिए कृष्णलीला मे शृगाररस की सभावना अधिक है। यही कारण है कि यहाँ विरह भाव को अधिक प्रगाढता मिली है। इसी प्रगाढता मे ही भक्तिरस की निष्पत्ति सम्भव है।[4]

---

१ सिद्धान्त रहस्यम्, हरिरायगोस्वामी, पृ० ४

२ साहित्यवेत्ता ने रस को इस तरह से वर्णन किया है—

विभावैरनुभावैश्च सात्विके व्यभिचारिभि.
एषाकृष्णरति. स्थायीभावो भक्तिरसो भवेत्॥ पृ० ५

३ वही, पृ० ५ तथा ६

४ प्रमेय रत्नार्णव, पृ० ३१, ३२

निम्बार्क सम्प्रदाय मे आचार्य हरिव्यासदेव ने 'सिद्धान्तरत्नावली' मे भक्तिरस की व्याख्या की है। इसके साथ ही रसिकोपासक रामभक्तो मे सुन्दर-मणिसदर्भ नामक ग्रथ भी भक्ति विषयक मान्यता का सशक्त आधार माना जाता है किन्तु इन ग्रन्थो मे भक्तिरस विषयक मौलिक विवेचनाएँ प्राप्त नही है। रूपगोस्वामी की एतद्विषयक मान्यताओ का यहाँ पुनर्कथन मात्र मिलता है।

कविकर्णपूर गोस्वामी

भक्तिरस के विषय मे कविकर्णपूर गोस्वामी का मत भी उल्लेखनीय समझा जाता है। 'अलकार कौस्तुभ' के 'पचम किरण' मे इन्होने रस की व्याख्या करते हुए समस्त रसो को प्रेम से निष्पन्न बताया है।[1] उनके अनुसार भक्तिरस शेष १० रसो मे अपना पृथक स्थान रखता है। भक्तिरस के आचार्यो का कथन कि भक्ति अगीरस है—अनुचित है, क्योकि राधाकृष्ण का शृगार भी वस्तुत प्रेम ही हे। भक्ति के क्षेत्र मे यह मधुर रस के नाम से पुकारा जाता है। अत यह मधुर रस प्रेम से ही निष्पन्न होता है। भक्तिरस का स्वरूप उनके अनुसार शृङ्गारात्मक या प्रेमपरक है। शेष, भक्ति रस के विषय मे इनका विशेष योगदान नही है। वस्तुत ये भक्त आचार्य न होकर आलका-रिक शास्त्रकार ठहरते है।

निष्कर्ष

इस प्रकार भक्तिरस की निष्पत्ति एव स्वरूप विषयक धारणाएँ स्पष्ट है। मधुसूदन सरस्वती, रूपगोस्वामी एव वल्लभाचार्य तथा उनके अनुयायी सभी ब्रह्मानन्द को भक्तिरस की सज्ञा देते है। प्राय सभी इस आनन्द के लिए कृष्णरति अनिवार्य बताते है। कृष्णरति के लिए श्रद्धाभक्ति, भगवद्स्वरूपज्ञान, भक्ति के साधनो द्वारा आत्मशोध इस दिशा मे अनिवार्य बताए गए है। इनके विभावो, भावो एव स्थायी भावो के विषय मे प्राय.

---

१ अलकार कौस्तुभ, पचम किरण, पृ० १४८, १४९
प्रेमरसे सर्वे रसा अन्तर्भवन्तीत्यत्र महीयानेव प्रपच. केष चिन्मते श्रीराधाकृष्णयो : श्रृङ्गार एव रस। श्रृङ्गारोऽगी प्रेमाङ्ग अङऽग्रस्यापि क्वचिदुद्रिकना वय तु प्रेमागी श्रृङ्गारो न इति विशेष तथा च—

उन्मज्जन्ति नियज्जन्ति प्रेमयखडरसत्वत ।
सर्वे रसाश्च भावाश्च तरङ्गा इव वारिधौ ॥

मतैक्य है । इस दिशा मे मधुसूदन सरस्वती एव रूपगोस्वामी ने ही इसका स्पष्ट उल्लेख किया है । रूपगोस्वामी ने सचारियो की सख्या ३३ मानी है । ये तैंतीस सचारी भाव आलकारिक काव्यशास्त्रीय परम्परा मे ज्यो-के-त्यो उद्धृत कर लिए गए है । स्थायीभावो को शान्ति, प्रीति, सख्य, वात्सल्य एव मधुर रति के अन्तर्गत रखा गया है । विभावो मे आलम्बन तथा उद्दीपन ही है । आलम्बन के अन्तर्गत कृष्ण, कृष्ण के भक्त तथा विद्वान है । गोपियाँ, वृन्दावन एव लीलाएँ उद्दीपन के अन्तर्गत है । अनुभावो को मुख्य तथा गौण दो भेदो मे विभक्त किया गया है । सात्विक अनुभावो का कथन काव्यशास्त्रीय परम्परा से सम्बद्ध है । इस प्रकार पूर्व परम्परा से चली आती हुई रस सम्बन्धी सामग्री की योजना श्रीहरिभक्तिरसामृतसिन्धु मे विस्तार से मिलती है ।

हिंदी के वैष्णव भक्त कवियों की रस सम्बन्धी धारणाएँ

वैष्णव काव्य की पृष्ठभूमि मे स्वीकृत रस सम्बन्धी ये सिद्धान्त निश्चित ही अपना पृथक् अस्तित्व रखते है । इन धारणाओ से दो निष्कर्ष सहजतापूर्वक निकाले जा सकते है—प्रथम यह कि इस काव्य का मूल दृष्टिकोण अन्य मापदण्डो से पृथक् मात्र रसबहुल ही है । मधुसूदन सरस्वती ने स्पष्ट कह दिया है कि काव्य के अन्य मापदण्ड रीति, अलकार, वक्रोक्ति आदि भाव के वर्धक साधनमात्र है । अत ये गौण है । प्रधानता रस की है—ये समस्त मानदण्ड इसी रस को प्रशस्त करते है ।[1]

इससे एक दूसरा निष्कर्ष यह भी निकलता है कि इस रस सिद्धान्त मे मधुर को अधिकाधिक महत्त्व दिया गया है । मधुसूदन सरस्वती प्रियता को भक्तिकाव्य का प्रमुख स्थायीभाव मानकर शुद्ध भक्तिरस की सत्ता विशुद्ध, प्रेयस् एव वत्सल भाव मे स्वीकार करते है । वल्लभ सम्प्रदाय मे कृष्ण के वियोग आनन्द की महत्ता स्वीकार करके उसे सर्वतौधिक उत्कट गणितानन्द की सज्ञा दी गई है । रूपगोस्वामी इस मधुर रस के सर्वप्रबल समर्थक है । उन्होने मधुर रस की व्याख्या करते हुए उसे भक्तिरसराट् की सज्ञा दी है । आचार्य निम्बार्क भागवत आसक्तियो मे कान्तारति को सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण बताकर, उसे उज्ज्वल रति के नाम से पुकारते है । इस प्रकार स्पष्ट है कि मध्यकालीन वैष्णव काव्य की रसपरक दृष्टि मधुरता की ओर अत्यधिक सजग थी । हिन्दी के वैष्णव भक्तकवि भी रस शब्द का प्रयोग इसी सदर्भ मे करते हैं । वैष्णव आचार्यों द्वारा कथित भक्तिरस सम्बन्धी दृष्टिकोण

१ भक्तिरसायन, तृतीय उल्लास, श्लोक स० २०, २१

को और अधिक स्पष्ट रूप से समझने के लिए हिन्दी के वैष्णव भक्त कवियो की रस सम्बन्धी धारणा का अध्ययन आवश्यक है।

हिन्दी के वैष्णवभक्ति काव्य मे भक्ति की प्रधानता होने के कारण इसके विषय मे अनेक धारणाएँ दृष्टिगत होती है। कोई इनके काव्यत्व के ऊपर सदेह करता हुआ, इन्हे मात्र पौराणिक कथाकार मानता है[1] और कोई इन्हे मात्र साम्प्रदायिक कवि। आज भी भक्त समाज इनके कवि-व्यक्तित्व को अधिक महत्त्वपूर्ण नही समझता। वस्तुत यह तथ्य सम्पूर्णत ठीक नही है। रस ही काव्य की यदि सर्वोच्च कसौटी है तो ये काव्य के सबसे उदात्त तत्त्व के समर्थक तत्त्वद्रष्टा कवि है। उन्होने अपने काव्य का अन्तिम मूल्य रस को ही स्वीकार किया है चाहे वह काव्यरस हो या भक्ति रस। तुलसीदास ने मानसरूपक के सदर्भ मे काव्य के नवरस को चारु तडाग का जलचर कहा है।[2] एक दूसरे स्थल पर उन्होने अनन्त भावभेद तथा रसभेदो की चर्चा की है।[3] धनुषभग के प्रसग मे राम के उदात्त व्यक्तित्व मे शान्त, वात्सल्य, वीर, अद्‌भुत, भयानक, शृगार के समाहित होने की बात कही है।[4] लक्ष्मण-मूर्च्छा के प्रसग मे इन्होने करुण और वीर की परस्पर रस मैत्री का भी सकेत किया है।[5] तुलसीदास मानस के उत्तरकाण्ड मे राम और भरत के परस्पर मिलन को प्रेम और शृगार रस का मिलन स्वीकार करते है।[6] बाललीला की अलौकिकता की ओर सकेत करते हुए सूर ने कहा है कि जिस रस का उपभोग नन्द और यशोदा करते है, वह त्रिभुवन-दुर्लभ है।[7] रसमजरी के अन्तर्गत नन्ददास उसे रस की अनूठी रचना बताते हुए सम्पूर्ण रसानन्द के अधिष्ठान के रूप मे उन्होने कृष्ण का ही स्तवन किया है। इसकी महत्ता बताते हुए उन्होने कहा है, मै रसमय सरस्वती की वन्दना करता हूँ कि क्योकि उन्ही से ऐसे अक्षरो की प्राप्ति सम्भव है जो रसमय होगे, कवियो ने कोमल वर्णो की प्रशसा की है।" किन्तु उसके अनुसार रसहीन कोमल वाणी निरर्थक है

---

१ मानस दर्शन, श्री कृष्णलाल, पृ० १८८
२ रामचरित मानस, बालकाड, दोहा स ० ३७ की १०वी पंक्ति
३ रामचरित मानस, बालकाड, दो० स ० ६, अर्धाली १०
४ मानस, बालकाड, दो० स ० २४१ तथा २४२
५ मानस, लकाकाड, दो० स ० ६१
६ मानस, उत्तरकाड, छन्द स ० १
७ सूरसागर, पद स ख्या ८५६

क्योकि रसात्मक वाक्य के अभाव मे गूढ तत्व उसी प्रकार प्रच्छन्न रहता है यथा महाराष्ट्र प्रदेश की सुन्दरियो के स्तन ।[1] इसीलिए रसहीन अक्षरो के श्रोता को शीश धुनकर पछताना पडता है। सूरदास ने अनेक स्थलो पर भागवतरस एव हरिरस कहा है। सूर का दृष्टिकोण है कि हरिरस ही एक-मात्र उपभोग्य है क्योकि उसके उपभोग से आनन्द की उपलब्धि होती है। कृष्ण की बाललीला के सदर्भ मे उन्होने वात्सल्यरस को श्रवणपुटपान का एकमात्र इष्ट बताया है। भक्तमाल मे कृष्णभक्त कवियो के सदर्भ मे सूरदास, चैतन्य, वल्लभ, नन्ददास को रस का स्रष्टा कहा गया है। चैतन्य सम्प्रदाय के सभी कवियो ने एकमत होकर कृष्ण को अपनी अन्तिम गति बताई है। हरिदासी, हरिव्यासी एव राधावल्लभी सम्प्रदाय के समस्त कवि प्रेममूलक शृगार या मधुर भक्तिरस के प्रबल समर्थक ज्ञात होते है। इनके इस दृष्टिकोण को स्पष्ट रूप से समझने के लिए उनकी रस सम्बन्धी धारणा का पृथक् रूप से अध्ययन करना अपेक्षित है। इन कवियो की रस विषयक धारणाएँ निम्न है—

कृष्णरस ये कवि काव्यशास्त्री नही है। इन्होने भाव, विभाव एव अनुभावो की सैद्धान्तिक व्याख्या नही की है। किन्तु भक्ति के आवेश मे आकर रस शब्द का प्रयोग अवश्य किया है। इस कृष्णरस का सकेत प्राय राधावल्लभी, हरिदासी, हरिव्यासी एव यत्किचित् वल्लभ सम्प्रदाय मे हुआ है। सूरदास इस रस की व्याख्या करते हुए बताते है कि जिस व्यक्ति का मन इस रस में लग जाता है, उसे अन्य रस फीके लगते है। उसकी उन्मादपूर्ण मानसिक चित्तवृत्ति उसे पागल बना देती है। वह इस सुख-सवाद का निर्देश नही कर पाता क्योकि वह रस तो गूगे का गुड है।[2] इस कृष्णरस का दूसरा नाम हरिरस है। रस मजरी के आरम्भ मे नन्ददास कृष्ण को आनन्दघन मानकर उन्हे परम रसमय, रसकारण एवं रसिक कहते है।[3] यही नही, आगे उन्होने यह भी कहा है कि प्रेम रूप आनन्द रस जो इस विश्व मे है वह सब गिरिधर देव का ही है। उनसे पृथक् यह रस है ही नही।[4] भौतिक रस उन्ही के उच्छलन मात्र है। अत इसी रस का गान करना इष्ट था। परमानन्ददास

---

१. रसमजरी, दो० स० २०
२. सूरसागर . द्वितीय स्कन्ध, पद स० ३५३
३. रासपचाध्यायी प्र० अ०, रो० स० ६५
४. रसमजरी, दोहा स० १

ने इस कृष्णरस का कारण राधा एव कृष्ण की परस्पर केलि माना है। वे कहते है कि राधा और कृष्ण परस्पर केलिक्रीडा से कृष्णरस की वर्षा कर रहे है। कृष्णरस की उत्कृष्टता का समर्थन राधावल्लभ सम्प्रदाय के कवि हरीराम व्यास करते है। व्यास जी के अनुसार जो निरन्तर श्यामरस का पान करता है वही जीवन्तता प्राप्त करता है। जो श्यामरस का रसिक बनकर जीवित रहता है वही तृप्त है, और वह कृष्णरसासव का पानकर बावला बना घूमता फिरता है।[1] चतुर्भुजदास के अनुसार कृष्णरस शरद्शशि की भाँति है और भक्त आँखो को चकोरिनी बनाकर जीवित रहता है।[2] परमानन्ददास तथा भक्त कवि व्यास के अनुसार कृष्णरस शरद्-शशि की भाँति है और आँखो को चकोरिनी बनाकर उसके पान की ओर सचेष्ट कर देना चाहिए।[3] इन कथनों से इस प्रकार निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि कृष्णरस इनके काव्य एव भक्ति साधना का मूलरस है। उसका स्वभाव आनन्दपरक एव उसका स्थायीभाव कृष्णरति है। सात्विक अनुभावो मे विह्वलता, एकाग्रता, उन्माद एव उद्दीपन कृष्णकेलि है, गोपिकाएँ भी उद्दीपन स्वरूप ही है।

प्रेमरस कृष्णरस के बाद इन कवियो ने प्रेमरस की चर्चा की है। इस प्रेमरस को उन्होने दो प्रकार का माना है १—साधन-रूप प्रेमरस २—साध्य-रूप प्रेमरस।

साधनरूप प्रेमरस . निम्बार्क माधुरी मे इस साधन-रूप प्रेमरस का उल्लेख करते हुए 'हरिप्रिया' ने बताया है कि यह प्रेम रस परा प्रेम का पथ है। यह नित्य, रास रस के उल्लास एव आनन्द का प्रेरक तथा प्रतिष्ठापक है। यह साधनरूप रस समस्त तत्त्वो मे सत्व, समस्त सिद्धान्तों का सार तथा समस्त सुखो का उद्भावक है।[4] इस साधन-रूप प्रेमरस का सकेत करते हुए नन्ददास ने बताया है कि यह रस कृष्ण केलि से ही निष्पन्न होता है। उनके अनुसार जिस प्रकार जल से ही निष्पन्न होकर जलधर जल की वर्षा करते है, जल अन्यत्र से नही आता, जिस प्रकार अग्नि से अगणित दीप

१ रसमजरी, दोहा स० ७
२ चतुर्भुजदास, पद स० ३, ८०
३ परमानन्दसागर, पद स० ५९० तथा भक्तकवि व्यास जी, पद सं० ३८०
४ निम्बार्क माधुरी, श्री हरिप्रिया, पृ० ५९

जलकर अन्तत अव्यक्त अग्नि मे प्रवेश कर जाते है, उसी प्रकार प्रेम रस कृष्ण से निष्पन्न होकर उन्ही मे विलीन हो जाता है ।[1]

साध्यरूप प्रेमरस

यह साधन-रूप प्रेमरस से किचित् भिन्न है। इस साध्यरूप प्रेमरस की व्याख्या सरल नही है क्योकि यह अनुभवैकगम्य है, फिर भी यह अपने प्रभाव के कारण सुगम बन जाता है। चतुर्भुजदास ने इसका स्वभाव अतृप्तिकर बताया है। इस साध्यरूप प्रेमरस का कारण स्वत लीलारूप कृष्ण है। इस लीलारूप को सूरदास ने प्रेम का सागर कहा है, जिसमे निमग्न होकर गोप-ग्वाल-गोपिकाएँ विह्वल हो जाती है।[2] इन्हे अन्य भौतिक आकर्षणो से कोई रुचि नही है। साध्य प्रेमरस सम्बन्धी अनेक पद मीरां साहित्य मे मिलते है। उन्होने अनेक बार इस प्रेमरस मे निमग्न हो जाने की बात कही है। भक्त कवियो के पदो से ज्ञात होता है कि उन्हे एकमात्र यही रस प्रिय है। इस साध्य प्रेम रस की सर्वप्रथम उपासिका गोपिकाएँ है, जिन्होने इस रस मे बिधकर अपना सर्वस्व दान कर दिया।[3] इस साध्यरूप रस को इन गोपिकाओ ने 'नेहरस' भी कहा है। जिस प्रकार सरिता एव सिन्धु परस्पर मिलकर एक हो जाते है, उसी प्रकार गोपियाँ विषय-रूप से आश्रय कृष्ण मे लीन हो गई थी। इस साध्य रस की तुलना मे उन्होने अन्य रसो का त्याग कर दिया। परम्परा का सकेत करते हुए उन्होने नारदादि मुनियो को इस साध्यरूप प्रेमरस का रसिक बताया है।[4] इन कवियो की साध्यरूप प्रेम रससम्बन्धी प्रतिज्ञा भी विचित्र है। वे जहाँ देखते है, मनोहर कृष्ण ही दिखाई पडते है। दूसरी ओर उनकी दृष्टि जाती ही नही। उनकी दृष्टि एव रोम-रोम रस से भरकर कृष्ण के लिए आकुल है। वे इसे मात्र अनुभवैकगम्य ही बताते है। उनके अनुसार इस रस का वर्णन स्वत शेष अपने मुख से नही कर पाते, उसी रस को राधा अपने स्तनो के बीच छिपाए हुए है।[5] इस साध्यरूप प्रेमरस को परमानन्ददास ने राधा केलि से निष्पन्न बताया है। स्वत कृष्ण राधा से कहते है—हे राधे, मैने तेरे स्पर्श से इस

---

१ रसमजरी, दो० स० २ की अर्धालियाँ

२ सूरसागर, दशम स्कन्ध, पद स० ६४

३ परमानन्ददास, पद स० १२८

४ वही ४०६ . ४७८

५ परमानन्दसागर, पद स० ५४६

अगाध साध्यरूप प्रेम रस का अनुभव किया है। जिस रस को निगम नेति कहकर पुकारते है, उसे मैने तेरे अधरो के सस्पर्श मात्र से पा लिया। इसके प्रत्युत्तर मे राधा कहती है—माधव! अब मै तुझे जाने नही दूँगी। मै अपना सर्वस्व देकर तुझसे वह रस प्राप्त करूँगी।[1] इस साध्यरूप प्रेमरस का स्वरूप आगे चलकर सयमित न रह सका। उसमे अलौकिक वासना की गन्ध इतनी तीव्र हो गई कि आध्यात्मिक आवरण उसने छिन्न हो गया। केलिमाल मे स्वामी हरिदास राधा से कहलवाते है—

आउ लाल ऐसौ रस पीजे, तेरो झगा मेरी अगिया धरि
कुच की सुराही, नैननि को प्याले, दारु देउगी यो अको भरि
अधरन चवाइ लेउ प्रेमरस तनिकौ न जान देउ इत उत ढरि[2]

इस साध्यरूप प्रेमरस का गौडीय सम्प्रदाय मे अनेक रूपो मे कथन हुआ है। राधावल्लभ सम्प्रदाय के अन्तर्गत व्यास जी ने इस साध्यप्रेम को पूर्णत लौकिक स्तर पर प्रतिष्ठित किया है। सौन्दर्य बोध तत्त्व के अन्तर्गत इनकी व्याख्या से स्पष्ट हो जाता है कि स्वरूप चित्रण तथा उसके प्रति उनकी मानसिक आसक्ति अलौकिकता के वातावरण मे छिपाने से भी न छिप सकी। उन्होने प्रेम रस के विभावो मे वृन्दावन, श्याम, श्यामा, कुज आदि को रखा है। आगिक चेष्टाओ मे नयन सैन, भ्रू-भग, विलास, हास्य, कटाक्ष, आलिगन एव सुख के अनेकानेक रूपो को राधाकृष्ण की लीला का सहज रूप बताया है। उनके अनुसार यह प्रेमरस भी सहज है।[3] इसी सहज प्रेमरस को अन्यत्र बताते हुए उन्होने कहा है—सुख, रस, आनन्द इन तीनो अवस्थाओ मे राधा-कृष्ण साथ-साथ रहते है—उनकी प्रीति रसरीति, रसरङ्ग, विलास, उरज माधुरी, वसन, भूषण, विनोद, रागभोग, सहज है। इस प्रकार इनका यह प्रेम अपने आप मे सहज है। व्यास जी ने इस सहज प्रेमरस के अनुभावो तथा सचारी भावो की नित्यनूतनता का प्रतिपादन खुलकर किया है। उनके अनुसार मात्र यही रस नित्यनूतन है। यही नही, इस साध्यरस से सम्बन्धित नवरग, रस अनुराग एव गुण नित्य नवीन है। उनके रूप और यौवन नवीन है। वृन्दावन तरुवर निकुज भी इससे पृथक् नही है। इस रस के उद्दीपन घन,

---

१ परमानन्दसागर, पद स० २४२, २४३

२ केलिमाल, पद स० ७४

३. भक्तकवि व्यास जी, प० स० २४२, २४३

दामिनी, राग, रागिनियाँ भी नित्य नूतन हे । चूनरी, पीतपट, मुकुट, सिर-पाटी आदि अलकरण भी नूतन है । उनकी परस्पर प्रेमपरक चेष्टाएँ-चुम्बन, परिरभण कुचमर्दन, आदि भी नवीनता से युक्त है । इस प्रकार इनसे निष्पन्न सुरति हाव, भाव एव प्रेम रस नवीन है । इनमे अनवीनता कही से भी नही आ पाती क्योकि इस प्रेम की भूमिका के समस्त प्रेरक तत्त्व अपनी उत्कृष्टता मे नित्य नवीनता के सूचक है ।[1] रस के इस स्वरूप का निरूपण करते हुए चतुर्भुजदास ने राधा-कृष्ण के श्रवण, स्पर्श, क्रीडा स्वभाव सभी को रस सज्ञा से अभिहित किया है ।

रस ही के बस कुँवर कन्हाई

रसिक गोपाल रसिक रस रिझवत रस ही मे तासो रिस तजि री काई ।। प्रिय को प्रेम रिस सो न होई रसीली राधे रस मे स्रवन बचन सखदाई । चतुर्भुजदास प्रभु गिरिधर रस बस भयो, तासो कुरसकत मिलि रहे हिदरय लपटाई[2]

इस प्रकार इन कवियो द्वारा कथित यह साध्यरूप प्रेमरस इनके काव्य का सारतत्त्व ज्ञात होता है । ये काव्य मे इसकी स्थापना की ओर सजग मिलते हे ।

रासरस इन रसो के साथ इन कवियो ने रास को पृथक् रूप से रस की सज्ञा दी है । रस इसलिए है कि क्योकि वह आनन्द का उद्भावक एव प्रेम का एकमात्र साक्षी हे । कृष्ण भक्ति काव्य के कवियो ने मुक्तकण्ठ से रास को रस स्वीकार किया है । उनके अनुसार इस रासरस की तुलना मे अन्य रस गौण है ।[3] परमानन्ददास का अपना विश्वास है कि इसी रास रस मे ही विहार करने के कारण गोपिकाओ को सुधारस मिला था और वे उस सुधारस का पान करके अमर हो गई ।[4] रासपचाध्यायी मे नन्ददास ने इस रासरस की महत्ता अनेक शब्दो मे बताई है । उनका विश्वास है कि कृष्ण ने रस की पुष्टि के हेतु रासरस की स्थापना की थी । गोपियाँ एव स्वत. कृष्ण व्याकुल होकर इसी रस मे आरूढ निमग्न हो गए थे। निमग्नता के पश्चात् उन्हे उज्ज्वल रस की उपलब्धि हुई । इस उज्ज्वल रस के प्रभाव से उनकी छवि

---

१ भक्तकवि व्यास जी, पृ० स० ३७५
२ चतुर्भुजदास, पृ० स० २६६
३ चतुर्भुजदास, पृ० स० ३४८
४ परमानन्द सागर, पृ० स० १००५

स्नेह, उनके कथन सभी अलौकिक हो गये। इस प्रकार यह रासरस रससृष्टि मे एकमात्र सहायक है।[1] इस रासरस का निष्कर्ष निकालते हुए उन्होने रासपचाध्यायी के अन्तिम अध्याय मे बताया है कि यह रस नित्य है क्योकि इसके आलम्बन गोपीवल्लभ कृष्ण नित्य है। नित्य निगम कहते है कि नित्य रासरस भक्तो के लिए भी नित्य है। यह रासरस लीला का गान हरिदासो के सग ही सम्भव है। इस प्रकार का गायक निश्चित रूप से रसमय भक्ति का भोक्ता है।

लीलारस कृष्ण भक्तिकाव्य के वैष्णव कवि कृष्ण की वात्सल्य एव मधुर लीला को लीलारस के नाम से सम्बोन्धित करते है। सूरदास ने अनेक बार कृष्ण के वात्सल्य के लिए लीलारस कहा है। परमानन्ददास कृष्ण को परम आनन्दमय स्वीकार करके कहते है कि लीला स्वत रस रूप है। चूकि उनकी लीला रस रीति पर आधारित है। अत इसके अतिरिक्त उसका कोई अन्य स्वरूप ही नही। इस लीलारस के अन्तर्गत इन कवियो ने राधाकृष्ण की केलि विषयक एव मधुरभाव से अनुप्राणित पद ही रखे है। राधाकृष्ण की केलि का वर्णन करते हुए स्वामी हरिदास कहते है कि राधा और कृष्ण परस्पर क्रीडा करते हुए लीलारस मे पग उठे। अलौकिक राग-रागनियाँ बज उठी। नर्तन एव सगीत का वातावरण अलग ही उन्माद उत्पन्न कर रहा है। राधा और कृष्ण दोनो इस राग-रग मे सुध-बुध खो बैठे है।[2] श्रीभट्ट जी ने इस लीलारस को प्रिया का एकमात्र अग माना है। इसी भाव का एक पद इसके आगे कहते हुए वे बताते है कि इस लीला को कृष्ण ने अन्तत मनरजनरस मे परिणत कर दिया है। नन्ददास ने गोपाल के इस लीलारस को नित्यनूतन बताया है। उनका विचार है कि गोपाल की लीला गूढ रस के नाम से पुकारी जानी चाहिए क्योकि शिव, शुक, नारद, सरस्वती आदि इसे ही महारस के रूप मे जानते है। इस रस के आलम्बन एव उद्दीपन रूप गोपियो को क्या कहे वे मूर्ख इस गूढ रस को क्या समझेंगी उनके लिए तो यह सहजगम्य साधारण एव सहजोपलब्ध है। यह रस स्वत इतना गूढ है कि उनकी निकटवर्तिनी कमला भी नही समझ सकी है, उसे दूसरा क्या

---

१ रास प चाध्यायी, नन्ददास, प्र० आ० रोला स ० ५६, ६५, ७२

२ निम्बार्क माधुरी, श्री भट्ट जी, पद स ० ४०

३ रास प चाध्यायी, प चम अध्याय, दो० स ० ११५, ११६, ११७ ११८

समझेगा। निश्चित ही, यह लीलारस अपने आप मे गूढ एव रहस्यमयी हैं।[1]

उज्ज्वलरस उज्ज्वलरस का उल्लेख सामान्यतया तीन कवियो ने किया है अष्टछापी, नन्ददास, हरिदासी सरसदास एव राधावल्लभी हरीराम व्यास ने। गौडीय सम्प्रदाय के सूरदास मदनमोहन तथा अन्य कवियो ने इसका नामोल्लेख नही किया है। नन्ददास, रसमजरी मे इसे दो स्थलो पर रस कहकर पुकारते है। एक तीसरे स्थल पर उन्होने इसे उज्ज्वल प्रेम कहा है। नन्ददास ने उज्ज्वल का स्वभाव बतलाते हुए कहा है कि इसके उत्पन्न होते ही आलम्बन आश्रय एव विषय अलौकिक हो जाते है। उनकी वाणी भी इसके प्रभाव से अलौकिक हो जाती है। दूसरे स्थल पर वे रास पचाध्यायी के प्रसग रस ध्वनि को उज्ज्वलरस की सज्ञा देते है।[2] वे सहृदयो को सकेत करते हुए बतलाते है कि यह उज्ज्वलरस की माला अनेक यत्नो से पोई हुई है, इसका उपयोग सावधानी से करना, देखना कही टूटने न पावे। सरसदास और हरीरामव्यास उज्ज्वलरस का प्रयोग एक ही प्रसग मे करते है। राधा और कृष्ण परस्पर आसक्त है, वे परस्पर प्रेम-जर्जर होकर एक दूसरे को कठ से लगा लेते है। उनके अग परस्पर सान्निध्य से सुख पा रहे है, इस प्रकार दोनो उज्ज्वलरस का उपभोग कर रहे है।[3] ठीक इसी केलि से उद्भूत उज्ज्वलरस का उल्लेख व्यास जी ने भी किया है। इनके अनुसार यह उज्ज्वल रस राधाकृष्ण की मधुर लीला से निष्पन्न प्रेम रस है।

अन्यरस इसके अतिरिक्त अन्य वैष्णव कवियो ने अनेक स्थलो पर रस की अनेक रूप मे चर्चा की है। तुलसी ने काव्य रस का सकेत किया है, उन्होने शान्त, हास्य, करुण, शृगार, वीभत्स, वीर, अद्भुत आदि की यत्र-तत्र चर्चा की है, जिनका उल्लेख पूर्व ही हो चुका है। सूर एव नन्ददास ने शृगार रस का सामान्य उल्लेख किया है। इन काव्यरसो के साथ-ही-साथ ये कवि अन्य कवित्त रसो की भी चर्चा करते है। राधावल्लभी हितहरिवश एव हरीराम व्यास वृन्दावन को रस स्वीकार करते है, क्योकि वह उनके आराध्य

१ रासप चाध्यायी, पद स ० ३१

२ रासप चाध्यायी, प्रथम अध्याय, रोला स ० ७१ तथा प चम अध्याय, रो० स० ४० तथा ६१

३ स्वामी हरिदास जी और उनकी वाणी, सरसदास प० स ० ७

४ भक्तकविव्यास जी, प० स० ३७१, ४५३, ५६०, ५५८

की क्रीडास्थली है। उन्होने इससे पृथक् भी गान रस, सेज्यारस, आतुररस, विहाररस, रतिरस आदि अनेक रसो का स्वीकरण किया है।

परमानन्ददास की रस विषयक सूची इस दृष्टि से और भी अधिक विस्तृत है। रस की सत्ता का स्वीकरण करते हुए इन्होने आँख रस, कान रस, बतरस, सबरस, नन्दनन्दन मे मे पइयत[1] कहा है। इन रसो के साथ एक महत्त्वपूर्ण उल्लेख भक्तिरस का भी मिलता है। यह कथित और व्यग्य दोनो रूपो मे प्राप्त है। इस भक्तिरस का उल्लेख मात्र मधुर पदो मे ही नही, अपितु विनय के पदो मे भी मिलता है। सूरदास विनय के दो पदो मे इस भक्तिरस की चर्चा करते है। उन्होने कहा है कि इस भक्तिरस के उपभोग से यह मन विह्वल हो जाता है। यह सदैव एकरस है, मन रूपी मृगी रस भक्ति कमलरस मे निरन्तर लीन रहती है। नवधा भक्ति इस कमल की किजल्क है तथा नारद, शुक, सनकादि अनेकानेक मुनि भृग इस भक्ति रस मे निरन्तर गोते लगाते रहते है। इसकी कल्पना मात्र से स्वर गदगद हो उठता है, कठ भीग जाता है, रोम-रोम आकुल हो उठता है। दूसरे स्थल पर वे कहते है कि कृष्णचरण अम्बुज ही रस है, बुद्धि पात्र है और भक्त अपने प्रेम से निरन्तर उसमे मग्न रहते है। सूर की विनयपरक यह सुखात्मक रसानुभूति आनन्दवर्धन द्वारा समर्थित तृष्णाक्षयसुख के अतिरिक्त और क्या है ? भक्तो का एकमात्र इष्ट इसी रस मे लीन होना है। तुलसी ने एक स्थल पर श्रद्धा, प्रेम एव भक्तिरस का एक साथ ही स्मरण किया है। भक्तिरस सम्बन्धी इस धारा से स्पष्ट है कि ये कवि आराध्य की मधुरलीला ही नही, उनके पूर्ण व्यवहार को भक्तिरस कहते है।

निष्कर्ष

निष्कर्ष रूप से कहा जा सकता है कि रस एव रस स्वभाव निरूपण के सदर्भ मे इन कवियो द्वारा निर्दिष्ट कृष्णरस, प्रेमरस, रासरस, लीलारस भक्तिरस मान्य है। रस का निरूपण एक पृथक् शास्त्र के रूप मे हुआ है, जिसका स्पष्ट रूप से इन कवियो ने उल्लेख कम किया है। रूपगोस्वामी आदि के प्रयत्न-काव्य परम्परा से प्रेरित है। उनमे उतनी स्वच्छन्दता नही है, जितनी एक पृथक् सिद्धान्त, निरूपण के क्रम मे देखी जाती। वैष्णव भक्त-

---

१ परमानन्दसागर, पद स० २४७, २४८

कवियो की रस विषयक इन धारणाओ से निम्नलिखित निष्कर्ष निकाले जा सकते है—

१ रस का अर्थ ये मात्र आनन्द से लेते है। यदि इसी आनन्द का मध्यम कृष्ण की वार्ता है तो वह वार्तारस होगा और लीला है तो लीला रस। इसी सदर्भ मे उन्होने आनन्द के समस्त उद्दीपक तत्त्वो को रस सज्ञा से अभिहित किया है। इस प्रकार इनके अनुसार रस आनन्द है।

२ इस आनन्दरस की मानसिक स्थिति को स्पष्ट करने के लिए इन्होने इसे उज्ज्वलरस, प्रेमरस एवं भक्तिरस की अभिधा दी है। प्रेमरस प्रेमक्रीडा मे आसक्त भक्त मन का वह स्वभाव है जो प्रेममूलक स्थिति विशेष मे विह्वल हो उठता है। उज्ज्वल रस सम्बन्धी इनका दृष्टिकोण स्पष्ट है। कृष्ण के उदात्त प्रेम को इन्होने उज्ज्वलरस कहा है। यह कही-कही प्रेम के पर्याय रूप मे स्वीकृत है, कही साध्यरूप मे। इन कवियो ने इस उज्ज्वलरस का शास्त्रीय सकेत नहीं दिया है, किन्तु इनके कथनो से स्पष्ट है कि कृष्ण का मधुर लीला से निष्पन्न लौकिक शृगार शून्य रसराट् प्रेमरस ही उज्ज्वलरस है। भक्तिरस इन सबसे पृथक् है। इन कवियो के अनुसार वात्सल्य, दैन्य, सख्य, मधुर आदि समस्त भावो मे भक्तिरस की निष्पत्ति होती है।

३ रस के ये कथन साकेतिक रूप से इनकी काव्य प्रकृति का भी सकेत करते है, यद्यपि सत्य है कि समस्त वैष्णव भक्तकवियो ने इन रसो का सकेत नही किया है किन्तु आनन्द की एक विशेष स्थिति को प्राय. सभी ने रस रूप मे स्वीकार किया है। इस प्रकार इनके काव्यो की मूल प्रवृत्ति अधिकाधिक आनन्दमूलक है।

४ इन रसो का एक और भी स्वभाव है। वैष्णव काव्यशास्त्रो मे रस का उल्लेख मिलता है। ये रस हैं शान्त, दास्य, सख्य, वत्सल एवं मधुर। मधुसूदन सरस्वती ने तीन ही भावो को रति की संज्ञा दी है। वल्लभ सम्प्रदाय मे सख्य, वात्सल्य एवं माधुर्यभाव को प्रधानता मिली है। इसके अतिरिक्त निम्बार्क

तथा रसिक सम्प्रदायो मे पॉच रस की चर्चा की गई है। हिन्दी के वैष्णव कवियो ने रस रूप मे मधुर को छोडकर किसी की चर्चा नही की है, किन्तु एतद्विषयक भाव अवश्य मिलते हैं। पदो की अधिकाधिक सख्या मधुर विषयक ही है। वात्सल्य, दास्य, सख्य एव शान्त विषयक पद उनकी तुलना मे अल्प है।

५ ये कवि एव भक्त आचार्य कृष्ण या राम के उस उदात्त व्यक्तित्व से सम्बन्धित भावो का विवेचन नही करते। जिनसे सम्बन्धित पद अष्टछाप एव रामभक्ति काव्य साहित्य मे प्राप्त है। अष्टछाप के पदो मे असुर बध से सम्बन्धित भाव प्राय सूर, परमानन्ददास, नन्ददास के काव्य मे ही मिलते है। तुलसी की मूलदृष्टि इसी उदात्त भाव की अभिव्यक्ति की ओर अधिकाधिक उन्मुख मिलती है। एतद्विषयक काव्य के मूलभाव ओज एव उदात्त से समन्वित है जिनका अध्ययन उपयोगितावादी एव सौन्दर्यवादी दृष्टिकोण के रूप मे पृथक् किया जायेगा किन्तु इसके विषय मे मात्र इतना कह देना आवश्यक है कि इस ओर काव्यशास्त्रियो की दृष्टि कम ही गई है। रूपगोस्वामी ने इस वीर एव ओज के भाव को गौणरस एव मधुसूदन सरस्वती ने मिश्रित भाव के अन्तर्गत स्वीकार किया है। वस्तुत उनके ये दृष्टिकोण स्वत सकीर्ण है। भक्तिकाव्य मे प्राप्त उदात्त, प्रियता आदि ये भाव परिणाम मे अधिक उत्कट है। इससे सम्बन्धित साहित्य को यो ही छोडा नही जा सकता।

रस एवं वैष्णव भक्तिरसों का तुलनात्मक अनुशीलन

क **स्वभाव** वैष्णव भक्तकवियो के रससम्बन्धी प्रयोगो के अध्ययन के आधार पर यह निष्कर्ष सरलतापूर्वक निकाला जा सकता है कि इनका दृष्टिकोण उसके आनन्दात्मक स्वरूप से सम्बन्धित था। इस आनन्दात्मक दृष्टिकोण को पुष्ट करने वाले मुख्य तीन भाव है—सख्य, वात्सल्य एव मधुर। शान्तरस के विषय मे इनका दृष्टिकोण प्राय तृष्णाक्षयसुख के समकक्ष है तथा दास्य के मूल मे इनकी आत्मतुष्टि की भावना निहित है। तुलसी ने स्पष्ट कहा है कि मै अपनी समस्त आपत्तियो को आपमे समर्पित करके तुष्ट हो गया हूँ। दास्य वस्तुत स्वामी के प्रति दास्यमन का समर्पण है।

इस प्रकार रस के विषय मे कथित इनके दृष्टिकोण मूलत आनन्दात्मक हैं। यदि इनके दो मे प्रधानता की दृष्टि से देखा जाय तो ओज सम्बन्धी पद भी उत्साह भाव के सूचक न होकर रतिमूलक भावना के समर्थक ही हैं। निष्कर्षत वैष्णव भक्त कवियो की रसविषयक मूलप्रवृत्ति रतिमूलक है।

रति मानव की एक मूल प्रवृत्ति है जिसका विकास उसमे तृप्ति एव अतृप्तिमूलक भावनाओ के साथ होता चलता है। तृप्ति और अतृप्ति व्यक्ति के व्यक्तित्व के साथ विकसित होकर मात्र रति की ही सृष्टि नही करते अपितु उनसे विरतिमूलक भावनाओ का भी विकास होता है। मैग्डूगल प्रवृत्तियो के दो विभागो मे रखकर उन्हे स्रजनात्मक एव विनाशात्मक भावो की सज्ञा देता है।

स्रजनात्मक भाव प्रेम, उत्साह, सहगामिता एव विनाशात्मक ईर्ष्या, क्रोध, द्वेष आदि है। उसके अनुसार स्रजनात्मक भावना तृप्तिमूलक भावनाओ से विकसित होती है एवं ध्वसात्मक प्रवृत्तियो का विकास अतृप्तिमूलक भावनाओ से होता है। रस मन के भावना जगत् (Feeling) से प्रत्यक्षत सम्बद्ध होने के कारण 'इस स्वभाव से पृथक् नही हो पाता' इनके अधिकाधिक लक्षण उनमे मेल खा जाते है। इस दृष्टि से रस को दो भागो मे रखा जा सकता है

१ रतिमूलक	२ विरतिमूलक
शृंगार	रौद्र
हास्य	वीभत्स
वीर	करुण
अद्भुत	भयानक

इन दोनो के अतिरिक्त काव्य मे एक मिश्रित भाव भी प्रयुक्त होता है, उसे शान्तरस कहा जाता है। इसमे रति और विरति दोनो प्रवृत्तियाँ निहित है। वस्तुत रस का यह मनोवैज्ञानिक स्वरूप मनस्जगत के एक विस्तृत स्वभाव की सूचना देता है। वैष्णव भक्त कवि रसो को मात्र तृप्तिमूलक ही मानते है। उनके अनुसार अतृप्ति अभाव का सूचक होकर उनके पूर्ण ब्रह्म का आलोचक गुण है। किन्तु यह धारणा सामान्य विश्वास पर आधारित है, न कि मस्तिष्क के उस स्वभाव पर जिससे मनोभावो एव मनोविकारो का सम्बन्ध है। अत रस की मूल प्रवृत्ति के विषय मे उनका दृष्टिकोण अपूर्ण है।

तृप्ति एव अतृप्ति एक प्राकृतमस्तिष्क की अभिव्यक्ति है। मनोवैज्ञानिक तथ्य के अनुसार मात्र सुख या दु ख का बोध अपूर्ण एव कृत्रिम मस्तिष्क का ही गुण हो सकता है। अत रस से सम्बन्धित भाव जगत को मात्र सुखात्मक स्वीकार करना अपूर्ण, सकुचित एव कृत्रिम मस्तिष्क का फल है। यद्यपि यह सत्य है कि उनका यह आनन्दवादी दृष्टिकोण नैतिकता की दृष्टि से उदात्त एव परिष्कृत भले ही हो, किन्तु मनोवैज्ञानिक रूप से अपरिष्कृत ही कहा जावेगा क्योकि रस निर्वैयक्तिक मस्तिष्क का गुण है, नैतिक मस्तिष्क का नही।

ख विस्तार विस्तार की दृष्टि से यदि इस रस की तुलना करे तो निश्चित ही इनमे सकीर्णता का दोष मिलेगा । भक्त मस्तिष्क साम्प्रदायिक मस्तिष्क है, जिसकी रचना एक निश्चित वातावरण मे निश्चित अभ्यास के द्वारा होती है। भक्ति के साधनो का निरन्तर अनुशीलन उसके फलस्वरूप कृष्णरति की निष्पत्ति, तदनन्तर भक्तिरस का उदय, इसकी प्रक्रिया है। भक्ति काव्य मे भी सहृदयो की एक विशेष श्रेणी होती है। वे एक निश्चित पद्धति से प्रशिक्षित होते है। इस प्रशिक्षण का महत्त्व कवियो एव सहृदयो की दृष्टि से क्षेमेन्द्र औचित्य विचार चर्चा ग्रथ एव राजशेषर की काव्यमीमासा मे भली भाति निरूपित है । किन्तु इसके साथ ही साथ, रस स्वभाव के सदर्भ मे इसे सामाजिक का सस्कारी गुण भी स्वीकार किया गया है। तात्पर्य यह कि, शिक्षा इस सस्कार को माँजती है। इस शिक्षण के अभाव मे भी प्रेक्षक, श्रोता, पाठक, काव्यरस का आस्वाद ले सकते है। साधारणीकरण के अभिनवगुप्त द्वारा निर्दिष्ट सात व्याघातक तत्त्व सस्कारो के विरोधक न होकर प्रशिक्षण के विरोधक है। किन्तु भक्ति रस इस दृष्टिकोण से मानव-सस्कार का गुण नही है। यद्यपि भक्त कवियो एव अनेकानेक दार्शनिको ने आत्मा के स्वभाव को आनन्दात्मक स्वीकार कर उसके उस गुण को सनातन बताया है, किन्तु हम काव्य मे जिस रस का अध्ययन करते है, उसका सम्बन्ध मस्तिष्क से है, तथा उसे प्रकृत (Normal) मानव की चेतना के रूप मे स्वीकार किया जाता है। आत्मा के विषय मे आज के विज्ञानवादी दार्शनिक ह्यूम, बर्कले, लॉक, आदि पूर्णत असहमत है। मनोविज्ञान भी इसके विषय मे कोई स्वीकृति नही देता है। इस प्रकार यह निश्चित है कि इन वैष्णव भक्त कवियो की रस सम्बन्धी धारणा एक सीमित वातावरण की उपज है।

ग परिभाषा यदि वैष्णव भक्तिकाव्यो मे परिभाषा की दृष्टि तुलनात्मक अध्ययन करे तो यह और भी निश्चित हो जाता है कि इनका रस विषयक सिद्धान्त काव्यशास्त्रीय दृष्टिकोण पर आधृत एव अनुकृत मात्र है। यह इस प्रकार है

रस की परिभाषा[1]

भक्ति रस की परिभाषा के सदर्भ मे रूपगोस्वामी और मधुसूदन सरस्वती के विचारो का उल्लेख किया जा चुका है। इनकी भक्तिरस विषयक परिभाषाये इस प्रकार है—

मधुसूदन सरस्वती भक्ति विषयक विभाव, अनुभाव एव सचारी भावो के सयोग से सुखमूलक स्थायीभाव निर्मित होकर रस की व्यजना करते है।

रूपगोस्वामी विभाव, अनुभाव, सात्विक एव सचारीभाव से परिपुष्ट सामग्री रसरूपता को प्राप्त होती है। यह रसरूपता श्रवण आदि नवधा भक्ति के साधनो से प्रयुक्त होकर भक्तो के हृदय मे पुष्ट होती है। इस प्रकार इसका स्थायीभाव कृष्णरति है, इसी कृष्णरति स्थायीभाव से निष्पन्न होने वाला रस भक्तिरस है —

रस की इस परिभाषा मे कोई नवीनता नही है। पूर्ववर्ती काव्यशास्त्रीय रस सम्बन्धी परिभाषाओ का इनमे आरोपण मात्र मिलता है भरत, एव साहित्यदर्पणकार की उद्धृत परिभाषाओ से यह स्वत स्पष्ट हो जाता ह —

---

१ **रस की परिभाषा—**

तत्र विभावानुभाव व्यभिचारिसयोगाद् रस निष्पति
अभिनवभारती, पृ० ४४२

कविराज विश्वनाथ

विभावानुभावेन व्यक्त सचारिणा तथा
रस तामेति इत्यादि स्थायिभाव- सचेतसाम्।

सहृदय पुरुषो में स्थित वासना रूप रति आदि स्थायी भाव, अनुभाव और सचारी भावोंके द्वारा अभिव्यक्त होकर इस के स्वरूप को प्राप्त होता है।
साहित्य दर्पण, तृतीय परिच्छेद, श्लोक म० १

भावों का वर्गीकरण

रस के सिद्धान्तकारो की ही भाति भक्त आचार्यों ने भी भावो का वर्गीकरण किया है। तुलनात्मक दृष्टि से इनकी स्थिति इस प्रकार रखी जा सकती है—

स्थायीभाव

रूपगोस्वामी—

अविरुद्धात् विरुद्धाश्च, भावा यो वशता नयतु।
सुराजेव विराजेत् स स्थायीभाव उच्यते।

आचार्य विश्वनाथ—

अविरुद्धा विरुद्धा वा य विरोधातुमक्षमा
आस्वादाकुर कन्दोऽसौ भाव. स्थायोति सम्मत.[1]

रूपगोस्वामी के अनुसार स्थायीभाव विरुद्ध एव अविरुद्ध दोनो भावो को वश मे करके अपना प्रभाव स्पष्ट करता है। अन्य भाव इस स्थिति मे गौण या प्रच्छन्न हो जाते है। आचार्य विश्वनाथ का भी विचार है कि स्थायीभाव आस्वाद का मूलभाव है तथा उसे कोई विरुद्ध या अविरुद्ध भाव छिपा नही सकते। वस्तुत दोनो परिभाषाओ मे एक ही भाव ध्वनित हो रहा है—

विभाव

रूपगोस्वामी—

तत्रज्ञेया विभावास्तु रत्यास्वादन हेतवः
येद्विधाऽलम्बना एके तथैवोद्दीपना परे

आचार्य विश्वनाथ—

रत्याधुद्बोधका लोके विभावा काव्यनाट्ययो
आलम्बनोद्दीपनाख्यो तस्य भेदाद्विधो स्मृतो[2]

रूपगोस्वामी के अनुसार विभाव रत्यास्वादन के हेतु स्वरूप है तथा आचार्य विश्वनाथ के अनुसार रत्यादि के उद्बोधक है। उद्बोधक का अर्थ यहाँ रस के हेतु से ही है। इस प्रकार दोनो परिभाषाएँ प्राय एक ही है।[3]

---

१. भक्ति रसामृतसिन्धु भक्ति रस, विभाव लहरी, श्लोक स० १
साहित्य दर्पण, तृतीय परिच्छेद, श्लोक म० १७४

२ भक्ति रसामृतसिन्धु,विभाव लहरी, श्लोक स० १५

३. साहित्य दर्पण, तृतीय परिच्छेद, श्लोक स० २८

अनुभाव

रूपगोस्वामी—

अनुभावस्तु चित्तस्थ भावानामवबोधका ।

आचार्य विश्वनाथ—

उद्बुद्ध कारणैः स्वै· स्वर्वाहिभावं प्रकाशयन्
लोके य कार्यरूप. सोऽनुभाव काव्यनाट्ययो ।

रूपगोस्वामी अनुभाव को चित्तस्थ भावना व्यापार का अवबोधक मानते है। आचार्य विश्वनाथ के अनुसार हृदय मे उद्बुद्ध रत्यादि को बाहर प्रकाशित करने वाले लोक मे जो रति का कार्य कहता है, वही नाट्य एव काव्य मे अनुभाव है। यहाँ रूपगोस्वामी की परिभाषा अस्पष्ट है। चित्तस्थ भाव अनुकार्य भी हो सकते है, स्वत पुष्ट भी । किन्तु अनुभाव के लिए अनुकार्य होना आवश्यक है।

व्यभिचारीभाव

रूपगोस्वामी—

अथोच्यन्ते त्रयस्त्रिसद्भावा ये व्यभिचारिणः
विशेष भिमुख्येन चरिन्ति स्थायिन प्रति ।
वागड् सत्वसूच्या ये ज्ञेयास्ते व्यभिचारिण· ।
सचारयन्ति भावस्य गति संचारिणोऽपि ते ।
उन्मज्जन्ति निमज्जन्ति स्थायिन्यमृतवारिधौः ।
उर्म्मिवद्धर्मत्येन यान्ति तद्रूपतां च ते ।।

आचार्य भरत—

वि+अभि इत्येतावुपसर्गौ च रतौ धातु· चरति धातु
वि+धर्मादि मुख्येन रसेषु चरन्तीति व्यभिचारिण ः ।

आचार्य विश्वनाथ—

विशेषाभिमुख्येन चरणाद्वय व्यभिचारिणः
स्थायिन्तुमग्नानिमग्ना स्त्रयस्विशच्च तद्भिदा ः ।

---

१. श्रीहरिभक्तिरसामृतसिन्धु, दक्षिण विभाग : अनुभाव लहरी श्लोक स० १
साहित्यदर्पण, तृतीय परिच्छेद, श्लोक सं० १३२, १३३,

२. श्रीहरिभक्तिरसामृत सिन्धु, व्यभिचारिभाव लहरी श्लोक १, ३
नाट्य शास्त्र, अध्याय ७ श्लोक २२ का वृति भाग,
साहित्य दर्पण, तृतीय परिच्छेद, श्लोक सं० १४०

रूपगोस्वामी के अनुसार भाव की गति का सचारण कराने के कारण सचारी भाव है तथा वागङ्ग सात्विक भाव के विशेष रूप से सूचक होने के कारण व्यभिचारी कहलाते है। आचार्य भरत एव विश्वनाथ ने व्यभिचारी के विषय मे यही इनके पूर्व प्रतिपादित किया था।

भक्तिरस विषयक इस सामग्री के अनुशीलन के आधार पर यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि इनके काव्यशास्त्रीय दृष्टिकोण पर परवर्ती काव्यशास्त्रीय छाया अनेक रूपो मे विद्यमान मिलती है। भावो मे, विशेषकर आलम्बन तथा उद्दीपन स्थायी तथा सचारी भाव की परिभाषाये ठीक उन्ही तत्त्वो से निर्मित है जो काव्यरस की व्याख्या के लिए उद्धृत किए जाते है। कारण स्पष्ट ही है, ये भाव जिस मस्तिष्क के है, वे निश्चित ही लौकिक धरातल के प्राकृत प्राणी है। अत भक्तिरस रस भी ठीक उसी लौकिक अनुभूति पर आश्रित है जिस पर काव्यरस। भक्तिरस के अन्तर्गत काव्यरस को आधार बनाकर मानव जीवन के कतिपय रागात्मक भावो को एक विशिष्ट आलम्बन से जोडकर प्रकृष्ट किया गया है। इसी को हम भक्तिरस की पवित्रता, व्यापकता, अलौकिकता चाहे जो कहे, कह सकते है।

साधारणीकरण एवं रसबोध की स्थिति

ऊपर कहा जा चुका है कि भक्तिरस की रचना प्रक्रिया मे लगा हुआ मस्तिष्क भी मानव मस्तिष्क है। उसकी सवेदनाए प्रत्यक्ष एव अनुभूति मानवीय मस्तिष्क की ही उपज है और उनका सम्बन्ध अपने क्रम मे ठीक काव्यरस की भाति रागात्मक है। अत रसबोध एव अनुभूति के स्तर पर उनका भी साधारणीकरण ठीक उसी प्रकार होगा, जिस प्रकार काव्य का। किन्तु काव्य के सामान्य रसबोध के सिद्धान्त से इनमे थोडी भिन्नता अवश्य मिलेगी। चूँकि स्वभावत ये भक्त कवि थे। इनके काव्य मे काव्योचित सस्कार उत्कृष्ट रूप मे उपलब्ध होते है। अत इनके काव्य मे अधिकाश स्थल काव्य के उपलब्ध होगे। इस काव्यस्थल का रसबोध ठीक उसी प्रकार समस्त पाठको के लिए सार्वभौम है, जिस प्रकार अन्य उत्कृष्ट-काव्य का रसबोध का। एक दूसरा स्तर इनके काव्य मे वह मिलेगा जो रुचि और आस्था पर आधारित है। इनके साम्प्रदायिक प्रभाव, तत्सम्बन्धी अनुभूतियो का कथन कोई आवश्यक नही कि समस्त पाठको के लिए सामान्य रूप से उनके भावबोध का विषय बन सके। इनके काव्य का एक तीसरा भी स्तर है, जो रसबोध का विषय बन ही नही सकता है, वह है सिद्धान्त कथन का। ये

पृष्ठभूमि मात्र नियोजित करते है। रसात्मक अनुभूति से उसका प्रत्यक्षत सम्बन्ध नही है ।[1]

प्रयोग

इन कवियो के साहित्य का अनुशीलन करने से ज्ञात होता है कि ये स्पष्ट रूप से रससिद्धान्त के पारखी एव ज्ञाता थे। किन्तु भक्ति और काव्यरस के तुलनात्मक दृष्टिकोण का जहाँ तक सम्बन्ध है, इन्होने व्यावहारिक दृष्टि से ऐसा कोई अलगाव नही रखा है। यह सत्य है कि उन्होने अपनी भक्ति एव आराध्य विषयक भावना को काव्य मे सर्वोपरि स्वीकार किया है और कही-कही स्वय उनके कथन भी इसके साक्षी हैं, किन्तु प्रयोग मे उनके काव्य के स्वीकृत भाव जो मानव जीवन के अग के रूप मे सदा से स्वीकृत होते आए हैं, उसे नियोजित करने मे इन कवियो ने कोई कोर-कसर नही रख छोडी। सैद्धान्तिक रूप से रूपगोस्वामी ने हास्य, करुण, वीर, रौद्र, भयानक, अद्‌भुत, वीभत्स को गौणभक्तिरस तथा मधुसूदन सरस्वती ने इन्हे संकीर्ण भाव के अन्तर्गत रखा है, किन्तु रूपगोस्वामी ने स्पष्टत शृगार और शान्त का उल्लेख गौण रस के अन्तर्गत न करके भक्तिरस मे ही किया है। हिन्दी के समस्त मध्यकालीन कवियो ने काव्य के व्यावहारिक स्वरूप के अन्तर्गत यह भेद भी नही स्वीकार किया है। उन्होने स्पष्ट रूप से समस्त रागो को कृष्ण का भाव बताया है। शृगार का शालीनतापूर्ण चित्रण समस्त कवियो मे उपलब्ध है। करुण एवं वीररस के अधिकाधिक भाव वैष्णव भक्ति साहित्य के अग है। शान्त एक मात्र इनकी भक्ति और काव्य की मूलवृत्ति के रूप मे मिलता है। काव्यो मे प्राय शृगार, करुण, वीर एव शान्त को प्रधानता मिली है। इन भावो को उत्कर्ष देने एव वातावरण को पुष्ट करने के लिए हास्य, रौद्र, भयानक, अद्‌भुत एव वीभत्स के प्रयोग मिलते हैं। ठीक इसी क्रम का अनुगमन इन कवियो ने भी किया है। रस के सम्बन्ध मे उनका सबसे उत्कृष्ट गुण है, उसकी पृष्ठभूमि को उदात्त बनाना। वे जिस भी रस का निरूपण करते है, एक उदात्त वातावरण मे। यही उदात्तता उनके स्थायित्व का कारण है। काव्यो मे कथित धीरोदात्त की उपासना उनके व्यवहार की अग थी। अत इस दिशा मे उन्हे उन कवियो से अधिक सफलता मिली है जिन्होने इन नायको के चरित्र को काव्य का अग बनाया है। यही कारण है कि तुलसी का मानस और सूर का सागर सम्पूर्ण राम और कृष्ण काव्य के बेजोड रत्न है।

---

१ विस्तार के लिए 'रसबोध और साधारणीकरण' उपशीर्षक देखिए।

रसों का अंगांगि सम्बन्ध

काव्यशास्त्र के अन्तर्गत रस के अगागि सम्बन्ध की चर्चा का आरम्भ किसी रस विशेष को महत्ता के प्रतिपादन के लिए हुआ है। आचार्य भरत समस्त रसो मे रतिमूलक भावो को प्रधान मानते है। रतिमूलक भाव के अन्तर्गत उन्होने श्रृगार रस को विशिष्ट स्थान दिया है। वे इसे उज्ज्वल वेषात्मक एव समस्त रसो मे विशिष्ट मानते है। उनके अनुसार अन्य रस श्रृगार की तुलना मे न्यून महत्त्व के है।[1] आचार्य भरत के उपरान्त ध्वनिवादी आचार्यो के प्रयत्न इस दिशा मे विशेष उल्लेखनीय हैं। इन्होने भाव की अनेक श्रेणियाँ बनाकर उसमे रस की स्थिति को अधिक महत्त्व का स्वीकार किया है। रस से सम्बन्धित अन्य भावो को भाव, भावाभास, रसाभास, भावशाति एवं भावशबलताकी श्रेणी मे रखा।[2] प्रसगध्वनि के सदर्भ मे इन्होने काव्य के मुख्य एव गौण रस की भी चर्चा की है। आनन्दवर्धन के अनुसार रामायण एव महाभारत मे क्रमश करुण एवं शान्तरस है, इसमे प्रयुक्त अन्य रस गौण है। रामायण की इसी करुणात्मकता को ध्यान मे रखकर भवभूति ने उत्तररामचरित मे करुण को अगी एव अन्य रसो को अग के रूप मे स्वीकार किया है।[3] आनन्दवर्धन ने ध्वन्यालोक मे एक स्थल पर श्रृगार को एक मात्र रस मान कर केवल श्रृगारी कवि की ही महत्ता स्वीकर की है। ठीक इसी के प्रभाव से भोज ने भी सरस्वती कंठाभरण के आरम्भ मे 'श्रृगारी चेत्कवि' की ही एकमात्र प्रतिष्ठा की है। शान्तरस की स्वीकृति हो जाने के उपरान्त उसी को एकमात्र रस तथा अन्य को उसी से उद्भूत अग रूप मे स्वीकार किया गया। शान्तरस की स्वीकृति के लिए दिए गए अभिनवगुप्त द्वारा प्रबल तर्क रस के परस्पर अगागि सम्बन्ध के स्पष्ट प्रमाण है। अभिनवगुप्त के पूर्व नाट्यशास्त्र के शान्तिरस सम्बन्धी प्रक्षिप्त अंश से ही शान्तिरस की महत्ता का प्रतिपादन आरम्भ हो चुका था। इससे सम्बन्धित ये श्लोक हैं—

---

१. नाट्यशास्त्र, अध्याय ६, वृतिभाग

२. ध्वन्यालोक, चतुर्थ उद्योत, पृ० ४६५, ४६६

३. अहो संविधानकम्, एको रस करुण अन्य निमित्त भेदात्, भिन्न पृथक्-पृथक् इव श्रयते विवर्तान, उत्तर राम० ३ : ४७

भावाविकारा रत्याद्याः शान्तस्तु प्रकृतिर्मत·
विकार प्रकृतेजात पुनस्तत्रेण लीयते।
स्वं स्वं निमित्तमासाद्य शान्ताद्भाव प्रवर्तते।
पुनर्निमित्तापाये शान्ते एवोपलीयते ॥[1]

रत्यादि स्थायीभाव विकार रूप है और शान्तरस प्रकृत रूप। विकार प्रकृति से उत्पन्न होते है और उसी मे ही प्रवेश कर जाते है।

अपने-अपने निमित्तो मे प्राप्त होने पर शान्तरस से ही भाव उत्पन्न होते है और निमित्त का अभाव हो जाने पर पुन शान्तरस मे लीन हो जाते हैं।

प्रक्षेपकार के अनुसार शान्त की महत्ता अन्य रसो से बढकर है क्योंकि अन्यरस शान्तरस की विकृति मात्र है एव शान्तरस अन्य रसो की प्रकृति है किन्तु यह धारणा पूर्ण रूप से असगत है। चित्त का निर्विकारत्व जिससे अन्य भाव नि सृत होते है, मनोवैज्ञानिक दृष्टि से रागशून्य है और रागशून्यता स्वत रस नही हो सकती। किन्तु शान्तरस इस धारणा से पूर्णत पृथक् स्वत विकारमूलक भाव है। इस प्रकार शान्तरस रस न होकर मन की रागशून्य स्थिति है, जिससे समस्त भावसकल्प उद्भूत होते है। इस व्याख्या के अतिरिक्त भी अभिनवगुप्त का कथन है कि "तत्र रसाना शान्तप्राय एवास्वाद·" अर्थात् समस्त रसो मे शान्तरस ही आस्वाद्य है। अभिनवगुप्त ने शान्तरस के विरोधियो द्वारा शान्तरस के विरोध की भी चर्चा की है। शान्तरस के विरोधियो ने इसके रस न होने के लिए अनेक तर्क दिये है, जिनमे से एक यह भी है।[2]

१ अखडानन्द स्वरूप आत्मविषयक रति ही मोक्ष का साधन हैं। अत उसके स्थायीभाव रति को ही शान्त का स्थायीभाव मानना चाहिए।

२ समस्त वस्तुओ के सम्बन्ध मे विकृतदर्शनजन्य हास्यरस का स्थायी भाव हास, शान्त को उत्पन्न करता है।

३ समस्त ससार को शोचनीय रूप से देखने वाले साधक को करुणरस का स्थायीभाव शोक शान्त की अनुभूति मे सहायक होता है।

१ : अभिनवभारती, पृ० ६१०
२ : अभिनवभारती, पृ० ६२० तथा ६२१

४ सासारिक वृत्तान्त को आत्मा के लिए अपकारी रूप मे देखने वाले को अपकारित्वजन्य रौद्ररस का क्रोध रूप स्थायी भाव शान्तरस की अनुभूति मे सहायक होता है।

५ अत्यन्त ज्ञानप्रधान वीर्य उत्साह को स्वीकार करने वाले साधक को वीररस का स्थायीभाव शान्तरस की अनुभूति उत्पन्न करता है।

६ समस्त विषय समूह से भय को अनुभव करने वाले को भयानक रस का स्थायी भाव शान्तरस की अनुभूति कराने मे सहायक होता है।

७ उन सब लोगो के लिए स्पृहणीय कामिनी आदि से भी घृणा करने वालो को वीभत्स रस का स्थायी भाव शान्तरस की निष्पत्ति मे सहायक होता है।

८ अपने अपूर्व आत्मस्वरूप की प्राप्ति के कारण अद्भुत रस के स्थायी भाव विस्मय को प्राप्त साधक को मोक्ष की प्राप्ति होती है। इस लिएहास्य से लेकर विस्मय पर्यन्त समस्त रसो के आठो स्थायीभावो मे से किसी एक को शान्तरस का स्थायीभाव माना जा सकता है। इससे इतना सिद्ध अवश्य होता है कि अभिनवगुप्त के पूर्व ऐसी धारणा अवश्य थी जो शान्तरस के स्वतत्र अस्तित्व के विषय मे सशयशील एव उसके परतत्ररसत्व के प्रतिपादन की ओर सचेष्ट थी। यही नही, इसके साथ ही साथ उन्होने इन विरोधियो के सात अन्य मतो का भी उल्लेख किया है। वे समस्त विरोधो का खडन करके शान्तरस को इस प्रकार परिभाषित करते हैं–

"ज्ञान आनन्द आदि विशुद्ध धर्मों से युक्त और परिकल्पित विषयोपभोग आदि से रहित आत्मा ही शान्तरस का स्थायीभाव है। इस शान्तरस के एक मात्र रसत्व का प्रतिपादन भक्ति के अनेक ग्रन्थो मे होता है।"[1] हरिहर प्रणीत भर्तृहरिनिर्वेद मे शान्त को परम विश्रान्तिमय मानते हुए उन्होने कहा है

अस्त्येव क्षणिको रसप्रतियत्न पर्यन्त वैरस्यभू।
ब्रह्माद्वैत सुखात्मक. परम विश्रान्तो हि शान्तो रसः॥ [2]

आचार्य शकर ने सौन्दर्यलहरी मे इस भक्ति को एकमात्र प्रतिनिधि एवं शृगार का विद्रावक तत्त्व स्वीकार किया है। ठीक इसी के समानान्तर साहित्यदर्पण

१. अभिनवभारती, पृ० ६३०

२. भर्तृहरिनिर्वेद. श्लोक स० २

मे नारायणभट्ट के मत का उल्लेख है। नारायण भट्ट के अनुसार समस्त रसो मे अद्‌भुत रस ही अगीरस है, शेष अन्य अग रस। उनका कथन इस प्रकार है–

रसोसारश्चमत्कार सर्वत्राप्यनुभूयते।
तच्चमत्करमम्भूत्वे सर्वत्राप्यद्‌भुतो रस ।

आलंकारिक आचार्यो की इस व्याख्या से स्पष्ट है कि इनके समक्ष अग और अगिरस की विशेष चर्चा नही थी। इनके समक्ष समस्या गौणता एव प्रमुखता की थी। अगागिरस का विवेचन वस्तुत वैष्णवाचार्यो द्वारा ही अधिक किया गया है। फलत उनके समक्ष अग'गिरसो के विवेचन की भी एक प्रमुख समस्या उठ खडी हुई।काव्यरस की भाँति भक्तिरस की परिकल्पना के उपरान्त उससे इसका सम्बन्ध स्थापित करने की इनके सम्मुख अनिवार्यता खडी हुई। उनके अनुसार भक्तिरस एवं काव्यरस स्वभावत भिन्न थे। चूंकि उनके भक्ति की अभिव्यक्ति काव्य के माध्यम से हुई थी, अत वे काव्य एवं भक्ति दोनो मे स्वीकृत रससिद्धान्तो मे परस्पर सगति बैठाने के प्रति सचेष्ट हुए। इनके अनुसार भक्तिरस प्रमुख एवं काव्यरस गौण है। वे भक्ति-रस को अगि एव काव्यरस को अगरस स्वीकार करते है। वे दोनो प्राय उनकी परस्पर अन्योन्याश्रितता की ओर अधिक सचेष्ट है। इसी को सिद्ध करने के लिए मधुसूदन सरस्वती एवं रूपगोस्वामी ने विशेष प्रयत्न किए। उनके मत इस प्रकार है—

भक्त आचार्यों द्‌वारा अंगांगि सम्बन्ध की चर्चा

मधुसूदन सरस्वती

मधुसूदन के अनुसार भक्तिरस ही प्रमुख है। उन्होने इसे शृंगार रस से सहस्र गुण विस्तृत स्वीकार किया है।[२] इसे सिद्ध करने के लिए उन्होने काव्यशास्त्रियो के भक्तिरस विषयक उस मत का खडन किया, जिसमे देवादि-विषयक रति को दोष या सचारी भाव के अन्तर्गत रखा गया था। उन्होंने उसके प्रत्युत्तर मे कहा है कि यह देवादिविषयक रति वस्तुत इन्द्रादि देवताओ के लिए है न कि भगवत आनन्द के लिए।[३] इस आनन्द की समता

---

१. साहित्य दर्पण २:३

२ इहानुभव सिद्धोऽपि सहस्रगुणितो रस जडैनेव त्वया कस्मादकस्मादपलप्यते। उल्लास २ ७८

३. रतिदेवादि विषया व्यभिचारी तथा जित भाव प्रोक्तो रसोनेति यदुक्ता रस

मे उन्होने कान्तादिरति से निष्पन्न शृगार के आस्वाद को आदित्य के सम्मुख खद्योतप्रकाश के सदृश क्षुद्र बताया ।

भक्तिरस की व्याख्या करते हुए इससे सम्बन्धित उन्होने तीन प्रकार के रति भाव को ही स्वीकार किया है, वे है—विशुद्ध भक्तिरति, वत्सल भक्तिरति एव प्रेयोभक्तिरति । इन तीनो रति मे मे क्रमश विशुद्ध, वत्सल एवं प्रेयोभक्ति से रस की निष्पत्ति होती है ।[३] इस विशुद्ध भक्तिरति मे जब अन्य रति मिश्रित हो जाते है तो उन्हे मिश्रित रति कहते है । रसायनकार के अनुसार भक्तिरस मे शृगार रस मिश्रित होकर उसे बलवत्तर बना देता है । इसीलिए मिश्रितभाव न्यूनतीव्र, शुद्धभक्तिरस तीव्र एव शृगार रति मिश्रित भक्तिरस तीव्रतर हो जाता है ।[४] उन्होने सम्पूर्ण रस विषयक भावो को निम्न श्रेणियो मे विभक्त किया है :

१ सकीर्ण भाव	**२ शुद्ध भाव**
३ सकीर्ण मिश्रित	**४ केवल मिश्रित**

उनके अनुसार भाव केवल दो ही हैं—सकीर्ण एव शुद्ध । सकीर्ण मिश्रित एव केवल मिश्रित परस्पर इन्ही दोनो के संयोग से बनते है । सकीर्ण भावो के अन्तर्गत उन्होने रौद्र, भयानक, धर्मवीर, दयावीर, वीभत्स एवं शान्त का रखा है । शेष अन्य काव्यरस मिल कर संकीर्ण मिश्रित हो जाते है । इनमे काव्य के समस्त रस शृगार, करुण, हास्य, भयानक, अद्‌भुत, वीभत्स, वीर, रौद्र और शान्त एव प्रीतिभाव है । यही सकीर्ण मिश्रित एक मात्र भगवद् आलम्बन से सम्बद्ध हो जाते हैं, तब उनकी सकीर्णता समाप्त हो जाती है, और वे केवल मिश्रित रस रह जाते हैं, 'भगवदालम्बनकत्वविशिष्टन्तात् केवल मिश्रिततवमिति पर्यवसितम्' शुद्ध भावो का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है, वे विशुद्ध, वत्सल एव प्रेयस् है ।

कोविदै देवान्तरेषु जीवत्वात् परानन्द प्रकाशनात् । तयौज्यम्परान्दरूपेण परमात्मनि ।
२ ७३ ७४

३ काव्यशास्त्रीय परम्परा में इन तीनो को रस की समकक्षता मिली है । हेमचन्द ने कहा है स्नेहोभक्तिवात्सल्यमिति हि रतेरेव विशेषातुल्यतो या परस्पर रति. स स्नेहः अनुत्तमस्य उत्तमै रति प्रसक्ति सेव भक्तिपद वाच्या उत्तमस्य अनुत्तमे रतिः वात्सल्यम । काव्यानुशासन पृ० ६८

४ भक्ति रसायन उल्लास २: ३४ से ३६ तक

भक्ति रस की दृष्टि से रसायनकार शुद्ध भाव को प्रमुखता प्रदान करता है। उसके अनुसार काव्यरस सकीर्ण है। वह उसको अगरूप मे प्रतिपादित करने की ओर सचेष्ट है। ये सकीर्ण भाव जब भक्तिरस के अग बनते है तभी उनमे पूर्णता आती है, अन्यथा वे अपूर्ण है। श्रुतियो मे यह कहा गया है कि ब्रह्म नित्य एव सर्वत्र रसात्मक है। अत आनन्द उसका स्वभाव है, अन्य रसो की आनन्दमूलकता मात्र उसी का उच्छलन है। यही नही, वह गुण रीति अलकार आदि को निम्न श्रेणी का स्वीकार करता हे। उसके अनुसार ये समस्त काव्य के भावविधायक तत्त्व मात्र होने के कारण रस के अग है। अत ये भक्तिरस के अग रूप मे ही उसकी निष्पत्ति एव उत्कर्प मे विधायक हो सकते है।

इस प्रकार मधुसूदन सरस्वती के अनुसार भक्तिरस मुख्य है। काव्यरस सकीर्ण भाव होने के कारण भक्तिरस का अग है तथा काव्य के अन्य तत्त्व भक्तिरस का पोषण मात्र करते हैं।

रूपगोस्वामी

रूपगोस्वामी ने रसभेद निरूपण के अन्तर्गत भक्ति रस की व्याख्या की है। उसके उपरान्त उन्होने काव्य के सात रस हास्य, करुण, शृगार, रौद्र, भयानक, वीर, अदभुत, के अगरूप होने का समर्थन किया है। उनके अनुसार शान्त, हास्य, सख्य, वात्सल्य एव मधुर ही रस है।[1] रूपगोस्वामी के अनुसार शान्त का स्वभाव रागप्रधान एव सुखमूलक है प्रीतिभक्ति भक्तो के हृदय मे उत्पन्न होने वाला शुद्ध आनन्द है।[2] इस प्रीतिभक्ति का उन्होने तीन क्रम निर्दिष्ट किया है। सर्वप्रथम भगवत् व्यसन से प्रेम उत्पन्न होता है। यह प्रेम निरन्तर अभ्यास से सान्द्र होकर चित्त को द्रवित करता रहता है। इस मानसिक द्रवता को ही स्नेह की सज्ञा प्राप्त होती है। इसकी अधिकता होने पर सुख-दु ख का बोध नही होता। इस स्थिति के आगे यह प्रेम राग बन जाता है। इसी राग के कारण ही यह प्रीतिरति आनन्दमूलक होती है।[3] इस प्रेयोभक्तिरस को उन्होने रतिजन्य आनन्द कहा है। वत्सल भक्ति-

१ पश्चिम विभाग शान्तरस लहरी, श्लोक १५ तथा १४

२ पश्चिम विभाग, प्रीतिभक्ति लहरी, २ से ४ तक

३ पश्चिम विभाग, प्रीतिभक्तिलहरी, ४३, ४४, ४५

रस मे चित्त की सान्द्रता विशेष प्रकार की हो जाती है। प्रेयोभक्तिरति तक प्राय इसकी आश्रय एव विषय की निकटता दूर रहती है। इसीलिए इनके अनुसार अन्तिम और सर्वोत्कृष्ट रति मधुर है।[1] इसमे भक्त आराध्य के निकटतम सम्बन्ध का अधिकारी होता है। यही कारण है कि रूपगोस्वामी इसे रसराट् या उज्ज्वलरस की सज्ञा देते है। उन्होने इसका ज्ञान अत्यन्त दुरूह एव अनुभवागम्य बताया है।

भक्तिरस की व्याख्या के अनन्तर उन्होने काव्य के शेष ७ रसो को भी लिया है। वे रस क्रमश हास्य, अद्भुत, वीर, करुण, रौद्र, भयानक, वीभत्स है। इनके अगत्व का क्रम इस प्रकार है—

१ **हास्यभक्तिरस**–भक्तो मे कृष्णालम्बन की दृष्टि से हास्यादि चेष्टाओ से हास्य रस की निष्पत्ति होती है। चूकि आलम्बन कृष्ण है और आश्रय भक्त अत उनसे निष्पन्न यह हास्य भक्तिरस होगा, शुद्ध काव्य रस नही।

२ **अद्भुतभक्तिरस**–भक्त विस्मय का आश्रय ग्रहण कर तथा कृष्ण को आलम्बन मानकर जिस लोकोत्तर हेतु-क्रिया का अनुभव करने लगता है, वह अदभुत् भक्तिरस होता है।

३ **करुणभक्तिरस**–शोक रति से निष्पन्न ग्लानि आदि विभावो से पुष्ट भक्तो मे करुण भक्तिरस की निष्पत्ति होती है।

४ **रौद्रभक्तिरस**–क्रोधरति से पुष्ट एव एतद्सम्बन्धी अन्य विभावो से निस्तेज नियोजित भक्तो के उत्पन्न एतद् विषयक रस रौद्र भक्तिरस होता है।

५ **भयानकभक्तिरस**–भय रति से पुष्ट एव उसमे कथित अन्य विभावो से निष्पन्न भयानक भक्तिरस हो ज ती है।

६ **वीभत्सभक्तिरस**–आत्मोचित विभावो से उत्पन्न जुगुप्सा रति अन्तत अतिरागता की प्रतिक्रिया मे वीभत्स भक्तिरस हो जाती है।

७ **वीरभक्तिरस**–भक्तो मे कृष्णभक्ति विषयक उत्साह रति से निष्पन्न वीरभक्तिरस होता है।[2]

रूपगोस्वामी इस निरूपण मे न तो उचित रूप से स्थायी भावो का नियोजन कर सके है और न रसोत्पत्ति की प्रक्रिया की व्याख्या ही। फिर भी, उनकी इस धारणा मे सत्यता अवश्य वर्तमान है कि भक्तिकाव्य मे प्रयुक्त शुद्धकाव्य के भाव स्वतत्र या अगी नही है। वे प्रत्येक दशा मे भक्तिविषयक

---

१. मुख्यभक्तिरस निरूपणे, मधुराख्यभक्ति रसलहरी, श्लोक १, ३

२ रसः सप्तविधो गौणो तथा गौणो भक्तिरसा। सप्तलेख्या हास्यादया क्रमात्

भाव के अग ही है।

कविकर्णपूर गोस्वामी

रसो के आगगि निरूपण का तीसग मत कविकर्णपूर गोस्वामी का है। इनकी कृति अलकार कौस्तुभ का निर्देश पूर्व किया जा चुका है। इनका दृष्टिकोण पूर्णत आलकारिको का है किन्तु उन्होने भक्तिरस को भी स्वीकार किया है। उनका विचार है कि, रस मस्तिष्क की सात्विक दशा से निष्पन्न भावबोध है। यह स्थिति रजस् एव तमस् से भिन्न एवं उत्कृष्ट है। उनके अनुसार रस रजस् एव तमस् से भिन्न अनुभवैक्यगम्य आनन्दरूप है। इस आनन्दरूपता का नाम उन्होने प्रेम दिया है।[1] मन की इस आनन्दमयी स्थिति से अनेक रस अद्भुत हुए है, जिस प्रकार स्फटिक जवाकुसुम आदि के ससर्ग से अनेक रगो मे परिवर्तित हो जाता है, उसी प्रकार आनन्द तम एव रजस् अनेक स्थायीरूप धर्म नानाविध विभावादि के ससर्ग से उत्साह, विस्मय, तथा शोक आदि भावो मे परिवर्तित होता रहता है। यही भाव रस की निष्पत्ति मे सहायक होते है। कविकर्णपूर का विचार है कि यह आनन्द प्रत्येक व्यक्ति मे है। उत्तम प्रकृति के पुरुषो मे ये रस स्वत स्फुट हो जाते है। रस मे आनन्द शक्तिशाली तत्व है। इसी क्रम मे उन्होने कहा है—

> **रसस्य आनन्दधर्मत्वाम् एकध्यम् भाव एव हि,**
> **उपाधि भेदानन्नत्वम् रत्यादयोपाध्या।**[2]

इसी प्रकार अन्य रति भी इसी आनन्द से उत्पन्न होती हैं। आनन्द की प्रमुखता के कारण कर्णपूर गोस्वामी ही प्रेमरस को प्रमुखता देते है। इसी प्रेमरस में उन्होने भक्ति को अन्तर्भुक्त कर लिया है। उनके अनुसार प्रेमरस मे सम्पूर्ण रस का अन्तर्भाव हो जाता है। उन्होने कहा है कि किसी प्रसंग मे राधाकृष्ण का प्रेम भी शृगार मे परिवर्तित हो जाता है, किन्तु वह भक्तिरस है। किसी के विचार से यह भक्तिरस अगी है तथा अन्य रस अग है, किन्तु यह धारण असगत है। उनके अनुसार प्रेम अगी तथा शृगार एव भक्ति अग हैं। इसी

---

२ आस्वदाकुरकन्दोऽस्ति धर्मकश्चान चेतस
रसस्तमोभ्या हीनस्य शुद्धसत्वतथा सत
स स्थायी कथ्यते विज्ञै विभावस्य पृथकतया
पृथक्निवधत्व यात्येव सामाजिकतया सताम्, अलकार कौस्तुभ, पचमकिरण, पृ० ५,६

२ अलकार कौस्तुभ, पचम किरण, पृ० स० १३०,

प्रकार भक्तिरस प्रेम रस का अग है। भक्ति ही नही अन्य समस्त रस प्रेम के अखड वारिधि मे तरगवत् उन्मज्जित एव निमज्जित होने रहते है।[1]

उन्होने श्रृगार भक्ति की गौणता के लिए यह तर्क दिया है कि भगवान कृष्ण अपनी सम्पूर्ण कलाओ मे श्रृ गार युक्त न होकर प्रेमयुक्त है। इस प्रेम रस मे ही कृष्ण की सम्पूर्ण शक्ति का उदय होता है न कि श्रृ गार मे। यह प्रेम आनन्द रूप होने के कारण अखड है, श्रृगार इसी का एक अग है। इस दशा मे भगवद् श्रृगार रस प्रेमभक्ति का अग है और यह प्रेम भक्ति स्वत प्रेमरस या आनन्द है। अत श्रृगार गौण एव प्रेम अगीरस है।

निष्कर्षत कवि कर्णपूर गोस्वामी के अनुसार काव्यरस, भक्तिरस दोनो अपनी मूल प्रकृति मे प्रेम के अग है तथा प्रेमरस इनका अगी है। इस प्रकार इनकी धारणा मधुसूदन सरस्वती और रूपगोस्वामी से पूर्णत भिन्न है।

वैष्णव भक्तकवि तथा रस का अंगांगि सम्बन्ध

भक्त आचार्यो ने भक्तिविषयक उन्मेष एव शास्त्रीय पद्धति दोनो दृष्टियो से भक्तिरस के अगित्व का निरूपण किया है। जहाँ तक भक्त कवियो का प्रश्न है, वे भक्तिरस के ही समर्थन की ओर ही अधिक सजग है। इन कवियो मे तुलसीदास और नन्ददास का नाम विशेष उल्लेखनीय है। तुलसी राम के उदात्त व्यक्तित्व मे काव्य के समस्त भावो को समाहित मानते है। प्रश्न उठता है इस उदात्त व्यक्तित्व का भाव क्या है।[2] वैष्णव भक्त कवियो की ही शब्दावली मे इसे उदात्त रस भी कह सकते है क्योकि उनके द्वारा निरूपित यह व्यक्तित्व विचित्र एव ओजपूर्ण उदात्तता से समन्वित है। उनके अनुसार भागवत रूप समस्त रसो एव भावो का आश्रय तत्त्व है, इसी की ओर सकेत करके तुलसी ने बालकाड मे इस प्रकार धारणा व्यक्त की है

जिन्ह के रही भावना जैसी। प्रभु मूरति देखी तिन्ह तैसी॥
देखहि भूप महा रनधीरा। मनहु वीर रस धरे सरीरा॥

---

१ प्रेमरसे सर्वरसा अन्तर्भावयन्तीत्यत्र महीयानेव प्रपञ्च केषाञ्चिन्मते भी राधा कृष्णयो श्रृ गार एव रस श्रृ गारो अगी प्रेमाग . अगस्यापि क्वाचिदुद्रिक्तता वये तु प्रमागी श्रृ गारोयम इति विशेष तथा च
उन्मज्जन्ति निमज्जन्ति प्रेमण्यखडरसत्वत
सर्वेरसाश्च भावाश्च तरगा इव वारिधौ। अलकार कौस्तुभ, १४८, १९९

२. अलकार कौस्तुभ, पृष्ठ ८०

डरे कुटिल नृप प्रभुहि निहारी। मनहुँ भयानक मूरति भारी॥
नारि बिलोकत हरिहि हिय, निज निज रुचि अनुरूप।
जनु सोहत सिंगार धरि, मूरति परम अनूप।
विदुषन्ह प्रभु विराट मय दीसा। बहु मुख कर पग लोचन सीसा।
सहित विदेह विलोकहि नारी। सिसु सम प्रीति न जाय बखानी।
जोगिन्ह परम तत्व मय भासा। सान्त सुद्ध सम सहज प्रकासा।[1]

इस प्रकार ६ रसो के अतिरिक्त स्नेह, रति आदि मुख्य भावो की भी व्यजना यहाँ निहित है। शास्त्रीय शब्दावली मे यदि कहे तो कह सकते ह कि राम आलम्बन के विभिन्न सामाजिक रूप कुटिल नृप, नारी, विदेह तथा उनकी रानी एव योगी अपने-अपने स्वभाव के अनुसार उनके उदात्त व्यक्तित्व मे भिन्न-भिन्न प्रकार से रसभावन करते है। वैसे तुलसी ने काव्य के नव रस को अधिक महत्ता न दे कर मानस को चारु तडाग का जलचर कहा है। कस के यज्ञ मे मच के ऊपर उपस्थित कृष्ण के विषय मे इसी भाव का श्लोक भागवत मे भी मिलता है।

नन्ददास ने भी रासपचाध्यायी, रसमजरी एव सिद्धान्त पचाध्यायी मे कृष्णरस को ही प्रमुख माना है। पचाध्यायी मे उन्होने रासरस को समस्त रसो का सारतत्व बताया है। उन्होने अनेक स्थलो पर लीलारस को शृगार-रस से पृथक् रस स्वीकार किया है। उनके अनुसार भक्तिरस की तुलना मे यह शृगार गौण महत्त्वहीन एव नि सत्व है।[2] वे कहते है कि जो पडित इन ग्रन्थो मे शृगाररस स्वीकार करते हैं, वे कृष्णलीला को इहलौकिक एव कृष्ण को सामान्य पुरुष स्वीकार करते है। किन्तु कृष्ण लौकिक विषयी से नितान्त भिन्न है क्योकि लौकिक विषयी भोक्ता है। कृष्ण अलौकिक व्यक्तित्व के कारण भोक्ता भी होकर उससे असपृक्त है। अत उन्हे विषयी स्वीकार किया ही नही जा सकता।[3] रसमजरी मे कृष्ण को समस्त रसो का आदि कारण कह

१ रामचरित मानस, बालकाड, दोहा स० २४१ तथा २४२
२ श्रीकृष्ण कृष्णपचाध्यायी रो० स० १
३ जे प डित शृ गार ग्रन्थ मत यामें माने। ते कछु भेद न जाने हरि को विषई माने
रो० स० ४६, ५० सि० प०
तथा-निगम सार सिद्धान्त बचन ते अलबल बोलें ६६
कृष्ण विरह नहिं विरह प्रेम उच्छलन कहावै
निपट परम सुख रूप इतर सब दु ख बिसरावै . ७०

पुकारा गया है । उनके विचार से लौकिक रस कृष्ण से ही अभिव्यक्त होते है । इसके लिए वह निम्न तर्क देता है—

> है जो कछु रस इहि ससार । ताकहु प्रभु तुमही आधार ।
> ज्यो अनेक सरिता जल बहै । आनि सबै सागर मे रहै ।
> जग मे कोउ कवि बरनो काही । सौ जसु रसु सब तुम्हरे आही ।
> ज्यो जलधर तें जलधर जल ते । बरसे हरषि आपने कल ते ।
> अगिन ते अगनित दीपक बरै । तुम तें है तुमही करि सोहैं ।
>
> रूप प्रेम आनन्द रस, जो कछु जग मे आहि ।
> सो मब गिरिधर देव को, निधरक बरनो ताहि ।[1]

इस उद्धरण मे नन्ददास ने रसो के अगागि के सम्बन्ध को तीन उदाहरणो द्वारा स्पष्ट किया है । सरिता और समुद्रसम्बन्ध, जल-जलधरसम्बन्ध, अग्नि-दीपकसम्बन्ध । इसी सदर्भ मे अनेक भक्त कवियो ने शृगारनिष्ठभक्ति, कृष्णरस, लीलारस को प्रमुख सिद्ध किया है । अन्य सासारिक भाव या काव्यरस इससे गौण है । रससम्बन्धी दृष्टिकोण के अध्ययन के अन्तर्गत इसकी विस्तृत व्याख्या की गई है । वस्तुत समस्त वैष्णव कवि अपनी पूववर्ती परम्परा के अनुसार भक्तिजन्य रस को प्रमुख एव अभिव्यक्तिजन्य रस को गौण स्वीकार करते हे । यद्यपि यह सत्य है कि काव्यरस एव भक्तिरस मे कतिपय उभयनिष्ठ तत्त्व वर्तमान है किन्तु मूलत दोनो दो पृथक् प्रेरणाओ से प्रेरित होने के कारण अपनी प्रकृति मे ही भिन्न है ।

अंगांगि सम्बन्ध की आलोचना

रस के इस अगागि सम्बन्ध को जानने के लिए इसकी मनोवैज्ञानिक स्थिति का अध्ययन करना आवश्यक है । सर्वप्रथम आचार्य भरत ने रस को रतिमूलक एव विरतिमूलक दो भागो मे बॉटा है । विरतिमूलक भाव रतिमूलक भाव की प्रतिक्रिया के फल है । किन्तु ये भाव भी अभिव्यक्ति से सम्बन्धित होने के कारण अभावमूलक नही है । इनके अन्तर्गत भी तृप्ति एव रागमूलकता बनी रहती है । अत इन्हे विरतिमूलक नही कहा जा सकता क्योकि रस विरागमूलक नही है । ठीक इसी क्रम को लेकर अग्निपुराणकार

---

१ रसमजरी, दो० स० १ की चोपाइयाँ

भी रस की व्याख्या करता है।[1] वस्तुत दोनो मे विशेष अन्तर नही है—

रतिमूलक भाव	विरतिमूलक भाव
शृगार	रौद्र
वीर	वीभत्स

भरत एव अग्निपुराणकार के अनुसार मूलरस ये ही हैं और शेष चार रस इन्ही से नि सृत हे —

रतिमूलक भाव	नि सृत रस
शृगार	हास्य
वीर	अद्भुत
विरतिमूलक भाव	नि सृत रस
रौद्र	करुण
वीभत्स	भयानक

शान्तरस को दोनो के बीच मे रखकर उसे उभयरूपात्मक स्वीकार करना चाहिए, क्योकि एक ओर इसमे विरागोन्मुख विरतिमूलक भावना है तो दूसरी ओर, तृष्णाक्षय सुख भी वर्तमान है। इस प्रकार यह दोनो मानसिक वृत्तियो का प्रतिनिधि है।

इस प्रकार रस के अगागि सम्बन्ध को मनोवैज्ञानिक स्तर पर व्याख्यान्वित करने के लिए किए गए ये प्रयत्न निश्चित ही प्राचीन है। ठीक इसी क्रम के आधार पर ही रसमैत्री एव रसविरोध की कल्पना की गई है। शृगार को वीर का तथा रौद्र को वीभत्स का विरोधी माना गया है। दूसरे क्रम मे हास्य को अद्भुत का तथा करुण को भयानक का सहयोगी स्वीकार किया गया है। वस्तुत हास्य का वीर से तथा करुण का वीभत्स से विरोध है। दूसरी ओर शृगार को अद्भुत तथा रौद्र को भयानक का सहायक माना गया है।

रसो के इस अगागि सम्बन्ध का कारण मानसिक वृत्ति ही है जिसका सकेत शारदातनय भाव प्रकाशन मे करते है।[1] रस की इस स्थिति मे इन्होने चित्तवृतियो को प्रधानता दी है। ये प्रवृत्तियाँ हैं चित्तविकास, विस्तार, विक्षोभ तथा विक्षेप की। इस सम्बन्ध के अन्तर्गत उन्होने शृगार, वीर, रौद्र और

---

१ प्रस्तुत लेखक का निबन्ध—अग्निपुराणकार की रस दृष्टि—हिन्दी अनुशीलन, वर्ष १५, अक १, पृ० २८

२ भाव प्रकाशन, पृ० ५५

वीभत्स चार रसो की सत्ता मानी है। शेष अन्य रस उन्ही पर आधृत बताए गए है। इस सम्बन्ध के अन्तर्गत विकास एव विस्तार रतिमूलक एव विक्षोभ तथा विक्षेप विरतिमूलक भाव है। इस प्रकार स्पष्ट है कि रस के अगागि सम्बन्ध की समस्या वस्तुत रस की मनोवैज्ञानिक स्थिति की समस्या है। इसकी प्रधानता एव गौणता आगे चलकर इतनी अधिक प्रमुख हो गई कि कविकर्णपूर गोस्वामी जेसे आलकारिक आचार्यो को एक ही रस स्वीकार करना पडा।

अंगागि सम्बन्ध और भक्तिरस—अगागि सम्बन्ध के सदर्भ मे यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि भक्तिरस प्रमुख है या गौण या दूसरे शब्दो मे वैष्णवाचार्यो द्वारा प्रतिपादित भक्तिरस की महत्ता मे कितना बल है। इन आचार्यो ने भक्तिरस की प्रमुखता के लिए स्थूलत निम्न तर्क दिए है—

१ काव्य रस के भाव सकीर्ण तथा भक्ति रस के भाव शुद्ध भाव है। इस दृष्टि से भक्ति रस के भाव प्रमुख है। इनके आश्रित होने के कारण काव्य रस के भाव पवित्र हो जाते है।

२ भक्ति के आलम्बन कृष्ण ब्रह्म है। ब्रह्म विषयक आसक्ति अलौकिक है, सामान्य काव्य मे वर्णित आलम्बन लौकिक है। अत अलौकिक आलम्बन से सम्बधित यह रस अलौकिक है। लौकिक आलम्बन से सम्बन्धित रस लौकिक है। इस प्रकार अलौकिक भक्तिरस लौकिक काव्यरस से तीव्र उत्कट एवं अपेक्षाकृत अधिक प्रभावशाली होगा।

३ ब्रह्म का स्वभाव आनन्दमूलक है और उपनिषदो मे इसे 'रसो वै स' कहा गया है। काव्य रस लौकिक है, अतः लौकिक विषयो से उत्पन्न रस ब्रह्मानन्द का उच्छलन मात्र है।

सक्षेप मे भक्तो द्वारा दिये गये यही तीन मत ही भक्तिरस की प्रमुखता को सिद्ध करने के लिए पर्याप्त समझे जाते है।

किन्तु काव्य-दृष्टि से इनका अनुशीलन करने पर इससे सम्बन्धित तथ्य इसके विपरीत ही ठहरते है।

काव्यरस के भाव इन कवियो द्वारा सकीर्ण कहे गये है। रस भाव या मनोविकारो की एक मर्यादित स्थिति है, जिसका बोध मानव मस्तिष्क को होता है। इनके अनुसार भक्ति के भाव इसलिए प्रमुख है क्योकि उनका सम्बन्ध आत्मा से है। किन्तु आज का मनोविज्ञान भाव प्रक्रिया को मानसिक अंग से पृथक् और कुछ स्वीकार करने के लिए तैयार नही है। भावो

एव मनोविकारो की स्थिति मानव मन की अनिवार्य समस्या है एवं मनुष्य की चेष्टाओ की आधारभूतता उन्ही पर निस्सृत है। भक्ति के भाव अभ्यासजन्य व्यवहार (Habit) पर आधृत कृत्रिम भावो की कोटि मे रखे जा सकते है। मानव सहज प्रवृत्तियो का दमन, शोधन, परिष्करण के उपरान्त उनका नैतिकीकरण(Moralization)करता है। भक्त भूख, काम, युयुत्सा, हास्य आदि को एक ओर दमित करते है दूसरी ओर दैन्य, भय आदि मूलवृत्तियो का शोधन। इसीलिए प्राय भक्ति रति की उत्पत्ति के लिए मधुसूदन सरस्वती, वल्लभ, रूपगोस्वामी सभी एक निश्चित प्रक्रिया का आधार आवश्यक बताते है। रस की एक स्थिति विशेष मे भी भावो को मर्यादित किया गया है, किन्तु नीति के माध्यम से। ग्राम्यत्व, अश्लीलत्व दोष इसी से सम्बद्ध हैं किन्तु ये रस प्रवृत्ति को शालीन बनाते है। जब इनकी शालीनता मे नैतिकता का आग्रह अधिक हो जाता है तो रसबोध के व्याघातक तत्त्व खडे हो जाते है। अत मानव-मस्तिष्क की स्वाभाविकता भक्तिरस मे न होकर मात्र रस मे है। इस प्रकार काव्यरस के भाव ही शुद्ध है, भक्तिरस के नही।

दूसरी तथा तीसरी धारणा का हल इसी तर्क से हो जाता है। भक्ति के आलम्बन अलौकिक है, किन्तु इस अलौकिक के सामान्य बोध के लिए इसे लौकिक एव इन्द्रियगम्य होना आवश्यक है। अत रससत्ता बोध की स्थिति मे रस की प्रतीति लौकिक ही होगी, अलौकिक नही। इसीलिए भक्ति आन्दोलन मे अलौकिक ब्रह्म को लौकिक बनकर जगत में आना पड़ा है। ठीक इसी लौकिक सदर्भ मे ही दास्य, सख्य, प्रीति, मधुर की अनुभूति होती है। अत यह कहना कि अलौकिक आलम्बन की अनुभूति भी अलौकिक होगी, सर्वथा भ्रामक है। अलौकिक आलम्बन उसी प्रकार है, जैसे वन्ध्या-पुत्र या आकाश-कुसुम। आलम्बन के लिए लौकिकता अनिवार्य है।

तीसरी समस्या इनके उत्कट आनन्दानुभूति की है। प्राय वे उसे परम आनन्दमय स्वीकार करते है तथा उसकी अनुभूति की तुलना मे वासनाजन्य शृगार को सूर्य के सम्मुख खद्योत प्रकाश की भाँति तुच्छ बतलाते है। किन्तु जब न भावग्राहक मस्तिष्क के संस्थान अलौकिक है और न इन्द्रिय के प्रत्यक्ष विषय ही, फिर अनुभूति की अलौकिकता भी संभव नही है। वस्तुत इस प्रकार की अनुभूति की दो स्थिति है—

प्रथम यह कि भक्त भक्तिकाव्य के माध्यम से एक सामान्य पृष्ठभूमि से भिन्न विशेष प्रकार के वातावरण की सृष्टि करते हैं। जिस प्रकार उदात्त

काव्य की पृष्ठभूमि मे भावो का ग्राहक मन उससे भिन्न वातावरण मे निर्मित काव्य से अलगाव का अन्तरबोध करता है, ठीक उसी प्रकार भक्तिकाव्य का वातावरण अन्य वातावरण के अलगाव की सूचना भी मस्तिष्क को देता है।

दूसरी स्थिति मे भावो के ग्राहक मन की भी एक विशिष्ट दशा हो जाती है। वह अभ्यास के माध्यम से समस्त भावो का एकीकरण ईश्वरोन्मुख रति मे कर लेते है। जब ईश्वरोन्मुख रति से प्रभावित मस्तिष्क उस विशिष्ट वातावरण मे अपने ग्राहक तत्त्वो से भावबोध की स्थिति मे पहुँचता है, तो उसे उसकी अनुभूति उत्कट प्रतीत होने लगती है। रहस्यवादियो मे यह मस्तिष्क एवं वातावरण कुछ भिन्न कोटि का होने के कारण उनकी अनुभूति को ऐन्द्रजालिक बना देता है।

यही कारण है कि इन कवियो की उत्कट अनुभूति के लिए नास्तिको के पास स्थान नही है। भक्तकवि एव आचार्य भक्ति के क्षेत्र मे शका को गर्हित मानकर मात्र अधश्रद्धा को उसके लिए अति आवश्यक बताते है। सती का प्रायश्चित एव भुशुण्डि की कागयोनि शका एव वितर्कणा का ही प्रतिफल है।

इस प्रकार सिद्ध है कि भक्तिरस की अनुभूति शुद्ध अलौकिक न होकर अलौकिक का आभास मात्र है।

भक्तआचार्यों द्वारा प्रतिपादित भक्ति रसबोध के सिद्धान्त एवं उनकी आलोचना

असलक्ष्य क्रम मे प्रमाता को रसतत्त्व की जिस स्थिति का बोध होता है, रस प्रक्रिया की वही अन्तिम सिद्धि है। इसी स्थिति की व्याख्या रसाचार्यो ने अनेक भाँति से की है। रसबोध वस्तु का नही अपितु वस्तुजन्य उस वेदना का होता है जो पुष्टभाव के रूप मे मानस मे अनुभूत हो सके। इसीलिए सौन्दर्यशास्त्रियो ने[1] वस्तुजन्य सवेदना को Co-enesthesia कहा है, क्योकि मनस् वस्तुजन्य संवेदन को पचाकर उसे एक मात्र अपनी चेतना का विषय बना लेता है। रससिद्धान्त की यही एक अपनी पृथक् विशिष्टता है जो इसे अन्य काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तो की वस्तुनिष्ठता से पृथक् रखती है। हिन्दी का वैष्णव भक्तिकाव्य वस्तुनिष्ठ से अधिक व्यक्तिनिष्ठ है। इस काव्य का वस्तुनिष्ठ तत्त्व भी सौन्दर्य से प्रभावित होने के कारण रसात्मक बोध के अधिक समीप है। व्यक्तिनिष्ठ काव्य स्वत रसमय है ही, क्योकि वह पूर्णत

१ मीनिंग ऑव मीनिङ्ग, आई० ए० रिचर्ड्स तथा आग्डेन, पृ० १०

मानवीय मवेदनाग्रो पर ग्राश्रित है। सम्भवत इसीलिए भक्तिकाव्य की काव्यशास्त्रीय व्याख्या के सदर्भ मे भक्त ग्राचार्यो ने एकमात्र रसतत्त्व का ही विवेचन किया है। भक्तिकाव्य के रीतिकारो की सख्या एक दर्जन से कही ग्रधिक है, किन्तु इन्होने रस को छोडकर ग्रन्य किसी भारतीय काव्यशास्त्रीय मूल्य को इसकी व्याख्या का ग्राधार नही बनाया है। इसी सदर्भ मे भक्ति-रसबोध की भी चर्चाएँ मिलती है। प्रस्तुत विवेचन का मूल मन्तव्य इन ग्राचार्यो द्वारा निर्दिष्ट भक्तिरमबोध के उन सिद्धान्तो की व्याख्या है जो रस के सदर्भ मे साधारणीकरण के रूप मे मिलते है। इस दिशा मे तीन वैष्णवाचार्यो ने ग्रपने भिन्न-भिन्न मतो से भक्तिरसबोध के सिद्धान्त को पुष्ट किया है, ये ग्राचार्य है क्रमश रूपगोस्वामी, ग्राचार्य वल्लभ तथा मधुसूदन सरस्वती। इनके सिद्धान्त इस प्रकार है—

रूपगोस्वामी·

साम्प्रदायिक वैष्णवाचार्यों मे इनका नाम सर्वप्रथम लिया जाता है। श्रीहरिभक्तिरसामृतसिन्धु कृति परम्परा से चली ग्राती हुई रस-धारा का विस्तृत परिचय देती है। उनके ग्रनुसार हृदयस्थ सत्वोज्वल स्फुरण का ग्रास्वाद ही भक्तिरस है।[1] उनके प्रमाता मात्र भक्त हैं। भक्त की विशेषता बताते हुए उन्होने इसे प्रसन्न, समस्त दोषो से निर्धूत, निर्मल-चेता, भागवतग्रनुरक्तरसिक, जीवनीभूत गोविन्द के चरणो मे ही सुखी रहने वाला, ग्रन्तरग प्रेम से विह्वल तथा भक्ति के पूर्व सस्कार से मडित कहा है।[2] इस प्रकार साधारणीकरण की भूमिका मे कहा जा सकता है कि निर्धूत प्रसन्नचेतस् भागवतरस मे ग्रनुरक्त, रसिक, ग्रन्तरग प्रेम से विह्वल एव भक्ति संस्कार से मडित भक्त के हृदय मे स्फुरित उज्ज्वलसत्व के स्फुरण को भक्तिरस कहते है। इसी के बाद इन्होने साधारणीकरण की प्रक्रिया का भी सकेत किया है। रूपगोस्वामी ने ग्रपनी पूर्ववर्ती परम्परा के दो ग्राचार्यो का नाम इस सदर्भ मे लिया है ग्राचार्य भरत का तथा दूसरे किसी सूरिभि[3] ग्रर्थात् ध्वनिवादी ग्राचार्य का जो भाव के साधारणीकरण का प्रति प्रादन करता हो, ग्रर्थात् ग्रभिनवगुप्त का। ग्राचार्य भरत के सदर्भ मे उन्होने कहा है कि उनके ग्रनुसार विभावादि के सयोग से निष्पन्न रसशक्ति साधारणीकृत होती है। यह सम्भवत भरत के रस प्रक्रिया से सम्बन्धित

---

१ श्री हरिभक्ति रसामृतसिन्धु, दक्षिण विभाग विभाव लहरी श्लोक सं० ६, ७

२ श्री हरिभक्ति रसामृतसिन्धु, दक्षिण विभागे विभाव लहरी श्लोक स० ८, ९, १०

३ श्री हरिभक्ति रसामृतसिन्धु, दक्षिण विभागे, विभावादि लहरी श्लोक स० ८३, ८४,

सूत्र की ओर सकेत करता है। प्रमाता विभावादि के सयोजन से स्व एव पर का अभेद कर रसास्वादन कर लेता है। भक्त भी ठीक यही करता है। दुखादि से पीडित होने पर भी व्यक्ति जिस प्रकार काव्यानन्द के सम्पर्क मे आने पर दुखो को विस्मृत कर जाता है, उसी प्रकार प्रमाता भक्त भी सासारिक क्लेशजन्य विरागादि को कृष्ण रस के साक्षात्कार से विस्मृत करता है। कृष्ण माधुर्यभाव का आश्रय ग्रहण करके रति का विस्तार करते है। भक्त इसी माधुर्य भाव का आस्वादन करते है। कृष्ण का सौन्दर्य अलौकिक है इसीलिए भक्तिरस की स्थिति, आस्वाद आदि अलौकिक है।[1] कृष्ण सम्बन्धी ये ही माधुर्य के भाव साधारणीकृत होते है क्योकि ध्वनिवादी आचार्यो ने अनुभूति को ही साधारणीकृत माना है।

निष्कर्ष १ **भक्तिरस के लिये प्रमाता को भागवतरस का रसिक होना चाहिये।**

२ **भक्ति के विभावादि एव कृष्ण सौन्दर्य के भाव साधारणीकृत होते है।**

३ **साधारणीकरण की स्थिति मे प्रमाता सासारिक क्लेषो को विस्मृत कर जाता है।**

आचार्य वल्लभ

आचार्य वल्लभ ने साधारणीकरण के विषय मे अपना दूसरा ही मत प्रकट किया है। उन्होने भागवत वेणुगीत की सुबोधिनी टीका मे रस को दो भागो मे बॉटा है केवल तथा धर्मसहित सम्भोग रस। उनके अनुसार केवल रस नाटको मे तथा धर्मसहित भक्ति काव्यो मे प्रयुक्त होता है। इन भक्तिकाव्यो मे विषय-वस्तु के रूप मे कृष्ण की रूप-लीला समादृत है।[2] धर्मसहित रसभोक्ताओ की उन्होने दो श्रेणी बनाई है—गोपीभक्त एव मात्र भक्त।

गोपी भक्ति का तात्पर्य गोपी भाव की भक्ति एव तत्सम्बन्धी भक्त का तात्पर्य उनमे गोपी भक्ति का आश्रय है। गोपीभक्तो की विशेषताओ का उल्लेख करते हुए उन्होने उन्हे परमप्रेमासक्ति से व्याकुल[3], हरिचरणामृत के लिये पिपासु, ज्ञानाज्ञानमुक्त, नाना विलास सयुक्त, केलिक्रीडाओ से युक्त,

---

१ श्री हरिभक्ति रसामृतासिन्धु, दक्षिण विभागे, विभावादि लहरी श्लोक ८३, ८४

२ रसो हि द्विविध धर्मसहित केवलश्च केवलो नाट्यो प्रसिद्धो धर्मसहितो

३ रासपनाध्यायी श्लोक ४२ का भाष्य

मानोद्भूत विप्रलभ शृगार से विरहित, कामुक कृष्ण के प्रति आसक्त तथा कामभाव से पीडित आदि कहा है। गोपियाँ एव तद्रूप भक्त कृष्ण प्रेम मे विह्वल होकर किस प्रकार स्वपद का अभेद करते है, इसका स्पष्टीकरण आचार्य वल्लभ ने इस प्रकार किया है—

भक्त का सस्कार रूप मे स्थित भक्ति विषयक भाव वाह्य जगत मे कृष्णलीला के दर्शन एव कृष्णकथा के श्रवण से पुष्ट होकर अन्तरतम मे जब गूढ हो जाता है, उस स्थिति मे रसनिष्पत्ति होती है। कृष्ण का रसात्मक कामभाव अत्यधिक गूढ है। भक्त मात्र गोपीभाव की कामना से ही इस गूढ रस का आस्वादन कर पाते है, किसी अन्य भाव से नही। इस प्रकार गोपीभाव के भक्त कामभाव से युक्त हृदयस्थ सस्कार के प्रति वोध से गूढ भक्ति रस का बोध करते है। व्यावहारिक स्तर पर यह रसबोध की कथित स्थिति है। अभिनय के माध्यम से भी भक्त कृष्ण रस का बोध करते हे। उनके अनुसार कृष्णलीला स्वयं मे एक रूपक है। जिस प्रकार अभिनेता रूपक के अभिनय से तुष्ट होकर दर्शको को अपनी कला से रसमग्न करता है, उसी प्रकार भक्त गोपीभाव से कृष्णलीला मे निहित भक्तिरस के आस्वादन से आत्मविह्वल होकर पाठको, भक्तो एव श्रोताओ को आनन्दित करता है। भक्तो को गोपीभाव की लीला के लिये स्त्रीभाव का आरोपण आवश्यक है। आचार्य वल्लभ के अनुसार यह स्त्रीभाव परमतम गूढ भाव है।[1] रस-प्रक्रिया को स्पष्ट करने के लिये उन्होने पुन एक अन्य रूपक का माध्यम लिया है।

काव्य रस की ही भाँति भक्तिरस के फल के बोधार्थ सर्वप्रथम भक्ति-चेतना का पल्लव अकुरित होता है। शास्त्रार्थ के ज्ञान से यह चेतना पल्लव से विकसित होकर भावकलिका मे परिणत हो जाती है। कलिका का पराग कोषभाव वैचित्र्य का सम्पुटन है।[2] जब सस्कार रूपी रात्रि भक्त-चेतना को आच्छन्न कर लेती है, तब इसी गूढ स्थिति मे सुगन्धि रूप गूढ भक्ति रस की निष्पत्ति होती है। तात्पर्य यह कि शास्त्रार्थादि ज्ञान से भक्ति चेतना जो वासना के रूप मे भक्त के हृदव मे वर्तमान रहती है, भक्ति के आवेश से भक्ति रस मे परिणत हो जाती है। इस प्रकार इस सिद्धान्त का निष्कर्ष यह है—

---

१ रासपचाध्यायी, श्लोक म० १ तथा ५

२ षोडश ग्रन्थानि, पृ० १६, १८

१ कामायमाना गोपियो की चरमकृष्ण सक्ति भक्तिरस के रूप मे निष्पन्न हुई थी। यह आसक्ति है शृगार रूप मे किन्तु है धर्मसहित।
२ लीला मे भक्त उसी भाव का आरोपण करके सहानुभूति का विषय बनाते है।
३. भागवत रस की यह वासना शास्त्रार्थ आदि के ज्ञान से जगती है। भावरूपलीला भक्ति रस के गुप्त सस्कारो को जाग्रत कर रसनिष्पत्ति मे सहायक होती है।

मधुसूदन सरस्वती

इस विषय मे तीसरा मत मधुसूदन सरस्वती का है। भक्तिरस के विषय मे इनका विचार है कि यह समस्त चित्तवृत्तियो की धारावाहिक एकरूपता है जो भगवद्स्वरूप मे एकाकार होने पर निष्पन्न होती है। इसमे दो बातें प्रमुख हैं: भक्त की चितवृत्ति एव दूसरा भगवद्स्वरूप।

चित्तवृत्तियो की तुलना उन्होने स्वर्ण से की है। उनके अनुसार चित्त आत्मा का जाग्रत गुण है, वह आत्मानन्द के स्वभाव से वियुक्त होने पर अतप्त स्वर्ण की भाँति मलिन रहता है। जिस प्रकार स्वर्ण अग्निताप से उत्तप्त होकर राशिभूत हो जाता है, उसी प्रकार ब्रह्मानन्द के सम्पर्क से चित्त द्रवित होता है, अन्यथा वह अतप्त स्वर्ण की भाँति अनेक अपरा तत्त्वो से ग्रथित मिलता है। उत्ताप की स्थिति मे जिस प्रकार स्वर्ण मे मात्र द्रवता ही बच रहती है, उसी प्रकार आत्मानन्द के सम्पर्क से चित्त ही द्रव रूप शेष बचता है। यही चित्तद्रव की अवस्था भक्तिरस की निष्पत्ति से सम्बन्धित है। इस प्रकार भक्ति रसबोध भक्त की अन्तर्मानिसिक चित्त-द्रवता से सम्बन्धित है।

भगवद्स्वरूप को आनन्दमय कहा गया है। वह स्वत रसपूर्ण है। फलत उसके स्वरूप को अधिगत करके नि सृत भक्ति भावना रसपूर्ण होती है। आत्मा स्वत ब्रह्ममय होने के कारण आनन्दमय एव रससिक्त हैं। भक्ति की वासना के कारण आत्मा पर ब्रह्मभाव का प्रतिबिम्ब पडता है। उनके अनुसार भक्ति की वासना मनोमय कोश से सम्बन्धित है। मनोमय कोश मे वासना रूप मे स्थित भक्ति आत्मानन्द के साक्षात्कार से रसमय हो उठती है। मधुसूदन सरस्वती के अनुसार यही भक्तिरस की उत्कट भूमिका है जो काव्यानन्द से उच्च है। भक्ति मे इसके नीचे की भी भूमिकाएँ हैं जिन्हे

दया, करुणा, दास्य, मैत्री आदि नामो से सम्बोधित किया जा सकता है। ये अवस्थाये भक्तिरस को उत्कट भावना का बोध नही करा सकती।

मधुसूदन सरस्वती के अनुसार साँख्यदर्शन से भी भक्ति रस की निष्पत्ति हो जाती है। सत्त्व, रज, तम से युक्त त्रिगुणात्मक प्रकृति क्रमश सुख, मोह एव दु खमूलक है। प्रकृति समस्त विश्व को इसी प्रपच मे लपेटे हुए है, एक व्यक्ति जानता है कि पत्नी भी उसकी पत्नी है तथा सपत्नी भी उसकी पत्नी है किन्तु सपत्नी का मोह दूर हो जाने पर वह समझता है कि दोनो मे कामिनी सुखमूलक एव सपत्नी दु खमूलक है। अत वह सपत्नी को त्याग कर कामिनी के सुख का उपभोग करता है। उसी प्रकार भक्त ज्ञान की स्थिति मे क्रमश एक ही पदार्थ से उत्पन्न तम रूप दु ख, रज रूप मोह को छोडकर सत्त्व के सुख का ही उपभोग करता है। इसके लिए वैराग्य ही एक मात्र आधार है, यह वैराग्य सम्पूर्णत निषेधात्मक न होकर तम एव रस से उत्पन्न दु ख एव मोह का ही निषेध है। इसी वैराग्य के कारण सत्त्वगुण के आनन्द से चित्तवृत्ति को जो सुख मिलता है, वही भक्तिरस है। मधुसूदन सरस्वती आत्मा के आनन्दकोश पर ब्रह्म के आभास का प्रतिबिम्ब पडने पर ही रसबोध की स्थिति स्वीकार करते है। अत इनके सिद्धान्त को प्रतिबिम्बवाद कहा जा सकता है।

आलोचना

रूपगोस्वामी की भक्तिरस सम्बन्धी मान्यता से भक्ति काव्य के रस-बोध की स्थिति का पूर्णत समाधान नही हो पाता। उनके अनुसार भक्ति-रस के पाँच भेद है—शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य एव मधुर। इसमे 'स्व' एव 'पर' का अभेद उस अवस्था मे होता है जब प्रमाता का चेतन मस्तिष्क वाह्य चेतन व्यवहार से शून्य मात्र प्रत्यक्ष से प्राप्त सवेदनशीलता के गुण से ही चालित हो। इस कसौटी पर भक्ति रस के भेदो को कसने पर उनमें मानसिक विलयन होने की प्रवृत्ति का अभाव मिलता है। उदाहरण के लिए दास्यभक्तिरस को लिया जा सकता है। इसमे रसात्मकता तब आ पायेगी जब भक्त आलम्बन की अनन्य दया शक्तिमत्ता आदि की भावना मे खो जाए अर्थात् उसका मानसिक द्वैत समाप्त हो जाय। दास्य के सदर्भ मे वह द्वैत कभी समाप्त नही हो सकता। द्वैत समाप्त होने पर याचकता एव याचक

१ भगवद्भक्तिरसायन, प्रथम उल्लास, श्लोक स० १ से ११ तक

भाव ही लुप्त हो जावेगा, इसीलिए दास्य के पदो मे दो व्यक्तित्व की स्पष्टता झलकती रहती है। एक ओर आराध्य की शक्तिमत्ता आदि का कथन, दूसरी ओर याचक की दीनता। निश्चित रूप से दास्य भाव के स्थायी भाव शक्तिमत्ता, सरक्षण, तृप्ति मे चित्तद्रवता की शक्ति नही है, ठीक यही स्थिति सख्य, दास्य, शान्त एव वात्सल्य की भी है। यही कारण है कि मधुसूदन सरस्वती ने दया, करुणा, मैत्री, दास्य आदि को भक्ति का सामान्य तत्त्व स्वीकार किया है।

रूपगोस्वामी के समक्ष लौकिक काव्य की भाति भक्तिसम्बन्धी काव्य तथा सस्कृतकाव्यशास्त्र की एक विस्तृत परम्परा थी। उनका सिद्धान्त पूर्णरूपेण सस्कृत के आचार्यों द्वारा प्रतिपादित रससिद्धान्त का अनुकरण मात्र है। कही-कही आचार्य भरत, आनन्दवर्धन एवं साहित्यदर्पणकार की परिभाषाओ मे थोडा सा परिवर्तन करके भक्तिरस के सन्दर्भ मे श्लोको को नियोजित कर दिया है। इससे उनकी मौलिकता निश्चित ही क्षतिग्रस्त हुई है। इन्होंने काव्यरस की भाँति भक्तिरस का भी भेद कर डाला है। परवर्ती आचार्य भक्ति को सम्पूर्णत एक रस के रूप मे स्वीकार करते है। रूपगोस्वामी का यह विभेद त्रुटिपूर्ण है।

यह सत्य है कि काव्य रस के बोध के लिए सहृदय की अपेक्षा की जाती है, किन्तु वह सहृदय भाव भक्त के सहृदय भाव से पूर्णरूपेण भिन्न है। आज का मनोविज्ञान प्रेषणीयता (Comunicatility) एवं वेदनीयता (Empathy)को मानव मन की सुखमूलक आकाक्षा का एकमात्र प्रतिफलन सिद्ध करता है। चूँकि सुखमूलकता मानव मस्तिष्क का अनिवार्य अग है तथा काव्यरस इसी का परिणाम है, इसलिए काव्यबोध का सुख मानव मस्तिष्क के स्वभाव से सम्बन्धित है। रस के विभेद मन की इसी सुखमूलक प्रवृत्ति पर निहित है। मन की यह सुखमूलक स्थिति विभिन्न परिवेश मे क्रमश द्रवता, द्रुति, विस्तार, विक्षेप, विक्षोभ आदि रूपो मे रस की सृष्टि करती है। इस प्रकार रस मानसिक वृत्ति का सार्वभौम अंग है। इस सदर्भ मे जब हम भक्तिरस को लेते है तो उसकी सीमितता उसे स्वत रसमूल्य से च्युत कर देती है। भक्त का मस्तिष्क साम्प्रदायिक सिद्धान्तो पर आधारित कृत्रिम मस्तिष्क है, जो रसभोग से सुख प्राप्त करता है और आश्चर्य तो यह कि उसका माध्यम काव्य है, किन्तु उसे अपने साम्प्रदायिक मस्तिष्क का फल मानता है। इसलिए भक्तिरस सार्वभौम नही हो सकता क्योकि वह एक निश्चित सम्प्रदाय

की आस्था पर टिका है और जब कि काव्यरस मानव मस्तिष्क का अग है।

तृप्ति के क्षेत्र मे भी यही बात आती है। काव्यरम अपने सम्पर्क मे आने वाले को एक ही प्रकार से प्रभावित करता है क्योकि वह प्राकृत मनम् से सम्बद्ध है। दूसरी ओर भक्तिरस एक निश्चित वातावरणजन्य मस्तिष्क को ही प्रभावित कर सकता है।

रूपगोस्वामी के पूर्व नारदभक्तिसूत्र मे भक्ति की एकादश आसक्तियो मे रस सम्बन्धी इन पाँच आसक्तियो को अधिकाधिक महत्ता मिली थी। आगे चलकर आचार्य निम्बार्क ने शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य तथा उज्ज्वल को पचरति के नाम से पुकारा। यह रति वस्तुत. आसक्ति ही थी, किन्तु रूपगोस्वामी ने उसे रस की सज्ञा दे दी। यह रति श्रृगार के स्थायी भाव रति से पूर्णत भिन्न है क्योकि यह आसक्ति है और वह आन्तरिक वासना।

इसके पश्चात् आचार्य वल्लभ का रससिद्धान्त आता है। आचार्य वल्लभ ने रूपगोस्वामी की भाँति रस का भेद नही किया है। उन्होने दास्य, सख्य आदि को भक्ति का अग मानकर केवल मधुर भक्ति रस को स्वीकार किया है। किन्तु सामान्य श्रृगार से अलगाव के लिए उन्होने उसमे धर्मसहित का विशेषण जोड दिया है। यह धर्मसहितता उनकी धार्मिकता को व्यक्त करती है क्योकि व्यवहार जगत मे श्रृगार और भक्ति परस्पर विरोधगामी प्रवृत्ति के द्योतक है। किन्तु उन्होने मात्र श्रृगार को ही पवित्र बताया है। वेणुगीत मे आए 'विचित्रगीत' पद की व्याख्या करते हुए कहा है कि "श्रृगार एव सर्वरसा अभावे हि रसिकाना रुचिनोत्पाते अतएव विचित्रगीतम्'[1] इस तरह उन्हे विशेष आपत्ति नही थी कि श्रृगार भक्ति का माध्यम न बने। वह बने किन्तु परिष्कृत रूप मे क्योकि राधाकृष्ण की लीला कोरी वासना पकिल सुख की ओर न ले जाकर आनन्द और मोक्ष की ओर ले जाती है। इस रूप मे यह कल्पित रूप जिसे भक्त अपनी अनुकृति लीला के द्वारा प्रगट करता है आनन्द का उद्भावक है। अनुभूति के स्तर पर इसका स्वरूप क्या है। आचार्य वल्लभ द्वारा निर्दिष्ट भक्तिरस के बोध के समय प्राय मस्तिष्क मे सचेष्टता का बना रहना अनिवार्य है क्योकि निश्चेष्ट अर्थात् स्व पर का

१ वेणुगीतम्, श्लोक स० १२ का भाष्य

विभेद कर देने पर शृगार की धर्मसहितता विस्मृत हो जाती है और इस सचेष्टता का ज्ञान रस भावन व्यापार का घातक दोष है। इसीलिए वैष्णव भक्त कवि अपने पद के अन्त मे एक वैशाखी लगाते चलते है। उदाहरणार्थ राधाकृष्ण की रति युद्ध का वर्णन है जिसे पढकर रसभोग की मानसिक वृत्ति उस सवेदनशीलता मे एकतान होने जा ही रही थी। यही भक्ति कवि रोक देता है। अरे यह मत करो, यह जगतवश कृष्णराधा की लीला है। अत इस स्थिति मे हम इस रसबोध से वचित रह जाते है, जो शुद्धकाव्य की स्थिति मे करते। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि आचार्य वल्लभ के इस सिद्धान्त मे भी रस बोध की वह स्थिति नही मिलती जो सामान्यत रसानुभूति मे प्राप्त है।

इसके बाद मधुसूदन सरस्वती का मत आता है। उनका यह प्रतिबिम्ब-वाद मात्र अनुभूतिमूलक हो हे। सर्वतोभावेन काव्य मे व्यवहार सम्भव नही है। वे वस्तुत अद्वैतवादी दार्शनिक ही है। भक्ति के वृहत्प्रचार के बाद अद्वैत वेदान्त मे भी भक्ति को उत्कृष्ट स्थान मिला। यद्यपि आचार्य शकर भक्ति को ज्ञान से तुच्छ ही बताते है। ब्रह्म के आनन्द अभिज्ञान को जिसे उपनिषदो मे रस कहा गया है, उसे उन्होने भगवद्भक्ति रसायन का फल माना, जिसकी अनुभूति विरक्त रज तम के त्याग से करना है या योगध्यान की अवस्था मे। किन्तु काव्य की सार्थकता मात्र अनुभूति मे नही है। काव्य का इससे भी महत्वपूर्ण पक्ष जिस रूप मे वह दूसरो के आश्रय का विषय बनता है, अभिव्यक्ति का पक्ष है। अन्यथा वह अनुभूति तो गूँगे का गुड है। इस प्रकार मधुसूदन सरस्वती का भक्तिरस काव्य-बोध की सीमा मे नही रखा जा सकता।

इस अध्ययन से ये निष्कर्ष निकलते है।

निष्कर्ष

१ यद्यपि रूपगोस्वामी भक्तिरसबोध को साधारणीकरण की अवस्था मे स्वीकार करते है किन्तु यह संकीर्णता से दूषित होने के कारण उस स्थिति तक नही पहुच पाता।

२ आचार्य वल्लभ भी भक्तिरस के धर्मसहित शृगार रूप को साधारणीकृत मानते हैं, किन्तु उसमे भी धर्मसापेक्ष्यता के कारण रसबोध की पूर्ण स्थिति नही पहुच पाती।

२ मधुसूदन सरस्वती का मत काव्य पर आरोपित नहीं किया जा सकता। वह भक्ति की अनुभूति मे ही ठीक उत्तर सकता है, भक्ति काव्य की अभिव्यक्ति मे नही।

भक्तिकाव्य के रसबोध का वास्तविक आधार

काव्य प्रयोजनो के अन्तर्गत सामान्य स्वभाव की दृष्टि से वैष्णव भक्ति काव्यो की प्रकृति का निर्देश इन रूपो मे किया जा चुका है—

१ **भक्ति सम्बन्धी प्रकृति**

२ **काव्य सम्बन्धी प्रकृति**

३ **भक्ति और काव्य की मिश्रित प्रकृति**

काव्य की इन श्रेणियो के लिए रसबोध के आधारो को स्पष्ट करना ही इस समस्या का समाधान है।

रसबोध एव साधारणीकरण की समस्या वस्तुत सामाजिक की है। यह सामाजिक या सहृदय का सबसे बडा गुण है जो काव्य के लिए उसके मानदड का कार्य करता है। यह सत्य है कि, रस का मूल बीज सामाजिक के हृदय मे है, किन्तु कवि को इस रसबोध के लिए सामाजिक बनना अनिवार्य है। सम्भवत इसी को दृष्टि मे रखकर अभिनवगुप्त ने कहा है कि—

तदेव मूल बीज स्थनीय कविगतो रसः कविर्हि सामाजिक तुल्यो एव[१]—
अर्थात् मूल बीज के रूप मे रस कविगत है किन्तु बोध की स्थिति मे कवि सामाजिक के ही समान है, सम्भवत तुलसीदास का यह सकेत कि—

तैसइ सुकबि कवित बुध कहही। उपजहि अनत अनत छबि लहही।
इसी ओर निर्दिष्ट है। इस प्रकार सामाजिको की स्थितिभेद से रसबोध की स्थिति मे अन्तर पड़ सकता है। वैष्णव भक्ति काव्य को ध्यान मे रखकर सामाजिको या सहृदयो की स्थिति का निम्न क्रम निर्दिष्ट किया जा सकता है—

१—शुद्ध भक्त सहृदय

२—शुद्ध काव्य सहृदय

३—आस्तिक सहृदय—भक्ति को नास्तिक बुद्धि से न देखते हुए श्रद्धालु सहृदय या काव्य अध्येता किन्तु व्यावहारिक दृष्टि से यह भेद इस प्रकार रखा जा सकता है—

---

१. हिन्दी अभिनवभारती, पृ० ५१५

१—काव्य एव भक्ति के सहृदय

२—काव्य के सहृदय

काव्य के लिए भक्ति उसका एक अग है। यद्यपि यह भक्ति एक निश्चित साम्प्रदायिक आग्रह का प्रतिफल है, फिर भी काव्यदृष्टि से उसके अध्येता मात्र मध्यकालीन वैष्णव भक्त ही न होकर भक्त-अभक्त कोई भी हो सकता है। उसके लिये कोई व्यवधान नही है। इस प्रकार ये सहृदय दो प्रकार के होगे–प्रथम वे जो श्रद्धायुक्त आस्तिक बुद्धि से अनुप्रेरित है और दूसरे वे जो श्रद्धाशून्य है। अत रसबोध की स्थिति की व्याख्या उन उभयमुखी वृत्ति वाले पाठको को ध्यान मे रख कर करना आवश्यक है।

पूर्व निर्दिष्ट रस के सिद्धान्त के अन्तर्गत दिखाया जा चुका है कि इन आचार्यों ने रसिको या सहृदयो की स्थिति श्रद्धायुक्त मात्र ही बताई है। उन्होने दूसरे पक्ष पर विचार नही किया है। उनके काव्य मे रसबोध के सिद्धान्त मात्र प्रथम वर्ग के पाठक या सहृदय के लिये है। दूसरे वर्ग के सहृदय या भोक्ता के रसबोध के समय इन काव्यो मे तीन वर्ग भेद स्वत उठ खडे होते हैं

१ शुद्ध काव्य के स्थल

२ भक्ति के भावुकतापूर्ण स्थल जो वैयक्तिक सवेदनापूर्ण अभिव्यक्ति या कलात्मकता के कारण आनन्दप्रद हैं।

३. मात्र साम्प्रदायिक, पौराणिक, धर्मसूचक आचारपरक काव्य-स्थल। इसको और अधिक स्पष्ट करने के लिए मानस से उदाहरण लिया जा सकता है।

क शुद्ध काव्य के स्थल वे है जहाँ कवि की कलात्मक वृत्ति आवेश के साथ प्रगट हुई है। इस कलात्मक आग्रह में नीति, धर्म एव भक्ति का कोई भी तत्व नहीं उपलब्ध होता। इसके अन्तर्गत राम-सीता का प्रथम दर्शन, बनवास मार्ग में ग्रामबधूटियो की वार्ता, सीता-विलाप, रामविरह का आदि को रखा जा सकता है।

ख काव्य और भक्ति के सवेदनापूर्ण मिश्रित स्थल जो प्राय श्रद्धालु पाठक के मस्तिष्क को प्रभावित कर सकते हैं, दूसरी श्रेणी मे आते हैं। राम की बाललीला, अयोध्याकांड के अधिकाधिक प्रसग तथा ऋतुवर्णन आदि को उसके अन्तर्गत रखा जा सकता है।

ग ये स्थल मात्र भक्तो को ही विह्वल कर सकते हैं। भक्तो की आवेशपूर्ण स्तुतियाँ, आध्यात्मिक विचारो के कथन, नैतिक आचरण आदि को इसके अन्तर्गत रखा जा सकता है।

शुद्ध काव्य का भोक्ता काव्यस्थलो का पूर्णत सवेदनापूर्ण रसास्वादन करेगा और भावुकतापूर्ण भक्ति के स्थलो मे उसकी मनस् वृत्ति प्राय रसबोध की स्थिति सी होगी। किन्तु तीसरे प्रकार के स्थलो मे उसकी मानसिक रस-बोध शक्ति रम न सकेगी। इस प्रकार शेष दो स्थलो की स्थिति काव्य मे साधारणीकरण जैसी ही होगी। वह समानत समस्त पाठको के लिये काव्य-वत् हो है, किन्तु तीसरे प्रकार के स्थल यो ही निरर्थक नही हैं, इनका भी साहित्यिक महत्त्व और मूल्याकन अपेक्षित है क्योकि इनमे से अधिकाधिक काव्याश कवि की अभिव्यक्ति के ही अंग है। इनका प्रयोग मानव उपयो-गिताओ के सदर्भ मे अपेक्षित है। श्रद्धालु एवं भक्त पाठक भक्तिपूर्ण शुद्ध साम्प्रदायिक एव काव्यपरक स्थलो का रसास्वादन ठीक काव्यमर्मज्ञ की ही भाँति करेगा। उसके लिये आचार्यो द्वारा कथित रसबोध का सिद्धान्त पूर्णरूपेण चरितार्थ होता है। किन्तु शुद्ध काव्यमर्मज्ञ या नास्तिक पाठक के लिये रस की दृष्टि से वैष्णव भक्तिकाव्य के अन्तर्गत इस प्रकार का श्रेणी-भेद आवश्यक है।

———

अध्याय ४

भक्तिकाव्य तथा उपयोगितावादी साहित्य सिद्धान्त

भारतीय काव्यशास्त्र में उपयोगिता तत्व तथा उसकी परम्परा

भारतीय काव्यशास्त्र को विश्लेषणात्मक क्रम मे रखने के लिये इसकी सूत्रात्मक एव अर्थबहुल शब्दावली की पूर्ण व्याख्या आवश्यक है। इस सदर्भ मे समस्त भारतीय काव्यशास्त्र को दो भागो मे विभक्त किया जा सकता है। प्रथम का सम्बन्ध सौन्दर्यमूल्य या आनन्दात्मकता से है, जो प्रत्यक्षत कलात्मक मूल्यो से सम्बन्धित होने के कारण काव्य के सुन्दर पक्ष का समर्थन करती है। सौन्दर्य के अतिरिक्त भारतीय काव्यशास्त्रीय परम्परा का एक और भी मूल्य है जिसका सम्बन्ध साहित्य के शिव पक्ष से है। यदि आलोचना की शब्दावली मे कहे तो इसका सम्बन्ध उपयोगितावाद से है। यद्यपि भारतीय काव्यशास्त्रीय परम्परा मे उपयोगितावाद के नाम से कोई मूल्य अभिहित नही किया गया है, किन्तु उसकी स्पष्ट परम्परा का उल्लेख मिल जाता है। इस परम्परा को स्पष्ट करने के लिये बहुत कम प्रयत्न किया गया है, किन्तु ऐसा भी नही है कि हिन्दी के आचार्यो को यह बात खटकी न हो। श्री नन्ददुलारे वाजपेयी के अनुसार प्रयोजनवाद पर चर्चा करते हुए सबसे पहले यह जान लेना चाहिये कि प्रयोजन सम्बन्धी कोई विशेषवाद या सिद्धान्त अपने देश मे नही रहा है। साहित्य के प्रयोजन एव उद्देश्य के सम्बन्ध मे कुछ उल्लेख अवश्य मिलते है, पर उन उल्लेखो से साहित्य मे प्रयोजन नामक किसी वाद या मत विशेष की सृष्टि नही हुई है।[1] इस तथ्य के होते हुए भी उपयोगितावाद, जिसका अर्थ वाजपेयी जी ने प्रयोजन-

---

१ पृ० २१५ रसवाद और प्रयोजनवाद, लेखक आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी, काव्यशास्त्र का आलोचनात्मक अध्ययन, स० शम्भूनाथ पान्डेय

वाद से लिया है, उसके सम्बन्ध मे भारतीय काव्यशास्त्र मे अनेक धारणाये प्राप्त हो जाती है। उपयोगितावाद सम्बन्धी कथन काव्यशास्त्रीय ग्रन्थो के चार स्थलो पर उपलब्ध होते है—मंगलाचरण एव फलस्तुति, काव्यप्रयोजन सम्बन्धी कथन, महाकाव्य एव नाटक के लक्षण निर्धारण एव उद्देश्य कथन तथा स्तोत्र एव उपदेश काव्य के लक्षण निर्धारण विषयक प्रसग। मगलाचरण एव फलस्तुति प्राय सैद्धान्तिक एव रचनात्मक दोनो साहित्यो मे प्राप्त है। इन स्फुट सकेतो मे इस तत्त्व को स्पष्ट करने के लिये प्रभूत सामग्री मिल जाती है —

भारतीय काव्य शास्त्र का आरम्भ आचार्य भरत से माना जाता है। उन्होने नाटक के सामाजिक उद्देश्य को स्पष्ट करते हुए उसकी सामाजिक अनिवार्यता का कथन १२ श्लोको मे किया है। नाट्य शास्त्र का अध्ययन करने से इतना अवश्य ज्ञात हो जाता है कि भरत के पूर्व इस देवजन विद्या[१] को लौकिक स्तर पर लाने का प्रयत्न किया गया था। यही कारण है कि भरत ने देव, असुर, राजपरिवार एव ऋषि समस्त सामाजिक वर्गो के लिए नाट्य को समान रूप से सुलभ बताया है।[२] आचार्य भरत ने नाटक के मूल उद्देश्यो को इस प्रकार स्पष्ट किया है—

नाटक जीवन के विशाल क्षेत्र से सम्बन्धित होने के कारण अनेकोन्मुखी है। उसमे कही धर्म का निरूपण, कही क्रीडा, कही अर्थ कही शम, कही हास्य, कही युद्ध, कही काम और कही वध है।[३] इस प्रकार वह जीवन के सम्पूर्ण क्षेत्रो का स्पर्श करता है। उसमे धर्मप्रवृत्त के लिए धर्म, कामोपसेवी के लिए काम, दुर्विनीत के लिए विग्रह, विनीत के लिए शालीनता, क्लवो के लिए धृष्टता, शूर और मानियो के लिए उत्साह, अबुधो के लिए विबोध, विदुषो के लिए वैदुष्यता, ऐश्वर्यशालियो के लिए विलास, दुखार्त्तो के लिए धैर्य, अर्थोपजीवियोके लिए अर्थ एव उद्विग्न चेतसो के लिए धृति[४] सभी कुछ प्राप्य है। इस

---

१ छान्दोग्य उपनिषद् में काव्य, नृत्य, सगीत आदि को देवजन विद्या के नाम से पुकारा गया है. दे० छा० उ० अध्याय ७. खड १, मत्र २

२ नाट्यशास्त्र, श्लोक सख्या १

३ नाट्यशास्त्र, अध्याय १, श्लोक स० १०८

४ नाट्यशास्त्र, अध्याय १, श्लोक स० १०९ से १११ तक

प्रकार भरत ने नाना भावो से सम्पन्न, नाना अवस्थाओ से युक्त लोकचरित के अनुकर्ता स्वरूप पचम वेदनाट्य की रचना की। भरत ने नाट्यशास्त्र के माध्यम से जीवनोपयोगी १२ मूल्यो का उल्लेख किया है। ये है—धर्म, अर्थ, काम, विग्रह, शालीनता, धृष्टता, उत्साह, विबोध, वैदुष्यता, विलास, धैर्य, एव धृति। इन मूल्यो मे विग्रह एव धृष्टता रचनात्मक न होकर विघातक मूल्य है। लेकिन इनके फलभोक्ता क्लीव एव दुर्विनीत है। अत ये मूल्य भी सामाजिक मूल्यो मे अन्तर्भुक्त किए जा सकते है। काम, विलास एव अर्थ जीवन के भौतिक मूल्य है। इनका उद्देश्य शारीरिक सरक्षण एव ऐन्द्रिक तृप्ति तथा सुख चक ही सीमित है। शालीनता, उत्साह, विबोध, वैदुष्यता, धैर्य एव धृति नैतिक मूल्य है। ये आत्मिक प्रेरणा स्फूर्ति एव आध्यात्मिक सजगता के प्रेरक है। धर्म शुद्धत नैतिक मूल्य है। इस प्रकार भरत ने दो प्रकार के मूल्यो का निर्वचन इन श्लोको मे किया है—भौतिक एव नैतिक मूल्य। यदि धृति आदि को अधिक विस्तार दे तो ये मनोवैज्ञानिक मूल्य भी हो सकते है। भरत ने इसी सदर्भ मे अन्य श्लोको को भी रखा है। उनके अनुसार यह नाट्य वेद उत्तम, मध्यम एव अधम सभी श्रेणियो के कर्म का आश्रयरूप, हितोपदेश का नियन्ता एव सुख क्रीडा तथा धृति का उद्भावक है। यह तपस्वियो के दु ख, श्रम, शोक का विनाशक एव लोक विश्रामक है। साथ ही देवता, असुर, राजप्ररिवार एवं कुटुम्बियो को सहज ज्ञाप्य[1] भी है। आचार्य भरत इस कथन के माध्यम से पुन नैतिक मूल्य : धृति, हितोपदेश, दु ख, शोक, शम के हरण का समर्थन करते है। वस्तुत आचार्य भरत का यह उपयोगिता मम्बन्धी मूल्य शिवतत्त्व से सम्बन्धित होने के कारण मगलवाद के नाम से पुकारा जा सकता है। इस प्रकार आचार्य भरत के अनुसार नाटक, भौतिक मनोवैज्ञानिक एव नैतिक मूल्य का समर्थन करता है। इन मूल्यो की अन्तरात्मा मे भारतीय आदर्श परम्परा का मंगलवाद निहित है।

भारतीय काव्य एव काव्यशास्त्र के विकास काल मे इस उपयोगितावादी दृष्टिकोण मे अनेक परिवर्तन एव सशोधन किए गये। भरत के उपरान्त दडी इन मूल्यो की विस्तार से चर्चा करते है। दन्डी के अनुसार यह परिष्कृत भाषा (काव्य) लोक व्यवहार (लोकयात्रा) मे सहायक होती है। काव्य सम्पूर्ण लोको के अज्ञान तिमिर का छेदक एव प्रकाश रूप

---

१. नाट्यशास्त्र, अध्याय १, श्लोक सं० ११४, ११५ ११७

है। इस प्रकार की मधुर गुणो से युक्त भाषा को विद्वानो ने कामधेनु कहा है। इसीलिए आचार्यो ने जनसाधारण की ज्ञान वृद्धि को ध्यान मे रखकर काव्य रचना के विविध प्रकारो का विधान किया है।[1]

दन्डी ने पुन महाकाव्य के लक्षणो का निरूपण करते हुए उसमे चतुर्वर्ग फलप्राप्ति (धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष) एव चतुरोदात्त नायक का उल्लेख किया है। साथ ही, इस नायक के गुणो की ओर सचेष्टता दिखाकर उसके चारित्रिक उन्नयन की प्रशसा की है।[2]

दन्डी के मत का यदि निष्कर्ष निकाला जाय तो कहा जा सकता है, कि भाषा समाज की सम्पत्ति है। उसके द्वारा सामाजिक उद्देश्य की पूर्ति अनिवार्य है। भाषा के प्रेषणीय गुण को आधार बनाकर काव्य के द्वारा समाज मे उपयोगी तत्त्वो का प्रचार किया जा सकता और किया जाता है। अत दन्डी के अनुसार उपयोगितावाद भाषा का सामाजिक गुण है। उसके द्वारा समाज-कल्याण अनिवाय है। दन्डी के समान अभिनवगुप्त ने भी सुन्दर विषयो के रसास्वादन मे प्रवृत्त और इसी कारण से वेद, शास्त्र, पुराण आदि रुक्ष साधनो से डरने वाले सामाजिक के लिए उसके मन को मुग्ध करने वाली वस्तु के बीच मे काव्य जेसी वस्तु को समाविष्ट कर दी जाने की बात कही है। इस प्रयोग से धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष प्राप्ति के उपायो का ज्ञान सहज रूप मे सम्भव है।[3] इसीलिए मम्मट ने कान्तासम्मित उपदेश को काव्य का सबसे महत्त्वपूर्ण गुण बताया है। इस प्रकार अभिनवगुप्त के अनुसार भी सौन्दर्यबोध तत्त्व से कही अधिक महत्त्वपूर्ण तत्त्व उपयोगिता का है। दन्डी के इस मत की शृखला आरम्भ मे ही आचार्य भरत के कथनो मे मिलती है। भरत ने नाट्योत्पत्ति की कथा के सदर्भ मे इस विषय की सविस्तार चर्चा की है। त्रेता युग के आरम्भ में मनुष्य काम, क्रोध, लोभ, एव मोह के वश मे होकर ग्राम्य धर्म में प्रवृत्त हो गये थे। ईर्ष्या, क्रोध आदि मे सम्मूढ होने के कारण लोगो का आनन्दमय जीवन दु खार्त्त हो उठा था। इसके अनन्तर देव, दानव, गन्धर्व, यक्ष एवं जम्बूद्वीप मे स्थित समस्त लोकपाल पीडित हो चुके थे, तब महेन्द्रादि प्रमुख देवो ने पितामह से प्रार्थना की कि लोकसकट के निवारणार्थ हम सब मिल

१ दन्डी, काव्यादर्श, परिच्छेद १, श्लोक ३, ४, ५, ६, ७ तथा ६

२ दन्डी, काव्यादर्श, परिच्छेद २, श्लोक १५ तथा २१

३. अभिनवभारती, पृष्ठ ४३

कर दृश्य एवं श्रव्य काव्यरूप का अभिनय करने की अनुमति चाहते है ।[1]

यही नही, भरत ने नाट्यशास्त्र की उत्पत्ति का एक और भी कारण बताया है । शूद्रजातियाँ वेद-शास्त्र का अनुसरण नही कर पाती थी । अत उनके लिए इस पचमवेद नाट्य की रचना की गई ।[2] आचार्य भरत के इस श्लोक को विस्तार देते हुए आचार्य अभिनवगुप्त ने कहा है कि कृतयुग मे सत्त्वोत्कर्ष के कारण सभी अपने कर्मो का अनुसरण करते थे । किन्तु कृतयुग के बाद गर्वाक्रान्त शूद्र सामाजिक नियमो का उल्लंघन करते हुए वर्णत्रय की अनुवृत्ति का पालन नही करते थे । वेद तथा शास्त्र सभी उनके लिए अस्पर्श्य थे । फलत उनको नैतिक बोध से परिचित कराने के लिए समस्त शास्त्रो मे सम्पन्न एव समस्त शिल्पो के प्रवर्तक इस इतिहास रूप नाट्यवेद की रचना आचार्य भरत ने की ।[3] इस प्रकार काव्य का उपयोगिता-तत्त्व एक निश्चित परम्परा से चलता हुआ मम्मट तक कान्तासम्मित उपदेश के रूप मे मान्य रहा है । आचार्य भरत द्वारा प्रतिपादित मधुर भाषा मे कथित नैतिक शिक्षण का सिद्धान्त इतना प्रचलित एव ग्राह्य हो चुका था कि प्राय नाट्य एव काव्य दोनो परम्पराओ मे इसका स्वीकरण होता चला आया । उन्होने स्पष्ट कहा है कि वेद शूद्रो के लिए व्यवहार्य नही है । उनके नैतिक शिक्षण को व्यवहार्य बनाने के लिए पचम वेद नाट्य की रचना की गई । यह नैतिक शिक्षण का सिद्धान्त परम्परा मे इतना अधिक ग्राह्य हुआ कि परवर्ती समस्त नाट्य एव महाकाव्य लक्षणकारो ने नाटक एव काव्य के लिए उदात्त चरित नायक उच्चगुण एवं समाज मे उनके अनु-करण की अनिवार्यता बताई । आनन्दवर्धन ने ठीक इसी लक्ष्य की ओर सकेत करते हुए कहा है कि रामायण, महाभारत आदि मे लक्ष्यभूत उपलब्ध व्यवहारप्रसिद्ध लक्षणो का पोषक होने के साथ ही साथ काव्य सहृदयो के आनन्द का उद्भावक भी है ।[4] इनके इस कथन से स्पष्ट है कि वे काव्य के द्वारा लोक व्यवहार को मर्यादित करने के पक्षपाती है । राजशेखर ने काव्य-मीमासा मे कवियो का वर्गीकरण करते समय उन्हे तीन कोटि मे रखा है । वे है, सारस्वत, आभ्यासिक एवं औपदेशिक । इसी के साथ उन्होने अपने

---

१ नाट्यशास्त्र, अध्याय १, श्लोक स० ४, ८, ९, १०, ११

२ नाट्य शास्त्र, अध्याय १ श्लोक १२

३ अभिनव भारती, अध्याय १ : १, श्लोक १२ की विवृति

४. ध्वन्यालोक, पृ० १८,

पूर्ववर्ती आचार्य श्यामदेव के कथन को दुहराते हुए कहा है कि औपदेशिक कवि वल्गु फल्गु न कहकर समाज को सन्मार्ग पर ले जाने का प्रयत्न करते है।[1] साथ ही कवियो की विशिष्टताओ का उल्लेख करते हुए उन्होने कहा है कि उन कवियो को मै नमस्कार करता हूँ जो पद-पद पर श्रुतियो का दोहन करते है। वे कवि, ऋषि एव शास्त्रकार एक ही साथ तीनो है। एक स्थल पर उन्होने काव्य की योनित्रय का उल्लेख किया है। ये योनियाँ श्रुति, स्मृति इतिहास पुराण, प्रमाणविद्या, समयविद्या, राजसिद्धान्तत्रयी, लोकज्ञान, विरचना, प्रकीर्णक, काव्य और अर्थ है।[2] काव्य के अतिरिक्त शेष ११ काव्य के बाह्य उपकरण (आब्जेक्टिव एलीमेन्ट) है। ये बाह्य उपकरण काव्य को व्यावहारिक बनाने के उत्तम साधन है। काव्य के उपयोगिता पक्ष के लिए ऊपर उल्लिखित उपकरणो को माध्यम बना लेने से काव्य मात्र कला से पृथक् उपयोगी तत्त्व का समर्थन करने लगता है। राजशेखर ने जीवन्त काव्य के लिए इन एकादश उपकरणो को अनिवार्य बताया है। कवियो के एक अन्य वर्गीकरण के अन्तर्गत राजशेखर ने उन्हे चार प्रकार का बताया है। असूर्यम्पश्यी, निष्णात्, दत्तावसर एव प्रायोजनिक। प्रायोजनिक कवि का लक्षण बताते हुए उन्होने कहा कि वह किसी प्रयोजन (उपयोगिता) को ध्यान मे रखकर काव्यरचना की ओर प्रवृत्त होता है।[3] इस प्रकार राजशेखर के समय तक ऐसे कवि एव काव्य अवश्य थे जिनका मूल उद्देश्य रचना की उपयोगिता या प्रयोजन से सम्बन्धित था।

काव्यशास्त्र के विकास काल मे अनेक आचार्य अपनी कृतियो मे काव्योद्देश्य के अन्तर्गत इस उपयोगितावादी तत्त्व का कथन करते हैं। ये उद्देश्य उपयोगिता की दृष्टि से निश्चित ही महत्त्वपूर्ण है। इस परम्परा मे कुन्तक, रुद्रट, भामह, वामन, मम्मट, भोज, पडितराज जगन्नाथ, कविराज विश्वनाथ, रूपगोस्वामी, हेमचन्द्र आदि आचार्यो के मत विशेष उल्लेखनीय है। इन प्रयोजनो का सामान्य उल्लेख काव्यादर्श अध्याय के अन्तर्गत किया जा चुका है, किन्तु यहाँ इनका विशेष विस्तार अपेक्षित है।

कुन्तक के अनुसार काव्य परिश्रमहीन एवं मन्दबुद्धि के राजकुमारों

१ राजशेखर, काव्यमीमासा, पृ० १३

२ राजशेखर काव्यमीमासा, पृ० ३५

३ राजशेखर, काव्यमीमासा, पृ० ४३

का आह्लादक है। इसकी व्याख्या करते हुए उन्होने बतलाया है कि उच्चकुल मे उत्पन्न तथा धर्मादि एव विजय की इच्छा रखने वाले राजकुमार परिश्रम से डरते है। इस प्रकार उनके अभीष्ट को दिलाने वाला काव्य ही है।[1] कुन्तक ने काव्य प्रयोजनो मे इस उपयोगिता तत्त्व का कथन धर्मादि चतुर्वर्ग की साधनभूतता के रूप मे किया है। कुन्तक के अनुसार यह धर्मादि पुरुषार्थ-चतुष्टय की प्राप्ति का उपाय भी है। प्राप्तव्य (उद्देश्यभूत) धर्मादि रूप चतुर्वर्ग के साधन अर्थात् कार्य सम्पादन मे उसका उपदेश रूप (बताने वाला) होने के कारण उसकी प्राप्ति का निमित्त कारण भी होता है।[2] इन दोनो उद्देश्यो की पुनरावृत्ति कुन्तक ने अनेक रूपो मे की है। उनके परवर्ती आचार्यों ने कुन्तक के इस कथन को ज्यो का त्यो दुहराया है। इन दो प्रयोजनो के अतिरिक्त उन्होने काव्य द्वारा लोकयात्रा के सचालन के लिए भृत्य, मित्र, स्वामी के आकर्षण आदि कार्य के सम्पादित हो जाने की चर्चा की है। इसी से सम्बन्धित एक कारिका का उन्होनें प्रयोग भी किया है। वह कारिका इस प्रकार है —

व्यवहार-प्रवृत्त लौकिक पुरुषो को अनुदिन के नूतन औचित्य से युक्त व्यवहार चेष्टा आदि का बोध सत्काव्य के परिज्ञान से ही सम्भव हो सकता है।[3] इसी के वृत्ति भाग मे पाठक के निमित्त सामाजिक प्रतिष्ठा की ओर सकेत करके काव्य के द्वारा होने वाले व्यापक लोक सचालन के उद्देश्य का समर्थन भी किया गया है। कुन्तक के अनुसार इससे महत्त्वपूर्ण तत्त्व काव्यामृत रस है। इस प्रकार स्पष्ट है कि कुन्तक के अनुसार उपयोगितावादी दृष्टिकोण से तीन तथ्य स्पष्ट हैं

१ मन्दबुद्धि आलसी राजकुमारो को शिक्षा

२ धर्मादि चतुर्वर्गों की प्राप्ति

३ लोकमार्ग का संचालन

यद्यपि इन तीनो उद्देश्यो से महत्त्वपूर्ण एक और भी उद्देश्य है जिसे उन्होने रसास्वाद कहा है, किन्तु यह काव्य का प्रकृतिगत स्वभाव है। कुन्तक

---

१ हिन्दी वक्रोक्ति जीवितम्, श्लोक स० २,३ तथा वृति। वृति के लिए देखिए पृ० ६

२ वक्रोक्ति जीवितम्, भारतीय काव्यशास्त्र की परम्परा, पृ० २२९

३. वक्रोक्ति जीवितम, भारतीय काव्यशास्त्र की परम्परा, पृ० २३०

के पश्चात् रुद्रट एव भामह इस सम्बन्ध मे इनसे वैमत्य नही रखते। भामह के अनुसार काव्य मात्र कीर्ति एव प्रीति का उद्भावक है। कीर्ति वैयक्तिक हेतु से सर्दभित है तथा जिसकी प्रतिष्ठा काव्य प्रयोजनो के अन्तर्गत यश[1] के रूप मे हुई है। पी० वी० काणे रुद्रट के इस कथन की व्याख्या करते हुए कहते है कि काव्य का यद्यपि प्रत्यक्षत सम्बन्ध धर्म, शिक्षा, दर्शन या नैतिक शिक्षण से नही है, किन्तु इसे भी काव्य अप्रत्यक्ष रूप से सम्पादित करता है। इसीलिए सम्भवतया काव्यप्रकाशकार ने कहा है कि कान्ता की भाँति मृदु वचनो को सम्मुख करके राम की तरह आचरण करना चाहिए, न कि रावण की तरह। काव्य इसकी शिक्षा देता है। बाद मे, इन काव्य प्रयोजनो एव उद्देश्यो को स्थिर कर दिया गया। इन काव्य प्रयोजनो का सम्यक् रूप से कथन मम्मट के काव्यप्रकाश मे मिलता है। काव्यप्रकाश के अनुसार यश, अर्थ, व्यवहार ज्ञान, शिवेतररक्षा, सद्य परिनिवृत्ति एव कान्तासम्मित उपदेश काव्य प्रयोजन के महत्त्वपूर्ण रूप है। इसमे सद्य परिनिवृत्ति को छोडकर शेष पाँच उपयोगितावाद से सम्बन्धित है। व्यवहार ज्ञान, मगलेच्छा, कान्तासम्मित उपदेश, सामाजिक उपयोगिता के अग है तथा यश एव अर्थ वैयक्तिक उपयोगिता के। काव्यप्रकाशकार के पश्चात् इस प्रयोजन निरूपण सदर्भ मे प्राय मौलिकता समाप्त हो गई।

धार्मिक साहित्य और उपयोगितावाद

उपयोगितावाद का यह सदर्भ सस्कृत काव्य मे एक अन्य कारण से भी अवतरित हुआ। ऊपर कहा जा चुका है कि वैयक्तिक रक्षा, अर्थ-प्राप्ति एवं लोक मगल की भावना इन कवियो को एक निश्चित प्रयोजन क्षेत्र मे रहने एव तत्सम्बन्धी साहित्य निर्माण करने की प्रेरणा देती रही है। वैयक्तिक रक्षा के अन्तर्गत दैहिक देविक एव भौतिक सताप, परिवार सरक्षा आदि उद्देश्य आते है। भारतीय परम्परा मे इसके लिए दो आश्रय बताए गए है—राजाश्रय एव ईश्वराश्रय। भौतिक साधनो की प्राप्ति जिससे इन्हे आर्थिक क्लेश से मुक्ति मिलती, राजाश्रय मे सम्भव थी। किन्तु भारतीय परम्परा मे विभिन्न सिद्धि की प्राप्ति एव विभिन्न देवताओ से धनार्जन के अर्चना की दृष्टि से प्रणीत काव्य भी उपलब्ध होते हैं। भौतिक एषणाओ के लिए राजाश्रय अत्यन्त अनिवार्य समझा गया था। इसीलिए राजाश्रय

१ हिन्दी काव्यालकार सूत्रवृत्ति, पृ० ७

मे पले कालिदास, माघ, श्रीहर्ष, वाण आदि कवियो ने भौतिक उपयोगिता को अपने काव्य का प्रत्यक्ष या प्रच्छन्न आधार बनाया था। किन्तु जहाँ तक आधिदेविक एव आधिदेहिक पीडा का प्रश्न था उसके क्रम मे दो प्रकार के साहित्य रूप निर्मित हुए स्तोत्र एव उपदेशात्मक काव्य। उपदेशक कवियो एव स्तुतिगायको का यह वातावरण पूर्णत विरागियो, भक्तो एव निस्पृहो जेसा था। उनका काव्य मात्र उनकी दैविक एव सामाजिक सुरक्षा के प्रयत्नो से प्रेरित था।

दूसरी बात यह कि इनके काव्य मे काव्य के उच्च मूल्य भले ही अप्राप्य हो, किन्तु जहाँ तक वैयक्तिक सामाजिक सुरक्षा एव नैतिक बोध का प्रश्न है यह साहित्य अत्यधिक महत्त्वपूर्ण समझा जा सकता है।

उपदेशात्मक नीति एव भक्तिपरक साहित्य की मूल धारणा वैदिक परम्परा से सम्बद्ध है। लौकिक साहित्य से इसका सम्बन्ध जोडना युक्तिसगत नही प्रतीत होता क्योकि इस प्रकार के साहित्यरूप तथा तत्सम्बन्धी प्रवृत्तियो का क्रम वेद एव उसकी परम्परा से जुडा हुआ प्रतीत होता है। वैदिक साहित्य के अनेक स्थनो पर सामाजिक एव वैदिक उपयोगिता के तत्त्व प्रयोजन के रूप मे कथित मिलते है।[१]

ऋग्वेद मे लगभग १०० स्थलो पर स्तोत्र, कवि, स्तोता, गायक, छन्द एव स्तुति का उल्लेख हुआ है। ऋग्वेदकार एक स्थल पर कहता है— हे शतकर्मा इन्द्र ! गायक तुम्हारा यश गाते है, तथा स्तोता अपनी स्तुतियो द्वारा तुम्हे उन्नत करते है। मेरे स्तोत्र को अपने मित्र से भी अधिक निकट समझो।[२] एक दूसरे स्थल पर आया है कि मित्र के समान वेदरक्षक अग्नि को साक्ष्य बनाकर स्तुति वचनो का उच्चारण करो। मेघ के समान स्तोत्र को बढाओ जिससे मरुतदेव हमारी रक्षा करें।[३]

इस प्रकार स्पष्ट है कि वैदिक काल मे कवि का रूप स्तोता एव गायक का था। वह अत्यन्त मेधावी एव पुष्ट हुआ करता था। उसकी रचना का प्रयोजन अपनी और समाज की रक्षा, विजय, सम्पन्नता, ऐश्वर्य एव पुष्टि से सम्बन्ध रखता था। आगे चलकर इस स्तोत्र का अन्तिम स्वरूप

---

१. याज्ञवल्क्य स्मृति, अध्याय ३, श्लोक स० ११२ से० ११६ तक
२. ऋग्वेद, अध्याय १, अष्टक १, सूक्त १०
३. वही, [illegible] [illegible]

अथर्वण (जादू टाने की विद्या इन्द्रजाल) मे परिवर्तित हो गया जिसका सकलन अथर्ववेद के रूप मे प्राप्त होता है। ये वैदिक स्तुतियाँ मात्र वैयक्तिक रक्षा तथा ऐन्द्रजालिक मंत्रो तक ही सीमित रह गई। परिणाम यह हुआ कि काव्य का विस्तृत क्षेत्र स्तोत्र एव मत्रो की सकीर्ण परिधि मे बद्ध हो गया तथा छान्दोग्य उपनिषद् मे ललित कलाओ को देवजन विद्या की सज्ञा मिली है।[1]

ईशावास्योपनिषद् मे प्रयुक्त कवि शब्द का उल्लेख ब्रह्म शब्द के समानान्तर हुआ है।[2] कठोपनिषद् में भी एक स्थल पर कवि शब्द का उल्लेख मिलता है। उसके अनुसार अध्यात्म मार्ग को कवि क्षुरधार सदृश तेज एव आसाध्य बतलाते है।[3] वस्तुत वैदिक कवि पूर्णत उपयोगितावादी अध्यात्म जगत के प्रेरक एव सन्मार्ग के प्रदर्शक रहे है, किन्तु आचार्य भरत द्वारा प्रयुक्त कवि सम्बन्धी उल्लेख वर्तमान कवि सम्बन्धी धारणा के पोषक है। इन दो मतो के बीच की कडी लुप्त नही है। कवि प्रशस्ति के अन्तर्गत सस्कृत वाङ्मय मे कवि के लिए प्रयुक्त वैदिक विशेषणो का पुनर्कथन भी मिलता है। इस प्रकार स्पष्ट है कि भारतीय परम्परा के आदिम स्रोतो मे कवि को पूर्णत उपयोगिता की दृष्टि से देखा जाता है।

इस वैदिक उपयोगिता को क्रम मे रख कर एक विशिष्ट प्रकार के साहित्य का निर्माण हुआ। यह स्तोत्रमूलक एव उदेशात्मक साहित्य है। स्तोत्र सम्बन्धी साहित्य की परम्परा निश्चित ही प्राचीन है। वैदिक स्तोत्र सम्बन्धी उल्लेखो के अनन्तर भारतीय धार्मिक परम्परा के अन्तर्गत अनेक धार्मिक एव धर्म युक्त सम्प्रदायो मे इसका एक विशाल साहित्य उपलब्ध होता है। वेदान्त, शैव, वैष्णव, जैन आदि सम्प्रदाय स्तोत्र साहित्य की विशिष्ट परम्परा मे अपना प्रभूत साहित्य प्रस्तुत करते है। शैव स्तोत्रो मे शिव महिम्न स्तोत्र का प्रमुख स्थान है जिसमे शकर की कृपा, महिमा, उनके प्रभाव से लोकोद्धार एव उनकी कथा को अत्यन्त सरस बनाकर शिखरिणी छन्दो मे कहा गया है। विद्वानो का अनुमान है कि यह सम्भवतया सर्वतोधिक प्राचीन स्तोत्र सम्बन्धी रचना है। वेदान्त सम्बन्धी

---

१ छादोग्योपनिषद्, अध्याय ७, खड १ मत्र ?

२ ईशोपनिषद्, मत्र ८

१ कठोपनिषद् :वल्ली ३, मत्र १४

स्तोत्रो मे आचार्य शकर कृत्त आनन्दलहरी एव सौन्दर्यलहरी का उल्लेख मिलता है। आचार्य शकर की पूर्ण सरसता की अभिव्यक्ति इन स्तोत्रो मे मे हुई है। ये मोहपाश मे बद्ध मानव मुक्ति से सम्बद्ध है। सौन्दर्यलहरी ससार के मिथ्यात्व, अध्यात्म, शान्त आदि की प्रस्तुति अत्यन्त कोमल शब्दावली मे करती है। काव्य परम्परा मे मयूरभट्ट कृत सूर्यशतक इसी से सम्बद्ध है। इसी परम्परा मे लक्ष्मण आचार्य कृत चडीकुच,पचाशिका का भी उल्लेख मिलता है। वैष्णव भक्ति की परम्परा मे जिससे प्रस्तुत प्रसग का सीधा सम्बन्ध है, इन स्तोत्रो का विशिष्ट स्थ न है। इस परम्परा मे निम्न स्तोत्रग्रथ प्रसिद्ध है। कुलशेखर त्रिवाकुर कृत मुकुन्दमाला, रामानुजाचार्य के गुरु यामुनाचार्य कृत आलवार स्तोत्र, लीला शुक का कृष्ण कर्णामृत, रूपगोस्वामी कृत स्तवमाला माधवभट्ट कृत दानलीला, मधुसूदन सरस्वती कृत वरदराजस्तव, पडितराज जगन्नाथ कृत अनेक लहरियाँ, विट्ठलनाथ कृत शृगाररसमडन आदि है। अष्टछाप के प्रवतक आचार्य वल्लभ के स्तोत्र ग्रन्थो की सख्या १० है जो उनके षोडश ग्रन्थो मे सकलित है। ये इस प्रकार है—श्री यमुनाष्टकम्, बालबोध, सिद्धान्तमुक्तावली, नवरतनम्, श्री कृष्णाश्रय, चतुश्लोकी, भक्तिवर्धिनी, जलभेद, पच पद्यानि, सेवाफलम्। हिन्दी के वैष्णव भक्त काव्यो मे निहित उपयोगितावादी साहित्य सिद्धान्त के इतिहास के अन्तर्गत इस परम्परा का विशिष्ट स्थान है। इन स्तोत्र ग्रन्थो की भाँति जैन एव बौद्ध साहित्य के अन्तर्गत सैकडो स्तोत्र ग्रन्थो का उल्लेख मिलता है। हिन्दी का वैष्णव भक्ति साहित्य अधिकाधिक इन स्तोत्र ग्रन्थो के ही प्रभाव मे रहा है।

स्तोत्र साहित्य की ही भाँति उपयोगितावादी साहित्य सिद्धान्त के सदर्भ मे उपदेशात्मक काव्यो का इस परम्परा मे विशिष्ट स्थान है। उपदेशात्मक काव्यो का मूल उद्देश्य नैतिक एव आध्यात्मिक अन्तर्बोध को जाग्रत करना रहा है। हिन्दी के वैष्णव भक्त कवियो ने अपने काव्यों के माध्यम से ठीक यही किया भी है। उपदेश काव्य पूर्णत मुक्तककाव्य की परम्परा के अन्तर्गत आते है। हिन्दी के वैष्णव भक्ति काव्यो की भी ठीक यही स्थिति है। इन उपदेश काव्यो के अन्तर्गत सेव्यसेवकोपदेश, दशोपदेश, नर्ममाला, समयमातृका, भर्तृहरिशतक, चतुर्वर्ग सग्रह आदि की गणना की जा सकती है। उपदेश काव्य अपनी प्रकृति के अनुसार आध्यात्मिक काव्यों के लिए अधिक उपयुक्त हैं। धार्मिक वातावरण के प्रचार के साथ-साथ इनका अधिकाधिक प्रचार हुआ। जेन, बौद्ध, नाथ, सिद्ध, सन्त आदि सम्प्रदायो मे

उपदेश काव्यो का विशाल साहित्य उपलब्ध है, जिनमे काव्य रुचि गौण मात्र माध्यम के रूप मे वर्तमान हे । इनका मल लक्ष्य उपयोगिता एव हित मे ही सलग्न है । सस्कृत साहित्य मे उपदेशात्मक साहित्य के अन्तर्गत नीति कथाएँ भी आती है । इनमे हितोपदेश एव पचतत्र का उल्लेख अधिक किया जाता है, किन्तु प्रस्तुत प्रसग मे इनका सम्वन्ध औपचारिक मात्र है ।

पुराण एवं उपयोगितावादी दृष्टिकोण

हिन्दी वैष्णव भक्तिकाव्य मे निहित उपयोगिता काव्य सिद्धान्त को स्पप्ट करने के लिये एक और भी कडी है, जो प्रभाग्वात्मकता की दृष्टि से इन सबसे कही अधिक महत्त्वपूर्ण है । यह परम्परा है पौराणिक नैतिक उपयोगितावादी सिद्धान्त की । मध्यकालीन काव्य मे धार्मिक उपयोगिता का स्थान अधिक मुखर रहा है । पुराण का सम्बन्ध प्रबन्धकाव्य से है । राजशेखर ने प्रबन्ध काव्य को तीन भागो मे विभक्त किया है— पुराण, महाकाव्य तथा आख्यानक । हिन्दी के वैष्णव कवियो पर पौराणिक वृत्ति का इतना गहरा प्रभाव है कि उनकी काव्यात्मकता पर अनेक बार सहज सदेह होने लगता है ।

वस्तुत मध्यकाल तक पहुँचते-पहुँचते भारतीय सस्कृति मे आत्म-सरक्षा की भावना अत्यन्त प्रबल हो चुकी थी । इस सरक्षा के लिये सीधा मार्ग भक्ति का था । कर्म, ज्ञान एव वैराग्य मार्ग धीरे-धीरे गौण होते जा रहे थे क्योकि इनमे विशेष आकर्षण नही रह गया था । इसलिये मध्यकालीन पुराणो, पाचरात्र, सहिताओ तथा वैष्णव धर्मग्रन्थो मे मोक्ष एव कर्मबन्धन से मुक्ति पाने के लिये भक्ति को अनिवार्य बताया गया है ।[1] महाभारत का मूल उद्देश्य इस बात पर निर्भर करता है कि सभी प्राणी सुख की आकाक्षा करते है, दुख से वर्जित रहते है । हम जो कुछ चाहते है, वह सुख है, जो कुछ हमारे लिये त्याज्य है, वह दुख है । किन्तु मानव जीवन मे स्थायी सुख क्षणिक साधनो से सम्भव नही है, क्योकि मनुष्य के भौतिक कार्य अनित्य है । अत उससे स्थायी सतोष नही मिल सकता । इसकी ओर ले जाने का एक ही मार्ग है, वह है भक्ति का । अत अन्य कर्मो मे धर्म ही एक मात्र उपास्य है । धर्म के इन अगो मे सत्य, अहिंसा, अस्तेय, मुदिता, दया, सतोष आदि है जिनकी एक विस्तृत सूची महाभारत के शान्ति पर्व पूर्वाद्ध एव अन्य पुराणो

---

१. विष्णुपुराण, महिमासार, श्लोक स० ३२

मे प्राप्त होती है। इस पर्व मे समाज के अनेकानेक विशिष्ट वर्गो एव उनसे सम्बन्धित धर्मो की एक वृहद तालिका मिलती है। यहाँ राजधर्म, मत्रीधर्म प्रजाधर्म, चतुर्वर्ग धर्म आदि सामाजिक व्यवस्था के प्रतिबन्धक नियम के रूप मे स्वीकृत है, फलत मध्यकाल के पूर्व सामाजिक विधि-निषेध की धर्मसम्बन्धी मान्यता स्थापित हो चुकी थी। किन्तु परवर्ती मध्यकाल मे धर्म एव नैतिक विवेक का मूल श्रेय भक्ति को मिला था। भक्ति का प्रत्यक्ष सम्बन्ध पुराणो से था। साथ ही पुराण वैदिक परम्परा, आदर्श एव नियामक धर्मो की एक कडी विशेष भी है फलत परम्परा से चले आते हुए समस्त आदर्श नियामक धर्म पुराण समर्पित भक्ति के साथ साथ स्वीकृत होते चले। डॉ० दास गुप्त का कथन अक्षरश सत्य है कि मध्यकालीन भक्ति के समस्त आन्दोलन वैष्णव मात्र धर्म से अधिक सम्बन्धित थे। फलत धर्म एव भक्ति का परस्पर समाहित हो जाना आश्चर्य की बात नही रही। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने तो भक्ति को मात्र धर्म की रसात्मक अनुभूति मात्र स्वीकार किया है। इस भक्ति एव धर्म के परस्पर सम्मिश्रण का फल यह हुआ कि सम्पूर्ण वैष्णव साहित्य, सामाजिक, धार्मिक एव नैतिक उपयोगिता की अभिव्यक्ति का एक प्रबल साधन बन गया। हिन्दी का मध्यकालीन वैष्णव भक्तिकाव्य भी इस प्रभाव से अछूता नही रह सका। इसी के परिणामस्वरूप इन काव्यो मे एक सबल आध्यात्मिक हित का दर्शन होता है, इस नैतिक हितवाद या उपयोगितावाद का स्वरूप क्या है ? इस की कडी ठीक इसी परम्परा से सम्बन्ध रखती है।

हिन्दी वैष्णव भक्ति काव्य तथा उपयोगिता का स्वरूप

हिन्दी के वैष्णव भक्त कवियो ने अनेक विध अपनी सामाजिक एव नैतिक परम्पराओ का उल्लेख किया है। उनके काव्य का उपयोगिता तत्त्व सामाजिक एव नैतिक मान्यताओ से समर्पित है। सामाजिक एव नैतिक परम्पराओ के सदर्भ का मूल्याकन पिछले पृष्ठो मे किया जा चुका है। इन कवियो का यह सामाजिक या नैतिक तत्त्व प्राय इनके काव्यरूप, कथा नियोजन, चरित्र आदि मे सघटित है। उन्होने कहा है कि जिन कथाओ से उनके काव्य का सम्बन्ध है, वे सामाजिक विधि-निषेधो से प्रत्यक्ष सम्बन्ध रखती हैं। अत इनके काव्य मे निहित उपयोगिता तत्त्व के स्वरूप के अध्ययन के लिए अन्तस्साक्ष्य के माध्यम से उस परम्परा का अध्ययन करना अपेक्षित है जो इनकी काव्य प्रवृत्तियो के निर्माण मे सहयोगी रही है।

अन्तस्साक्ष्य मे प्राप्त इन परम्पराओ को तीन भागो मे विभक्त किया जा सकता है

१ **काव्य की परम्परा**

२ **भक्ति एव नैतिक आदर्श की परम्परा**

३ **अप्रत्यक्ष परम्परायें जिनका प्रभाव है, किन्तु उल्लेख नही है।**

काव्य परम्परा का उल्लेख हिन्दी के समस्त वैष्णव भक्त कवियो ने नही किया है। इसके अन्तर्गत प्राय तुलसीदास, सूरदास, नन्ददास, परमानन्ददास, सूरदास, मदनमोहन आदि कुछ ही प्रमुख कवि आते है। तुलसी ने अपनी पूर्ववर्ती काव्य परम्परा मे निम्न परम्पराओ की ओर सकेत किया है ·

नाना पुराण, निगम, आगम, क्वचित् अन्य प्राकृत जन रचित काव्य, व्यास आदि कवि, कलि के कवि, मुनि वाल्मीकि, चार वेद, आदिकवि शभु।[1] राम कथा की स्पष्ट परम्परा का उल्लेख करत हुए तुलसी ने इसका निम्न क्रम बताया है। याज्ञवल्क्य ने रामकथा भरद्वाज को सुनाई थी। इस चरित्र के आदि रचनाकार शिव थे। शिव ने इसे क्रमश भुशुण्डि एव पार्वती को सुनाया था।[2] एक स्थल पर उन्होने यह भी कहा है ससार मे रामकथा की मिति नही।[3] नाना भाँति राम का अवतार हुआ है। रामायणो की यदि सख्या की जाय तो उनकी सख्या राम कथा की ही भाँति अपरिमित निकलेगी। क्योकि कालभेद से अनेकानेक हरिचरित अनेकानेक मुनियो द्वारा कहे जा चुके है। राम के गुण एव रूप अनन्त है और इसी के परिणामस्वरूप अनेकानेक कथाओ का प्रणयन भी होता रहा है। एक स्थल पर उन्होने अपने गुरु को भी रामकथा की शृखला से सम्बद्ध किया है।[4]

सूर ने कृष्ण कथा के सदर्भ मे लगभग दो दर्जन स्थानो पर शुक तथा शुकदेव का नाम लिया है। उनके अनुसार व्यास इसके आदिम रचनाकार

---

१ रामचरित मानस, बालकान्ड, श्लोक स० ७, दोहा स० १४ की चौपाइया दोहा १४ ग, तथा घ, बालकान्ड ३ की अर्धाली, दोहा स० ३५ की ५, ८, अर्धाली, उत्तरकान्ड, अन्तिम श्लोक

२ मानस, दोहा स० ३० तथा उसकी अर्धालियाँ

३. मानस, दोहा सख्या ३० तथा उसकी अर्धालियाँ

४. मानस, दोहा सख्या ३३ तथा उसकी अर्धालियाँ

रहे है किन्तु इसके प्रमुख वक्ता शुकदेव है। कवि ने शुकदेव कथित भागवत को भाषाबद्ध करने का प्रयत्न किया है, सूर के अनुसार इसकी परम्परा इस प्रकार है, विष्णु ने ससार के समस्त तत्वो को चार श्लोको मे समझाया था ब्रह्मा ने इसे नारद को बताया। नारद से इसे व्यास पाए थे। व्यास ने इस कथा को द्वादश स्कन्धात्मक रूप देकर शुकदेव को सुनाया था। सूर भाषा पद मे गाकर उसी गाथा की पुनर्प्रतिष्ठा करते है।[1] इसके आगे उन्होने पुन कहा है कि व्यास ने यह कथा शुक को पढाई थी तथा शुक ने इसे समूल हृदयस्थ कर लिया था। शुकदेव ने इस कथा को परीक्षित को सुनाया। परीक्षित के पश्चात् इसे शौनकादि एव शौनकादी से विदुर ने इसे पाया था। विदुर ने इसे मैत्रेय को सुनाया था।[2] इसके बाद उन्होने पुन भागवत के अवतार का वर्णन क्रम प्रस्तुत किया है।

कलियुग के शत सवत् व्यतीत हो जाने पर मनुष्य को पापाचरण से बचाने के लिए हरि ने व्यास का अवतार धारण करके वेद सहिताओ तथा अठारह पुराणो की रचना की। फिर भी, उनका हृदय शान्त न हुआ। अन्त मे नारद उनके पास आए। उन्होने उन चार श्लोको को उन्हे बताया जिसे वे ब्रह्मा से समझे थे। इसी सदर्भ मे व्यास ने हरि पद का ध्यान करके भागवत का आख्यान किया है।

नन्ददास ने अपनी रचनाओ मे परम्परा सम्बन्धी निम्न सकेत दिया है, रूपमजरी मे उन्होने कहा है कि तत्कालीन परम्परा मे प्रचलित एक प्रेम पद्धति को आधार बनाकर वह रूपमजरी की रचना कर रहे है। रस-मजरी के लिए उन्होने सस्कृत काव्य शास्त्रीय परम्परा मे प्राप्त रसमजरी का स्पष्ट उल्लेख किया है। रास पचाध्यायी, प्रथम अध्याय के आरम्भ मे उन्होने शुक एव भागवत की वन्दना की है। भागवत माहाम्य निरूपण मे उन्होने बताया है कि निगम का सार भागवत है तथा भागवत का सार रास-पचाध्यायी। सिद्धान्त पचाध्यायी मे उन्होने आगम-निगम-पुराण-स्मृति आदि को अपना आधार बताया है। दशमस्कन्ध सरल भाषा मे भागवत का कथानुवाद है। इसमे भी सूरदास कथित शुक, शनक, परीक्षित आदि का उल्लेख मिलता है। भागवतभाषा दशमस्कन्ध के अन्तर्गत कवि ने भागवत की परम्परा का अनेक स्थलो पर उल्लेख किया है। इन प्रमुख कवियो के

---

१ सूरसागर, प्रथम स्कन्ध, पृ० स० २२५
२ सूर सागर, प्रथम स्कन्ध, पृ० स० २२७

अतिरिक्त अष्टछापी परम्परा के समस्त कवि वल्लभ, वल्लभसुत, वल्लभपौत्र एव भागवत का विशेष रूप से स्मरण करते है, किन्तु इनका स्वर अत्यन्त क्षीण है।

कारण स्पष्ट है, वल्लभ सम्प्रदाय के विकास के साथ-साथ इन कवियो मे अवतारलीला के स्थान पर प्रेमलीला को प्रमुखता मिलती गई। यह प्रेमलीला मात्र कथात्मक स्वरूप की दृष्टि से मौखिक रूप से ही भागवत पर आधृत रही है। अत इन कवियो ने भागवत को छोडकर अन्य ग्रन्थो का उल्लेख नही किया है। इस प्रेमलीला मे वैयक्तिक स्वच्छन्दता के कारण परम्परा का सकेत कम मिलता है, यद्यपि यह सत्य है कि लीला की महत्ता के निरूपण क्रम मे भागवत लीला की पवित्रता का कथन परम्परा के रूप मे अवश्य प्राप्त है। निष्कर्षत जहाँ तक इन कवियो की काव्यमूलक परम्परा का प्रश्न है, वह इस प्रकार है :—

रामकाव्य की परम्परा मे नाना पुराण, निगम, आगम, शभु कथा, व्यास कथा, वाल्मीकि कथा प्रमुख है। प्राकृत कवियो का उल्लेख है, किन्तु गौण रूप मे। शुद्ध काव्य की परम्परा के प्रति इनकी उदासीनता 'जे प्राकृत कवि परम सयाने' के रूप मे दिखाई पडती है। कृष्ण कवियो ने एक मात्र भागवत को ही आधार बनाया है। उन्होने भागवत सयमित कथा-क्रमो को लक्ष्य मे रखकर काव्य-प्रणयन की चर्चा की है। इस प्रकार उनकी कथा का प्रमुख लक्ष्य पौराणिक आग्रह से ही समर्थित है। अत इनकी काव्य रचना मे शुद्ध काव्य के दृष्टिकोण से पृथक् उन तत्त्वो का आ जाना स्वाभाविक है जो नैतिक एव धर्ममूलक रचनाओ मे निहित है। इनको स्पष्ट करने के पूर्व इनके द्वारा स्वीकृत भक्ति एव नैतिक आदर्श सम्बन्धी परम्पराओ का उल्लेख करना आवश्यक है।

नैतिक एव आध्यात्मिक परम्परा के उल्लेख का जहाँ तक प्रश्न है उसके अनेक रूप उपलब्ध है। कही-कही सम्पूर्णत कृतियो का, कही परम्परा का, कही कृति के अशो और कही मात्र उदाहरणो का कवि एक प्रशस्त नैतिक परम्परा एव पृष्ठभूमि के रूप मे उल्लेख करता है। इस काव्य-सयुक्त आध्यात्मिक मार्ग को इन कवियो ने 'भक्ति पथ' कहा है। स्वत सूरसागर मे महाभारत की भीष्म अर्जुन की कथा से सम्बन्धित भक्त-वत्सलता का

विस्तृत वर्णन है ।[१] इमी प्रकार की कथाएँ विदुर के घर छिलके का शाक खाने तथा द्रौपदी साहाय्य से सम्बन्धित है । एक स्थल पर कथा की अलौकिकता की सूचना देता हुआ कवि स्मृति एव पुराणो का स्मरण करता है, तो एक दूसरे स्थल पर वह लीला की परम्परा मे 'निगमनेति' शब्द का प्रयोग करता है। उसने अनेकानेक स्थलो पर ब्रह्म की दुरूहता एव ब्रह्मा सनक शिव आदि के द्वारा उसे गूढ एव अगम्य बतलाया है ।[२] नन्ददास कई स्थलो पर नैतिक परम्परा के समर्थन मे वेद, पुराण, स्मृति एव आगम का उल्लेख करते है । सिद्धान्त पचाध्यायी मे उन्होने स्पष्ट कहा है कि उनका यह मार्ग आगम-निगम, पुराण, स्मृति कथित तथा समस्त विनोदबहुल विद्याओ मे निहित सिद्धान्तो एव कथा रूपो से मडित है ।[३] कृष्ण या राम के ब्रह्मत्व निरूपण का जहाँ तक प्रश्न है हिन्दी के समस्त वैष्णव भक्त कवि उस ओर सचेष्ट है । उनके भावो मे प्राय एक-सी समानता एव परम्परा से कथित ब्रह्म के स्वरूप को दुहराने का क्रम समान रूप से मिलता है । वे एक मात्र लीला की सुलभता बताते हुए इसे सर्वग्राह्य एव सरल बताते है तथा दूसरी ओर इसे ब्रह्मादिक मुनि पडितो के लिए परम दुर्लभ भी ।[४] परमानद सागर मे भी इसी सदर्भ मे वेद-पुराण की परम्परा का उल्लेख कई स्थल पर मिलता है। विशेष कर असुर वध प्रसग के ९ पदो मे ब्रह्म की अलौकिकता, लोक रक्षण आदि के स्पष्ट उल्लेख है ।[५] राधावल्लभी सम्प्रदाय के अन्तर्गत विशेष रूप से हित-हरिवश एव भक्त कवि व्यास जी की रचनाओ मे ठीक इसी वैदिक परम्परा का अनुमोदन मिलता है। भक्त कवि व्यास एवं परशुराम देवाचार्य की साखियो मे आचरण, ब्रह्म, नैतिक बोध, समाज व्यवस्था, खडनमडन प्रवृत्ति से सम्बन्धित अनेकानेक दोहे है । सभवतया यह प्रभाव सन्तो के माध्यम से आया हो। परशुराम देव आचार्य एक स्थल पर 'उन्मनी'[६] शब्द का उल्लेख करते है जो निम्बार्क सम्प्रदाय के लिए अधिक महत्त्वपूर्ण नही कहा जा सकता है । हरिव्यासी एव हरिदासी सम्प्रदायो मे ब्रह्म के अलौकिक सकेतो

---

१ सिद्धान्त पचाध्यायी, पक्ति स० ३, ८१, १५६ आदि
२ सूरसागर, ५५२, ९७४, ९८१, १०१२, १०७१ आदि
३ सिद्धान्त पचाध्यायी, ३,४ पक्ति
४ सूरदास मदनमोहन, प० स० ३,६, १८५
५ परमानन्ददास सागर, प० स० १, १५, ८५, १०४, २१८
६ निम्बार्क माधुरी, पृ० ७२

के स्थान पर लीला की प्रमुखता है। जहाँ तक नैतिक परम्परा के अनुमोदन का प्रश्न है तुलसी का स्वर इस दिशा में अधिक सशक्त है। उन्होंने भक्ति की परम्परा में शुक शनकादि भक्त मुनि नारद की वन्दना की है। रामनाम को ही एक मात्र वेद पुराण एवं सन्त मतों का निचोड बताया है। उनके अनुसार यह नाम प्रथम युग में यज्ञ सदृश, द्वापर की प्रभु पूजा के सदृश फलदायक है। मानस रूपक के प्रसंग में उन्होंने वेद पुराण को घन बताया है। इस कथा में कवि के अनुसार रघुपति महिमा का फल ज्ञान, विराग, धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष का निरूपण, सन्त सभा, भक्ति निरूपण, क्षमा, दया, दम, सम, यम, नियम, हरि पद रस सभी कुछ इस घन के सागरूपक के क्रम में है। मानस के अनेक स्थलों पर राम के इस चरित्र को शेष, शारद, महेश, निधि, आगम-निगम-पुराण आदि के द्वारा कहे जाने का भी वह संकेत करता है।

काव्य एवं नैतिक परम्परा के लिए कतिपय प्रच्छन्न सूत्र इस सन्दर्भ में भी है। ये प्रच्छन्न सूत्र प्रभाव, उद्देश्य, उद्धरण, अनुवाद आदि के रूप में प्राप्त होते हैं। इनकी एक विस्तृत सरणि की सूचना आलोचनात्मक ग्रन्थों द्वारा दी जाती है। इस प्रच्छन्न परम्परा में पद्म, ब्रह्माड, श्रीमद्भागवत, विष्णु, नृसिंह, अग्नि पुराण, रामतापनी उपनिषद्, श्री सीतोपनिषद्, गोपालतापनी उपनिषद्, श्री राधोपनिषद्, अध्यात्म रामायण, महारामायण, आनन्द रामायण, भुशुन्डि रामायण, अद्भुत रामायण, रघुवंश, उत्तर रामचरित, अनर्घ राघव, बालरामायण, स्वयंभू रामायण, हनुमन्नाटक, प्रसन्नराघव, वाल्मीकि, रामायण गीता, भर्तृहरि शतक आदि के प्रभावों की चर्चा विशेष रूप से की जाती है।[1]

इन परम्पराओं के उल्लेख से पूर्व इसके द्वारा कथित उन परम्पराओं का समर्थन हो जाता है जिनकी स्थिति पर विचार किया जा चुका है।

उपयोगिता का स्वरूप विश्लेषण

कथा नियोजन : हिन्दी के वैष्णव भक्ति काव्य के उपयोगितावादी

१ इस प्रसंग के लिए देखिए—मानस-मीमाँसा रजनीकान्त शास्त्री, तुलसी दास, और उनकी कविता श्री रामनरेश त्रिपाठी, तुलसीदास डॉ० माता प्रसाद गुप्त, तुलसी और उनका युग डॉ० राजपति दीक्षित, सूरदास प्रभुदयाल मीतल, सूरदास: डॉ० ब्रजेश्वर वर्मा

साहित्य सिद्धान्त के इतिहास से स्पष्ट हो गया होगा कि इनके दृष्टिकोण को समझने के लिए सर्वप्रथम कथानियोजन की ओर ध्यान देना आवश्यक है। इन कवियो की रचनाएँ प्रमुखतया राम और कृष्ण के चरित्र से सम्बन्ध रखती है। इसमे शकर की चरित्र-सम्बन्धी कतिपय फुटकल रचनाएँ एव पद प्राप्त हो जाते है। नन्ददास की रूपमंजरी तथा व्यास एव परशुराम देवाचार्य की साखियाँ इसके अपवाद मे रखी जा सकती है। प्रस्तुत अध्ययन को दृष्टि मे रखकर राम एव कृष्ण कथाओ का विश्लेषण अनिवार्य है। राम कथा के अन्तर्गत दो कथाएँ चलती है, प्रथम काव्योपदेश की पूर्ति को लक्ष्य मे रख कर प्रयुक्त हुई है तथा दूसरी नैतिक, सामाजिक एवं जीवनगत मूल्यो का आख्यान करती हैं। अर्थात् रामकथा से सम्बन्धित ये कथाएँ उपयोगितावादी तत्त्व से सम्बन्धित है। इनका दृष्टिकोण मूलत भक्ति, ज्ञान, आचरण तथा नैतिकता का समर्थन करना रहा है।

मुख्य कथा का स्वरूप उपयोगिता की दृष्टि से किंचित् और भी स्पष्ट है। मुख्य कथा का नियोजन अवतारवाद से शुरू होकर राक्षसो के वध एव राम राज्य की स्थापना में जाकर पर्यवसित होता है। अवतारवाद के कारणो को पूर्ण करना सक्षेप मे राम कथा का मूल उद्देश्य है। मानस मे अवतारवाद के तीन कारण कहे गए है—

१ धर्म की स्थापना के लिए असुरो का विनाश
२. गौ-ब्राह्मण की रक्षा एव लोकमगल का स्थापन
३ भक्ति का प्रचार एवं भक्तो का सुख-सन्तोषवर्धन

राम कथा के अन्त मे ठीक इसी मूल उद्देश्य का समर्थन मिलता है, कवि गौण कथाओ के सदर्भ मे कथा के इन्ही तत्त्वो से लाभ उठाता है। अत कथा स्वरूप की दृष्टि से राम कथा का मूल उद्देश्य मात्र काव्य के उपयोगिता तत्त्व का समर्थन करना रहा है। राम कथा का एक दूसरा स्वरूप भी है जो कृष्ण भक्त कवियो की भाँति उपयोगिता पर अधिक आश्रित न रहकर लीला एवं तज्जनित आनन्द पर टिका है। रसिक कवियो द्वारा गृहीत यह राम-कथा इससे भिन्न है। सूरसागर मे १ से लेकर ९ स्कन्धो तक अवान्तर कथाएँ मिलती है। मुख्य कथा जिसका सम्बन्ध कृष्ण के जीवन चरित्र से है, दसवें स्कन्ध से शुरू होती है और इस सम्पूर्ण दसवे स्कन्ध मे कोई भी अवान्तर कथा नही आने पाती। ९ स्कन्धो तक जितनी भी अवान्तर कथाएँ हैं, वे सोद्देश्य नैतिक, धार्मिक आदि मान्यताओ से सम्पुष्ट हैं।

भागवत अपने विस्तार के कारण 'महापुराण' की सज्ञा मे अभिहित किया जाता है। पुराणो की रचना का कारण स्पष्ट है, उसके माध्यम से गूढ एव आचरण-दुर्लभ नैतिक भक्ति एव ज्ञानमूलक विचार परम्पराओ को सुलभ बनाने का प्रयत्न किया गया है। इस दृष्टि से पुराणो मे अवतार कथाएँ एव आग्रह पूर्ण कथात्मक नैतिक उपदेश कथा-शिल्प की दृष्टि से समान अस्तित्व रखते है। भागवत पुराण का मुख्य उद्देश्य कृष्ण भक्ति एव कृष्ण कथा का प्रतिपादन है। इसकी भूमिका मे अन्य अवतारो की कथाएँ सम्मिलित की गई है। भागवत मे तीन स्थलो पर अवतारो का उल्लेख है और अवतार की अन्तिम संख्या २४ ठहराई गई है। भागवत की सामान्य परम्परा का समर्थन करने के कारण सूरसागर मे उसी परम्परा का पूर्ण अनुमोदन मिलता है। सूरसागर यदि सम्प्रति प्रकाशित (प्रकाशन का तात्पर्य काशी नागरी प्रचारिणी, सस्करण मे है) रूप मे पूर्णत प्रामाणिक है तो कृष्ण कथा की भूमिका मे अनेक नैतिक, भक्ति एव ज्ञानमूलक सकेतो का सकलन प्राप्त हो जाता है। सूरसागर का तृतीय स्कन्ध नाम महिमा, हरिविमुख निन्दा, सतसग महिमा, भक्ति के साधन, वैराग्य वर्णन, आत्मज्ञान, विराट रूप वर्णन इत्यादि प्रसगो मे विभक्त पूर्णत आध्यात्मिक प्रसगो से ही सम्पुष्ट है। दशम् स्कन्ध मे प्राप्त असुरवध की घटनाएँ लोकमर्यादा की सुरक्षा मे अगीभूत कारण बन कर खडी होती है। हिन्दी के वैष्णव भक्त कवियो का प्रत्यक्ष एव व्यावहारिक सम्बन्ध सूरदास, नन्ददास एव परमानन्द-दास से ही सम्बन्धित है। नन्ददास एवं परमानन्ददास की विशेषता इस बात मे है कि कृष्ण चरित्र को उन्होने सम्पूर्णत लिया है किन्तु भूमिका भाग मे स्थित विस्तृत नीति, सिद्धान्त भक्ति एव अवतार के प्रसग को पूर्णत छोड दिया। नन्ददास ने असुरवध सम्बन्धी घटनाओ को नही लिया है। उनके काव्य मे मात्र उनके सकेत ही प्राप्य है। परमानन्ददास के सग्रह मे असुरवध सम्बन्धी मात्र ९ पद ही प्राप्त हैं। रसिक सम्प्रदाय की भाँति परवर्ती कृष्ण कवि मधुर लीला सम्बन्धी धारणा को अधिक विस्तार मे लेते है। इस लीलावादी दृष्टिकोण की प्रधानता के कारण प्राय उपयोगिता के वे तत्त्व जो कृष्ण कथा एव अवतार के माध्यम से आते थे, समाप्त हो गए।

वैयक्तिक उपयोगिता सम्बन्धी पद हिन्दी के वैष्णव भक्ति साहित्य मे अधिक हैं। सूरसागर मे विनय सम्बन्धी पदो की सख्या २४४ है। तुलसी

की विनयपत्रिका के सम्पूर्ण पद स्तुतिपरक, आध्यात्मिक, तथा नैतिक कथन, भक्ति आदि सन्दर्भो से युक्त है। परमानन्द सागर मे 'अपनौ दीनत्व' के नाम से ५६ पद प्राप्त होते है। नन्ददास की पदावली के कतिपय पद मात्र वैयक्तिक उपयोगिता से सम्बन्धित है। इसके अतिरिक्त परशुराम देव एवं व्यास की साखी सामाजिक एवं वैयक्तिक उपयोगिता से पुष्ट है। मीरा की रचनाओ मे भी प्रेममूलक पदो के साथ-साथ लगभग १०० पद दैन्य आदि भावो से युक्त है।

दैन्य के पदो का प्रत्यक्ष सम्बन्ध मात्र वैयक्तिक उपयोगिता से ही सम्बन्धित नही है, किन्तु यह वैयक्तिक उपयोगिता प्राय उपलक्षण मात्र है। इसमे सम्बोधन के रूप मे प्राप्त–रे मन, हे हरि, मना, प्रभु, माधव, दीनदयाल, राम आदि वैयक्तिक सदर्भो से युक्त होकर सामाजिक भावना का भी प्रतिनिधित्व करते है।

इस प्रकार निष्कर्ष रूप से यही कहा जा सकता है कि हिन्दी वैष्णव भक्ति साहित्य के कथायुक्त एव कथाहीन काव्य दोनो अधिकाधिक उपयोगितावादी दृष्टिकोण से नियोजित हैं। रचना का नियोजन एव विषय का प्रतिपादन वैयक्तिक एव सामाजिक हित को दृष्टि मे रखकर किया गया है।

कवि कथन तथा उपयोगिता का स्वरूप

उपयोगितावादी साहित्य सिद्धान्त का अध्ययन करने के पूर्व यह देख लेना आवश्यक है कि उपयोगिता एव उनके नियोजन से इन कवियो का तात्पर्य क्या है? ये सामाजिक एव वैयक्तिक हित के किस पक्ष पर अधिक बल देना चाहते है तथा इनका यह दृष्टिकोण किन विचार परम्पराओ पर आधृत है। इसके लिए इनके द्वारा कथित उन विचारो पर ध्यान देना आवश्यक है जो इस दृष्टिकोण की स्थापना के लिए कथित है। विश्लेषण करने पर इन कथनो के निम्न रूप दृष्टिगत होते है।

वैयक्तिक हित इनका वैयक्तिक हित अन्य हितो, विशेषकर, भौतिक हित, सासारिक सुख, आसक्तिजन्य तृप्ति से किंचित् पृथक् है। इस वैयक्तिक हित का स्वरूप दो प्रकार का है—

१ निषेधात्मक **२ विधिमूलक**

निषेधात्मक मूल्यो के अन्तर्गत माया का त्याग, आसक्तियो के प्रति विराग आदि है तथा विधिमूलक वैयक्तिक हित मे ईश्वर, गुरु, साधु के प्रति आसक्ति कर्तव्यपरायणता, मुक्ति, दु ख, भक्ति एव दैहिक क्लेश से निवृत्ति आदि आते है। इस विषय से सम्बन्धित अधिकाधिक भाव दैन्य एव आत्मग्लानि विषयक पदो मे ही है ।

लोकरक्षा . हिन्दी के आरम्भिक वैष्णव भक्त कवियो का दृष्टिकोण लोक-मगल एव लोक सरक्षा मे अधिकाधिक प्रेरित है। यह लोकरक्षात्मक उद्देश्य प्राय तीन रूपो मे प्राप्त है।

१ प्रत्यक्ष कथन के रूप मे

२. असुरो की विनाश घटनाओ के रूप मे

३ सामाजिक एव नैतिक भ्रष्टाचार के वर्णन क्रम के रूप मे

प्रत्यक्ष कथन : प्रत्यक्ष कथन सम्बन्धी उल्लेख दोनो की अपेक्षा कम है, किन्तु जो भी है उनका स्वरूप दो प्रकार का है,

क . उपदेशात्मक कथन के रूप मे

ख भक्ति, आचरण, नैतिक, सामाजिक सिद्धान्त के व्यवस्थापन के रूप मे

उपदेशात्मक रचनाएँ प्राय विनय एवं साखियो मे ही मिलती हैं। विनय के पदो मे सामाजिक रचना एव लोकसरक्षा का स्पष्ट उल्लेख मिलता है । विशेषकर तुलसी की विनयपत्रिका, सूर तथा परमानन्ददास के विनय के पद इस दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। मानस मे मानसरूपक तथा मानस माहात्म्य को इसी के अन्तर्गत रखा जा सकता है। तुलसी ने स्पष्ट रूप से कहा है—इस काव्य मे विषय रस नही है। जो इस दृष्टिकोण से इस कथा का श्रवण करता है वह इस मानस के सम्बुक (घोघा) एव भेक (मेढक) के सदृश क्षुद्र तथा त्याज्य है। कामी कौवे इस मानस तक मात्र इसी सम्बुक और मेढक के लिए आते है। वस्तुत तुलसी के अनुसार इस सर पर आना दुर्लभ है । यह तभी सभव हो सकता है, जब रामकृपा सुलभ हो।[1] जो सयोगवश यहाँ पहुँच जाता है, समस्त सुख सामाजिक एव नैतिक उपलब्धियाँ उसके लिए सम्भव हो जाती है। तुलसी के अनुसार इस कथा मे अनेकानेक गुण है, किन्तु

---

१ मानस, दोहा स० ३८ की अर्धालियाँ

निम्नलिखित सन्दर्भ विशेष महत्वपूर्ण है ।

इसमे कलि-कलुष को नष्ट करने की पूर्ण शक्ति है । यह कथा भवश्रम-शोषक, तोष-पोषक, दु ख दारिद्रायादि दोषो की शमनकारी, काम, क्रोध, मद, मोह आदि की नाशक, विमल विवेक एव वैराग्य की वर्द्धक, पापो को नष्ट करने वाली है ।[1]

विनयपत्रिका मे आत्मोपदेश या स्वत मन को सम्बोधित करके लिखे गए इनके लगभग ५० पद है। ये आत्मोपदेश के पद राम की भक्ति तथा वैयक्तिकता के साथ ही साथ सामाजिक हित एव मगल की दृष्टि से भी कथित है ।[2] सूर के विनय पदो मे अधिकाधिक पद इसी भाव के है । परमानन्ददास के पदो मे एक दर्जन पद प्राय इसी भाव के है । विशेषकर, भक्त कवि व्यास जो की साखियो के विषय इस दृष्टि से विशेष महत्त्वपूर्ण है । इनमे सन्त कवियो के समानान्तर विषय मिलते है--कचन कामिनी का त्याग, ससार मिथ्यात्व, प्रेम की अनन्यता, माया, ईर्ष्या, लोभ आदि के वर्णन एक निश्चित उपदेशात्मक क्रम मे उपलब्ध होते हैं । इस प्रकार हिन्दी के समस्त वैष्णव भक्त कवियो के उपदेशात्मक काव्यरूप निश्चित ही अपनी परम्परा से चली आती हुई नैतिक शिक्षण की धारणा लेकर चली है । यह नैतिक धारणा अपने आप मे उपयोगितावादी साहित्य सिद्धान्त का पूर्ण समर्थन करती है ।

भक्ति के कथन, नैतिक उपदेश, सामाजिक सरक्षा एव अनेकानेक सिद्धान्तो द्वारा हिन्दी के वैष्णव भक्त कवि समाज सगठन एवं नियत्रण की ओर सजग है । जहाँ तक भक्ति का प्रश्न है सामान्यत. इनके दो ही रूप मिलते है, दास्य और प्रेम के । प्रेम को इन कवियो ने लोक सरक्षण के स्तर पर दास्यानुमोदित माना है, जिसके लिए भगवान का अनुग्रह एव प्रेम आवश्यक है। इस तत्त्व को प्रायः किसी न किसी रूप मे सभी स्वीकार करते हैं। तुलसी ने स्पष्ट कहा है कि मेरी भक्ति के समक्ष ईश्वर मेरे अवगुणो को भूल जायेंगे क्योंकि वे तो हँस कर भक्तो की प्रतीति कर लेते है और शीघ्र ही भक्त-शिरोमणि मान लेते है ।[3] निश्चित ही भगवान भक्तो के अवगुण

---

१. मानस दोहा स० ४३ की अर्धालिया

२ विनयपत्रिका स० ६५, ६६, ३४, १०५, ११०, १६६, १३०, १७७, १८३, १८४, १३०, २७७, २४७ आदि

३ विनयपत्रिका, पद स० ६५

नही देखते । आखिरकार बालि, इन्द्र, दुर्योधन इत्यादि से बैर मोल लेने का तात्पर्य क्या था ? देवताओ एव मुनिगणो को छोडकर ब्रज की गोपागनाओ के घर क्यो रहते ? निश्चित ही इसका एक मात्र कारण भक्ति है—निष्ठा, प्रेम तथा छलहीन भक्ति ।[१] इसी भाव के अनेकानेक पद सूरसागर एव विनय-पत्रिका मे सकलित हे । इन भक्तो ने भगवान की दयालुता एव प्रेम को लेकर अनेक पौराणिक कहानियो को साक्षी दी हैं । ये कहानियाँ इन रूपो मे है —

अम्बरीष, प्रह् लाद, बलि, दुर्योधन, पाडव, शुक्राचार्य, सुदामा, गृद्ध, गणिका गज, केस, केशि, अघासुर, बकासुर, वृषभासुर, प्रलम्ब, तृणावर्त, चाणूर, दावानल, व्याल कालियनाग, पूतना, रावण, विभीषण, अहिल्या, भरत, ग्रह-गज दुर्वासा, लाक्षागृह कथा, विदुर, भीष्म, अर्जुन सरक्षण, द्रौपदी साहाय्य, युधिष्ठिर एव राजसूय यज्ञ कथा इत्यादि ।[२] ये कहानियाँ एक सुनिश्चित परम्परा से सम्बद्ध ईश्वर की भक्त-वत्सलता के उद्धरणो मे गिनी जाती है । इन कथाओ मे निहित भक्ति के उत्तमोत्तम स्वरूप की सामाजिक प्रतिष्ठा ही इन कवियो के लिए एक मात्र अभीप्ट है ।

निष्कर्ष

क नैतिक उपदेश एव सामाजिक संरक्षा के इसी प्रकार के अनेक कथन इन वैष्णव भक्त कवियो के काव्य मे प्राप्त होते है । ये नैतिक उपदेश, समाज रचना, वर्णाश्रम एव भक्ति को ध्यान मे रखकर कथित हैं । ये नैतिक उपदेश निश्चित ही एक वर्ग-विशेष के नैतिक बोध को जाग्रत करने मे समर्थ है ।

ख असुरो के विनाश की घटनाओ से मुख्यकथा को सम्बन्धित करने का उद्द ेश्य इन कवियो ने अनेक स्थलो पर स्पष्ट किया है। असुरो के विनाश के पीछे अवतारवाद की धारणा निहित हैं । अवतारवाद की आरम्भिक प्रवृत्ति पृथ्वी, धेनु और ब्राह्मरण की रक्षा से सम्बन्धित है ।

---

१ विनयपत्रिका, पद सख्या, ३९, ४०, ६७

२. इनका सकलन सूर एव तुलसी के विनय सम्बन्धी पदों के आधार पर किया गया है।

नैतिकता वैष्णव धर्म का प्रमुख अग है । इसी के रक्षार्थ अवतार को एक सचेष्ट कारण बताया गया है । सुर, धेनु, ब्राह्मण और पृथ्वी की सरक्षा धर्म की सरक्षा है । अत अवतारवाद का मूल कारण धर्म सरक्षा ही है। यह वस्तुत लोकमगल की भावना से पुष्ट है । इस मान्यता के पीछे इन कवियो ने सासारिक क्लेश निवारण का एक महान् स्वप्न देखा था । अवतार का तीसरा कारण भक्त एव भक्ति का समर्थन है । हिन्दी के वैष्णव भक्त कवि इसे अत्यधिक सचेष्टता से व्यक्त करते है । यह भक्ति वैयक्तिक होते हुए भी नीति विरोधिनी नही है । यह सत्य है कि भक्त कवि अपने उद्देश्य को एक ऐसी सामाजिक रचना के प्रति केन्द्रित करते है जिसका अवसान आदर्श-पूर्ण समाज सघटना मे दिखाई देता है । इन आदर्शो से मडित दो राज्यो का स्पष्ट उदाहरण भक्त कवियो ने रखा है—रामराज्य तथा कृष्णराज्य । असुरो एव दुष्टो के सहार के बाद इन राज्यो की स्थापना होती है । यहाँ सभी वर्णाश्रम एव वेद पथ का पालन करते है, न लोगो मे रोग है न शोक, दैहिक दैविक, भौतिक समस्त ताप रामराज्य मे दुर्लभ हो गए, स्वधर्म का विस्तार हुआ, धर्म अपने चतुर्थ चरणो के साथ व्याप्त हो गया, सभी राम भक्त हो उठे, रोगी अल्प मृत्यु की पीडा से व्याकुल एव दरिद्र समाज मे रह ही न गए । समाज मे निर्दम्भ, धर्मरत एव चतुर ही दृष्टिगत थे । गुणज्ञो एव ज्ञानी पंडितो से अयोध्या व्याप्त हो गई ।[1] अवतारवाद की यह धारणा लोक सरक्षण की भावना से पुष्ट है ।

तुलसी एव सूर ने अवतारो का विशेष उल्लेख किया है । तुलसी ने राम, कृष्ण, नृसिंह आदि का का उल्लेख किया है । सूर ने स्पष्टत १९ प्रत्यक्ष तथा ५ साकेतिक अवतारो का सकेत किया है । परवर्ती भक्त वल्लभ, विट्ठल, हरिदास, चैतन्य इत्यादि को भी अवतार मान बैठे है । अवतार के असुरवध-उद्देश्य के अतर्गत सूरसागर मे लगभग ४८ दुष्टो के वधो का उल्लेख मिलता है । रामचरित मानस मे राक्षस वध की सख्या इसी के लगभग है ।

सामाजिक अनाचार एवं नैतिक भ्रष्टाचार का उन्मूलन

हिन्दी के वैष्णव भक्त कवियो ने सामाजिक अनाचार एव नैतिक भ्रष्टाचार का अनेकमुख वर्णन किया है । ये प्राय इसके समूल उच्छेद की ओर

---

१ रामचरित मानस, उत्तर काड, दोहा स० २१ २२ तक

सतत् प्रयत्नशील मिलते है। तुलमी का कलि निरूपण इस प्रसग मे विशेष द्रष्टव्य है।

नर-नारी अधर्म मे रत हैं। निगम प्रतिकूल मार्गगामी बन चुके हे। कलिकाल के प्रभाव से अनेकानेक उत्तम मार्ग के साक्षी सद्ग्रन्थ लुप्त हो गए है। दभियो ने अपने मत से धर्म मार्ग कल्पित कर लिए है। नरनारी मोह एव लोभ के वशीभूत हो चुके हे। वर्णाश्रम का लोप हो चुका है और निगम का मान तथा अनुशासन नष्ट हो चुका है। समाज मे गाल बजाने वाले पडित दभी एव मिथ्याभाषी, परधन के अपहर्ता, चतुर एव पाखडी आचरणनिष्ठ बने दिखाई देते है। झूठी मसखरी करने वाले गुणी तथा श्रुति-पथ को त्याग कर आचरणहीन लम्पट, ज्ञानी एव वैरागी बन बैठे हैं। विशाल नख एव जटाओ वाले ही कलि मे तपस्वी तथा अशुभ वेष धारण करने वाले अविवेकी सन्त एव सिद्ध कहलाते है। मन वाणी एवं कर्म से लबार ही वक्ता हैं।

इस प्रकार समस्त नैतिक मार्गों मे विपरीतगामिता ही परिलक्षित होती है। नरनारी के वश मे होकर विवश मर्कट की भाँति उनके दास बन चुके है। शूद्र द्विजो को उपदेश देते एव यज्ञोपवीत धारण करके कुदान लेते है। समस्त नरनारी देव श्रुति सन्त विरोध हो गए हैं। एक ओर सौभाग्यवती स्त्रियो ने आभूषण त्याग दिया है, दूसरी ओर विधवाएँ नित्य नवीन शृगार मे अनुरक्त है। अभिभावक पुत्रो को अर्थोदरी विद्या सिखलाते है। शूद्र विप्रो से द्वन्द्व करके उनसे श्रेष्ठ सिद्ध होना चाहते है। वे ब्राह्मणो को आँख दिखाकर डाटते है कि क्या ब्रह्मज्ञान उनकी बपौती है। पुरुषवर्ग पत्नी की मृत्यु के बाद घर फूँक कर सन्यासी बन बैठता है। स्वपच, कोल, किरात, कलवार भक्त बन बैठे है। वे विप्रो से पूजा करवाते है। विप्र निरक्षर लोलुप एव कामाध तथा शूद्र जप, तप, व्रत कर रहे है।[1] इस प्रकार कलि के आगमन से समस्त वर्णव्यवस्था विशृंखल, समाजनीति दूषित, नैतिक व्यवस्था अध पतित एव मर्यादा लुप्त हो चुकी है। इस प्रकार वैष्णव धर्म व्यवस्था के विघटन से उत्पन्न सामाजिक भ्रष्टाचार के वे कवि तीव्र विरोधी थे।

तुलसी की ही भाँति सूर ने कल्कि अवतार के अन्तर्गत इसी प्रकार

१ रामचरित मानस, उत्तरकाण्ड, दोहा स० ९७ से १०२ तक

की सामाजिक दुर्व्यवस्था की ओर सजगता प्रगट की है। कलियुग मे भगवान का कलंकी अवतार होगा क्योकि कलि मे नृप अन्यायी होगे, हठपूर्वक कृषि एव अन्न का अपहरण करेगे। सच्चे व्यक्ति को अपराधी ठहरावेगे एव प्रजा धर्मविमुख होगी। समस्त जन वर्णाश्रम धर्म का विस्मरण कर जावेगे। ब्राह्मण वचक सन्यासी का वेष धारण करके घूमेगा तथा गृही अपने धर्म को भूल कर अतिथि का सम्मान न कर सकेगा। दया, सत्य, सन्तोष नष्ट हो जावेगे। सुधर्म का फल समझ कर भी लोग उसे नही करेगे। पापी किसी फल की कामना नही करेगा। वह रात दिन पापो मे व्यस्त रहेगा।

वर्षा के समय वर्षा न होगी। पशु को लोग दान देगे। कलि मे पृथ्वी-पति (क्षत्रिय) का राज्य न होगा। लोग इन्द्रियो के वश मे होकर स्वच्छन्दतापूर्वक भोग करेगे।[1] इस प्रकार सामाजिक अनाचार एव भ्रष्टाचार का निरूपण करके ये कवि एक ओर समाज को आतकित करते है दूसरी ओर उसकी मुक्ति का मार्ग भी निर्धारित करते है। इनके द्वारा कथित सामाजिक अनाचारो की सूची इस प्रकार है—अधर्म, अनियम, सद्ग्रन्थो का त्याग, दंभ एवं पाखड का प्रसरण, लोभ एव मोह का विस्तार, वर्णाश्रम की विश्रृंखलता, कुपथगामिता, मिथ्यादभ, आचरणहीनता, ढोग, भक्ष्याभक्ष्य अविवेक, विवेकशून्यता, जल्पता, कामुकता, पाखड, भ्रष्टाचरण, अनैतिकता, हिसा, पिशुनता, अन्याय, धर्मविमुखता, दया, सत्य, सन्तोष का विनाश। इन समस्त अनाचारो एव भ्रष्टाचारो की एक निश्चित परम्परा भारतीय धार्मिक ग्रन्थो मे प्राप्त होती है। इन अनाचारो का सर्वप्रथम विस्तृत उल्लेख महाभारत मे प्राप्त होता है। शान्तिपर्व मे भीष्म इसे भृगु एव भरद्वाज की वक्ता-श्रोता-परम्परा मे प्रस्तुत करते है। भरद्वाज ने भृगु से वर्णाश्रम विभाजन का आधार पूछा था। इसी संदर्भ मे उन्होने तत्कालीन वर्णाश्रम मे प्रचलित समस्त भ्रष्टाचारो का उल्लेख किया है।[2] महाभारत के उपरान्त यह परम्परा अवतारवाद से सम्बद्ध होकर पुराणो मे चली आई। हिन्दी के समस्त वैष्णव भक्त कवियो ने सामाजिक अनाचार की सूची इन पुराणो एव अपनी तत्कालीन परम्परा से ग्रहण की है।

---

१ सूरसागर, द्वितीय खड, द्वादश स्कन्ध, पद स० ३

२ महाभारत शान्तिपर्व, १२, १८१,३ तथा १८२, १२,

उपयोगितावादी साहित्य सिद्धान्त का नियोजन

उपयोगितावादी साहित्य सिद्धान्त के इतिहास से स्पष्ट हो गया, होगा कि भारतीय काव्यशास्त्र की मूलदृष्टि आरम्भ मे कलात्मक मनोवृत्ति के साथ-साथ उपयोगितावादी भी रही है । विशेषकर धार्मिक वाङ्मय का जहाँ तक प्रश्न है, वह सम्पूर्णत उपयोगितावादी है। वैदिक साहित्य मे विशेष कर ऋग्वेद को काव्य एव स्तोत्रो का प्राचीनतम भारतीय ग्रन्थ माना जा सकता है। इन वैदिक ऋचाओ को स्तुति तथा स्तोत्र-गायको को उद्गाता एव स्तोत्र-रचनाकारो को स्तोता की सज्ञा मिली है । स्तोता गण सूर्य, चन्द्र, पृथ्वी, आकाश, अन्तरिक्ष, जल, वायु, प्रकाश, विष्णु, वरुण आदि पराक्रमी शौर्यवान् व्यक्तित्व इन्द्र, पुरुरवसु तथा पौराणिक पुरुष यम-यमी को सम्बद्ध करके स्तोत्र रचना की ओर प्रवृत्त हुए है। इनके इस सृजन के पीछे वैयक्तिक आवश्यकता अभाव, अतृप्ति की पूर्ति एव तृप्ति की अधिकाधिक आकाक्षा मिलती है ।

इस काव्यवृत्ति के मूल मे वैयक्तिक अभाव की भावना निहित है। इन अभावो के पूरक होने के लिए इस काव्य को अधिकाधिक वैयक्तिक आवश्यकता के निकट रहना पडा है। स्पष्ट है कि यह काव्य इसलिए रचा गया जिससे उनके इष्ट प्रसन्न होकर उन्हे गाय, बैल, अन्न, शतवर्ष आयु, भोग, ऐश्वर्य, सुन्दर पत्नी आदि दे सके । ये भोग की वस्तुएँ आध्यात्मिक कम, पर भौतिक अधिक है। भौतिक सुख एव समृद्धि की याचना का भाव इस प्रकार के स्तोत्रो के मूल मे निहित है ।

वैदिक काव्य के मूल मे एक दूसरी भी दृष्टि है, वह है, आत्मसरक्षण की । आत्म-सरक्षण की वृत्ति मूलत दो मानसिक प्रवृत्तियो पर निर्भर है। प्रथम यह कि रचनाकार अपनी पीडा केमूल मे केन्द्रित होकर अपनी पीडा एव आतको को उस काव्य मे वर्णित करे, दूसरी ओर मूल आलम्बन की शक्ति, शौर्य, सामर्थ्य एव कृपा आदि कृत्यो तथा तत्सम्बन्धी भावो का उल्लेख करे । अभावो का अधिकाधिक सम्बन्ध आत्मसरक्षण से ही होने के कारण प्राय काव्य मे कवि का हीन व्यक्तित्व दृष्टिगत होता है । वस्तुत इस प्रकार के साहित्य का मूल स्वरूप इस प्रकार है । एक ओर अभाव एव पीडाग्रस्त कवि का हीन, सकुचित, अभावग्रस्त व्यक्तित्व, दूसरी ओर आलम्बन का विस्तृत सबल सशक्त भावपूर्ण कृत्यो का उल्लेख । वह बार-बार आलम्बन के शौर्य एव पराक्रम को स्फूर्त करता हुआ इनसे सम्बन्धित भावो की अपेक्षा

बनाए रखता है। इसी के साथ, इस काव्य मे एक तीसरा भी तत्त्व है, समाज या सुरक्षा की विघातक शक्तियो का उल्लेख। मूल आलम्बन की शक्ति के सम्मुख समाज-विरोधी शक्ति की पराजय निश्चित रूप से मिलती है। यही कारण है कि वैदिक ऋचाओ मे इन्द्र, विष्णु, सूर्य आदि के समक्ष इनके विरोधी तत्त्व अनेक बार पराजित हो चुके है। वैदिक साहित्य मे ये विरोधी तत्त्व या तो प्राकृतिक विघातक तत्त्व है या शत्रु। इस प्रकार स्पष्ट है कि आरम्भिक भारतीय उपयोगितावादी सिद्धान्त के मूल मे वैयक्तिक सरक्षण, अभावो की प्राप्ति आदि के भाव निहित है।

उपयोगितावादिता की यह आरम्भिक दृष्टि पूर्णत समाप्त नही हो सकी, क्योकि आत्मसरक्षण वृत्ति अस्थायी न होकर चिर काल तक स्थिर रहने वाली मनोवृत्ति है। वैदिक साहित्य के बाद वैयक्तिक अभाव को धर्माश्रय मिला यह धर्माश्रयण उसी प्रकार की काव्य रचना का आधार बना, जिस प्रकार वैदिक काव्य का था, किन्तु अधिक आस्थामूलक होने के कारण इष्ट के गुण शौर्य, ऐश्वर्य, तेज आदि रूपो को अधिक सजगता से प्रस्तुत कर सका। इसी के परिणामस्वरूप लौकिक साहित्य मे स्तोत्रो की रचना हुई है। इसी के साथ दूसरी ओर इस धर्ममूलक मनोवृत्ति का भी विकास हुआ। इस कर्ममूलक प्रवृत्ति ने, विशेष रूप से विधि-निषेधो तथा सामाजिक रचना मे सहायक भावो को तीव्रतर बनाया। यही कारण है कि इस वातावरण के विस्तार के फलस्वरूप उपदेश काव्यो की प्रशस्त परम्परा समाज मे प्रचलित हुई। इस प्रकार वैदिक स्तोत्र साहित्य आगे चलकर लौकिक साहित्य काल मे दो भागो मे विभक्त हो गया।

स्तोत्रमूलक तथा उपदेशात्मक काव्य

महाभारत एव रामायण को आख्यानक काव्य, महाकाव्य आदि की सज्ञा मिली है। वाल्मीकि रामायण को शुद्धत महाकाव्य की श्रेणी मे रखा जाता है। महाभारत वस्तुत. धर्म, अधर्म, विवेक, अविवेक के नैतिक द्वन्द्व से आरम्भ होता है। किन्तु इनमे महाकाव्य के तत्त्वो के साथ उपदेश, नीति, राजधर्म, वर्ण-व्यवस्था, तत्कालीन प्रचलित समस्त विधाएँ एव दर्शन प्रणालियो के विभिन्न रूप भी वर्तमान है। महाभारत-कार ने तो स्पष्टत· कह दिया है कि जो महाभारत मे है वही सर्वत्र है, जो महाभारत मे नही है वह कही नही मिलेगा। इस प्रकार महाभारत काव्य एवं व्यवहार का एक साथ समर्थन करता है। ठीक यही स्थिति वाल्मीकि-रामायण की भी है। वस्तुत इन दोनो के मूल मे व्यक्तिनिष्ठता

का मिद्धान्त निहित है। महाभारतकालीन भारतीय मभ्यता व्यक्तिमत्ता मे केन्द्रित हो उठी थी। एक प्रभावशाली व्यक्तित्व एव उनके पराक्रम का अभिधान इन दो प्राचीन महाकाव्यो के मूल मे हैं जो चक्रवर्तीत्व के लक्षणो मे व्यक्तिसत्तावाद का पूर्ण ममर्थन करता है। वाल्मीकि ने समस्त उच्च गुणो के ममुच्चय राम के चरित्र को अपने महाकाव्य का आधार बनाया था। मामाजिक मरक्षण के लिए अकेले उन्ही का व्यक्तित्व पर्याप्त था। इस व्यक्ति मत्तावाद के माथ-माथ मामाजिक मरक्षण की भावना इन आदर्शपूर्ण चरित्रो के माथ मिलती है। प्राचीन ग्रीक महाकाव्यो के व्यक्ति सत्तावाद की अन्तिम परिणति प्रेम एव रोमाम मे होती है, किन्तु भारतीय महाकाव्यो की व्यक्ति-सत्ता मे प्रेम न मिल कर वैयक्तिक आदर्श से मडित नैतिक सरक्षण की भावना मिलती है। उदात्त चरित्र के विपरीत अनैतिक प्रवृत्तियो के समर्थक खल पात्रो के ऊपर विजय इन महाकाव्यो का अन्तिम लक्ष्य था। इस प्रकार इनका मूल उद्देश्य सत् की असत् पर विजय है। फलत भारतीय आदिम महाकाव्यो के मूल मे व्यक्ति सत्तावाद एव सामाजिक सरक्षण की भावना मिलती है। महाभारत एव रामायण इसका पूर्ण प्रतिनिधित्व करते है।

इसके बाद शुद्ध लौकिक काव्यो के विकास का काल आया। इस परम्परा के कुमारसभव, रघुवश, बुद्धचरित, किरातार्जुनीय, जानकी हरण, रावण वध, शिशुपाल वध, नैषध चरित, श्रीकठ चरित, धमशर्माभ्युदय इत्यादि महाकाव्य इसी उपयोगिता के क्रम मे प्रणीत हुए। महाकाव्यो मे चरित्र नियोजन के अन्तर्गत नायक के धीरोदात्त, धीरप्रशान्त, धीरललित एव विरोधी नायक के धीरोद्धत चरित्र की कल्पना की गई। उच्च गुण से सम्पन्न प्रमुख नायक के अन्तर्गत समस्त मानव सहानुभूति को केन्द्र बनाने का प्रयत्न किया गया क्योकि इसका मूल कारण था, उसमे समाज मे प्रतिष्ठित समस्त उच्च गुणो का समुच्चय स्थापित करना। महाकाव्य के प्राय सभी लक्षणकारो ने नायक के उदात्त चरित्र को महाकाव्य के लिए अनिवार्य बताया हैं।[1] विरोधी नायक अपने अध पतन के कारण गर्हिततम अनैतिक गुणो का प्रतिनिधित्व करता है। इन खल नायको की श्रेणी मे दुर्योधन, रावण, कस, शिशुपाल आदि आते है। काव्य की कलात्मक प्रवृत्ति के

---

१ इमके लिए देखिए, अध्याय ६

विकास के साथ-साथ सस्कृत काव्य मे चरित्रनियोजन एव नैतिक सरक्षण की भावना समाप्त होती गई। नायक यद्यपि उच्च गुणो का प्रतिनिधि है फिर भी किसी नैतिक सरक्षण की ओर वह सजग न होकर वैयक्तिक समस्याओ मे लग जाता है। श्रीहर्ष कृत नैषधीय चरित की यही स्थिति है। इसी के साथ धार्मिक परम्परा मे भी महाकाव्य निर्मित होने लगे थे। अश्वघोष का बुद्धचरित इसकी परम्परा का प्रथम महाकाव्य है। इसकी परम्परा मे जैन, तथा बौद्ध साहित्य के महाकाव्यो की गणना की जा सकती है। नैतिक सरक्षण सामाजिक प्रतिष्ठा के लिए आवश्यक है। दूसरी ओर, व्यक्ति के मूल मे उसकी पाशविक प्रवृत्तियाँ नैतिक व्यवहारो से निरन्तर द्वन्द्व करती हैं। भारतीय धार्मिक काव्यो के मूल मे यही स्थिति है। इस दृष्टि से भारतीय धर्ममूलक महाकाव्यो मे दो तथ्य स्पष्टत परिलक्षित होते है—

१ **नैतिक सरक्षा एव विवेकपूर्ण सामाजिक प्रतिष्ठा को स्थिर करने वाला तत्त्व**

२ **नैतिक सरक्षा का विरोधी एव विवेकपूर्ण सामाजिक मूल्यो का विघातक तत्त्व**

परवर्त्ती धार्मिक महाकाव्यो मे खुल कर इन तत्त्वो का समर्थन मिलता है। भारतीय काव्यशास्त्र मे इस उपयोगितावादी दृष्टिकोण का स्वरूप किंचित् विस्तृत है, जैसा कि द्वितीय अध्याय मे काव्य मूल्यो के संदर्भ मे देखा जा चुका है। इसका स्वरूप इस प्रकार है—

१. **कला की दृष्टि से सर्वप्रथम काव्य का उद्देश्य आनन्द है, किन्तु यह उपयोगितावाद का अप्रत्यक्ष मूल्य है।**

२ **कलापक्ष के पृथक् उपयोगिता पक्ष को दो वर्गों मे विभाजित किया जा सकता है।**

वैयक्तिक मूल्य : यश अनिष्ट का विनाश, द्रव्यार्जन, मनोकामना की पूर्ति, राजाओ की प्रशसा द्वारा उनका प्रिय होना।

सामाजिक : सस्कार च्युत को सस्कार युक्त करना, लोक व्यवहार की शिक्षा, अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष की प्राप्ति, शिवेतरतत्त्वो से सरक्षा।

इन सामाजिक तत्त्वो के साथ कुछ धार्मिक या नैतिक मूल्य भी है। इसे इन्होने हीनतर काव्यमूल्य कहकर पुकारा है। इनके अनुसार धर्म के प्रचारार्थ, व्याधि एवं दड के रक्षार्थ निर्मित रचनाएँ अवर काव्य श्रेणी मे

आती है क्योकि इन उद्देश्यो की प्रधानता होने से कलाबोध को आघात पहुँचता है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि भारतीय काव्यशास्त्रीय परम्परा मे उपयोगितावादी मूल्यो को पूर्ण प्रश्रय मिल चुका था। इनमे निहित सिद्धान्तो का स्वरूप इस प्रकार है —

वैयक्तिक मूल्य . वैयक्तिक मूल्यो के पीछे दो तथ्य निहित है, भौतिक पोषण एव मानसिक सन्तोष। शारीरिक पोषण का सम्बन्ध भौतिक मूल्यो की प्राप्ति से है। एक ओर कलावादी आत्म सरक्षण चाहते हे, दूसरी ओर भौतिक विकास, अनिष्ट का विनाश, द्रव्यार्जन एव मनोकामना की पूर्ति का सम्बन्ध इसी से है। इसी के अन्तर्गत सामन्तो का विश्वासभाजन बने रहना भी अन्तर्भुक्त किया जा सकता है।

मानव मस्तिष्क के दो अर्जित गुण है—आत्म सरक्षण एव सामाजिकता की भावना। किन्तु धीरे-धीरे ये सस्कार का अग बनकर मनुष्य मे सहजजात गुण बन जाते है। आत्मरक्षा के गुणो का जब परिष्करण होता है तब उसमे सन्तोष वृत्ति उद्भूत होती है। आत्मरक्षा के दो स्वरूप है—प्रथम, ऐन्द्रिक स्तर पर शारीरिक अनिवार्यताओ की पूर्ति से सम्बन्धित एव द्वितीय, मानसिक स्तर पर वातावरणजन्य आपत्तियो से बचाव की भावना। फलत यह उपयोगितावादी सिद्धान्त पीडा, असन्तोष एवं वैयक्तिक संरक्षण आदि की भावनाओ पर आधृत है।

भारतीय काव्यशास्त्रीय परम्परा के मूल मे प्राप्त काव्यो की सामाजिक पृष्ठभूमि एक विशिष्ट सामन्तीय एवं धार्मिक वर्ग से सम्बद्ध थी। दूसरे शब्दो मे, काव्य का सामाजिक दृष्टिकोण धर्मप्रवण था। यही कारण है कि जहाँ वैयक्तिक उद्देश्यो की पूर्ति का प्रश्न उठता है उसके लिए भी वे अनैतिक कार्य करने के लिये तैयार नही है। मानसिक सन्तोष मे यश भावना अत्यधिक सक्रिय थी। ये काव्य की कलात्मकता के प्रति अधिक सचेष्ट है। मानसिक सन्तुष्टि का सम्बन्ध विशेषकर इनकी कलात्मकता से सम्बद्ध होने के कारण ये उसकी स्पष्ट एव तीव्र भावव्यजक अभिव्यक्ति के लिए चेष्टा करते है। यही चेष्टा काव्य को अधिकाधिक कलावादी दृष्टिकोण के समीप रखती हे। भारतीय कलासम्बन्धी दृष्टिकोण कला की दृष्टि से कलावादी है।

सामाजिक मूल्य : वैयक्तिक मूल्यो के साथ-साथ इन आचार्यो ने अपने ग्रन्थो मे सामाजिक मूल्यो की प्रतिष्ठा की है । तत्कालीन सामाजिक रचना एव विभिन्न वर्ग, तत्सम्बन्धी मान्यताएँ, सामाजिक विधि-निषेध इनके काव्य की प्रमुख समस्याओ मे हे । काव्यशास्त्र की एक विशिष्ट परम्परा जो आचार्य भरत से लेकर पडितराज जगन्नाथ तक प्राप्त हो जाती है, इसमे धार्मिक मान्यता अत्यन्त अनिवार्य समझी गई । धार्मिक मान्यता की पुष्टि एव तत्सम्बन्धी मान्यताओ का स्वीकरण एक निश्चित क्रम मे सभी रचनाकारो द्वारा अनिवार्य रूप से मान्य है । प्राय समस्त काव्यो के आदि मे मगलाचरण एव अन्त मे फलस्तुति काव्य का लोकसरक्षक सम्बन्धी पृष्ठभूमि के स्थापन मे सजग है । इस दृष्टि से धर्म एव मोक्ष की प्राप्ति, सामाजिक उन्नयन एव शिवेतर मूल्यो से रक्षा ये प्राय धार्मिकता से सम्बन्ध रखते है ।

इन धार्मिक मूल्यो का उपयोग समाज सरक्षण के लिए अनिवार्य है । इसके लिए लोक व्यवहार का शिक्षण एव धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, चतुर्थ जीवन पुरुषार्थो को आवश्यक बताया गया है । इस प्रकार भारतीय परम्पराओ मे काव्य के लिए सामाजिक उद्देश्य पूर्णरूपेण स्वीकृत था ।

निष्कर्षत वैयक्तिक रूप से इनके काव्य की प्रेरणा जो इसको उपयोगी बनाने मे सक्षम है वह आत्म सुरक्षा, ऐन्द्रिक तोष, मानसिक तुष्टि से भी सम्बन्धित है । सामाजिक उद्देश्य के अन्तर्गत समाज नियमन के लिए आवश्यक अर्थादि मूल्यो की उपलब्धि, लोक मगल की भावना, परम्परागत धार्मिक मूल्यो का प्रसार इनके काव्य के लिए अनिवार्य था ।

वैयक्तिक मूल्यो मे ऐन्द्रिक तोष एव मानसिक तुष्टि काव्य की मूल प्रकृति से किस प्रकार सम्बन्ध रखते है, यह प्रश्न काव्य रचना प्रक्रिया की दृष्टि से अधिक उपयोगी है । ऐन्द्रिक तोष या शारीरिक अनिवार्यताओ का सम्बन्ध वैयक्तिक अहम् से जुडता जाता है । भारतीय कवियो मे शारीरिक अतृप्ति नही है । उनका भौतिक व्यक्तित्व परिमार्जित हो चुका है । भारतीय कवियो ने भूखे भिखारी की भाँति अपना खाली पेट दिखा कर खाना नही माँगा है और अर्थोपार्जन को अपना अन्तिम इष्ट भी नही स्वीकार किया है । भारतीय कलाप्रिय सामन्तो द्वारा सस्कृत साहित्य के अधिकाश कवियो की आर्थिक एव अन्य ऐन्द्रिक अनिवार्यताएँ तृप्त की जाती रही है । उनका दैनिक जीवन, जैसा कि राजशेखर ने बताया है, पूर्णत सात्विक रहता

था। फलत ऐन्द्रिक एव वैयक्तिक तृप्ति इनके काव्य के अवान्तर मूल्य हैं। मानसिक सन्तोप जो ऐन्द्रिक सन्तोष की अपेक्षा परोक्ष मूल्य है, इन कवियो के लिए प्रेरणा-स्रोत है। वह इनकी रचना प्रक्रिया को शक्तिमान बनाने मे सहायक है। यशेच्छा का सम्बन्ध किसी उपयोगिता के मूल्य से न होकर रचनाकार की मानसिक अतृप्ति एव तृप्ति से सम्बद्ध है, जो उसे अप्रतिष्ठा या प्रतिष्ठा के रूप मे प्राप्त होती ह। अत यश उपयोगिता के अन्तर्गत होते हुए भी प्रत्यक्ष मूल्य नही हे। सामाजिक मूल्यो का जहाँ तक प्रश्न है उसमे सरक्षण एव नियमन की मूल प्रवृत्ति दृष्टिगत होती है। सरक्षण एव नियमन काव्य के प्रत्यक्ष आधार नही ह। वे प्रत्यक्षत कलात्मक मूल्यो से मेल नही खाते। कलात्मक मूल्य अपनी प्रकृति मे सरक्षण एव नियमन वृत्ति को पचाकर उसे काव्य प्रकृति के अनुरूप बनाता है। जहाँ इन कवियो ने प्रत्यक्षत कलात्मकता से पृथक् उपयोगिता से सम्बन्धित समस्याओ की चर्चा की है, वहाँ काव्य औचित्य को हानि उठानी पडी ह। यही कारण है कि सस्कृत काव्य-साहित्य मे कलात्मक मूल्यो की सजगता ने उपयोगितावादी मूल्यो को गौण बना दिया है।

निष्कर्षत स्पष्ट है कि भारतीय काव्यशास्त्र एव काव्य की परम्परा मे कलात्मक मूल्य प्रमुख है। उपयोगिता के मूल्य हैं, पर गौण रूप मे। इसमे वैयक्तिक उपयोगिता का काव्य की रचना प्रक्रिया से सम्बन्ध अप्रत्यक्ष है। राजाश्रय इनकी अनिवार्यताओ की पूर्ति का सहायक मात्र था। ऐसी स्थिति मे उनके काव्य का प्रत्यक्ष सम्बन्ध अर्थ से नही था। वस्तुत व्यावसायिक उद्देश्य अत्यल्प था। इस राजाश्रय से उपयोगिता तत्त्व की वृद्धि न होकर कलात्मक मूल्यो की वृद्धि होती थी। जहाँ तक सामाजिक मूल्यो का प्रश्न है ये मूल्य गौण रूप मे आए हैं। इस दृष्टि से इन कवियो का दृष्टिकोण अधिक कलात्मक कहा जा सकता है। यह उपयोगिता का मूल्य नैतिक सदसद् विवेक, धर्म, काम, मोक्ष, लोकमगल आदि भावनाओ से सम्बद्ध था।

इस प्रकार स्पष्ट है कि हिन्दी के वैष्णव भक्त कवियो के पूर्व भारतीय काव्य परम्परा का सम्बन्ध पूर्णत काव्य के कलात्मक मूल्यो से था। इन कलात्मक मूल्यो मे रजन वृत्ति की प्रधानता थी। इनमे प्राप्त उपयोगितावादी मूल्य जीवन-रजक मूल्यो के अग बनकर प्रयुक्त है।

हिन्दी के वैष्णव भक्त कविसामाजिक मूल्य तथा रचना-प्रक्रिया

पहले कहा जा चुका है कि साहित्यिक दृष्टि से हिन्दी के भक्ति कवि भारतीय ललित काव्यो से प्रत्यक्ष सम्बन्ध नही रखते। इनका प्रत्यक्ष सम्बन्ध उपदेशात्मक स्तोत्र एव पौराणिक साहित्य से है। उपदेशात्मक स्तोत्र एव पौराणिक साहित्य की उपयोगितामूलक प्रवृत्तियो का उल्लेख किया जा चुका है। ये अध्यात्मरामायण, भागवत, महाभारत, विष्णुपुराण, गीता इत्यादि धार्मिक रचनाओ की उपयोगिता सम्बन्धी प्रवृत्तियो से मेल खाती है। पौराणिक कथाओ के लिए सामाजिक रचना को धार्मिकता से अधिकाधिक सम्बद्ध करना पुराणकारो का मूल उद्देश्य था। पुराणो, स्तोत्र साहित्य एव उपदेशात्मक काव्यो मे प्राय वैयक्तिकता के तत्त्व अत्यल्प हैं। इसमे अधिकाधिक सामाजिक मूल्यो का ही कथन मिलता है। पौराणिक एव भक्ति काव्य के वैयक्तिक एव सामाजिक मूल्यो का विवरण इस प्रकार है —

वैयक्तिक उपयोगिता

पुराण एव धार्मिक साहित्य	हिन्दी का वैष्णव भक्ति काव्य
१ धार्मिक वृत्ति को जाग्रत करना	१. धार्मिक वृत्ति को जाग्रत करना
२ भक्ति एव नैतिकता की प्राप्ति	२. भक्ति की अधिकाधिक प्रगति
३ मोक्ष अन्तिम मूल्य के रूप मे	३. मुक्ति तथा भक्ति दोनो अन्तिम मूल्य के रूप
४ यश का प्रच्छन्न रूप	४ यथामति गान

सामाजिक उपयोगिता

पौराणिक एव धार्मिक साहित्य	हिन्दी का वैष्णव भक्तिकाव्य
१ लोकमगल की भावना	१. लोकमगल की व्यापक पृष्ठभूमि
२ चतुर्थ पुरुषार्थों की प्राप्ति	२. चतुर्थ पुरुषार्थों की प्राप्ति
३ कलिमल शमन	३ कलिमल शमन
४ मात्र भक्ति एव धर्म की स्थापना	४. भाव भक्ति की स्थापना
५ धार्मिकता का प्रचार	५. धार्मिकता का प्रचार

किन्तु पौराणिक एवं धार्मिक साहित्य की समानता के साथ इनमे मूल अन्तर भी है। अन्तर स्पष्ट है, वैष्णव भक्त कवियो का काव्यबोध पुराणो

एव धार्मिक साहित्य से अधिक जागृत है। भक्त कवियो ने अपनी परम्परा से चले आते हुए उपदेशो एव नैतिक प्रश्नो को काव्यबोध वृत्ति का अग बना कर ग्रहण किया है।[1] यह मिश्रण इतना अद्भुत है कि खटकता बहुत कम है। यही कारण है कि भक्ति तत्त्व एव पौराणिक प्रवृत्तियाँ दोनो अपनी-अपनी दृष्टि से इन काव्यो के माध्यम से अभिव्यक्त होती हे। पौराणिक एव उपदेशात्मक आदि धार्मिक काव्य निश्चित रूप से इन काव्यो पर अपना गहरा प्रभाव छोडते है, किन्तु यह प्रभाव काव्य मूल्यो मे पूर्णरूपेण पच गया है।

काव्य की रचना प्रक्रिया का अध्ययन करने के लिए उपयोगिता के इन सामाजिक-वैयक्तिक मूल्यो का अध्ययन अपेक्षित है।

हिन्दी वैष्णव भक्ति साहित्य वैयक्तिक उपयोगिता के मूल्य

वैयक्तिक अतृप्ति, जो चेतन रूप से काव्य को प्रभावित करती है, आधुनिक मनोवैज्ञानिको के अनुसार काव्य का मूल कारण है। यह तृप्ति सुख एव दु ख (Pleasure and Pain) से प्रत्यक्षत सम्बद्ध है। इस प्रकार यह वृत्ति उपयोगिता का मूल्य न होकर कवि कर्म या स्वभाव का अंग हे। किन्तु हिन्दी के वैष्णव भक्त कवियो ने जो मूल्य बताये है उनमे आत्मरक्षा की भावना अधिक है। भौतिक स्तर पर यह आत्मरक्षा शारीरिक बचाव से सम्बद्ध है। किन्तु यह परिष्कृत होकर शारीरिक रक्षा से ऊँचे उठकर आध्यात्मिक सुरक्षा तक पहुँच जाता है। आत्मशोध, धार्मिक वृत्ति का उदय, मोक्ष एव भक्ति की प्राप्ति, आध्यात्मिक सुरक्षा से ही सम्बन्धित है। हिन्दी के वैष्णव भक्त कवि वैयक्तिक उद्देश्यो के अन्तर्गत इन्ही मूल्यो की चर्चा करते है। जहाँ तक काव्य-रचना प्रक्रिया का सम्बन्ध है आत्मशोध, धार्मिक वृत्ति एवं मोक्ष तथा भक्ति इसके अग हो सकते है। इनमे आत्मशोध, धार्मिक-वृत्ति एव मोक्ष विराग-प्रधान है। काव्य की शालीन प्रवृत्तियाँ उत्तेजक होती है। इनके द्वारा उत्तेजक प्रवृत्तियो (Sensitive Tendencies) का निर्माण किया जा सकता है, किन्तु ये प्रवृत्तियाँ अन्तत मनोवेगो की तृप्ति एव उत्तेजन मे, सहयोगिनी न होकर शममूलक तथा शान्तिदायिनी होती है। वैयक्तिक मूल्यो की अन्तिम स्थिति भी यही है। हिन्दी के वैष्णव भक्त

---

१. प्राबलम्म इन एस्थेटिक्स, फ्रायड, पृ० ३४८

कवि प्रत्यक्ष एव अप्रत्यक्ष दोनो रूपो मे इन वैयक्तिक उद्देश्यो की पूर्ति मे सहायक रहे है। इन मूल्यो पर पृथक्-पृथक् विचार करना आवश्यक है।

वैयक्तिक मूल्य आत्मशोध (Self Sublimation) ये मूल्य मनोविज्ञान की दृष्टि से आत्म सुरक्षा से सम्बद्ध है। आत्मरक्षा की मनोवृत्ति अभिव्यक्ति के क्षेत्र मे एक ओर शोधक इप्ट (ईश्वर जिसे पतितो के उद्धारकर्त्ता की सज्ञा मिली है) की शक्ति सम्पन्नता के निरूपण से सम्वद्ध हैं दूसरी ओर रचनाका~ द्वारा कथित उसकी हीनता वृत्ति से। यह वैयक्तिक हीनता काव्य की मनोवृत्ति हो सकती हे। हिन्दी का छायावादी काव्य इसी हीनता की भावना से पुप्ट है। आधुनिक छायावादी काव्य की हीनता उद्योगीकरण, विज्ञान का प्रभाव, कौटुम्बिक एकता की छिन्नता, धर्म के प्रति अनास्था, बौद्धिकता के आगमन आदि से सम्बन्धित है। वैष्णव भक्त कवियो के सम्मुख ये कारण नही थे। कुछ तो परम्परागत कारण थे, कुछ तत्कालीन सामाजिक, कुल मिला कर ये राजनीतिक धर्म-निरपेक्ष राज्यसत्ता के व्यवहार से त्रस्त, सामाजिक अनाचार एव भ्रष्टाचार से पीडित मोक्षवादी धार्मिक विचार-धारा के सस्थापन आदि से प्रेरित थे। सामाजिक, धार्मिक एव नैतिक धारणाओ का उल्लेख पहले किया जा चुका है। आधुनिक काव्य की हीनता विषयक मनोवृत्ति धर्म-निरपेक्ष होने के कारण आस्थाहीन तथा त्रिशकु की भाँति आधारहीन हे, किन्तु वैष्णव भक्त कवियो की आत्महीनता सोद्देश्य थी। आत्मतोष, आत्मतृप्ति, मोक्ष, भवसागर से सस्तरण आदि कितनी भाववादी वृत्तियाँ इस आत्मशोध मे निहित उनकी आत्महीनता मे घुली-मिली हे।

आत्मरक्षा इसका उल्लेख किया जा चुका है। आत्मरक्षा भौतिक स्तर पर न होकर परमार्थिक स्तर पर है। अत उसे आध्यात्मिक सुरक्षा के नाम से पुकारा जा सकता है। रहस्यवादी काव्य का बोध आध्यात्मिक तो है किन्तु वह या तो उद्देश्यहीन है या व्यक्तिनिष्ठ आनन्दमूलक अनुभूति पर आश्रित, किन्तु भक्ति काव्य आध्यात्मिक सुरक्षा को अपने काव्य का मूल आधार बताता है। इस आध्यात्मिक सुरक्षा के अन्तर्गत भक्ति, मोक्ष, आनन्द की प्राप्ति, त्रिदोषो का विनाश, कलिमल शमन आते है। आध्यात्मिक सुरक्षा को मूलाधार बनाकर उच्चकोटि का साहित्य नही प्रणीत हो सकता है। इसमे उपदेशात्मकता आदि की प्रवृत्तियाँ प्रमुख हो जाती हैं।

भौतिक पलायन इसका सम्बन्ध भी आत्मरक्षा की प्रवृत्ति से है। भारतीय

परम्परा मे भौतिक आसक्ति को हेय समझा जाता रहा है। इसके मूल मे आध्यात्मिक सुरक्षा ही थी। फलत इसे आदर्शोन्मुख पलायन कहा जा सकता है। इस भौतिक पलायन के माध्यम से ये कवि सामाजिक, नैतिक, शुभ एव आध्यात्मिक मूल्यो का समर्थन करते दिखाई देते है। फलत यह भौतिक पलायन उनके लिए अवरोधक तत्त्व न होकर सर्जक तत्त्व है।

इन भक्त कवियो के समस्त काव्यमूल्य आत्मशोध, आत्मरक्षा एवं भौतिक पलायन से ही सम्बन्धित है। धार्मिक वृत्ति का उदय, भक्ति की प्राप्ति, मोक्ष एव भक्ति की स्वीकृति, यथामति गान इनकी इसी मनोवृत्ति की सूचक है। ये निश्चित ही एक ओर काव्य मूल्य है दूसरी ओर धार्मिक मूल्य भी। इसमे आध्यात्मिक सुरक्षा की वृत्ति सम्भवतया सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। हीनता एवं पलायन इसके अग मात्र है। किन्तु इस हीनता एव पलायन के पीछे अवरोधक भावनाएँ नही है, अपितु, इनमे परिष्कृत व्यक्तित्व के तत्त्व निहित है।

सामाजिक मूल्य सामाजिक मूल्यो मे इन कवियो ने लोकमगल, चतुर्थ-पुरुषार्थो की प्राप्ति, कलिमल शमन, भक्ति की स्थापना एव धार्मिकता के लोकव्यापी प्रचार को लिया है। यह उपयोगिता का मूल्य जातिविहीन मात्र धर्म-सापेक्ष्य है। भारतीय शब्दावली मे इसे हितवाद भी कहा जा सकता है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इसके लिए लोकमगल का नाम सुझाया है। फलत इनके काव्य मे निहित सामाजिक मूल्यो को हितवाद या लोक-मगलवाद कहा जा सकता है। हिन्दी के वैष्णव भक्त कवियो ने अपने मगलवाद के ही कारण भारतीय काव्य परम्परा मे अपना अमिट स्थान बना लिया है।

वैय्यक्तिक मगलवाद की प्रेरणा वैयक्तिक मूल्यो के अन्तर्गत यह सिद्ध किया जा चुका है कि इनमे हीनता की वृत्ति मिलती है। इस हीनता के पीछे भौतिक अनासक्ति, विराग तथा भक्ति प्रेरणा का कार्य करती है। इसका अधिकाधिक सम्बन्ध सामाजिक निर्माण से है। दूसरा मूल्य भौतिक समाज से पलायन का है। ये भौतिक उपासना को छोडकर नैतिक उपासना की प्रतिष्ठा चाहते है। इस भौतिक पलायन के पीछे सामाजिक एव धार्मिक हित की भावना निहित है। यह मूल्यवृत्ति सामाजिकता की है। रचना-प्रक्रिया की दृष्टि से कहा जा सकता है कि हिन्दी के वैष्णव भक्त कवि सामाजिकता की मनस्वृत्ति से प्रभावित है। समाज की यह सरक्षा वृत्ति शुभ (The Good) की वृत्ति

है । काव्य का सम्बन्ध सौन्दर्य (The Beautiful) से है, सामाजिक रचना शक्ति को काव्य सृजन का आधार बनाकर ये कवि शुभ एव सौन्दर्य मे अपना सम्बन्ध स्थापित कर देते है। शेष, सामाजिक मूल्यो की प्रेरणा वैयक्तिकता से ही सम्बद्ध है।

निष्कर्ष : हिन्दी के वैष्णव भक्त कवि रचना प्रक्रिया की दृष्टि से हीनता, भौतिक पलायन, आत्मरक्षा की मनोवृत्तियों से प्रभावित है। दूसरी ओर, उनका मंगलवाद सामाजिक एव नैतिक मूल्यो से सम्बन्धित है। इस प्रकार हीनता, भौतिक पलायन, आत्मरक्षा, सामाजिकता एव नैतिकता काव्य प्रेरणा के रूप मे उच्चतम मूल्यो से युक्त भक्ति साहित्य के निर्माण मे सक्षम है।

———

अध्याय ६

भक्ति काव्य तथा सौन्दर्यबोध-सिद्धान्त

भारतीय सौन्दर्यबोध तथा अध्ययन की परम्परा

भारतीय साहित्य मे सौन्दर्यबोध सम्बन्धी धारणाओ के विषय मे प्राय पाश्चात्य विद्वानो द्वारा आरम्भ मे भ्रामक धारणाओ का प्रचार किया गया था। इनके अनुसार भारतीयो मे सौन्दर्य दृष्टि या तो थी ही नही या न्यून थी। प्रो० नाइट ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'द फिलासफी आव ब्यूटीफुल' मे कहा है कि आरम्भिक भारतीय आर्यो मे सौन्दर्य दृष्टि हेय एव तुच्छ थी ।[1] भारतीय विद्या के शोध-विशारद विसेन्ट स्मिथ ने बताया है कि भारत की प्राचीन परम्परा मे उदात्त एव अनुदात्त कला को स्पष्ट करने के लिए दिए गये तर्क सामान्य एव भ्रामक है।[2] प्रो० मैक्समूलर ने इसी प्रकार की धारणा का उल्लेख अपने मित्र प्रसिद्ध सौन्दर्यशास्त्री हम्बोल्ट से किया था। उनके अनुसार प्राचीन भारतीयो मे सौन्दर्य बोध वृत्ति का अभाव था।[3] भारतीय भाषा के एकनिष्ठ प्रेमी मैक्समूलर के मुख से सौन्दर्य के विषय मे प्रगट की गई यह धारणा न्यायोचित नही है। अस्तु, ज्ञानविज्ञान विषयक अन्य मतवादो की ही भाँति पाश्चात्य विद्वानो ने आरम्भ मे भारतीय सौन्दर्य सिद्धान्त की धारणाओ के विषय मे भी भ्रम उत्पन्न कर दिया था।

भारतीय सौन्दर्य बोधतत्त्व को स्पष्ट करने का सर्वप्रथम प्रयास रवीन्द्रनाथ ठाकुर का था। रवीन्द्र बाबू ने इस सम्बन्ध मे पहला लेख 'सौन्दर्यबोध' शीर्षक से सन् १६०६ मे प्रकाशित कराया। इसके बाद १६२० मे 'द आर्ट' शीर्षक से उनका एक लम्बा निबन्ध पुन प्रकाशित हुआ। इनके सौन्दर्य

---

१ उद्धृत, द इडियन एस्थेटिक थ्युरी, पृ० ४५

२ उद्धृत, द इडियन एस्थेटिक थ्युरी, पृ० ४५

३ उद्धृत, द इडियन एस्थेटिक थ्युरी, पृ० ४५

बोध विषयक निबन्धो का सग्रह 'टैगोर ग्रान ग्रार्ट एन्ड एस्थेटिक्स।[1] नाम से प्रकाशित हो चुका है ।

रवीन्द्र बाबू के बाद भारतीय विद्वानो मे ग्रानन्दकुमार स्वामी का स्थान ग्रग्रगण्य है । उन्होने शिल्प सौन्दर्य तथा सौन्दर्यबोध विषयक भारतीय सिद्धान्तो को स्पष्ट करने मे अपना सम्पूर्ण जीवन लगा दिया । ग्रानन्द कुमार स्वामी की प्रसिद्ध पुस्तको मे 'द डान्स ग्रॉव शिव' 'द ट्रान्सफारमेशन ग्रॉव नेचर इन इडियन ग्रार्ट' तथा 'इन्ट्रोडक्शन टू इडियन पेटिग' विशेष महत्त्व-पूर्ण हे । इसके बाद एस० के० रामस्वामी का नामोल्लेख महत्त्वपूर्ण है । इनकी पहली पुस्तक 'इन्डियन एस्थेटिक थ्युरी' सन् १६२८ तथा, 'इन्डियन कान्सेप्ट ग्रॉव ब्यूटीफुल' सन् १६४७ मे प्रकाशित हुई । इसी सदर्भ मे तुलनात्मक विचारो को ध्यान मे रखकर डॉ० सुरेन्द्रनाथ दास गुप्त ने 'सौन्दर्य तत्त्व' नामक पुस्तक लिखी जिसका अनुवाद अभी थोडे दिन हुए डॉ० ग्रानन्दप्रकाश दीक्षित ने उनकी पत्नी सुरमादास गुप्त की सहायता से किया है । इसके साथ ही साथ, के० सी० पान्डेय के 'शोध प्रबन्ध' (Comparative Aesthetics) का प्रथम भाग भारतीय सौन्दर्य बोध तत्त्व से ही सम्बन्धित है । बगला विद्वानो द्वारा छोटी सी एक पुस्तक ग्रौर भी महत्त्वपूर्ण मानी जाती है, वह है, प्रवास जीवन चौधरी की 'कम्पेरेटिव एस्थेटिक्स' ।

काव्यशास्त्रीय दृष्टिकोण से सौन्दर्यशास्त्र पर विचार करने वाले विद्वनो मे एस० के० डे महोदय की दो पुस्तके महत्त्वपूर्ण समझी जाती है 'एशियंट इडियन इरोटिक्स' तथा 'सस्कृत पोएटिक्स ऐज स्टडी ग्रॉव एस्थेटिक्स' ।[2] इससे सम्बन्धित अन्य छुटपुट लेख गगानाथ झा जर्नल, विश्वभारती क्वार्टर्ली, इन्डियन हिस्टारिकल क्वार्टर्ली, भन्डारकर ग्रोरियटल इन्स्टीच्यूट जर्नल ग्रादि मे देखे जा सकते हैं ।

सौन्दर्यशास्त्र पर मराठी विद्वानो का योगदान महत्त्वपूर्ण समझा जाता है । इन मराठी विद्वानों की कृतियाँ प्राय: मराठी भाषा मे ही है । इनकी सूचना इस प्रकार है–मर्ढेकर की दो प्रमुख रचनाएँ सौन्दर्यशास्त्र पर है । ये क्रमश 'द ग्राट्‌स एन्ड द मैन' तथा 'टू लैक्चर्स ग्रॉव एस्थेटिक्स' है । इसके

---

१ प्रकाशित, इन्टर नेशनल कल्चर सेन्टर, १६६१

२ प्रकाशित, ढाका यूनिवर्सिटी स्टडीज

बाद आप्टे महोदय का स्थान आता है। उनकी सौन्दर्यशास्त्र सम्बन्धी कृति अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। अन्य विद्वानो मे वामन मल्हार जोशी, नरसिह-चिंतामणि केलकर, डॉ० वाटवे, डॉ० आर० श्री जोग, द्र० के० केलकर के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। नए सौन्दर्यशास्त्रियो मे बारलिगे, इनके एक ग्रन्थ का अनुवाद 'सौन्दर्य तत्त्व और काव्य सिद्धान्त' नाम से डॉ० मनोहर काले ने किया है। प्रभाकर पाध्येय जी, नाटखेडे वा० ना० देशपाडे, डॉ० मा० गो० देशमुख, दा० भालेराव, डॉ० लम्बेद का नाम महत्त्वपूर्ण समझा जाता है।[1]

हिन्दी मे सौन्दर्यशास्त्र विषयक अध्ययन का अभी तक अभाव है। इस विषय पर पहली पुस्तक डॉ० हरद्वारीलाल शर्मा कृत 'सौन्दर्यशास्त्र' है।[2] कला एव शिल्पविज्ञान से सम्बन्धित डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी कृत 'प्राचीन भारत के कलात्मक विनोद' तथा आचार्य नन्दलाल वसु कृत 'शिल्पकला' का नामोल्लेख इस दिशा मे आवश्यक है। अभी हाल मे पाश्चात्य सौन्दर्य-शास्त्र के इतिहास पर एक छोटी सी पुस्तक, 'पाश्चात्य सौन्दर्यशास्त्र का इतिहास' नाम से प्रकाशित हुई है।[3] सौन्दर्यशास्त्र सम्बन्धी अध्ययन के अभाव को ही ध्यान मे रखकर समालोचक पत्रिका का 'सौन्दर्यशास्त्र विशेषाक' डॉ० रामविलास शर्मा के सम्पादकत्व मे प्रकाशित हुआ है।[4]

सौन्दर्यबोध तत्त्व की एक विस्तृत परम्परा प्राचीनकाल से भारतीय काव्य शास्त्र के रूप मे चली आ रही है। इस परम्परा की कडी ईसा की दूसरी शती से लेकर १७वी शती पंडितराज जगन्नाथ तक अविच्छिन्न रूप से मिलती है। इसका स्पष्ट प्रभाव हिन्दी के मध्यकालीन साहित्य पर पडा है। पूर्वमध्यकाल मे धार्मिक प्रभाव से निर्मित काव्य के सौन्दयमूलक अध्ययन के लिए अनेकरूपो मे इसका आधार लिया गया है। हिन्दी के उत्तरवर्ती मध्यकाल मे सस्कृत साहित्य के सौन्दर्यवृत्ति का स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित है। आधुनिक काल मे हिन्दी मे रस शास्त्र पर अधिक गभीरता से विचार किया गया है। हिन्दी के आधुनिक लेखको मे स्वर्गीय आचार्य राम-चन्द्र शुक्ल, डॉ० नगेन्द्र, आनन्द प्रकाश दीक्षित, छैलबिहारी गुप्त, राकेश,

१ पृ० १०२ से १०३ समालोचक, सौन्दर्यशास्त्र विशेषाक

२. प्रकाशित, हिन्दी साहित्य प्रेस, इलाहाबाद १९५२

३ पाश्चात्य सौन्दर्यशास्त्र का इतिहास, लेखक राजेन्द्र प्रताप सिंह, १९६२

४ प्रकाशित विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा २०१४

डॉ० रघुवश के नामोल्लेख विशेष महत्त्वपूर्ण है। हिन्दी मे सौन्दर्यशास्त्र के दृष्टिकोण से अध्ययन करने का क्रम अभी सर्वथा नवीन है। डॉ० सुरेन्द्रनाथ दास गुप्त कृत 'सौन्दर्य तत्त्व' के अनुवाद की भूमिका मे डॉ० आनन्द प्रकाश दीक्षित के भारतीय सौन्दर्यशास्त्र पर पृथक् से पुस्तक लिखने की चर्चा की है, वैसे उसकी विस्तृत भूमिका भारतीय सौन्दर्य बोध वृत्ति का परिचय कराने मे पूर्णरूपेण सहायक है।

भारतीय सौन्दर्यबोध तत्व की परम्परा (धार्मिक परिवेश में)

पाश्चात्य देशो मे जिस प्रकार सौन्दर्यशास्त्र को दर्शनशास्त्र का अग समझा जाता रहा है उसी प्रकार भारतीय चिन्तनधारा मे भी सौन्दर्य के मूलतत्त्व, आनन्द का अध्ययन दार्शनिक परिवेश मे ही हुआ है। परवर्ती काल मे काव्यशास्त्र का विकास होने के बाद इसे रस के अन्तर्गत समाहित करने का प्रयत्न किया गया, किन्तु इसका मूल उपनिषदो मे ही मिलता है।

भारतीय धर्म एव दर्शन के आदिम स्रोत वेद है। ऋग्वेद मे सुन्दर शब्द का प्रयोग किया गया है। डॉ० आनन्द प्रकाश दीक्षित के अनुसार इसके अन्य पर्यायवाची शब्द ये है--पेशस्, अप्सस् दृश, श्री, वपु, वल्गु, श्रिय, भद्र, भन्ड, चारु, प्रिय, रूप, कल्याण, शुभ, चित्र, स्वादु, रण्य, यक्ष, अद्भुत।[1]

किन्तु इन शब्दो से सौन्दर्य तत्त्व का निर्माण नही किया जा सकता। इससे आदिकालीन भारतीय मनीषियो की सौन्दर्यदृष्टि की सूचना मिलती है। डॉ० दीक्षित ने इन शब्दो के प्रयोग सम्बन्धी आधारो का भी सम्यक् रूप से उल्लेख किया है। उनके अनुसार प्रत्येक शब्द वस्तु के अन्तगत निहित विशिष्ट प्रकार के भाव के सूचक हैं। उदाहरण के लिए पेशस् शब्द को ले लीजिए। परवर्तीकाल मे इसके पर्यायवाची शब्द के रूप मे मसृण, कोमल तथा पेशल आदि का प्रयोग मिलता है। वैदिक साहित्य मे इसे अलकार का पर्याय माना गया है, किन्तु यही विश्वपेशस्, सहस्रहिरण्यपेशस्, हिरण्यपेशस् पदो का प्रयोग प्राप्त है। यहाँ यह शब्द-प्रयोग सौन्दर्य के व्यापक परिवेश का सूचक है। यास्क 'हिरण्यपेशस्' शब्द को 'आत्मा एव आनन्द का समन्वय' मानते है।[2] ऋग्वेद मे एक अन्यस्थल पर कहा गया है कि अलंकार विषय

---

१. सौन्दर्य तत्त्व : मूल लेखक सुरेन्द्रनाथदासगुप्त, रूपान्तरकार आनन्दप्रकाश दीक्षित भूमिका पृ० ३६-३७

२ वही पृ० ३७

को सुन्दरता नही प्रदान करते, अपितु विषय ही अलकार को सुन्दर बनाता है। इस प्रकार आनन्दबोध की आरम्भिक स्थिति ऋग्वेद मे निहित ज्ञात होती है। उपनिषद्काल मे 'आनन्द' शब्द का प्रयोग एवं उसकी व्याख्या भारतीय धार्मिक सौन्दर्यबोध तत्त्व को और अधिक पुष्ट करती है, इसकी स्थिति इस प्रकार है। ईशावास्य तथा कठोपनिषद् मे दो स्थलो पर कवि शब्द का उल्लेख मिलता है। ईशोपनिषद् मे कवि को ब्रह्म का समकक्षी एवं कठोपनिषद् मे उसे अमृतरूप तत्त्व का ज्ञाता कहा गया है।[1] कठोपनिषद् मे अध्यात्म विद्या के माहात्म्य का उल्लेख करते हुए बताया गया है कि यह विद्या हृदयस्थ हो जाने पर मर्त्य के लिए अमृततत्त्व बन जाती है।[2] ईशोपनिषद् मे अविद्या को मृत्यु एव विद्या को अमृत तत्त्व की सज्ञा मिली है।[3] प्रश्नोपनिषद् मे प्राण के अन्तर्गत आनन्द की प्रतिष्ठा का उल्लेख है।[4] यही प्रश्न ६ के अन्तर्गत भरद्वाज ने सुकेशा से अन्तर्पुरुष को १६ कलाओ से युक्त बताया है। वृहदारण्यक मे आनन्द तत्त्व का सम्भवतया सर्वप्रबल समर्थन प्राप्त होता है। इसमे उपनिषद् को मधुविद्या की सज्ञा देकर समस्त वस्तुओ के सार तत्त्व को मधु कहा गया है। समस्त पदार्थो मे चन्द्र, विद्युत, आकाश, धर्म, सत्य, मनुष्य तथा आत्मा को मधु की संज्ञा मिली है।[5]

इसी उपनिषद् के अन्तर्गत विद्वानो को आनन्दलोक एव अबुधो को तमसावृत लोक का अधिकारी बताया गया है। एक अन्यस्थल पर वायु के द्वारा मधुदान, सिन्धु के द्वारा मधुक्षरण, तथा मधुरात्रि, मधुउषा, मधु वनस्पति, मधु सूर्य एव मधु गौ का उल्लेख मिलता है।[6]

वृहदारण्यक के समान ही आनन्द की स्थापना में छान्दोग्य उपनिषद् का भी महत्त्वपूर्ण योग है। छान्दोग्य उपनिषद् मे आनन्द को रस कहा गया है। इस दृष्टि से इसका तृतीय अध्याय महत्त्वपूर्ण है। इसके आरम्भ मे पृथ्वी, आप, औषधि, पुरुप, वाक्, ऋक्, साम, उद्गीथ के रस को

---

१ सौन्दर्यतत्त्व—भूमिका भाग,
२ कठोपनिषद् वल्ली ६ १५
३ ईशोपनिषद् मन्त्र ११,
४ केनोपनिषद् ३·३,
५ वृहदारण्यक उपनिषद् २, ५, ७, ८, ९, १०, ११, १२, १३,
६ वृहदारण्यक उपनिषद् ४, ३, २७, ४, ४, ११, ६, ३, ६

क्रमश स्थूल से सूक्ष्म की ओर गमनशील बताया गया है। उपनिषद्कार ने इस आनन्द उपभोग एव कथन की परम्परा का भी उल्लेख किया है। मधुज्ञान का उपदेश ब्रह्मा ने विराट प्रजापति को दिया था।

प्रजापति ने मनु से कहा, मनु ने प्रजावर्ग के प्रति कहा।[१] अरुणनन्दन उद्दालक ने इस मधुविद्या का उपदेश अपने पिता से प्राप्त किया था। इस उल्लेख से स्पष्ट है कि वैदिक ऋषियो के बीच इस मधुविद्या का पूर्ण प्रचलन हो चुका था।

रस एव आनन्द का उल्लेख उपनिषदो मे एक विशेष महत्त्वपूर्ण सदर्भ मे हुआ है। वह सदर्भ है आत्म एव ब्रह्म का। ब्रह्म का आनन्दात्मक स्वभाव उपनिषदो की स्थापना का प्रतिफल है। इसका विकास उपनिषद् काल से लेकर हिन्दी वैष्णव भक्ति काव्य तक एक निश्चित परम्परा के रूप मे मिलता है। वैष्णव भक्ति के सौन्दर्यमूलक अध्ययन को स्पष्ट करने के लिए इसकी व्याख्या अत्यन्त आवश्यक है।

तैत्तिरीय उपनिषद् मे ब्रह्म के इस आनन्दस्वरूप की प्रतिष्ठा अत्यधिक प्रबल शब्दो मे की गई है। तैत्तिरीय मे एक स्थल पर आनन्दो-ब्रह्मणो विद्वान्, सच्चिदानन्द ब्रह्मम्, आनन्दोब्रह्मात् व्यजनेति कहा गया है। वृहदारण्यक उपनिषद् मे विज्ञान आनन्द के सार्वभौम उद्देश्य का कथन मिलता है। वह कथन इस प्रकार है—

> **आनन्दो ब्रह्मेति व्यजनात् आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते आनन्दमेव जातानि जीवन्ति,**
> **एतद्वा एतस्माद्विज्ञानमयात् अन्योऽन्तर आनन्दमय. तस्य प्रियमेव शिर मोदो दक्षिण पक्ष प्रमोदो उत्तर पक्षः आनन्द आत्मा ब्रह्म पुच्छ प्रतिष्ठा[२]**

ब्रह्म का यही आनन्दवादी स्वरूप ब्रह्मसूत्र के आनन्दाधिकरण के सदर्भ मे स्वीकृत हुआ। इसी के परिणामस्वरूप द्वैत, विशिष्टाद्वैत, अचिन्त्य-भेदाभेद शुद्धाद्वैत सिद्धान्तो मे ब्रह्मा का आनन्दमूलक स्वभाव प्रधान होता गया। मध्यकाल मे अवतार और लीला का सम्बन्ध इसी आनन्द तत्त्व से जोडा गया। इस लीलातत्त्व मे सौन्दर्यानुभूति के विविध स्तर दृष्टिगत होते है।

---

१ अध्याय ३ खड ११ मत्र ४, ५

२ वृहदारण्यक उपनिषद्, ३, ६ २८

इस परम्परा से स्पष्ट है कि भारतीय रसबोध एव सौन्दर्यानुभूति आरम्भ मे अध्यात्म विद्या के माध्यम से अवतरित हुई। इस अध्यात्मविद्या के आनन्दतत्त्व को सत्वप्रधान मानते हुए रवीन्द्रनाथ टैगोर ने इसे भारतीय मनीषा का कोमलतम तत्त्व कहा है। उनके अनुसार अध्यात्म के माध्यम से सौन्दर्य दर्शन भारतीय कला का सर्वतोत्कृष्ट उदाहरण है।[1] आनन्दकुमारस्वामी भारतीय कला के आध्यात्मिक तत्त्व को उनकी मूलात्मा स्वीकार करते है। उनका विचार है कि जिस पर पूर्ण सत्य एव शुभ की उच्चतम अवस्था सम्भव है, उसी प्रकार पूर्ण सौन्दर्य का भी अपना उच्चतम मूल्य है, यही मूल्य ही रस है। भक्त जिस प्रकार पूर्ण सत्य एव पूर्ण शुभ को समझ लेता है, ठीक उसी प्रकार उनकी अन्तरात्मा पूर्ण सौन्दर्य का भी दर्शन कर लेती है।[2] वस्तुत औपनिषदिक आनन्दानुभूति जो रसानुभूति या सौन्दर्यानुभूति की चरम सीमा कही जाती है वही वैष्णव भक्तिकाव्यो मे अन्तर्व्याप्त है। एस० के० राम स्वामी के अनुसार भारतीय सौन्दर्य बोध, कला और अध्यात्म दोनो मे एकमेव हो गया है। यही भारतीय कला का सर्वोच्च लक्षण है—

> The Aesthetic concept of आनन्द and Spiritual concept of आनन्द are brought together that we are able to realise their inter-relation in a manner which western thought has never known

आनन्द भारतीय काव्य एव अध्यात्म दोनो का अन्तिम तत्त्व है। इसी तत्त्व को उपनिषद् मे अन्तिम प्रतिष्ठा मिली है तथा वैष्णवाचार्यो एव भक्त कवियो ने सामान्य स्वरूप परिवर्तन के साथ-साथ ब्रह्म के इस स्वरूप को अपने लिए एकमात्र आराध्य बताया है। यहाँ ब्रह्म का यह आनन्दात्मक-स्वरूप पूर्ण पुरुषोत्तमरस, परानन्द, लीलानन्द आदि नामो से पुकारा गया है। उपनिषदो मे कथित ब्रह्म को रसात्मक तत्त्व को काव्य एव भक्ति दोनो के लिए आधारस्वरूप भी कहा गया है। विशेष रूप से वृहदारण्यक मे

---

१ टैगोर आन आर्ट्स एन्ड एस्थेटिक्स, पृ० ३, ४

२ The Dance of Shiva—And yet there remains philosophers firmly conceived that an absolute Beauty exist just as the others maintain the conceptions of Absolute goodness and and Absolute truth The lovers of God identify these Absolutes with Him

कथित 'रसो वै स' की श्रुति का पुनराख्यान केवल भक्त आचार्यो ने ही नही, अपितु मम्मट, विश्वनाथ एव पडितराज जगन्नाथ ने भी किया है। इस प्रकार वैष्णव भक्ति काव्य के सौन्दर्यशास्त्रीय अनुशीलन की पृष्ठभूमि मे इस परम्परा का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। इसी के साथ ही, दूसरी ओर भारतीय काव्यशास्त्र मे धार्मिक तत्त्वो का प्रवेश प्रचुर मात्रा मे हुआ था।[1] काव्यशास्त्र मे रस सिद्धान्त के जितने भी व्याख्याकार थे, उनका सम्बन्ध किसी-न-किसी रूप मे दार्शनिक सिद्धान्तवाद से जुडा रहा है। शकुक, भट्टनायक, अभिनवगुप्त, कविराज विश्वनाथ, पण्डितराज जगन्नाथ आदि ने अपनी रस विषयक मान्यता को स्पष्ट करने के लिए अद्वैतवेदान्त आदि सिद्धान्तो को ग्रहण किया है।

रस सौन्दर्यशास्त्र से सम्बन्धित है। आनन्दकुमार स्वामी के अनुसार रस सौन्दर्य बोध या सौन्दर्य सवेदन (Aesthetic Sensibility) है।[2] रस का सम्बन्ध मनस् की पूर्ण सात्विक स्थिति से माना गया है। पडितराज जगन्नाथ 'सत्वोद्रेकात' को रस की प्रथम अनिवार्यता बताते हैं। इस प्रकार रसानुभूति दार्शनिक सिद्धान्तो से सम्बन्धित होने के कारण प्रत्यक्षत भारतीय सौन्दर्य-नुभूति के सिद्धान्त की व्याख्या मे सहयोगी है। इस सदर्भ मे पाश्चात्य दर्शनशास्त्र की मान्यता आरम्भ से ही सजग रही है। सौन्दर्यशास्त्र पाश्चात्य दर्शन शास्त्र का एक अग है जिस प्रकार सत्(The Truth),चित् (The Consciousness) एव आनद (The Bliss) का अध्ययन करना भारतीय तत्त्वशास्त्र की आरम्भिक एवं मूल समस्या रही है, उसी प्रकार पाश्चात्य देशो, विशेषकर ग्रीक मे सत्य (The Truth), शिव (The Good) तथा सुन्दर (The Beautiful) के अत-र्व्याप्त मूल्यो का अनुशीलन भी दर्शनशास्त्र के अन्तर्गत किया गया है। उनके अनुसार दर्शन मूल्यो का अध्ययन करता है। सत्य के साथ सौन्दर्य भी एक तात्त्विक मूल्य है। फलत इसका अध्ययन दर्शनशास्त्र के अन्तर्गत होना चाहिए। सौन्दर्य एव भारतीय आनन्द मूलत एक प्रकार के ही शब्द रूप है। सौन्दर्य की अन्तरात्मा आनन्द है। इस प्रकार भारतीय तत्त्वशास्त्र ने भी आरम्भ से ही अपने व्यापक क्षेत्र मे इस आनन्द तत्त्व को अपने अध्ययन का विषय बनाया।

---

१. इन्डियन एस्थेटिक थ्युरी, पृ० ५०,
२ द डान्स ऑव शिव, पृ० ३६

सौन्दर्यानुभूति या रस सम्बन्धी धारणा का प्रत्यक्ष प्रभाव हिन्दी के वैष्णव भक्तिकाव्यो पर पडा है। यह प्रभाव न केवल मधुसूदन सरस्वती, वल्लभाचार्य एव रूपगोस्वामी के ही माध्यम मे आया, अपितु इसका स्रोत भक्ति तथा काव्य की परम्पराओ दोनो मे खोजा जा सकता है। वैष्णव भक्ति काव्य के अध्ययन से इतना स्पष्ट है कि तत्कालीन काव्य समाज मे रस उनकी काव्यचर्चा का मूल विषय बन चुका था। यह तथ्य उनकी रस सम्बन्धी धारणाओ से पुष्ट है।[1] दूसरी ओर भक्ति का स्वरूप अधिकाधिक प्रेममूलक था। इस प्रेम का आरम्भिक रूप शृगारपरक है। इनके प्रेम का आधार लीला है। लीला लौकिकता से अलौकिकता की ओर गतिशील है। इस लीला का आधार प्रेममूलक शृगार है। भक्ति के क्षेत्र मे इस लीलापरक प्रेम या शृगार को आध्यात्मिक अर्थ दिया गया। यह लीलापरक प्रेम शृगार मूलत सौन्दर्य-बोध का अग है क्योकि वह सौन्दर्य सवेदन को जागृत करता है। अत हिन्दी वैष्णव भक्तिकाव्य के सौन्दर्यशास्त्रीय अध्ययन करने के लिये उसकी भक्तिपरक पृष्ठभूमि का अध्ययन कर लेना अपेक्षित है।

भक्ति की परम्परा : वैष्णव भक्तिकाव्य के सौन्दर्यशास्त्रीय परिवेश मे

मध्यकाल के पूर्व वैष्णव भक्ति का स्वरूप प्रेममूलक न होकर आचारपरक था। वैष्णव भक्ति के प्रारम्भिक आगम, सहिता, एव वैखानस-साहित्य कर्मकाण्डप्रधान है। इस कर्मकाण्ड के बाद वैष्णव भक्ति के अन्तर्गत शममूलक मनोवृत्ति का विकास हुआ। महाभारत के शान्तिपर्व तथा गीता मे निर्दिष्ट भक्ति के सिद्धान्त प्रेममूलक न होकर शममलक है, किन्तु इममे कही-कही प्रेमासक्ति के तथ्यो की ओर सकेत अवश्य मिलता है। एक स्थल पर अर्जुन की तत्त्वश्रवणलालसा की उत्कृष्टता का सकेत करता हुआ रचनाकार कहता है—

भूयो कथय तृप्तिर्हि श्रृण्वतो नास्ति मेऽमृतम्

अर्जुन की तत्त्व ज्ञान के प्रति तृप्तिकर लालसा प्रेमासक्ति से ही प्रभावित है। गीता की भक्ति योगाग के रूप मे है। आगे चलकर इसी

---

१ देखिए, प्रस्तुत प्रबन्ध भक्त कवियों की रससम्बन्धी धारणा

भक्ति योग का विकास एक दूसरे रूप मे अद्वैतवादियो मे हुआ।[1] इस सिद्धान्त के अनुसार भक्ति के द्वारा परानन्द की मानसिक भूमिका की प्राप्ति सहज सम्भव है। शैवागम मे जिसे मधुमती भूमिका कहते है, वह निर्विकल्पक आनन्द की एक मानसिक अवधारणा है। शुद्ध भक्ति के अन्तर्गत भी इन आनन्दमूलक मनोदशाओ का उल्लेख है, किन्तु योग तथा शुद्ध भक्ति की भूमिका की प्रक्रियाओ मे अन्तर है। मध्यकालीन आसक्तिमूलक भक्ति-एषणाओ के बीच लौकिक राग सम्बन्धो से पुष्ट है, जबकि योगमूलक भक्ति इससे दूर है। भक्ति से आनन्द तक पहुँचने के लिए प्रेम की अनेक भूमिकाओ का उल्लेख अनेक भक्ति-ग्रन्थों मे मिलता है। श्रीहरिभक्तिरसामृतसिन्धु मे इस सदर्भ मे इन भूमिकाओ का उल्लेख है—[2]

श्रद्धा, साधुसग, भजन, निवृत्ति, निष्ठा, रुचि, आसक्ति, प्रेम

श्रद्धा की अन्तिम परिणति प्रेम मे होती है। भक्त कवियो ने प्रेम को भक्ति की अन्तिम कसौटी निर्धारित की है। भागवत मे भी इस भूमिका का उल्लेख है। इसके अनुसार श्रवण, मनन, कीर्तन एव आराधन से निरन्तर आसक्ति-वृद्धि होती है और यही आसक्ति अन्त मे तीव्र भागवत प्रेम मे परिणत हो जाती है।[3] भक्तिरसायन मे भी भक्ति की इसी भूमिका का उल्लेख है। रसायनकार के अनुसार भक्ति का अन्तिम साध्य परानन्द है। इस परानन्द की भूमिका इस प्रकार है—

महतो की सेवा, उनकी दया तथा पात्रता, उनके धर्म मे श्रद्धा, हरिगुण श्रुति, रत्यकुरोत्पत्ति, स्वरूपाधिगति, प्रेमबुद्धि, परानन्द।[4] ठीक इसी प्रकार की भक्ति विषयक भूमिका का उल्लेख अध्यात्म रामायण मे भी मिलता है—

सतसग, कथाकीर्तन, गुणो की चर्चा, उपनिषदादि के वाक्यो की व्याख्या, गुरुसेवा, पवित्र स्वभाव, यम-नियम का पालन, पूजा, मत्र की सागोपाग उपासना, समस्त प्राणियो मे ईश्वरानुमोदन, वैराग्य, तत्त्व विचार। तुलसीदास ने अनेक स्थलो पर भक्ति सम्बन्धी भूमिकाओ का उल्लेख किया है—शवरी के प्रसग मे कथित भक्ति के साधनो का उल्लेख पूर्णत अध्यात्म-

---

१ भागवत—७ ५ : २३

२ श्रीहरिभक्तिरसामृतसिन्धु, पूर्व विभाग, प्रमभक्ति लहरी ४, श्लोक स० ५, १०

३ भागवत स्कन्ध १ अध्याय २, श्लोक ११, १५

४ भक्ति रसायन, प्रथमोल्लास, श्लोक स० ३३ से ३६

रामायण-अनुमोदित है। अध्यात्म रामायण मे कथित भक्ति के साधन कर्मकाड के अधिक समीप है। इसमे मानसिक आसक्तियो के लिए विशेष स्थान नही है, किन्तु तुलसी की भक्ति इससे पृथक् प्रेममूलक भी है। सूर ने भी प्रेमभक्ति की विलक्षण भूमिका सूरसागर मे प्रस्तुत की है, जिसका उल्लेख पहले अध्याय के अन्तर्गत किया जा चुका है।

मध्यकालीन भक्तिसम्बन्धी धारणा को और अधिक स्पष्ट करने के लिए भक्ति सूत्रो का आधार लेना आवश्यक है। सूत्र ग्रन्थो का प्रतिपाद्य प्रेममूला भक्ति ही है। शाडिल्य भक्तिसूत्र मे भक्त के लिए आनन्द और मुक्ति दो उद्देश्य बतलाए गए है। यह आनन्द ब्रह्मानन्द है, जिसे मधुसूदन सरस्वती ने परानन्द की सज्ञा दी है।

पतजलि अपने भाष्य के रागमूला भक्ति के विषय मे कहते हैं कि—

सुखानुशयी इति राग, तस्यैव वक्ष्यमाणलिंगेषुव्यापनाल्लाघवाच्च भक्तित्वम्।[1]

वस्तुत प्रेममूला भक्ति का विकास पुराणो के विशिष्ट योग से हुआ। मध्यकालीन प्रेममूला भक्ति का आन्दोलन इतना विस्तृत था कि परम्परा से चले आते हुए अन्य मोक्ष मार्ग इसी मे समाहित हो गये। यही कारण है कि भक्ति के इन सूत्रो मे ज्ञान, योग, कर्म आदि को गौण महत्त्व दिया गया। इसी सदर्भ मे आचरणमूलक भक्ति के साधनो को साधनमात्र मानकर उसे स्वात्मसमर्पण से हेय समझा गया। गीता[2] के भक्तियोग मे कृष्ण ने भक्ति के निम्न साधनो का उल्लेख किया है—श्रद्धा, सयम, दयालुता, ममता एव अहकार का त्याग, समर्पण, समव्यवहारशीलता, स्थिरबुद्धि।[3]

भक्ति की प्राप्ति के लिए इन साधनो का प्रयोग यद्यपि भक्तियोग के नाम से स्वीकृत है, किन्तु इसमे ज्ञान के तत्त्व अधिक है। गीता के भक्ति सम्बन्धी स्वरूप से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि भक्ति की सामान्य धारणा गीता के रचनाकाल मे हो चुकी थी। किन्तु गीता मे निर्दिष्ट भक्ति ज्ञानाग के ही रूप मे स्वीकृत है। भक्ति के साधनो का सकेत पुन अहिर्बुध्न्य-सहिता एव महाभारत के शान्तिपर्व मे मिलता है। अहिर्बुध्न्य सहिता के

---

१. पा० २, सू० ७

२ शाडिल्य भक्तिसूत्र, अ० २ सूत्र ६५-६८ तक

३ भक्तियोग अध्याय मे सकलित

अनुसार ये साधन दो प्रकार के है—आचार एव ज्ञान विषयक। यहाँ ऐकान्तिक एव गुह्यमत के अन्तर्गत श्रद्धा भक्ति का भी उल्लेख है। सम्भवत: प्रेममूला भक्ति का मूल स्रोत यही गुह्य या ऐकान्तिक मत ही है। भक्ति आरम्भ मे भज् धातु से सम्बन्ध होने के कारण भजनीय भाव से सम्बद्ध थी। भागवत मे भक्ति के नव साधनो का उल्लेख है—श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पाद-सेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य, आत्मनिवेदन। इन साधनो मे श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पाद सेवन, अर्चन तथा वन्दन स्थूल सेवाएँ है। दास्य, सख्य एव आत्मानिवेदन ये वस्तुत मानसिक आसक्ति के अग है। इन मानसिक आसक्तियो को आधार बनाकर ही प्रेममूला भक्ति मे विस्तार किया गया। मधयकालीन काव्य का मूलाधार यह प्रेम है। सौन्दर्यबोध के लिए प्रेम सबल आधार है। प्रेम सम्बन्धी मानसिक वृत्तियाँ सौन्दर्यबोध के परिवेश मे ही प्रगट होती है। किन्तु भक्त कवियो का प्रेम सामान्य स्तर का न होकर आध्यात्मिक कोटि का है। उसका आलम्बन सामान्य मानवीय प्रेम न होकर भगवद्लीला है।

जहाँ तक इस प्रेम का स्वरूप है, वह अनेकमुख है। रूपगोस्वामी रागानुगा भक्ति के दो भेद करते है—कामरूपा, सम्बन्धरूपा। कामरूपा भक्ति का मूलाधार सम्भोग तृष्णा है। किन्तु कृष्णार्पण के पश्चात् इस सम्भोग तृष्णा का वासनात्मक स्वरूप नष्ट हो जाता है, किन्तु यह प्रेम भक्तो के लिए है। गोपियो को ध्यान मे रखकर इसे पूर्णत सम्भोगतृष्णामूलक कहा जा सकता है क्योकि उनके द्वारा व्यवहृत कृष्ण प्राप्ति का साधन सम्भोगतृष्णा-मूलक था। कुब्जा की भी भक्ति वस्तुत इसी प्रकार की थी। इस भक्ति का मूलाधार रति या काम है। फलत गोपियो की दृष्टि से यह प्रेम जहाँ लौकिक शृगार से पूर्ण है वही दूसरी ओर इसे आध्यात्मिकता से भी आच्छादित करने का प्रयत्न किया गया है।

कामरूपा भक्ति के साथ-साथ रागानुगा का दूसरा भेद सम्बन्धरूपा-भक्ति अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। इन भक्तो ने सासारिक सम्बन्धो को पाँच भागो मे विभक्त किया है। वात्सल्य, दास्य, सख्य एवं कान्ता-सम्बन्ध। इन्ही से सम्बन्धित क्रमशः दास्य, वात्सल्य, सख्य एव मधुर सम्बन्धी भाव सम्बन्धरूपा भक्ति के मूलाधार हैं। कृष्ण के अलौकिक रूप एवं वैराग्य सम्बन्धी भावो से शान्तभाव की भी योजना की गई है। इस प्रकार सासारिक सम्बन्धो के प्रतिनिधि भाव शान्त, दास्य, वात्सल्य,

सख्य एव मधुर प्रेममूला भक्ति के माध्यम से साहित्य क्षेत्र मे भी अवतरित हुए । इस प्रेमा भक्ति को रूपगोस्वामी ने माध्यरूप एव सर्वतोत्कृष्ट भक्ति की सज्ञा दी हे । विश्वनाथ चक्रवर्ती के अनुमार यह भाव भक्ति का परिपाक है तथा इसकी उत्पत्ति तब होती है जब सान्द्रात्मा मे यह प्रेम पूर्णत परिपक्व हो उठता है ।[1] इस प्रकार वैष्णव भक्ति का अन्तिम पर्यवमान प्रेम एव तत्सम्बन्धी भावो मे दिखाई देता है। लौकिक स्तर पर ये भाव वात्सल्य, सख्य एव कान्ताविषयक प्रेम से सम्बद्ध है, किन्तु भक्ति की दृष्टि से इन भावो को आधार बनाकर कृष्णार्पण ही भक्तो का मूल प्रयोजन है। समस्त सासारिक सम्बन्ध जिसके द्वारा व्यक्ति भौतिक वामना की ओर उन्मुख होता है, कृष्णार्पण के उपरान्त वे परिष्कृत होकर भक्ति भाव मे परिणत हो उठते है ।

इस प्रकार इन भक्तो मे प्रेम के कई स्तर दृष्टिगत होते है ।

१ **लौकिक प्रेम जिसका आधार कामरूपा या सम्बन्धरूपा भक्ति है ।**

२ **आध्यात्मिक प्रेम लौकिक प्रेम का अध्यात्मीकरण प्रेम के अध्यात्मीकरण की स्थिति मे जहाँ कृष्ण गोपी एव भक्त के सम्बन्ध से ऊपर उठकर आत्मा एव ब्रह्म के सम्बन्ध का बोध होने लगता है, वहाँ यह प्रेम रहस्यात्मक प्रेम (Mystic Love) मे परिणत हो जाता है, किन्तु सगुणोपासना के कारण वह प्रेम उससे भिन्न हो जाता है ।**

३ **शुद्ध प्रेम के अतिरिक्त ब्रह्म की उदात्तता, आत्मा की पवित्रता तथा आश्चर्य, भय, त्रास, जिज्ञासासूचक दास्य, शान्त, वीर-भाव की व्यजना है, जिसे उदात्त (Sublime) की सज्ञा दे सकते हैं ।**

लीला

भक्तिकाव्य मे स्थित प्रेम की अभिव्यक्ति का साधन लीला है । इसका स्वभाव भी वस्तुत प्रेमोन्मुख एव उदात्त भाव से युक्त है । लीला के अनेक अर्थ है जिनकी ओर आरम्भ मे सकेत किया जा चुका है । आचार्य

---

१ वेशनव फेथ एण्ड मूवमेन्ट, पृ० १८१

वल्लभ ने इनकी जो व्याख्या की है, उससे इसके सौन्दर्यमूलक व्यवहार-सघटना का निष्कर्ष अवश्य निकाला जा सकता है। उनके अनुसार यह लीला अवतार के समानान्तर है, किन्तु अवतार नही है। पुष्टिमार्ग मे दो प्रकार की लीलाएँ स्वीकृत है—प्रथम परोक्ष लीला जो गोलोक मे होती है एव द्वितीय प्रत्यक्ष लीला जो अवतार से बाद पृथ्वीलोक पर उतर आती है। अवतार की स्थिनि मे यह गोलोकलीला प्रत्यक्ष ब्रजलीला बन जाती है। भागवत तृतीय स्कन्ध एवं दशम स्कन्ध के रास पचाध्यायी प्रकरण के भाष्य मे आचार्य वल्लभ ने लीला की व्याख्या की है—

विलास की इच्छा का नाम लीला है। कार्य-व्यतिरेक से अर्थात् कार्य से रहित यह कृति मात्र है। इस कृति के बाहर कोई उत्पन्न नही है। इससे उत्पन्न कार्य का कोई अभिप्राय नही होता। इसमे कर्ता का कोई प्रभाव भी नही उत्पन्न होता, किन्तु अन्त करण के आनन्दपूर्ण उल्लास से कार्योत्पत्ति के सदृश कोई क्रिया उत्पन्न होती है यही भगवान की लीला है। लीला का लीलानन्द के अतिरिक्त कोई प्रयोजन नही है। सृष्टि एव प्रलय ही भगवान की लीला है।[1] इस प्रकार लीला के स्वभाव के स्पष्ट है कि लीला के अतिरिक्त इसका कोई प्रयोजन नही है, न तो इसमे कर्ता का प्रत्यक्ष उद्देश्य साधित होता है न विषय का अवान्तर से। यह लीला भगवान की नित्यलीला का विलास है।

आचार्य वल्लभ के अनुसार लीलामुक्ति ही भक्ति की सर्वतोत्कृष्ट अवस्था है। इस आनन्द को उन्होने प्रेम या काम पर आधारित बताया है। भगवान का प्रेम पात्र बनने के लिए षोडशग्रन्थो मे 'सकलित जलभेद ग्रन्थ' मे उन्होने कहा है कि भक्ति के नवधा साधन से एकमात्र प्रेम भक्ति को ही पुष्टि मिलती है। यही प्रेम भक्ति समस्त भक्ति-भेदो मे सारभूत एव काम-मूलक है। भागवत सुबोधिनी के छठे अध्याय के फलप्रकरण मे उन्होने वताया है कि प्रेमभक्तिरस का आस्वाद दो प्रकार का होता है, स्वरूपानन्द तथा नामलीलानन्द। इस प्रकार भक्ति का मुख्य उद्देश्य लीलानन्द मे निहित प्रेम का आस्वादन करना है। इस प्रेम का आधार काम है। काम से पृथक्

---

१ हिन्दी साहित्यकोश, लीला, डॉ० ब्रजेश्वर वर्मा, भागवत का मूल—
लीला नाम विलासेच्छा कार्यव्यतिरेकेण कृतिमात्रमन तया कृत्वा वहिं कार्य जायते जनितमभिकार्यम् नाभिप्रेतम् नापिकर्तरि प्रयास जनयति किन्तु अन्त करणे पूर्ण आनन्द तदुल्लसित कार्यजननसदृशी क्रिया काचिदुत्पद्यते सुबोधिनी, भागवत तृतीयस्कन्ध

कुछ भी नही है। आचार्य वल्लभ ने इसी काम भाव को लीलानन्द का साधन बनाया है—

> कामेन पूरित काम ससार जनयेतस्फुटम् ।
> कामभावेन पूर्णस्तु निष्काम स्यात् न सशय ।।
> अतो न कापि मर्यादा ‍भग्नामोक्षफलापि च ।
> अत एतगतौलोको निष्काम सर्वथा भवेत् ।।
> भगवच्चरित सर्वयतोनिष्काममीर्यते ।
> अतो कामस्य नोद्बोध स्तत शुक वच. स्फुटम[1]

यहाँ काम भाव से भगवतलीला मे उन्मुख होने पर मोक्षफल की हानि न होने का समर्थन किया गया है। इसी सदर्भ मे आचार्य वल्लभ ने प्रेम की तीन अवस्थाओ का उल्लेख किया है–स्नेह, आसक्ति एव व्यसन। ये तीनो अवस्थाएँ प्रेमानन्द के लिए साधन स्वरूप है। तीनो क्रमश भक्ति को पुष्ट करके भगवतरति को उत्कट बनाती है। भक्तिवर्धिनी मे इनके क्रमश विकास क्रम का निर्देश मिलता है। श्रवणादि साधन से चित्त मे हरि विषयक रति जाग्रत होती है। यह रति क्रमश प्रेम, आसक्ति एव व्यसन मे परिणत हो जाती है। स्नेह से राग का विनाश एव कृष्णासक्ति से गृहादि मोहो से अरुचि होती है। इसके बाद साधक के लिए गृहदारा आदि बाधक ज्ञात होने लगते है। फलत भक्त एक ओर इनका त्याग करता है दूसरी ओर लीला के प्रति उसका व्यसन जाग्रत होता है।

इस प्रकार भागवत लीला का तापर्य ईश्वर की गोलोक एव इहलोक लीला से है। इहलोक लीला का मूल भाव आनन्द है। इस आनन्द तक पहुँचने का साधन लौकिक प्रेममूलक व्यवहार ही है। इसीलिए लीला की दृष्टि से भी ऐन्द्रिकता प्रेम लीला का मूलाधार है। इस प्रकार लीलाजन्य लौकिक प्रेम आध्यात्मिक स्तर पर अत्यन्त पवित्र एव सात्विक भावो से मडित है।

गौणीय भक्ति सम्प्रदाय के अन्तर्गत अवतारो को तीन भागो मे विभक्त किया गया है–पुरुषावतार, गुणावतार एव लीलावतार। लीलावतार भागवत के अनुसार २४ है। इस लीलावतार मे राम एवं कृष्ण का व्यक्तित्व अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। कृष्ण एव राम से सम्बन्धित लीला भाव के दो भेद है। असुरवध से सम्बन्धित उदात्त के भाव एव आनन्द तथा विलास का भाव

---

१. पृ० ४, षोडश ग्रन्था

विलास के विषय मे काममूलक लीला आवश्यक है। इसका आधार प्रेम है किन्तु दूसरी ओर असुरवध विषयक लीला का आधार प्रेम न होकर उदात्त (Sublime) का भाव है। फलत हिन्दी के भक्ति काव्य का सौन्दर्यशास्त्रीय अध्ययन प्रस्तुत करने के लिए मात्र प्रेम, प्रेम के अध्यात्मीकरण, आनन्द आदि पर ही केन्द्रित न रहकर हमे उदात्त का भी अध्ययन करना आवश्यक है। इस उदात्त को स्पष्ट किए बिना प्रेम के उदात्त एव सात्विक स्वरूप को स्पष्ट किया ही नही जा सकता। हिन्दी के वैष्णव भक्त कवियो की प्रेम भावना मे यदि इस उदात्त तत्त्व को निकाल लिया जाय तो इसमे भोग के अतिरिक्त और कुछ न दृष्टिगत होगा।

उदात्त सम्बन्धी भाव तथा हिन्दी वैष्णव भक्तिकाव्य

उदात्त (सब्लाइम) सम्बन्धी भावो की दृष्टि से हिन्दी वैष्णव भक्तिकाव्य का अध्ययन अभी बहुत कम किया गया है। भक्तिकाव्य के उदात्त सम्बन्धी भावो की ओर ध्यान दिलाने का श्रेय आचार्यप्रवर प० रामचन्द्र शुक्ल को है। तुलसी-ग्रन्थावली की भूमिका मे शील निरूपण शीर्षक के अन्तर्गत उन्होने राम के चरित्र मे निहित उदात्त सम्बन्धी अभिव्यक्त भावो की ओर ध्यान आकर्षित किया है। ऊपर कहा जा चुका है कि उदात्त के लिए प्रेम आवश्यक नही है। इसकी भूमिका के अन्तर्गत श्रद्धा, विस्मय, भय, आश्चर्य, हीनता सम्बन्धी भाव अपेक्षित है। ये यद्यपि सौन्दर्य के अग है, फिर भी इनका आधार प्रेम नही है। यह काव्य मे अभिव्यक्त होने वाली सात्विक विस्मयबोधक एव आश्चर्यसूचक भावो से युक्त मन स्थिति विशेष है। शील, श्रद्धा, विश्वास, विगर्हणा, दैन्य, अनुकम्पी, भय इसके भाव है। इन भावो के लिए भक्ति क्षेत्र मे अधिकाधिक सानुकूलता वर्तमान है। चूंकि इनका सम्बन्ध प्रेम से नही है, अत प्रेम एव प्रेम से सम्बन्धित लीला काव्य इसके अध्ययन की सीमा क्षेत्र से पृथक् है। हिन्दी वैष्णव भक्त कवियो मे प्रेम सम्बन्धी भाव की अधिकाधिक स्वीकृति सूर एव तुलसी के बाद ही हुई है। तुलसी के काव्यो मे उदात्त सम्बन्धी अध्ययन के लिए रामचरित मानस, विनयपत्रिका, कवितावली का प्रमुख स्थान है। सूर साहित्य मे (सूरसागर-प्रथम खड) सम्पूर्णत उदात्त सम्बन्धी भावो का प्रतिनिधित्व करता है। अष्टछाप के अन्य कवियो मे सामान्यत नन्ददास, परमानन्ददास का ही इस दृष्टि से उल्लेख किया जा सकता है। शेष, काव्य मात्र इतस्तत सास्कृतिक शब्दावली मे उदात्त भाव की सूचना देते हैं।

उदात्त सम्बन्धी भावो का अध्ययन करने के लिए इन्हे निम्नलिखित क्रमो मे रखा जा सकता है ।

१ असुर वध सम्बन्धी उदात्त भाव जो जिज्ञासा, भय, त्रास, अनुकम्पा, शक्ति एष शौर्य आदि के प्रतिनिधि है ।

२ अनन्यदया, करुणा सम्बन्धी भाव जो मानसिक शमत्व के प्रतीक है । दास्य के अधिकाश भाव इसी के अन्तर्गत आते है ।

३ आत्म विगर्हणा तथा दीनता सम्बन्धी भाव जो आत्मोद्धार के भाव से प्रेरित है । ये दोनो प्रकार के उदात्त सम्बन्धी भाव भक्ति-भूमिका पर आश्रित है ।

४ ब्रह्म का उदात्त स्वरूप

इनकी स्थिति इस प्रकार है—असुर वध सम्बन्धी भावो की भूमिका मे दो प्रकार के व्यवहार अनिवार्य रूप से आते है १ अवतार सम्बन्धी धारणा २ असुरो का आतक ।

अवतार सम्बन्धी धारणाओ मे सबसे प्रबल धारणा दुष्टो के विनाश की है । राम के अवतार की कल्पना उसकी व्यापक भूमिका बना लेने के बाद ही हुई । रामचरित मानस मे रामावतार प्रमुख है । साकेतिक रूप मे बालकाड एव लकाकाड के अन्तर्गत विश्व के प्राय सम्पूर्ण प्रमुख अवतारो का उल्लेख है । किन्तु उदात्त सम्बन्धी भाव के लिए नृसिह एव कृष्णावतार की चर्चा निरर्थक है । रामावतार के साथ शकरचरित्र कही कही उदात्त भाव का उद्‌बोधक बन गया है । मानस मे चार स्थलो पर राम के विराट रूप का भी उल्लेख है । वे स्थल है, कश्यप-अदिति वरदान, कौशिल्या का विराट रूप दर्शन, सुतीक्ष्ण पर रामकृपा, भुशुण्डि मोह, शेष अन्य स्थलो पर राम का चरित्र उदात्त सम्बन्धी भावो का सामान्य बोध कराता है । सहायक पात्रो मे हनुमान का चरित्र इस दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है ।

राक्षस वध के अवसर पर मानस मे उदात्त भावो की व्यंजना मिलती है । आसुरिक प्रवृत्तियो के समर्थक मात्र दशमुख रावण, कुम्भकर्ण, मेघनाद, शूर्पणखा, ताडका, कुमुख अकपन, धूमकेतु आदि है । इनका चरित्र नियोजन भय एव रोमाचक तत्त्वो से सगठित है। मानसकार के अनुसार इन राक्षसो के कृत्य सुरापान करके ६ माह तक सोना, एक दिन के आहार मे सैकडो जीव-जन्तुओ का भक्षण, महिष का आहार, मुनि एव ब्राह्मणो का रक्तपान, इनके गर्जनमात्र से गर्भपात का हो जाना, रमणीक एव सुन्दर नगरो का

त्रस्त कर देना, सुन्दरियो का अपहरण, भीम रूप धारण करके मानवो को सन्ताप देना आदि । लकाकाड मे युद्ध के समय इन राक्षसो द्वारा किए गए कार्यों का अत्यधिक वीभत्स एव रोमाचक उल्लेख मिलता है । रुधिर एव भैसे की बलि देना, पृथ्वी पर सिन्दूर की भाँति रक्त का प्रसरण कराना, रावण का सपक्ष भूधर की भाँति क्रोध करके दौडना, पर्वत एव बडे-बडे वृक्षो की भाँति नखो से आतकित करना, शीश तोडकर उसी से शत्रु के ऊपर प्रहार, भुजाओ का उखाड लेना एव अँतडियो का पृथ्वी पर कुचलना, चिग्घाड करना, वृक्ष एव पर्वत उखाड कर युद्ध करना, सम्पूर्ण पृथ्वी का घोर अन्धकार से आच्छादित हो जाना, कुम्भकर्ण द्वारा बन्दरो को निगल जाना एव पुन: नासिका एव कर्ण के मार्ग से बन्दरो का निकल भागना आदि अनेक कृत्य रोमाच एव भय का प्रतिनिधत्व करते है । मानस की भाँति रोमाचक तत्त्वो से युक्त उदात्त भाव की अभिव्यक्ति कवितावली मे सुन्दर तथा लकाकाड मे मिलती है । ये सम्पूर्ण रोमाचक तत्त्व एक ओर आसुरिक शक्तियो की प्रचडता एव दूसरी ओर भक्तो के आराध्य की शक्तिमत्ता सूचित करते है ।

सूरसागर मे कथित असुरवध लीला मे उदात्त के पूर्णभाव है, सूरसागर मे भागवत के आधार पर २४ अवतारो का उल्लेख है, किन्तु इन समस्त अवतारो मे सम्पूर्णत उदात्त सम्बन्धी भाव नही है, उदात्त भी सौन्दर्य की ही भाँति एक मानसिक वृत्ति है जो कवि के मानसिक रुझान (Interest) पर आश्रित है । कथन मात्र से ही उदात्त का बोध नही होता । यहाँ उदात्त सम्बन्धी भाव का पूर्ण प्रतिनिधित्त्व कृष्णावतार करता है । रामावतार मे यद्यपि कवि की मानसिक रुचि पूर्णत लगी हुई दिखाई देती है । किन्तु इसमे शील एव उदात्त के अतिरिक्त सौन्दर्य तत्त्व अधिक है । उदात्त की दृष्टि से कृष्ण की सम्पूर्ण लीला अपेक्षित नही है, निम्न लीलाएँ इसके लिए महत्त्वपूर्ण है, पूतना, वाणासुर, सकटासुर, तृणावर्त, वकासुर, अघासुर, कालियदमन, गोवर्धनलीला, शखचूड वध, केशीवध, प्रलम्ब वध, वृषभासुरवध, व्योमासुरवध, धेनुकवध, मुष्टिकवध, चाणूरवध, कसवध, जरासधवध, शिशुपालवध । सूरसागर की ये घटनाएँ उदात्त सम्बन्धी तीव्र भाव भय, सकोच, रोमाच, विस्मय, त्रास आदि से युक्त है । रामकथा मे भी ताडकावध, सुबाहुवध, धनुषभग, रामवनगमन, कबन्ध, जयन्त, शूर्पणखा का नाक कान काटा जाना, मारीचवध, हनुमान का विराट रूप, लकादहन, कुम्भकर्ण वध, मेघनाद, वध, रावणवध आदि इसी से सम्बद्ध है ।

सूरसागर के उदात्त भावो मे भय एवं त्रास की सर्वाधिक प्रधानता है ।

यदि त्रास एव भय का निवारण अवतारवाद का मूल उद्देश्य मान लिया जाय तो इस दृष्टि से असुरो के अनाचार एव अत्याचार का मूल मन्तव्य त्रास उत्पन्न करना ही ठहराता है। असुरवर्ग अपनी सिद्धियो के विभिन्न-से-विभिन्न घातक आधिभौतिक शक्तियो को पीडा एव भय का आधार बनाता है। उनकी यह शक्ति मानव पौरुष के लिए अजेय है। परिणाम-स्वरूप उससे अधिक शक्ति एव शौर्यसम्पन्न व्यक्तित्व उनके आतंक से मुक्त करने के लिए पृथ्वी पर उत्पन्न होता है। अवतारवाद की मूल धारणा इसी से सम्बन्धित है। दो शक्तियो का परस्पर सघर्ष शौर्य शक्ति के उदात्त भाव से सम्बन्धित है। कृष्ण एव राम उच्चतम शक्ति के प्रतीक है। असुरवर्ग अपनी शक्ति के प्रयोग मे छल एव माया को आधार बनाते है। इसीलिए उनकी शक्ति को आसुर मायिकशक्ति भी कह सकते है। पूतना छल एव प्रेम को आधार बनाकर प्रेमाकर्षण करती है। पुनश्च भय, रोमाच तथा विस्मय प्रगट करती है। कागासुर, प्रलम्ब, बकासुर, शकट, अघासुर, कस, चाणूर, शिशुपाल वध विषयक लीलाओ मे छल, त्रास, अनुकम्पी के अनेक विस्मय-पूर्ण भाव निहित है। इस दृष्टि से सूरसागर मे तीन प्रसग विशेष महत्त्वपूर्ण हे, दावानल पानलीला, गोवर्धन तथा कालियनाग लीला। इन लीलाओ का मूल उद्देश्य कृष्ण की अनन्त शक्ति का बोध कराना है।

दावानल असुर विशेष के रूप मे कल्पित है जो कस का सहायक सखा है। यह अपने मुख से अग्नि प्रदीप्त कर त्रास उत्पन्न करता है। यह ध्वस के भाव का प्रतीक है। त्रास उत्पन्न करने के लिए यह विराट् त्रासद अग्नि पुज का रूप धारण करके अपने काय-विस्तार मे पृथ्वी एव आकाश को प्रखर-अग्नि से आच्छन्न कर लेता है।

इसमे अग्नि की प्रचडता सम्बन्धी कथन तो सामान्य हैं। इसका मूलभाव आसुरी शक्ति के त्रासक तत्त्वो का कथन करना है। अग्नि की प्रचडता के पीछे एक ध्वसात्मक व्यक्तित्व निहित है। यह व्यक्तित्व सकोच, भय, त्रास, रोमाच, आतंक, विस्मय, प्रचडता के भावो से युक्त है। भारतीय रसशास्त्र मे भयानक रस की कल्पना ऐसे ही प्रसगो मे की गई है। वस्तुत भयानक, वीभत्स, वीर रस न होकर मात्र उदात्त के ही भाव है। इसमे कथित भय, रोमाच, आतक इत्यादि भावो के रक्षक कृष्ण का व्यक्तित्व और भी उत्कृष्ट एव उदात्त है। इसी को प्रगट करने के लिए कवि कहता है कि—

नैकु धीरज करौ, जियहि कोउ जिनि डरौ, कहा ईहि सरो, लोचन मुदाए।
मुठी भरि लियो, सब नाह मुख दियो, सूर प्रभु पियो, ब्रज जन बचायो।[1]

एक ओर कृष्ण के द्वारा सात्वना का दिया जाना तथा दूसरी ओर अग्नि को मुट्ठी मे भर लेना, मुख मे डाल लेना, पी जाना उनकी शक्तिसम्बन्धी त्वरा का सूचक है। यही उनके अनन्त शौर्य का प्रतीक बन गया है।

कालियनाग का भी प्रसग इसी प्रकार का है। इसमे दो विरोधी भाव कोमल एव कठोर का सघर्ष है–एक ओर कालियनाग का तीव्र आवेश पूर्ण प्रचड व्यक्तित्व है, दूसरी ओर कृष्ण का मोहक व्यक्तित्व जिसकी कोमलता का सकेत नागपत्नी इस प्रकार करती है—

कह्यो कौन के बालक है तू, बार बार कहि भागि न जाई।
छनकहि मे उठि भस्म होइगौ, जब देखे उठि जाग जम्हाई।[2]

नाग के जगने पर उसकी तीव्रता का बोध कवि रोमाच एव आतक मे प्रगट करता है।

"उठ्यो अकुलाइ डर पाइ खगराइ को, देखि बालक गरब अति बढ्यो"

कालिय नाग की गरुड के भय की आकुलता बालक को देखने पर गर्व मे परिणत हो जाती है। इस गर्व के फलस्वरूप अपने व्यक्तित्व का विस्तार करता है।

पूँछि लीनी झटकि, धरनि सो गहि पटकि, फुकर्यो लटकि करि क्रोध फूले।
पूँछि लीनी चाँपि, दिसनि काली काँपि, देखि सब साँपि अवसान भूले।
करत फनघात, विष अति उतरात, नीर जरि जात, गहि गात परसे।
सूर के स्याम प्रभु लोक अभिराम बिनु जान अहिराज विष ज्वाल बरसे।[3]

आतक एव त्रास की इस स्थिति मे रोमाचक भावो की विशिष्ट योजना उदात्त के सम्पूर्ण तत्त्वो से युक्त है। उदात्त की दृष्टि से ऐसे स्थल हिन्दी साहित्य की अमूल्य निधि है।

कालिय के शौर्य से अभिभूत न होने के कारण नागपत्नियो मे जिज्ञासा एव चमत्कृति के भाव जागृत होते है, दूसरी ओर कवि कृष्ण की

---

१ सूरसागर, द० स्क०, प० स०, ५९६
२ वही. ५४०
३. वही, ५५२

अनन्त शक्ति की सूचना विस्मयबोधक भावों से देता है—

जबहिं स्याम अति तन विस्तार्यो
पटपटात टूटत अंग जान्यो सरन सरन सु पुकार्यो

× × × ×

नाथत व्याल विलम्ब न कीनी
पग सौं चापि धीच बल तोर्यो, नाक फोरि गहि लीनी
कूदि चढे ताके माथे पर, काली करत विचार[1]

अन्तत कवि कालिय नाग के मुख से ही कृष्ण के उदात्त व्यक्तित्व का बोध कराता है। कृष्ण के प्रति कवि निम्न पद कहता है—

गिरिधर ब्रजधर मुरलीधर धरनीधर माधौ पीताम्बरधर
सख चक्रधर गदा पद्मधर सीसमुकुटधर अधरसुधाधर।
कम्बु कठधर कौस्तुभमनिधर बनमालाधर मुक्तमालधर
सूरदार प्रभु गोपवेषधर काली फन पर चरनकमलधर॥[2]

समस्त घटनाचक्र के पश्चात् इस प्रकार के पद एव भाव कृष्ण के शौर्य, अलौकिकता एव विष्णुत्व सम्बन्धी सात्विक भावो के सूचक है।

गोवर्धन धारण प्रसग उदात्त के भाव की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। इसमे क्रियामूलक शब्दावली के द्वारा भयकरता सम्बन्धी तीव्र भाव को व्यक्त करने का प्रयत्न किया गया है—

सुनि मेघवर्त सजि सेन आए—
बलवर्त, बारिवर्त, पौनवर्त, वज्रवर्त, अग्निवर्त, जलद सग लाए।
घहरात गररात दररात हररात तररात झहरात माथ नाए॥

ये वारि, पवन, मेघ, वज्र, अग्नि आदि मानव के घातक तत्त्व अपने भयकर स्वरूप मे प्रगट होते है। किन्तु इन्ही के बीच कृष्ण का पर्वत उठा लेना उदात्त की तीव्र व्यजना का बोधक बन जाता है। उनका पर्वत धारण उनकी अनन्त शक्ति का प्रतीक है, जो काव्य मे व्यजित होकर सौन्दर्य भाव के उदात्त तत्त्व का समर्थक बन जाता है।

भक्तिकाव्य मे दास्य, सम्बन्धी भाव आत्मविगर्हणा, दया, करुणा, सकोच, ग्लानि आदि पर आधारित होने के ही कारण उदात्त सम्बन्धी भाव के अधिक निकट है। आत्मग्लानि एव आत्मविगर्हणा का भाव आत्मरति से

---

१ सूरसागर द० स्क०, प० स० ५५६, ५५७
२. वही, ५७२

विमुखता का भाव है। इसका मूलकारण सासारिक मोह के द्वारा फँसाया जाना, माया मे रमणवृत्ति, ससार की नश्वरता, भोग-विलासो का अस्थायित्व, मृत्यु आदि का भय है। ये तत्त्व भक्तो की मन स्थिति को निरन्तर करुण बनाए रखते है। भक्तिकाव्य मे दीनता विषयक पदो मे इस प्रकार के भावो की व्यजना सूर, तुलसी के पदो मे मिलती है। ये कवि यहाँ सासारिक राग, पीडा एव भोगो की नश्वरता से मुक्ति पाना चाहते है। भक्तिकाव्य मे प्राप्त आत्मविगर्हणापूर्ण यह व्यक्तित्व आशा एव निराशा के द्वन्द्व से निर्मित है। निराशा इसलिए कि ससार नश्वर है, आशा इसलिए कि अनन्य भक्तवत्सल आराध्य उसके रक्षक है। इस प्रकार दास्य सम्बन्धी भाव दो सदर्भो मे अभिव्यक्त हुए है, निराशाजन्य एव आशाजन्य। प्रथम का सम्बन्ध ध्वस या विनाश से है। भक्त सासारिक सम्बन्धो एव आसक्तियो के समूल नष्ट हो जाने पर ही मुक्ति मानते है। दास्य विषयक उदात्त भाव का सम्बन्ध मात्र इसी स्तर पर भक्तिकाव्य मे मिलता है। जहाँ आशाजन्य दास्य भक्ति का प्रश्न है, वहाँ प्रियता सम्बन्धी भाव दिखाई पडता है। इसीलिए भक्त कवियो ने दास्य भक्ति को आसक्तिमूलक भी माना है।

ब्रह्म के उदात्त स्वरूप की कल्पना रोमाच एव विस्मय के भाव से सयुक्त है। अवतारवाद की धारणा, उनके विराट स्वरूप की अनेक स्थलो पर अभिव्यक्ति, असुरसहार के उपरान्त निर्मित अनन्तशक्तिपूर्ण व्यक्तित्व, आराध्य से कृत्यो के प्रभावित भक्तो वा भक्तपात्रो, हर्ष से सयुक्त मनोभाव, ब्रह्म के उदात्त स्वरूप से ही सम्बन्ध रखते है। हिन्दी वैष्णव भक्तिकाव्य मे पौराणिक परम्परा के आग्रह से ब्रह्म के विराटत्व एव उनकी अलौकिक शक्तिमत्ता का अनेक स्थलो पर वर्णन प्राप्त है। इस तरह के समस्त भाव काव्य मे प्रयुक्त होने वाले सौन्दर्य के अग उदात्त भाव के समर्थक है।

हिन्दी वैष्णव भक्तिकाव्य में प्रियता (Affection) का भाव

उदात्त के बाद प्रियतासूचक भावो का स्थान आता है। प्रियतासूचक भाव सौन्दर्यशास्त्रीय अध्ययन की सीमा मे महत्त्वपूर्ण समझे जाते है। प्रियता-मूलक भावो का आधार स्नेह (Affection) है। सस्कृत साहित्य मे रस के सदर्भ मे प्रियतासूचक भावो की एक सरणि आचार्य भामह से लेकर पडितराज जगन्नाथ तक मिलती है—प्रेयन्, ऊर्जस्विन्, स्नेह, लौल्य, यूनता, भक्ति, वात्सल्य प्रियतामूलक भावो के अन्तर्गत आते है। हिन्दी वैष्णव भक्ति

काव्य मे इन प्रियतामूलक भावो की अभिव्यक्ति मिलती है । भक्तिरस के सदर्भ मे बताया गया है कि सख्य एव वात्सत्य भक्तिकाव्य के प्रियतामूलक भावो के मूल आधार है। इसके शास्त्रीय स्वरूप का विवेचन अध्याय ७ के अन्तर्गत किया गया है । यहाँ इनके अभिव्यक्त स्वरूप का अध्ययन करना अपेक्षित है—

वात्सल्य रूपगोस्वामी के अनुसार इसके आलम्बन बालकृष्ण विषय तथा उनके गुरुजनवृन्द आश्रय है । निम्न भक्त कवियो ने अपने काव्य मे इसको अपना वर्ण्यविषय बनाया है–सूरदास, तुलसीदास, परमानन्ददास, नन्ददास। स्फुट रूप से अन्य अष्टछापी कवियो के पदसग्रहो मे भी एतद्सम्बन्धी कतिपय पद प्राप्त होते है। अष्टछाप को छोडकर अन्य कवियो मे कही एकाधपद ही इस भाव के मिलते है ।

शिशुलीला . वात्सल्यसूचक प्रियता के भाव के अन्तर्गत प्रथम वर्ष से ५ वर्ष तक अधिक महत्त्वपूर्ण है । इसके उपरान्त सख्य एव यून भाव का क्रमश विकास होता जाता है । सम्पूर्ण कृष्ण या रामकथा मे प्राप्त वात्सल्य का वर्ण्यविषय इस प्रकार है—

कृष्ण : श्रीकृष्णजन्म, नामकरण, अन्नप्राशन, वर्षगाँठ, घुटुरुवो चलना, पाँवो चलना, बाल छवि वर्णन, कनछेदन, चन्द्र प्रस्ताव, कलेऊवर्णन, क्रीडन ।

राम . रामजन्म, बालछविवर्णन, नामकरण, अन्नप्राशन, दुलार, पालना एव सोहलो का गाया जाना, पाँवो चलना तथा राजप्रासाद मे क्रीडा करना ।

इन सदर्भो मे नामकरण, अन्नप्राशन, वर्षगाँठ, सोहलो तथा कनछेदन बालोत्सव से सम्बन्धित है । शुद्ध वात्सल्य की दृष्टि से जन्म, बालछवि वर्णन, घुटुरुवो चलना, पाँवो चलना, चन्द्रप्रस्ताव, कलेवावर्णन, विभिन्न क्रीडाएँ, पालना आदि संदर्भ ही इसके अन्तर्गत आते है ।

वात्सल्यसूचक भावो को डॉ० करुणा वर्मा ने दो भागो मे विभक्त किया है—१ सयोगवात्सल्य २ वियोगवात्सल्य । भक्तिकाव्य मे ये दोनो सम्भावनाएँ वर्तमान है । श्रीकृष्ण एव राम दोनो एक निश्चित अवधि के पश्चात् अपने माता-पिता से वियुक्त हो जाते है । फलत यह स्थिति माता-पिता के लिए वियोगवात्सल्य की सूचक है ।

सयोगवात्सल्य के सदर्भ मे स्नेह, उत्सुकता, हर्ष, आश्चर्य, पुलक, अश्रु, जडना, मोह, अनुराग, उमग, लालसा, चपलता, सुरुचि, तृप्ति के भाव यहाँ मिलते है । किन्तु प्रियतासूचक वात्सल्य का केन्द्रीय भाव स्नेह, पुलक एव

तृप्ति है। बहुसख्यक पद इसी भाव की व्यजना कराते है। वात्सल्यजीवन के प्रत्येक कृत्यो पर उनके गुरजन स्नेह, पुलक एव तृप्ति से आत्मविभोर मिलते है।

जहाँ तक वात्सल्यसूचक कृत्यो का प्रश्न है इन कवियो की दृष्टि समान ही रही है। व्यापक मगलाचार के उपरान्त, बालरूप का उल्लेख, पालने पर मुस्कराना, अग फडकाना, अँगूठा चूसना, नन्द को देखकर मुसकराना, यशोदा को देखकर किलकारी भरना, किलक कर बोलने का प्रयास, घुटनो के बल चलना, मुडमुडकर नन्द तथा यशोदा को देखना, प्रतिबिम्ब देखकर उसे पकडना, दँतुली निकल आने पर हँसना, पाँव चलना, धूलि मे लोटना, पाँवो पर चलने के लिए यशोदा का उगली पकड कर सिखाना, कृष्ण का अरबराकर गिरना आदि अनेकानेक प्रसग यहाँ कल्पित है। रामकथा के प्रसग मे भी मानस तथा रामगीतावली मे तुलसी ने इन्ही सदर्भों को नियोजित किया है।

जहाँ तक कृष्ण के अन्तर्गत उत्पन्न होने वाले वात्सल्यभाव का प्रश्न है, इन समस्त कवियो ने एक विशिष्ट पद्धति का प्रयोग किया है। कृष्ण–राम के अन्तर्गत बाल्योचित अज्ञानता एव परितृप्ति का भाव दिखाया गया है। इसका पुलक, मोद, हर्ष, अनुराग एव तृप्ति आदि कल्पित या दिखाने के लिए है। मूलत वात्सल्य उनकी लीला का अगमात्र है।

वात्सल्य भाव की प्रियता का विकास क्रमश बाल, पौगन्ड एवं किशोरावस्था मे मिलता है। गुरुजनो या आश्रय के अन्तर्गत मोद, पुलक, स्नेह, अभिलाषा आदि के भाव इनमे मिलने है।

वियोग वात्सल्य की स्थिति मे आश्रय के अन्तर्गत उत्पन्न होने वाले भाव चिन्ता, मोह, विषाद, दैन्य, अधीरता, व्याकुलता, विक्षिप्ति, शंका निरन्तर मिलते हैं। वात्सल्य वर्णन के अन्तर्गत राम या कृष्ण के विष्णु स्वरूप का आभास प्रगट करना इसका मुख्य आधार है। सामान्य जीवन के सख्य एव वात्सल्य भाव से पार्थक्य सिद्ध करने के लिए ये कवि इस दृष्टि का प्रयोग करते है। इस सदर्भ मे कृष्ण या राम के अलौकिक व्यक्तित्व की सूचना, सुर-नर-मुनि का उनके प्रति आकृष्ट होना, उनके विभिन्न आश्चर्यमूलक कृत्य तथा अनेक रूपो का धारण कर लेना, आदि कार्यों से मिलती है।

प्रियतामूलक भावो के उपरान्त शृगार एव प्रेम की अभिव्यक्ति भक्ति काव्य मे अनेक रूपो मे हुई है। अगले पृष्ठो मे प्रेम के स्वरूप को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया जावेगा।

शास्त्रीय प्रेम एवं शृंगार

भक्ति एव लीला के अन्तर्गत देखा जा चुका है कि इनमे प्रेम की प्रधानता है। यह प्रेम लौकिक एव आध्यात्मिक दोनो भावो से युक्त है। इसका आरम्भ लौकिकप्रेम से होता है तथा अवसान आध्यात्मिक आनन्द मे। परिणाम स्वरूप इनके आध्यात्मिक प्रेम को स्पष्ट करने के लिए लौकिक एव ऐन्द्रिकप्रेम का अध्ययन करना अपेक्षित है। इसी के आधार पर ही इन कवियो के आध्यात्मिक सिद्धान्तो की व्याख्या सम्भव है—

प्रेम को परिभाषित करते हुए रूपगोस्वामी ने बताया है कि सर्वथा ध्वसरहित युवावस्था के परस्परन्यून भावबन्धन को प्रेम कहते हैं।[1] इस प्रेम के परस्पर सम्पर्क वाले भावो की सख्या ६ बताई गई है—रति, प्रेम, स्नेह, प्रणय, राग तथा अनुराग। रूपगोस्वामी के अनुसार ये पृथक् वस्तुएँ न होकर परस्पर कार्य-कारण भाव से सम्पृक्त है। जिस प्रकार ईख, रस, गुड, शर्कर, सित शर्कर की स्थिति है, उसी प्रकार प्रेमविलास के छहो भाव परस्पर रति से निस्यंद होकर विकसित होते है। विद्वान् इनके लिए प्राय प्रेम शब्द का ही व्यवहार करते है। इनके अनुसार प्रेम के तीन भेद है—प्रौढ, मध्यम तथा मन्द।[2] इनमे रति, प्रेम, स्नेह, प्रणय, राग तथा अनुराग को रूपगोस्वामी ने परस्पर प्रेम विकास के सोपान के रूप मे स्वीकार किया है।

इस प्रेम के अन्तर्गत इन्होने बताया है कि यह प्रेम अपनी मूल स्थिति मे भोगपरक है, किन्तु कृष्ण सम्बन्धी भाव से सम्बद्ध होने के कारण ही यह उदात्त एव सात्विक बन गया है। फलत प्रेम के पूर्व शृगार का अध्ययन करना अपेक्षित है। यद्यपि रूपगोस्वामी ने शृगार को परिभाषित नही किया है फिर भी इसका स्वरूप वही है जो अन्य काव्यशास्त्रीय ग्रन्थो मे निरूपित

---

१ सर्वथा ध्वस रहित सत्यपि ध्वस कारणे।
यद्भाव बन्धनं यूनोः स प्रेमा परिकीर्तिता। उज्ज० नील०, पृ० ४१८

२. वही

है। इन्होने परम्परा के अनुसार विप्रलम्भ सयोग स्वत को कही अधिक सशक्त एव प्रभावशाली माना है। विप्रलभ के अभाव मे सयोग स्वत प्रभावहीन एव निरर्थक है।[1] विप्रलम्भ शृगार के परम्परानुसार ४ भेद है — पूर्वराग, मान, प्रवास, प्रेम वैचित्र्य एव पूर्वराग के प्रेरक तत्त्वो मे दर्शन, चित्र, स्वप्न, श्रवण, बन्दिवक्रता, दूतीवक्रता एव गीत है। पूर्वराग की स्थिति वस्तुत सम्भोग शृगार की भूमिका है।

पूर्वराग की स्थिति मे प्रेममूलक मानसिक शारीरिक स्थितियो के विभिन्न भाव प्रत्यक्ष हो उठते है। लालसा, उद्देश्य, जागरण, तानव, जडिमा, व्यग्रता, व्याधि, उन्माद, मोह एव वृत्ति—प्रेम की ये १० स्थितियाँ शृगार रस विवेचन के सदर्भ मे रसशास्त्रियो द्वारा शुद्धकाव्य के क्षेत्र मे पहले गिनाई जा चुकी है।

मान की स्थिति वैष्णव भक्त कवियो मे अत्यधिक स्पष्ट एव प्रभावशाली रूप से चित्रित है। रूपगोस्वामी ने मान को दो भागो मे विभाजित किया है—हेतुक मान तथा अहेतुक मान। हेतुक मान ईर्ष्याजन्य है तथा अहेतुक बिना हेतु के कारणाभास से उत्पन्न होता है। रूपगोस्वामी ने प्रेम की स्थिति को सर्पवत् स्वभाव कुटिल बताया है। फलत हेतु एवं अहेतु दोनो से मान के उद्भूत होने में कोई आश्चर्य नही है।[2] इसी के साथ-साथ विप्रलम्भ के प्रेम वैचित्र्य एव प्रवास की स्थिति भी स्पष्ट है। प्रवास को इन्होने तीन भागो मे विभक्त किया है भावीप्रवास, वर्तमान या भवन् प्रवास तथा भूतप्रवास। प्रवास की स्थिति मे सदेश प्रेषण को अनिवार्य बताया गया है। प्रवासजन्य वियोग की शेष दस अवस्थाएँ उसी प्रकार है—चिन्ता, जागरण, उद्वेग, तनुता, मलिनता, प्रलाप, व्याधि, उन्माद, मोह तथा मृत्यु।

सयोग शृगार के दो भेद है—

१ मधुररसपरिपाक विशेष २ गौण सम्भोग

मधुर रस की लीला कसवध के पूर्व वृन्दावन एव गोकुल की प्रेमक्रीडा से सम्बन्धित है। इसी लीला के अन्तर्गत रास, केलि, विहार एव अपहरण आदि लीलाएँ आती है।

---

१ बिना विप्रलम्भेन सम्भोगः पुष्टिमश्नुते। कषायिते हि वस्त्रादौ भूयाद् रागौ विवर्धते, १. अथ शृगार भेद

२. उज्वल ०, नील०, शृगार भेद, श्लोक ७०, ७१, तथा ६१, ६३

२ गौण सभोग के अन्तर्गत कृष्ण लीलाएँ सामान्य एव मधुर रस की पोषक हैं। रूपगोस्वामी के अनुसार इसके अन्तर्गत स्वप्न, जल्प, काव्योक्ति, स्पर्श, वर्त्मरोधन, वृन्दावन क्रीडा, यमुनाजलकेलि, चौर्यलीला, वस्त्रचौर्य, पुष्पचौर्य, कु ज गमन, मधुपान, कपटसुप्तता, द्यू त क्रीडा, पटाकृष्टि, चुम्बन, आश्लेष, नखक्षत, बिम्बाधरसुधापान, मिथुन विलास लीला की चेष्टाएँ आती है।

रूपगोस्वामी ने शास्त्रीय प्रेम के परिपोषक एव एतद्सम्बन्धी अन्य साधनो का उल्लेख प्राचीन काव्यशास्त्रीय परम्परा के अनुसार ही किया है। नायक भेद के सामान्यस्वरूप, नायिका भेद का विस्तृत उल्लेख नायक के प्रेमक्रीडा मे सहायक विट्, चेट्, विदूषक, पीठमर्द, प्रियनर्मसखा, स्वयदूती तथा नायिका की सहयोगिनी दूतियो एव सखियो का विस्तृत विवरण उज्ज्वलनीलमणि मे प्राप्त है।

उन्होने शृ गार रसनिष्पत्ति एवं परिपाक के विभिन्न भाव, उद्दीपन, आलम्बन, अनुभाव, सात्विक एव व्यभिचारी तथा स्थायिभाव का विस्तृत विवरण दिया है। अनुभाव के अन्तर्गत भाव, हाव, हेला, अयत्नज एव स्वभाव अलकारो की विस्तृत परम्परानुबद्ध सूची उपलब्ध है। अयत्नज अलकारो मे शोभा, कान्ति, दीप्ति, माधुर्य, प्रगल्भता, औदार्य, धैर्य तथा स्वभाव अलकारो मे लीला, विलास, विच्छिति, विभ्रम, किलकिंचित्, मोट्टायित, कुट्टमित, विव्वोक, गर्व, मान, ललित, विकृति, क्रिया, ईर्ष्या, मौग्ध्य, चकित की स्थिति लौकिक शृगार सूचक सहायक भावो के सदर्भ मे ही है। सात्विक, व्यभिचारी तथा विभाव की स्थिति भी पूर्णत परम्परानुबद्ध है।

हिन्दी वैष्णव भक्तिकाव्यो मे इस शास्त्रानुमोदित शृगार का निरूपण नन्ददास ने विरह मजरी एव रस मजरी के अन्तर्गत किया है। विरह मजरी मे उन्होने बताया है कि विरह परम प्रेम का उच्छलन है। नन्ददास ने भक्तिकाव्य की परम्परा मे प्रेम सामीप्य को मूल मानकर इसका ४ भेद किया है—

प्रत्यक्ष, पलकान्तर, बनान्तर, देशान्तर।

रूपगोस्वामी ने परम्परा मे कथित काव्यशास्त्रीय विरह के चार भेदो को स्वीकार किया है। पूर्वराग, मान, प्रेमवैचित्र्य एवं प्रवास। ये भेद नन्ददास-कथित विप्रयोग के भेद से भिन्न हैं। ये क्रमश प्रत्यक्ष, पलकान्तर, बनान्तर

तथा देशान्तर है। यह विभाजन भागवत मे वर्णित कृष्ण कथा के आधार पर हुआ है। इनमे देशान्तर विरह प्रवास का पर्याय है। कृष्ण की स्थिति विशेष मे मथुरा एवं द्वारावती मे कृष्ण के काल यापन के समय ब्रजवासियो मे उत्पन्न विरह को देशान्तर विरह की सज्ञा मिली है। इस देशान्तर विरह मे 'बारहमासे' षट् ऋतुवर्णन का क्रम परम्परासम्मत ही है। इसमे वियोगजन्य क्लेश एवं ऋतु सम्बन्धी विभिन्न प्रभावो का उल्लेख है। रूपगोस्वामी एवं नन्ददास कथित विप्रयोग शृंगार के भेदो मे मूल अन्तर है। रूपगोस्वामी वस्तुत सस्कृत की सामान्य काव्य परम्परा से प्रत्यक्ष सम्बन्ध रखते हैं। उनका यह भेद सामान्य परम्परा भुक्त है। नन्ददास का विप्रलम्भ भेद किसी परम्परा से सम्बद्ध न होकर मात्र कृष्ण भक्तिकाव्य के सदर्भ मे रखकर निर्मित किया गया है। विप्रयोग के विभाजन का आधार कृष्णलीला ही है। नन्ददास द्वारा कथित पूर्व विप्रयोग के तीन भेद—प्रत्यक्ष, पलकान्तर एवं बनान्तर सभी कवियो मे प्राप्त हो जाते है। देशान्तर विरह सस्कृत काव्य-शास्त्रियो द्वारा कथित प्रवास का नामान्तर मात्र है। तुलसी एवं कृष्ण भक्त कवियो के समस्त सम्प्रदायो मे इसका विस्तृत उल्लेख मिलता है।

नन्ददास का दूसरा ग्रन्थ है 'रस मजरी' जिसका प्रतिपाद्य नायिका भेद है। यह नायिका भेद स्वरूप की दृष्टि से परम्पराबद्ध है।

इस वर्गीकरण की एक सक्षिप्त भूमिका नन्ददास ने रस मजरी के आरम्भ मे दी है। इस वर्गीकरण के विवेचन मे उन्होने अज्ञात यौवना, ज्ञात यौवना, धीरा, अधीरा, सुरतिगोपना, वाग्विदग्धा एवं लक्षिता को भी सम्मिलित कर लिया है।

ख इनका दूसरा वर्गीकरण इस प्रकार है—

प्रौढ़ा

प्रौढा धीरा | प्रौढा अधीरा | प्रौढा धीराधीरा

परकीया

सुरतिगोपना | वाग्विदग्धा परकीया | परकीया लक्षिता

ग एक तीसरा वर्गीकरण उन्होने और प्रस्तुत किया है, वह इस प्रकार है–

प्रोषितपतिका, खडिता, कलहतरिता, उत्कठिता, विप्रलब्धा, वासकसज्जा, अभिसारिका,स्वाधीनपतिका प्रीतमगमनी। वयक्रम के अनुसार उन्होने इनके भी क्रमश मुग्धा, भव्या एव प्रौढा तीन भेदो की कल्पना की है।

नायिका भेद के साथ नायक भेद की स्थिति यहाँ अति सामान्य है। उन्होने परम्परा से चले आते हुए अनुकूल, दक्षिण एव धृष्ठ नायको की चर्चा की है। नायिका भेद के अन्य सहायक तत्त्वो मे हाव, भाव एव रति का भी सामान्य विवेचन यहाँ प्राप्त है।

नन्ददास का यह वर्गीकरण नायक-नायिका भेद की विशाल परम्परा की कडी मात्र है। किन्तु, सस्कृत के काव्यशास्त्रियो की अपेक्षा यह वर्गीकरण सीमित अधिक है। यह मात्र प्रभाव, काल, क्रिया एव वयक्रम पर आधारित है। रूपगोस्वामी का नायक-नायिका भेद प्रकरण नन्ददास की अपेक्षाकृत विस्तृत है। उन्होने शृगार निरूपण के अन्तर्गत न केवल नायक नायिका भेद ही प्रस्तुत किया है अपितु इसके अन्य सहायक तत्त्वो को कृष्ण की विलास लीला के साथ नियोजित करके इसे विशद् एव वैज्ञानिक बनाया है। नायिका भेद के अन्तर्गत मात्र गोपियाँ है। इन्होने गोपियो को तीन भागो मे विभक्त किया है—

१ वृन्दावनेश्वरी (राधा) २ नायिका भेद ३ यूथेश्वरी भेद
मुख्य प्रेमपात्रो के इन तीन भेदो के अतिरिक्त इन्होने नायक नायिका के परस्पर प्रेमवर्धन मे सहायक दूती एव सखीभेद का सविस्तार उल्लेख किया है।

दूसरी ओर नन्ददास ने नायक भेद को भी परम्परानुमोदित

विस्तार दिया है। इनके अनुसार नायक भेद के ४ आधार है, पति, उपपति धीर, एव अनुकूल का। पति एव उपपति के भेद का उल्लेख नही है जहाँ तक धीर का सम्बन्ध है उसे अनुकूलतामूलक वर्गीकरण के अन्तर्गत रख दिया है —

धीरोदात्त अनुकूल — धीरललित अनुकूल

धीरशान्त अनुकूल — धीरोद्धतानुकूल

शेष, अनुकूल के साथ परम्परा से कथित दक्षिण, शठ एव धृष्ठ का उल्लेख प्राप्त है। नायक के सहायक पक्ष मे चेट, विट, विदूषक, पीठमर्द, प्रियनर्मसखा स्वयदूती वशी एव प्राप्त दूती की चर्चा की गई है। सूर के कूटो मे नायिका-भेद का सकेत मिलता है। यहाँ वयक्रम एव कार्य से सम्बन्धित नायिका भेदो का उल्लेख प्राप्त है। काव्यमोह के कारण नायिका भेद की स्थिति अधिक स्पष्ट नही हो सकी है।

भक्तिकाव्य मे प्रेम एव विलास के विस्तृत वातावरण के लिए नायक-नायिका भेद, उसके अनुसार सहयोगियो का परस्पर आश्रय कृष्ण एव गोपी प्रेम को व्यक्त करने के लिए लिया गया है। शास्त्रानुमोदित प्रेम एव शृगार की दृष्टि से इन कवियो का ध्यान पूर्ववर्ती सस्कृत काव्य परम्परा की ओर गया है और इस दृष्टि से इनका सम्पूर्ण काव्य सस्कृत काव्य परम्परा मे निरूपित शास्त्रीय प्रेम से किंचित् पृथक् नही कहा जा सकता।

भक्तिकाव्य में प्रेम-प्रसंग

भागवत पर आधारित होने के कारण हिन्दी कृष्णभक्ति काव्य मे प्रेम विषयक प्रसगो मे एकरूपता है, फिर भी स्वच्छन्दता भी पर्याप्त मात्रा मे वर्तमान है। वल्लभ, गौणीय, निम्बार्क तथा राधावल्लभी सम्प्रदायो मे प्रेम विषयक जिन प्रसगो को रखा गया, उनसे प्रस्तुत सदर्भ को और अधिक स्पष्टतापूर्वक व्यक्त किया जा सकता है। वल्लभ सम्प्रदाय मे विशेष रूप से सूर ने इन प्रेम प्रसगो की चर्चा की है—

अनुराग, राधा कृष्ण के प्रेम की चर्चा, राधा की आसक्ति, विह्वलता सूचक कथन, राधा का पश्चाताप, राधा रूप की प्रशंसा, कृष्ण स्वरूप की अनन्यता, गोपियो का अनन्य प्रेम, प्रम मे लोकलज्जा का त्याग, परम्पर प्रेम की अनन्यता, सुरति प्रसग, राधा के प्रति कृष्ण की आसक्ति यमुनागमन, युगल समागम, लघुमानलीला, राधा का विरह, राधा कृष्ण केलि, नैन समय के पद, आँख समय के पद, मान

लीला तथा दम्पत्ति विहार, दूतीकार्य, मिलन सुख, खडिता प्रकरण, राधा का मान, राधा का मध्यम मान, राधा का शृगार वर्णन, कृष्ण का सुखमा तथा अन्य गोपियो के यहाँ जाना, बडी मानलीला, दूती वचन, राधावचन, राधाकृष्णवार्ता, मिलन, दूसरी मानलीला, झूलन, बसन्तलीला, अक्रूरब्रज गमन, गोपिकाओ की उद्विग्नता, उद्धववचन, गोपीवचन, विरह भ्रमरगीत, कुरुक्षेत्र, गोपी-मिलन परिशिष्ट १ रास, नृत्य, जलक्रीडा, पनघटलीला आदि।

सूरसागर मे उपर्युक्त विषयो के पद प्रेमलीला से सम्बन्धित है। इनका मूलभाव शृगार प्रधान है। इसी का विकास हिन्दी के परवर्ती अष्टछापी कवियो मे मिलता है। अष्टछाप के कवियो ने परमानन्ददास को छोडकर शेष ६ कवियो ने अपने सम्पूर्ण पदो को दो भागो मे विभक्त किया है, प्रथम प्रेमलीला विषयक पद, द्वितीय वल्लभ विषयक पद। वल्लभ एव वल्लभ कुल विषयक पद मात्र प्रशस्तिमूलक है। इनकी सख्या स्वल्प है, किन्तु प्रेमलीला विषयक पद अधिकाधिक मात्रा मे है। सूर के प्रेमलीला विषयक पदो की प्रकृति वस्तुत इनके बाद से परिवर्तित होने लगी है। पदो मे उदात्त का भाव लोप होता गया। कृष्ण की उदात्त लीला मे स्वच्छन्दता का अधिकाधिक विकास होने लगा। परमानन्द एव परमानन्ददास के परवर्ती अष्टछापी कवियो के वर्ण्यविषय से इसका सरलता से अनुमान लगाया जा सकता है। परमानन्ददास के काव्य मे प्रथमदर्शन से प्रेम का आरम्भ होता है, इसके बाद निम्न लीलाएँ आती है—

खेल, सखीन सग, यमुनातीर मिलन, आसक्ति, गोपी जू के वचन, आसक्ति को वर्णन, स्वरूपशोभा, प्रभु स्वरूप वर्णन, स्वामिनी स्वरूप वर्णन, रास, मान, अन्तर्धान, महारास, जलक्रीडा, युगल रस वर्णन, सुरतान्त, खडिता, युगल गीत, गोपी विरह, भ्रमरगीत, कुरुक्षेत्र मिलन।

सूरदास एव परमानन्ददास के वर्ण्य विषयो मे मूल अन्तर प्रकृति का है—ग्रीष्मलीला, यमुनागमन लीला, सुषमागृह गमन, वृन्दागृहगमन, प्रमुदागृहगमन, गोपी विरह वर्णन, भ्रमरगीत के पदो मे कृष्ण का प्रेम एकनिष्ठ नही है। अन्य प्रकरणो मे राधा एवं कृष्ण का प्रेम एकनिष्ठ है। किन्तु परमानन्ददास का वर्ण्यविषय राधा और कृष्ण के परस्पर प्रेम से ही सम्बन्धित है। सूर के पदो मे प्राप्त अनेकनिष्ठ प्रेम परमानन्दास के काव्य मे नही है। परमानन्ददास के परवर्ती अष्टछाप के कवियो की दृष्टि शृगार-

मूलक अधिक है। सम्मिलित रूप से इनके वर्ण्य विषयो मे विशेष पार्थक्य नही है। ये वर्ण्य विषय इस प्रकार है

> **शृंगार, क्रीडा, छाक, बीरी, व्रतचर्चा, प्रभुस्वरूपवर्णन, स्वामिनी स्वरूपवर्णन, युगलस्वरूपवर्णन, आसक्ति की अवस्था, वेणुनाद, आवनी, मान, मानापनोद, परस्पर सम्मिलन, शयन, सुरतान्त, खडता, हिडोल, दान, विरह, वर्षा, भोग, शयन, राजभोग पौढिवो, वसत, धमार, रास, डोल, खडिता।**

हिन्दी के गौणीय सम्प्रदाय के कवियो का रचनात्मक साहित्य अत्यल्प है। मात्र सूरदास मदनमोहन की पदावली का ही प्रकाशन हुआ है। इसके अतिरिक्त अन्य स्थानो से प्राप्त पदो के अनुसार इनका विषय क्रम इस प्रकार रखा जा सकता है

> **कृष्ण स्वरूप वर्णन, राधा रूप वर्णन, राधा कृष्ण की बाललीला, युगल छवि, प्रेमानुराग, अभिसारिका, नायिका का विरह, खडिता, मान, मानमोचन, मुरली, रास, वसत, होरी, फूल, डोल, वर्षा विरह, वर्षा विनोद, झूलन।**

निम्बार्क सम्प्रदाय के कवि मूलत कृष्ण की प्रेम लीला से सम्बद्ध है। इनका वर्ण्य विषय इस प्रकार है

> **युगल अवतरण, युगल केलि, युगल स्वरूप वर्णन, परस्पर आकर्षण और प्रेम, विहार, मान, दूतीवचन, राधा प्रति मिलन, होरी, सज्जा, राधा का सौन्दर्य, राधा का उपालम्भ, रति, कृष्ण के द्वारा राधा का सौन्दर्य वर्णन, सखी द्वारा सौन्दर्य कथन, युगल स्वरूप वर्णन, कृष्ण का विरह, कृष्ण का सदेश भेजना, डोल, अलकरण, मानत्याग, मुरलीवादन, परस्पर मिलन, राधा का कृष्ण के प्रति कथन, सुरतान्त, आलिगन, शतरज, छिरका खेल, हिडोर, वर्षा, वर्षा का रास, वसत, फाग, परस्पर आमोद।**

निम्बार्क सम्प्रदाय के कवियो ने अवतार लीला के उदात्त स्वरूप का कही स्पर्श तक नही किया है। इनका वर्ण्यविषय पूर्णत प्रेमलीला-मूलक है।

राधावल्लभ म्सप्रदाय मे प्रेम का सम्भवत सर्वाधिक विस्तार मिलता है। ये लीलाएँ इस प्रकार की हैं

> **शृंगार रस विहार, प्रात. सेज्या विहार, सुरतान्त, मान विहार, रसो-**

दृगार, वसन स्नान समय, वेनी गुहन, नैन वर्णन, मुख वर्णन, हास, उरज वर्णन, चरण वर्णन, अग वर्णन, षोडश शृगार वर्णन, नवलता वर्णन, मोहन रस, गोरी जू को स्नेह, गान रस, भोजन-विलास, आरती बलैया, बन विहार, रसावेश, प्रिया जू के व्यग्य वचन, चरण स्पर्श रस, बतरस, स्तुतिरस, सखी की विकानि, उत्थापन समय, वसीवट को खेल, भेष पलट, आतुर रस, आँख-मिचौनी, मुरली रस, सभ्रम मान, श्री लाल जी के वचन, श्री प्रिया जू प्रति, श्री लाल जू के वचन, सखी, प्रति सखी वचन प्रिया जू प्रति, श्री लाल जू की उत्सुकता, सखी के चोज वचन, अभिसार, श्री किशोरी जू प्रेम वचन, अभिसार, सेज्यारस विहार, विपरीत विहार, सुरति युद्ध ।

इस प्रकार प्रेमलीला विषयक काव्य की पृष्ठभूमि के अध्ययन से स्पष्ट है कि इनके काव्य का अधिकाधिक भाग मात्र इसी से सम्बद्ध है। इनका आरम्भिक स्वरूप भोगपरक है। इन काव्यो की प्रकृति का अनुमान इन विषयो से सरलतापूर्वक लगाया जा सकता है।

स्वछन्द प्रेम

हिन्दी वैष्णव भक्तिकाव्य मे व्यवहृत प्रेमलीला का प्रथम चरण भोगपरक है। इसका प्रत्यक्ष सम्बन्ध काम एव कामपरक चेष्टाओ से है। सूरदास ने राधा एव कृष्ण के लिए अनेक स्थलो पर कोक कुशल, कोक कला प्रवीन (प्रवीण), कोक कला बिरपन्न (व्युत्पन्न) आदि सम्बोधनो का प्रयोग किया है। कोक मुनि रचित कोकविद्या या कोकशास्त्र मध्यकालीन भोगपरक चेष्टाओ का नियामक ग्रन्थ रहा है। फलत भोग की स्थिति विशेष मे शृगारिक चेष्टा को पूर्ण परिपाक काम शास्त्रीय ग्रन्थो के अनुमोदन से ही माना जा सकता है। सूर ने कृष्ण के विषय मे उल्लेख करते हुए एक स्थल पर स्पष्ट रूप से कहा है—

> सूर प्रभु रसिक प्रिय राधिका रसिकिनी
> कोक गुन सहित सुख लूटि लीने।[1]

सूर परवर्ती सभी कवियो ने राधाकृष्ण की 'कोक व्युत्पन्नता' की प्रशसा की है। कृष्ण भक्त कवियो मे प्राय अष्टछाप को छोडकर शेष अन्य

[1] पद स० २७४७, सूरसागर

सम्प्रदायो मे इस भोगपरक चेष्टा की बहुलता दृष्टिगत होती है। भक्त कवियो पर कामशास्त्रीय प्रभाव प्रत्यक्षत कामशास्त्र से न आकर काव्य परम्परा मे गृहीत कामशास्त्रीय प्रभाव का अवशेष प्रतीत होता है। इस दृष्टि से भक्तिकाव्य मे प्राप्त शृगार निरूपण, नायक नायिका भेद, नख शिख वर्णन, अलकरण एव वस्त्र सज्जा, आगिक चेष्टाएँ इसी परम्परा से सम्बन्धित है

इन भक्त कवियो ने इस प्रेम लीला-मूलक कथा के लिए अनेक नामो का प्रयोग किया है—

> **रस कथा[1], राधा कान्ह कथा[2], काम केलि कथा[3], अकथ कथा[4], प्रेम कथा[5], अदभुत कथा[6] आदि।**

भक्ति काव्य मे प्राप्त लीला प्रेम के लिए ये सम्बोधन शृगारिकता का ही प्रतिनिधित्व करते है। इन कवियो ने शृगार के इस स्वरूप का नामकरण मात्र शृगार के नाम से ही नही लिया है, इसके लिए काम, कोक, रति, केलि, लीला रस तथा सुरति शब्दो को शृगार के पर्याय-वाची शब्द के रूप मे व्यवहृत किया है। इन समस्त शब्दो मे 'रस' शब्द अधिक प्रमुख रहा है। 'रस' शब्द को शृगार, काम वासना शब्दो का पर्यायवाची स्वीकार किया गया है। कही-कही इन शब्दो के परस्पर पार्थक्य पर भी विचार किया गया है। तुलसी ने शृगार को प्रेम से निष्पन्न बताया है। सूर आदि परस्पर प्रेम से ही शृगार की उत्पत्ति बताते है। नन्ददास के अनुसार प्रेम के परम उच्छलन से विप्रलम्भ शृगार की उत्पत्ति होती है। अनेक स्थलो पर काम, कोक एवं रति पर्यायवाची शब्द के रूप मे प्रयुक्त हुए है। 'केलि' शब्द कही लीला का समानान्तर है, कही-कही भोग शृगार के अर्थ मे है और कही प्रेम के अर्थ मे।

---

१ सूरदास प्रभु रसिक सिरोमनि, यह रस कथा बखानी। सूर, २१२५

२ राधा कान्ह कथा ब्रज घर घर ऐसे जनि कहवै हो, सूर० २४४१

३ तिनहूँ सखियान पे काम केलि कथा, सुनि यातेसुधि पाई, ३४ सूरदासमदनमोहन

४ परमानन्दस्वामी की लीला अकथ कथा नहिं जानी, ३३७ परमानन्ददास सागर

५. श्रुति स्मृति वेद पुराना सोइ रहे विचारी। परमानन्द प्रेम कथा सबेहिन तै न्यारी, परमानन्द सागर १३१२

६ औरै कोक कला अग अग नचावति गुन गावति मैन
अद्भुत कथा व्यास के प्रभु की मोपै कहत बनै न :३२४: भक्तकवि व्यास जी, पदा०

७ छप्पय स० १ उत्तरकाड, रामचरितमानस, रोला स० १

८ विरह मजरी

इन सामान्य अर्थों के साथ-साथ केलि, काम, लीला एव रस शब्द आध्यात्मिक अर्थ मे भी प्रयुक्त हुआ है, जिनका उल्लेख आगे किया जावेगा। जहाँ तक रस शब्द मे शृगारपरक अर्थ का सम्बन्ध है, इसके प्रयोग की बहुलता इन काव्यो मे प्राप्त होती है। यहाँ रस के शब्दार्थ से तात्पर्य प्रेम, शृगार, भोग, आकर्षक, अगो के मानसिक प्रभाव एव शृगार जनित सुख से है। इस प्रकार रस के सदर्भ मे अनेक प्रकार के प्रयोग द्रष्टव्य है—

रासरसिकरस, अमियरस, लीलारस वार्तारस, शृगाररस, अखिरस, कन (कर्ण) रस, बतरस, चितवनिरस, नयनरस, गानरस, सुरति समय रस, अधरामृत रस, रास रस, विरह रस, रसिक रस, रसिकिनि (राधा) रस, अतिरस, विलास रस, मोहन रस, चरणस्पर्श रस, आतुर रस, सेज्यारस, विपरीत, विहार रस, सुरति रस, कुच रस।

प्रस्तुत सकलन मे रस सम्बन्धी अधिकाश शब्द प्रयोग शृंगार एवं तत्सम्बन्धी चेष्टा एवं प्रभाव से ही सम्बद्ध है। रूपगोस्वामी ने रति, काम, एव प्रेम को इस प्रकार परिभाषित किया है —

प्रेम—

यद्भावं बन्धन यूनो स प्रेमा परिकीर्तिता,[1]

नायक नायिका के युवावस्था सम्बन्धी पारस्परिक भावबन्धन को प्रेम कहते है।

रति—

स्थायिभावोऽत्र शृगारे कथ्यते मधुरा रति,[2]

जहाँ पर स्थायिभाव शृगार रहता है, वहाँ मधुरा रति होती है।

रति, प्रेम, स्नेह, प्रणय, राग एव अनुराग मे परस्पर भेद करत हुए रूपगोस्वामी ने इन्हे परस्पर कारण रूप स्वीकार किया है—

स्याद्धृयेय रति· प्रेमा प्रोद्यन्स्नेह · क्रमादयम्
स्यान्मान प्रणयोरागोऽनुरागो भाव इत्यपि।[3]

---

१ उज्ज्वलनीलमणि पृ० ४१८
२ वही पृ० ३८८
३ वही पृ० ४१६

इन्होने प्रेम का स्वभाव इक्षुरस की भाँति बताया है जो गुड, शर्करा आदि मे परिणत किया जा सकता है

बीजभिक्षु. स च रस स गुड खड एव स ।
स शर्करा सिता सा च सा यथा स्यात्सोपसा ।
अत प्रेम विलासा स्युर्भावा स्नेहादयस्तु षट् ।
प्रायो व्यवह्रियन्ते अमी प्रेम शब्देन सूरिभि. ।
यस्या यादृश जातीय कृष्णे प्रेमाभ्युदञ्चति ।
तस्या तादृश जातीय. स कृष्णस्याभ्युदीयते ।[1]

शास्त्रीय श्रृगार एव प्रेम के अन्तर्गत स्पष्ट किया जा चुका है कि भक्त कवियो की दृष्टि अधिकाधिक काव्यशास्त्रीय श्रृगार की ओर रही हे । किन्तु इसके साथ ही साथ स्वच्छन्द प्रेम की स्थिति कम नही है। इस स्वच्छन्द प्रेम का वातावरण कामशास्त्रीय प्रभावो से निर्मित रहा है । इस स्वच्छन्द प्रेम का विकास निम्नकाव्यशास्त्रीय वातावरण के अन्तर्गत हुआ है—

नायक भेद, नायिका भेद, परस्पर अनुराग, वय, वयसन्धि, स्वभावज एव अयत्नज अलकार वसन्त शरद् वर्षा विहार, पूर्वराग, मान, प्रेमवैचित्र्य, प्रवास, सभोग, श्रृगार के अन्तर्गत अग प्रत्यग वर्णन, रसावेश, सेज्या विहार, सुरति, सुरतान्त, सुरतियुद्ध आदि ।

श्रृगारमूलक इन काव्यशास्त्रीय सदर्भों के बीच कृष्ण के स्वच्छन्द प्रेम की लीलाएँ जोड दी गई है । इस प्रकार भक्ति एव श्रृगार के सयोग से काव्यतत्त्व की अधिकाधिक अभिव्यक्ति इन काव्यो मे मिलती है ।

इन काव्यो मे अभिव्यक्त प्रेम एव श्रृगार का आरम्भिक स्वरूप भोगपरक है । यह ऐन्द्रिक प्रेम पर आश्रित है । ऐन्द्रिक प्रेम वस्तुत शारीरिक यौन आकर्षणो एव तत्सम्बन्धी भोगपरक वृत्तियो पर आश्रित है । शारीरिक आकर्षण, युवावस्था सम्बन्धी यौन भावनाएँ, परस्पर सभोग-जनित चेष्टाएँ, कामुक प्रसग, परस्पर यौन भावना की तृप्ति के लिए विभिन्न आगिक प्रयत्न, श्रृगारोत्तेजक अगो के वर्णन इसके आधार हे । हिन्दी के वैष्णव भक्त कवियो ने अपने श्रृगार भाव को स्पष्ट करने के लिए

---

१. उज्जवलनीलमणि, पृ० ४१७

इन विषयो को अपनाया है। युवावस्था के विभिन्न आकर्षक अग, इसके मुख्य आधार है। इन अगो मे विशेष रूप से मुख, अधर, नेत्र, कुच, दन्त, ग्रीवा, स्तन, त्रिवली, कटि एव जानु की ओर इनकी विशेष दृष्टि गई है।

मुख मुख केउपमानो मे कमल एव चन्द्र तथा इसके पर्यायवाची शब्द अधिक हैं। इसके साथ ही इसके लिए प्रयुक्त संभावनामूलक कल्पनाजन्य अनेक उपमानो का प्रयोग मिलता है।

अधर अधर के उपमानो मे दाडिम एव बिम्बाफल का प्रयोग अधिक है। इसका उल्लेख रति क्रीडा के समय अधिक हुआ है। इस स्थिति मे प्राय अरुण अधर, खडित अधर, छत अधर, दशित अधर का उल्लेख अधिक मिलता है।

कटि इसका प्रयोग अपेक्षाकृत कम हुआ है। कृश कटि एव मुख मोड कर हँसने की स्थिति मे इनका प्रयोग अधिक है।

कुच इसका प्रयोग प्राय अधिक हुआ है। इसके पर्यायवाची नामो मे स्तन, पयोधर, उरज का भी उल्लेख प्राप्त है। पयोधर के साथ अधिकाश स्थलो पर पीन का विशेषण मिलता है। कई स्थलो पर स्तन कुलिश का भी प्रयोग प्राप्त है। वैसे यहाँ कुच प्राय विशालता, उत्तुगता एवं कठोरता से ही सम्बद्ध है। यह सभोग शृंगार के अन्तर्गत तीव्र भावोत्तेजन के लिए प्रयुक्त है। कुचो का उल्लेख इस प्रकार है–कुच कुलिस, कुच श्रीफल, कुच गुटिका, कुच शिखर, उत्तुङ्ग कुच, कुलिश कुच, प्रफुल्ल कुच, कठोर कुच, उत्तग कुच, कुम्भ कुच। भक्त कवि व्यास ने उरज वर्णन के अन्तर्गत इसकी अनेक भाव से प्रशसा करते हुए इसे रूप, रस एवं गुण आदि से सयुक्त बताया है।

नेत्र यह अपनी चेष्टा एव स्वरूप की दृष्टि से शृगार भावना का प्रमुख प्रेरक अग माना जाता है। प्राय सभी कृष्ण भक्त कवियो ने स्वतन्त्र रूप से नेत्र विषयक पदो की रचना की है। नेत्र विषयक पद संख्या मे सर्वाधिक सूरदास एव भक्त कवि व्यास के है।

नेत्र सम्बन्धी विशेषण

कमल नयन, लोचन चकोर, नयन भृग, लोचन भृग, अजित लोचन, स्फुट लोचन, तृषित लोचन, चपल नयन, अनियारे नयन, धृष्टनयन, चेरे-नयन, लालची नयन, पखेरू नयन, भृगनयन, बीधे नयन, घर के चोर नयन, रसलपट नयन, रगीले नयन, बटयारीनयन, चोर नयन, कुरगनयन, सुभट

नयन, हठीनयन, नमकहरामी (लोनहरामी) नयन, चपल नयन, दीरघ नयन, अलसित नयन, बिछुरे नयन, वकिमनयन, स्याम सुधा रस पगे नयन, रीझे नयन, लुब्धे नयन, खोए नयन, स्वारथी नयन, दीरघ नयन, गर्वभरे नयन, करसायल नयन, नयन खग, खजन नयन, नटवा नयन आदि ये विशेषण पूर्णत युवावस्था के उत्तेजक भावो का प्रतिनिधित्व करते है। इनमे सुभट, अनियारे, धृष्ठ, चेरे, लालची, बीधे, घर के चोर, रस लपट, रगीले, बटयारी, चोर, हठी, नमकहरामी, चपल, बकिम, रीझे, लुब्धे, स्वारथी, खोए, करसायल, गर्वभरे आदि विशेष प्रियतासूचक भावो से सम्बद्ध है। वस्तुत इस स्थिति मे नेत्र प्रेम व्यजना के माध्यम नेत्र विषयक भाव वास्तविक रूप मे मानसिक आसक्ति से सम्बद्ध है। इस प्रकार प्रेम के मूल आश्रय नेत्र है।[1]

नेत्रो से प्रेममूलक क्रिया-व्यंजनाएँ

इन कवियो ने नेत्रो के प्रसग मे आसक्तिमूलक अनेक क्रिया व्यजनाओ का भी व्यवहार किया है। इनकी व्यजना का मूल भाव प्रेम-प्रगाढता की सूचना देना है—ये इस प्रकार है रूप के प्रति नेत्रो की आकुलता, दर्शन की उत्कट लालसा के लिये अनन्त लोचनो की आकाक्षा, मन, क्रम, वचन से मात्र कृष्ण के दर्शन की लालसा, बार-बार इनकी आकुलता, अनिर्वचनीय भाव, कृष्ण के पीछे अनुरक्त होकर घूमना, कृष्ण के प्रति आँखो का व्रताचरण, कृष्ण के प्रति परम उत्कटता, कृष्ण को देखने के लिए एक मात्र

---

१. उरज जुगल पर सहज स्याम छवि, उपमा कहि सब कवि पचि हारे।
रूप बरन गुन जस, रस राचे सुख की रासि दुग्बारे। भक्त कवि व्यास जी, पदावली प० स० ३५३

* *

सब अग कोमल उरज कठोर ! ,, प० स० ३५४.

* *

सब अगनि के है कुच नाइक ! प० स० ३५५.

* *

बधिक हूँ ते अधिक उरज की चोट । प० स० ३५६

× ×

सब अगनि मॅह उरज निकसे। प० स० २५७

× ×

सब छवि को फल उरज अन्यारे। प० स० ३५९

× ×

याही ते माई कुचनि के कौर भये कारे। प० स० ३५९

साध, चारु अवलोकनि से युक्त नेत्रो के ये व्यापार कृष्णासक्ति के सदर्भ मे प्रयुक्त हैं। इनकी आसक्ति एकमात्र कृष्ण प्रेम से ही सम्बन्धित है।

इन नेत्रो के साथ व्यापार विशेषकर युवावस्था सम्बन्धी कटाक्ष का उल्लेख सयोग या स्मृति सचारीभाव के अन्तर्गत हुआ है। इस प्रसग मे कटाक्ष द्वारा उत्पन्न काम पीडा को व्यक्त करने के लिए भ्रूवकिमा का उल्लेख हुआ है। ये विशेषण इस प्रकार है।

भौह धनुष, कटाक्ष तीर, भौह घन, बकिम भौं, बक अवलोकन, भौं कोदड, बक भृकुटि, नेजा भौ इत्यादि।

नेत्र के अतिरिक्त सामान्य शरीर के लिए प्रयुक्त विशेषण पूर्णत भोगपरक एव वासनोत्तेजक है। इन विशेषणो मे शरीर के लिए कचन खम्भ, तन कवच, मदन वल्ली, मरकतदेह, कचन मणि, कचन लता आदि शब्दो का प्रयोग हुआ है। ये प्रायः शरीर की गौरता, लावण्य, प्रियता एवं मादन भावो के लिए व्यग्यार्थरूप मे प्रयुक्त है जहाँ तक मन एव तत्सम्बन्धी प्रेमाकर्षण का सम्बन्ध है, इसके लिए भी व्यजनामूलक शब्दावली का प्रयोग यहाँ मिलता है। इन व्यजनाओ मे मन का उरझ जाना, खो जाना, पागल हो जाना, अपहृत हो जाना, ठग लिया जाना, भृकुटि कटाक्ष मे मन-मृग का बिध जाना इत्यादि व्यजनाएँ प्रेमासक्ति एव शृगार से सम्बद्ध है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि शारीरिक अग-प्रत्यगो के विभिन्न प्रेम सदर्भो मे प्राप्त वर्णन तत्सम्बन्धी तीव्र आसक्ति एव भोगपरकता की व्यजना करते है। इन अग-प्रत्यगो द्वारा प्रेम सम्बन्धी विभिन्न शारीरिक एव मानसिक चेष्टाओ की व्यजना हुई है।

प्रेम सम्बन्धी शारीरिक चेष्टाएं

ऐन्द्रिक प्रेम की अन्तिम परिणति शारीरिक चेष्टा मे होती है जिसके माध्यम से आश्रय एव विषय तृप्ति का बोध करते है। प्रेम की यह स्थिति नायक-नायिका दोनो से सम्बद्ध है। प्रेम मिलन की परस्पर निम्न चेष्टाएँ इन काव्यो मे दृष्टिगत होती हैं।

नायक पक्ष अनुराग के कारण व्याकुलता, पाग सँवारना, मुस्कराकर देखना, पाग ठीक करना, नमस्कार के प्रत्युत्तर मे अधरो का स्पर्श, कौटुम्बिक जनो के बीच प्रेम स्पष्ट करने के लिए प्रेम व्यजक सकेत, हाथो को

चरण से छूकर सिर से लगा लेना, अपनी भुजाओ से अपना अक भर लेना, मुरली के मधुर गान से प्रभावित करना, सर्वस्व हरण करना, बॉह मरोडना, धृष्टता करना, बहुरमणी रमण करना, आलिगन करना, नागरी के रस मे मत्त रहना, सकेत स्थल पर जाना, रति मे निपुणता प्राप्त करना, विलास-क्रीडा मे रतिपति को लज्जित करना, प्रेम से तिय को अक मे भर लेना, प्रिया को वमनहीन करना, गोपियो को उन्मत्त करके भुजाओ मे भर लेना, सुरति रति मे तृप्त रहना, उँगलियो से नायिका के बाल ठीक करना, मुखचन्द्र का चुम्बन, अधरो को दाँतो से भर लेना, नायिका को विवश कर देना, नायिका के अग कॉपने पर उन्हे हृदय से चिपका लेना, राधा के साथ सुरति मे भीग जाना, रति से थक कर सुस्ताना, रति के उपरान्त सकोच से हँसना, कोक गुण व्युत्पन्नता, अनेक कोक कलाओ से युक्त परस्पर क्रीडा, नायिका के ऊपर पीत पट डालकर उसे छिपा लेना, कचुकी खोलना, नखक्षत करना, भुजाओ मे नायिका को लपेट लेना, कोक गुण से आनन्द भोग करना, रति सग्राम रोपना, अगो को प्रत्येक अगो से चिपका लेना, अक जोडकर पर्यंक पर लेटना, प्रिया का आँख मूँदना, कुचो का स्पर्श करना, हर्षित होकर अक मे भर लेना, चन्द्रावली आदि सखियो के गृह गमन, मान, दूती से सदेश भेजना, झूलना मे भाग लेना, वसन्तलीला का नियोजन करना, होरी, यमुना क्रीडा इत्यादि।

नायिका पक्ष यमुना जल विहार, कृष्ण दर्शन की लालसा, प्रतीक्षा, प्रेम के कारण अश्रु प्रवाह, कृष्ण विषयक तीव्र आसक्ति, मुग्धभाव से आकर्षण, कृष्ण के लिए एकमात्र साध, मन, कर्म, वाणी से प्रिय के प्रति एकाग्रता, कृष्ण को देखने के लिए एक मात्र उत्कटता, रूप के प्रति पूर्ण तादात्म्य की भावना, प्रेम की पूर्णता, लावण्य का तीव्र भाव, घरद्वार का त्याग, नित्य-क्रीडा, कोककला मे कुशलता, रूपरसराशि से विह्वल, बेदी सँवारने के बहाने से पाँव पकडना, हृदय पर हाथ रखना, कौटुम्बिक जनो के बीच लज्जा के कारण प्रेम व्यंजक सकेत, हरि दर्शन के बिना कल न पडना, एकाएक हरि की दृष्टि पड जाने पर स्वेद का आ जाना, हरि के बिना घरबार का अच्छा न लगना, हरि के साथ मन का चला जाना, दर्शनरस के लिए लोक वेद की मर्यादा का त्याग, कृष्ण का नाम सुनकर बावला हो जाना, घर मे सास तनय का त्रास सहना, श्याम के रंग मे रँग जाना, हँसकर कृष्ण को कठ लगाना, श्याम को अक मे लेना, श्याम रस के वश मे होना, परस्पर

केलि क्रीडा मे बेसरि का खो जाना, कुज भवन मे रति–युद्ध करना, रमविहार मे मग्न रहना, रति के उपरान्त वसन ठीक करना, मरगजी साडी पहनना, नई अँगिया का मसक जाना, हार, चीर एव चोली से शृगार की सेना सजाना, प्रीतम के लिए सेज-सज्जा, प्रगाढ रति से व्याकुल हो जाना, विपरीत रति, चोलीबन्द का टूटना, चोली के वस्त्र का तरकना, दरकना, रति सग्राम युद्ध, रति युद्धस्थल मे मूछित होकर गिर पडना, विपरीत भूषण-शृगार, नैनो का लगना, खडिता प्रकरण, मानलीला, व्यग्य वचन आदि।

अलंकरण

अलकरण के अन्तर्गत इन कवियो ने युवावस्था के अनेक उत्तेजक तत्त्वो को लिया है। साहित्य मे अलकरण का उल्लेख उद्दीपन विभाव के अन्तर्गत होता है। यहाँ भी ठीक उसी सदर्भ मे नायक नायिका पक्ष के परस्पर भाव उद्दीपन के रूप मे उनका प्रयोग किया गया है।

नायक पक्ष

पीताम्बर, कछनी, कनक छिद्रावली, मोती की माला, चन्दन, कु डल, कचन मेखला, केशर लेप, तिलक, मुरलिका, मोरचन्द्रिका, पीताम्बर, वेषभूषा, माल्यानुलेपन, वशीरव, शृगीरव, गीत भूषणक्वणनन, निर्माल्य, गु जमाला, आर्षिधातु, गोधूलि, रजकण, पाग, चौतनी आदि।

नायिका पक्ष

मृगमद, मलयज, केशरि, कपूर, कुकुम, अगरु, अरगजा आदि चन्दन के लेप, कचुकी, ताम्बूल आदि।

इन अलकरणो के द्वारा युवावस्था मे कामुकता के प्रेरक तत्त्वो की ओर ही सकेत किया गया है। वैष्णव भक्तिकाव्य के अन्तर्गत यह सामन्तवादी सौन्दर्य प्रवृत्ति के ही फलस्वरूप आया है।

कृष्ण एवं राधा

कृष्ण एव गोपियो की प्रेम सम्बन्धी अनेक स्थितियाँ है। कृष्ण एक स्तर पर निराकार ब्रह्म, दूसरे स्तर पर लीलाधारी विष्णु एव तीसरे स्तर पर गोपपुत्र है इसके अतिरिक्त इनका एक चौथा स्वरूप भी है। वह रसभोक्ता

एव विभाव के अन्तर्गत आश्रयालम्बन का । वह स्वत रसिक है । फलत. रस निष्पत्ति एव प्रेम व्यजना के लिए इनके तत्सम्बन्धी गुण अनिवार्य है । गोप-कृष्ण के लिए भक्ति और प्रेम दो ही मूल कारण बताए गए है। प्रेम एव शृ गार की दृष्टि से कृष्ण आलम्बन एव उद्दीपन दोनो है ।[1] कृष्ण का स्वभाव रम का मूल कारण है । ये गोपियो के कमल नयन के लिए मृगवत् रस लपट है ।[2] उनकी सुन्दरता आकर्षण का मुख्य आधार है । उनकी माधुरी मूर्ति भक्तो को आकृष्ट करती है ।[3] वे अद्भुत केलि रस के सयोजक, सौन्दर्य मे मदन के गर्व को नष्ट करने वाले, एव मुरली धारण करके चराचर को मुग्ध करने वाले है ।[4] निम्बार्क माधुरी मे श्रीहरिव्यास देव ने राधाकृष्ण के युगल स्वरूप का वणन करते हुए कृष्ण के निम्न गुण बताए है—कृष्ण कोटि कन्दर्पो की छवि से अलौकिक, सरस अनुराग के रग मे रजित, मजुल मुकुट से युक्त, मयूर चन्द्रिका से शोभित, शीश पर पुष्पो की शोभा से युक्त, ललाट पर अकित तिलक से विभूषित तथा उनके श्रवण मे ताटक, अजन विमज्जित नील आँखे, राधा के लिए आकर्षक है ।[5] इसी निम्बार्क माधुरी मे श्री भट जी ने श्री कृष्णशरणपटि श्लोक के अन्तर्गत कृष्ण के लिए अनेक प्रेममूलक विशेषणो का प्रयोग किया है । इन विशेषणो को स्पष्टता की दृष्टि से स्थानसूचक, रूपसूचक, कुलसूचक, अलौकिक सम्बन्धसूचक एव कार्यसूचक श्रेणियो के अन्तर्गत रखा जा सकता है । रसबोध एव आनन्द की स्थिति मे रूप, स्थान एव कुलसूचक विशेषण आलम्बनत्व की स्थिति विशेष कार्य सूचक भोक्ता की दशा तथा अलौकिकता एव शौर्यसूचक विशेषण इनके ब्रह्मत्व कृष्ण के ये विशेषण अधिकाशतया तथा मध्यकालीन स्वच्छन्द प्रेम-वृत्ति के सूचक हैं । इसके अतिरिक्त भी कृष्ण भक्ति साहित्य मे विलासिता-सूचक विशेषणो की भी सख्या पर्याप्त है । ये विशेषण मध्यकालीन सामाजिक जीवन वृत्ति के सूचक हैं । आपेक्षिक तुलना की दृष्टि से कृष्ण भक्ति साहित्य से पृथक् रामभक्ति साहित्य मे राम से सम्बन्धित विलासिता-

---

१ परमानन्द सागर प० स० ३३९
२. मीरा सुधासिंधु, प० स० ८
३. श्री विट्ठल विपुलदेव, निम्बार्क माधुरी, प० म० १२
४ निम्बार्क माधुरी, स्वामी हरिव्यास जी, प० स० १३
५ वही ,, २२

सूचक विशेषणो की सख्या कम है। रामभक्ति के मधुर सम्प्रदाय मे विलासिता-सूचक विशेषणो की न्यूनता है। किन्तु मधुर सम्प्रदाय के राम एव कृष्ण अनेक स्तर पर एक हो जाते है। तुलसी ने भी रामसौन्दर्य निरूपण के सम्य अनेक स्थलो पर उन्हे काम के मद को मर्दन करने वाले, कोटि काम स्वरूप, कन्दर्प को लज्जित करने वाले आदि विशेषणो से युक्त बताया है। किन्तु कृष्ण स्वरूप निरूपण के सदर्भ मे प्रयुक्त विशेषणो को देखते हुए इन्हे अति सामान्य कहा जा सकता है। कृष्ण के विलासितासूचक विशेषण इस प्रकार है—लोभी लाल, रस विवश, रसिक, रसिकशिरोमणि, कोककला प्रवीण, कोक कुशल, रति लपट, कामिनी के लिए कुज मे भटकने वाला, भृकुटि कटाक्ष से ग्रग-सकेतो पर नाचने वाला, राधा के कुच से रक्षित, अग-अग के रग रस मे प्रवाहित, राधा के अधररस के भोक्ता, राधा के भ्रू विलास से खरीदा हुआ, वृषली, राधा के मुस्कान मात्र से विवश, रति रस रसिक, राधा के अनुचर, राधा के वियोग मे जीर्ण शीर्ण, हा राधे, हा राधे कहकर विलाप करने वाला, स्वामिनी के कुचो के बीच स्थित, सुरति के रस सिन्धु मे आचूड विहार करने वाला, राधा रमण, नखशिख कुसुमवाण से पीडित।

राधा के विशेषण कृष्ण की भाँति इन कवियो ने राधा को अनेक रूपो मे प्रयुक्त किया है, किन्तु यहाँ उनका रसिक स्वरूप ही अभिप्रेत है। राधा की रसिकता की तुलना मे गोपियो की रसिकता निरर्थक जान पडती है। इन विशेषणो मे भोग का उत्कट स्वरूप इनकी रसिता का सूचक है। रूप-गोस्वामी ने उज्ज्वलनीलमणि के नायिका भेद निपण के अन्तर्गत राधा प्रकरण नाम से इनकी विशेषताओ से सम्बन्धित एक नया अध्याय ही लिखा है। यहाँ राधा को सुष्ठुकान्ता, धृतषोडश श्रृंगार, द्वादशा भरणाश्रिता तथा वृन्दावनेश्वरी की सज्ञा मिली है। वृन्दावनेश्वरी के रूप मे इनके गुण इस प्रकार है—मधुरा, नवागा, चपलाँगी, उज्वलस्मिता, गन्धोन्मादिता माधवा, सगीतप्रसराभिज्ञा, रम्यवक्, नर्मपडिता, विनीता, करुणापूर्ण, सुविलासा, महाभाव परमोत्कर्षिनी इत्यादि सम्बोधनो से पुकारा है।[1]

वैष्णव भक्त कवियो ने राधा को परम रसिक कहा है। वल्लभ सम्प्रदाय मे राधा का स्वरूप किंचित् सयमित है। किन्तु हरिव्यासी, हरिदासी, राधावल्लभी एव गौणीय सम्प्रदाय मे राधा का शृगार एव भोगपरक रूप

१ उज्ज्वलनीलमणि, राधा प्रकरण

अधिक प्राप्त है। राधावल्लभी सम्प्रदाय मे राधा का शृगार नायिका-आरब्ध ही मिलता है। वहाँ राधा को कृष्ण प्रभावित नही करने अपितु कृष्ण को स्वत राधा अपने लावण्य से प्रभावित करती है। राधा की चेष्टाएँ इनमे प्रधान है। कृष्ण इन चेष्टाओ से प्रभावित होते है। सूरसागर मे राधा की निम्नलिखित विशेषताओ का उल्लेख मिलता है—रस रुप से युक्त, श्याम की प्यारी, काम से द्वन्द करने वाली, आनन्दपरिपूर्ण, कृष्ण-सौन्दर्य को देखकर विस्मृत होने वाली, कृष्ण के मुख शशि के लिए चकोर, कृष्ण के सौन्दर्य मात्र से थकित, लोकलज्जा का विस्मरण कर देने वाली, कृष्णके दर्शन मात्र मे गदगद, कृष्ण के दर्शन से आनन्दित, रसिक राधिका, कृष्ण की शोभा मे विभोर, रुपसुधानिधि मे सुप्त, हरिरूप पर लुब्ध, कृष्ण प्रेम के पुलक तथा स्वेद से भीगी, श्याम के रग मे रँगी, रूप रस राशि से खचित, नन्द सुवन के हाथो बिकी, कृष्ण के पद पराग मे अनुरक्त आदि।

राधा की इन विशेषताओ का विकास पुराणो से ही हुआ है, इसका सकेत 'ब्रह्मवैवर्तपुराण' मे मिल जाता है। यहाँ राधा के १६ नाम है—राधा, रासेश्वरी, रास वासिनी, रसिकेश्वरी, कृष्ण प्राणाधिका, कृष्णवामाश सम्भूता, परमानन्दरूपिणी, कृष्णा, वृन्दावनी वृन्दा, वृन्दावन विनोदिनी, चन्द्रावली, चन्द्रकान्ता, शतचन्द्रनिमानना। हरिदास स्वामी ने राधा के विशेषणो की एक लम्बी सूची दी है। यह सूची उनके विलासमूलक भाव से ही सम्बद्ध है—

रूपसूचक विशेषण - अद्भुत आननी, मनहरमानिनी, गुणनिधिगर्विता, अधर-भाव प्रवालिनी, रदन सुढारिनी, नासा चटकिनी, पियमन अटकनी, नैन विसालिनी, रूप रसालिनी, अजन अजिता, चितवनि चतुरा, भौहे सोहिनी, कठ अदूषना, मुक्तादामिनी, नाम सुदेशिनी, सुन्दरग्रीवनी, सोभा सीवनी, बाहु-विचित्रनी, पृथुल नितबिनी।

कार्यसूचक मृदु मधु मुसकनि, प्रियाजनी, विरह विमजिनी, प्रेम पयोधिनी, रति रस बोधिनी, सब गुन सागरी, बीरी चर्विता, चिबुक सुचालिनी, कचुकि कसवनी, नवरगवासिनी, उरज सुढारिनी, मनिगनहारिनी, चूरीचित्रनी, नकबेसरिधरा, कचन कचना, महारस सचिना, पहुँचिप्रभाविका, हरिकरपानिनी-रूपविधानिनी, रस सुललिनी, रस सुकेलिन, किकिन बाजनी, महारससधना, पियहिमहारिनी, रसविस्तारनी इत्यादि।

अलौकिक प्रभाव सूचक • भवभजनिभवा, प्रबलभक्तिदा, तुरियविरक्तिदा ।

स्वभाव एव अलकरण सूचक अगनित भावुका, प्रेमप्रदायिका, छविचपकदनी, कान्ताकामिनी, गुल्फसुमज्जिता, एडीअद्भुता, नखमनिसदनी ।

राधा के साथ यहाँ गोपियो की प्रेमस्थिति से सम्बन्धित विशेषण भी मिलते है । राधा सम्बन्धी इन विशेषणो की तुलना मे ये सामान्य है, ये इस प्रकार है—

कृष्ण के प्रति आतुर, कृष्ण स्वरूप को देखकर थकित, कृष्ण की शोभा मात्र से उत्कठित, कृष्ण के विरह मे विह्वल, श्याम वियोग मे ठगी, नित्य प्रति प्रीति की कथा दुहराने वाली, विरह दावाग्नि मे नखशिख प्रज्वलित, काम शर से पीडित, हरिदर्शन के लिए तृषित, अनाथ, व्याकुल, अतृप्त, दुखित, विरहित, अपराधी लोचनो वाली इत्यादि ।

राधा के ये विशेषण मध्यकालीन शृगारपरक प्रवृत्ति के परिचायक है । मध्यकालीन हिन्दी कवियो की प्रवृत्ति स्त्रियो के प्रति अत्यधिक आसक्ति-प्रधान हो चुकी थी । साम्प्रदायिक एव सम्प्रदाय मुक्त सभी प्रकार के कवि नख शिख वर्णन, अलकरण, युवावस्था के उत्तेजक भावो को केन्द्र मे रख कर ही नारी का मूल्याकन करते थे । भक्त कवियो पर भी इस दृष्टि का प्रभाव स्पष्ट रूप से दिखाई देता है । आरम्भिक भक्त कवि अपने को विवेक एव भक्ति के आदर्शों से बचाते रहे है । किन्तु परवर्ती कवियो मे यह शृगारिक प्रवृत्ति अत्यधिक प्रधान हो गई । विशेष रूप से निम्बार्क तथा राधावल्लभ सम्प्रदाय के कवियो मे इस भाव की अधिकता मिलती है ।

निष्कर्ष

इस प्रकार ऐन्द्रिक प्रेम की अभिव्यक्ति एव तत्सम्बन्धी व्यजना के उपकरणो अग प्रत्यग, अलकरण, चेष्टा आदि के अध्ययन से स्पष्ट है कि इनके द्वारा स्थापित प्रेमलीलावाद का प्रथम चरण वासनात्मक एव ऐन्द्रिक है, किन्तु यह ऐन्द्रिक प्रेम भक्त कवियो का अभीष्ट नही है । व्यवहारजगत मे यह सन्त उदासीन कृष्ण के उपासक एव वासनाविरत है, वैराग्यमूलक प्रवृत्ति के विरोध मे ये भौतिक ऐन्द्रिक उपासना को प्रकृत्या उपेक्षित समझते है । यह सत्य है और जैसा इस प्रेम सिद्धान्त के स्वरूप को स्पष्ट करते समय कहा गया है कि आन्तरिक विषय वासना का उदात्तीकरण इनके प्रेमलीलावाद की मानसिक चेतना है । मनोवैज्ञानिक दृष्टि से विषय-वासनाओ को ही आधार बनाकर

तत्सम्बन्धी वासना को कृष्णार्पण उनका मूल उद्देश्य है । मध्यकालीन सामन्तीय वातावरण के प्रभाव से राधा और कृष्ण की लीला पूर्णरूपेण वासनात्मक हो चुकी थी । यकायक हिन्दी के उल्लेख के अनुसार सामान्य वातावरण मे राधा कृष्ण के प्रेम शृगारमूलक गीत लोक प्रचलन मे थे। जयदेव ने राधा कृष्ण की लीला मे विलास कला के कुतूहल को मूलाधार माना है । 'आइने-अकबरी' मे सगीतकारो द्वारा राधा कृष्ण की रति क्रीडा पर कथा के गाए जाने का स्पष्ट उल्लेख प्राप्त है ।[1] मुगलकालीन चित्रकला मे राधा कृष्ण की परस्पर नग्न शृगारपरक चेष्टाएँ प्रमाण है कि इन्हे सामान्य लौकिक शृगार के वातावरण पर उतारा जा चुका था । हिन्दी साहित्य के रीतिकाल का वातावरण सूर आदि की भूमिका मे कम निर्मित हुआ है, उसके निर्माण की प्रक्रिया ही पृथक् थी । इन कवियो ने तो लोक प्रचलित राधा कृष्ण की प्रेम लीला को आध्यात्मिक अर्थ देकर उसे गर्हित होने से बचाया ।

शृंगार का अध्यात्मीकरण

इन भक्त कवियो ने कृष्ण के लौकिक व्यक्तित्व के उदात्तीकरण की ओर निरन्तर सचेष्टता प्रगट की है । लौकिक व्यक्तित्व एव ऐन्द्रिक प्रेम की स्थिति, लीलाप्रेम के अन्तर्गत देखी जा चुकी है, किन्तु इनका प्रयोजन मात्र उसकी अभिव्यक्ति नही है । समस्त लीला लौकिक एव अलौकिक भाव से सकेतिक है । शृगार रस का मधुर रस मे पर्यवसान उज्ज्वल पवित्र रस के रूप मे हुआ है । राधा और कृष्ण के लौकिक व्यक्तित्व मात्र एक निश्चित दृष्टि तक ही सीमित है, यह दृष्टि है प्रेमपात्रता की । दोनो प्रेमपात्र है । प्रेम की स्थिति मे उनका भाव शृगार है, किन्तु यह शृगार आध्यात्मिक वातावरण के प्रभाव से उदात्त एव उत्कृष्ट हो गया है । उसकी भोगपरकता इन कवियो को कदापि प्रयोज्य नही है । इनके इस उदात्त शृगार की व्याख्या इनके काव्य मे प्राप्त आनन्द से ही की जा सकती है ।

प्रेम का अध्यात्मीकरण इनके काव्य की मूल समस्या है । एक शृंगारपरक पद की अनुभूति हमे उसी रूप मे न होकर, क्यो सात्विक रूप मे होती है इसका सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कारण है—धार्मिक वातावरण । लीला की व्याख्या करते हुए बाल अली ने कहा है कि सृष्टि एकाकी नही हो सकती

१ सूर पूर्व ब्रजभाषा साहित्य, शिवप्रसाद सिंह, पृ० १४६, २२५ तथा २२८

सीताराम की शक्ति है, राम सीता के सयोग से स्वेच्छया लीला सृष्टि करते है।[1] लीला विषयक आचार्य वल्लभ की भी इसी प्रकार की व्याख्या है । कृष्ण की प्रेम लीला को वैष्णव भक्त कवि अगम्य, दुर्लभ, विचित्र आदि नामो से पुकारते हे । इसका मूल रहस्य यही है कि लौकिक लीला अन्तत आध्यात्मिकता मे कैसे परिणत हो जाती है। वस्तुत लीला का यही रहस्य है। लीला के पात्र, स्वत लीला की स्थिति एव लीला के फल अपने मूल मे शृगार के उद्दीपक न होकर आध्यात्मिक अनुभूति के सयोजक है । यही अनुभूति लीला को भोगपरक होने से बचाती है। हिन्दी वैष्णव भक्तिकाव्य मे शृगार विषयक दो प्रवृत्तियाँ मिलती है—प्रथम के अनुसार शृगार मर्यादोचित नही है। फलत काव्य मे इसका निरुपण नही होना चाहिए। यदि यह सयोगवश होता है तो विवेक एवं मर्यादा से इतना शासित रहे कि उसका रतिभाव उत्तेजक न हो मके। तुलसी की धारणा कुछ इसी प्रकार की है।[2] मानस मे जहाँ कही खुलकर शृगार निरूपण का प्रश्न आया कवि ने उसे अपने विवेक से सयमित करने का प्रयत्न किया है । बालकाड मे धनुर्भंग के अवसर पर कवि ने सीता का सौन्दर्य चित्रण किया है, किन्तु उसमे शृगार भाव को विकसित होने का वह अवसर नही देता। कवि द्वारा लगाए गए प्रतिबन्ध अत्यधिक सशक्त हैं—

१ सिख हमारि सुनि परम पुनीता। जगदम्बा मानहु जियं सीता ।
२ सिय सोभा नहिं जाइ बखानी। जगदम्बिका रूप गुन खानी ।
३ सोह नवल तनु सुन्दर सारी । जगत जननि अतुलित छबि धारी ।[2]

इस प्रकार स्पष्ट है कि कवि शृगार को स्फुटित होने का अवसर नही देता।[3] किन्तु इसके साथ ही वैष्णव भक्तिकाव्य मे एक ऐसी भी विचारधारा है, जो शृगार को अपने काव्य की प्रधानवस्तु स्वीकार करती है। इस विचारधारा के समर्थक हैं, लीलावादी कृष्ण कवि तथा मधुरोपासक रामभक्त। उनके अनुसार कृष्ण की समस्त शृगार लीला भक्ति काव्य के लिए अनिवार्य है। लीला के सदर्भ मे इसकी अनिवार्यता के कारण पर प्रकाश

---

१ रामभक्ति में मधुर उपासना, भुवनेन्द्र मिश्र माधव, पृ० १३७

२ जगत मातु पितु सभु भवानी। तेहिं सिंगारू न कहौं बखानी। मानस बालकाड, दो० १०३

३ मानसः बालकांड, दो० स० २४६, २४७, २४८

४. विशेष के लिए प्रस्तुत प्रबन्ध का अध्याय, ७

डाला जा चुका है। इस श्रृगार का स्वरूप क्या हो इसके विषय मे उनकी व्याख्या स्पष्ट है। वे श्रृगार लीला को श्रृगार के रूप मे न देखकर भक्ति के रूप मे देखते है। उनके अनुसार श्रृगार का तात्पर्य लीला के अर्थ मे उज्जवलरस मे है। रूपगोस्वामी का उज्वलरस श्रृगारमूलक भक्तिरस ही है। आचार्य वल्लभ ने इस श्रृगार के लिए धर्मसहित सभोगरस की सज्ञा दी है। उनके अनुसार गूढभक्ति भाव की निष्पत्ति इसी धर्मसहित सभोग मे ही सम्भव है।[1] इस प्रकार स्पष्ट है कि वे श्रृगार लीला को अपने काव्य का वर्ण्यवस्तु मानने के लिए तैयार हे, किंचित सशोधन के साथ। तात्पर्य यह कि इनके काव्य मे वर्णित श्रृगार रस न होकर वस्तु है, जिसकी व्यजना भक्तिरस की निष्पत्ति कराती है। इसीलिए भक्त कवि स्थल-स्थल पर चेतावनी देता चलता है कि भक्त पाठक उनके काव्य की कही श्रृगार मान कर अनर्थ न कर बैठे—

> **यह उज्जवल रसमाल कोटि जतनन कै पोई।**
> **सावधान वे पहिरो इहि तोरी मति कोई।**[2]

सिद्धान्त पचाध्यायी मे कवि ने स्पष्ट रूप से कह दिया है कि लीलामूलक भक्तिकाव्य मे जो श्रृगार देखता है, उसकी दृष्टि दूषित है—

> **जे पडित श्रृगार ग्रन्थ मत यामे साने।**
> **ते भेद न जाने हरि को विषई माने।**[3]

इस प्रकार स्पष्ट है कि मध्यकालीन लीलावादी कवि श्रृगार को स्वीकार करते है किन्तु परिष्कृत रूप मे। इस परिष्करण के लिए उन्होने आध्यात्मिक वृत्ति अपनाई है। दूसरे शब्दो मे उनके काव्य मे श्रृगार का अध्यात्मीकरण किया गया है।

इस अध्यात्मीकरण के लिए कवि ने किन माध्यमो को आधार बनाया है, यही विवेच्य प्रश्न है ?

क रूपयोजना के द्वारा अध्यात्मीकरण

वैष्णव भक्त कवियो की अध्यात्मीकरण की प्रवृत्ति के अन्तर्गत रूप-योजना की शैली प्रयुक्त है। इस शैली के माध्यम से वे कृष्ण के रूपनियोजन

---

१ दे० प्रस्तुत प्रबन्ध, भक्तिरस बोध के सिद्धान्त, अध्याय ४

२ रासप चाध्यायी, अध्याय ५, पंक्ति स० ५९७, ९८

३ सिद्धान्त पचाध्यायी, पक्ति स० ९७, ९८

के सदर्भ मे आध्यात्मिक, धार्मिक या अलौकिक प्रसग जोडते चलते है। इस रूपनियोजन की पद्धति इस प्रकार है—

पुराण कथित कृष्ण विषयक उपकरण · पुराणो मे कृष्ण के रूप नियोजन एव सौन्दर्य चित्रण के सदर्भ मे गोधूलि, गौरोचन, शृगिका, वशी, वहॅगुज, लकुटी, मोरचन्द्रिका पीताम्बर, बनमाल आदि उपकरणो का उल्लेख मिलता है। कृष्ण की पुराणलीला के सदर्भ मे ये उपकरण अत्यधिक रूढ हो गए हैं। शृगार लीला के इनके सकेतो द्वारा कवि बोध कराता चलता है कि यह यह लीला सामान्य व्यक्ति नही पुराण पुरुषोत्तम की है।

कृष्ण का अग वर्णन भक्ति एव पौराणिक परम्परा मे कृष्ण का अग-प्रत्यग वर्णन प्राय रूढ-सा हो गया है। कमल नयन, शख ग्रीव, श्याम-वपु, क्षीणकटि, विशाल भृकुटी आदि विशेषणो से युक्त श्रीकृष्ण पौराणिक परम्परा से ही मान्य होते चले आ रहे है। इन विशेषणो की लम्बी सूची पहले दी जा चुकी है। कृष्ण के ये विशेषण तत्सम्बन्धी शृगारिकता का मार्जन करते चलते है।

ख क्रिया एवं अलौकिक लीला का संकेत

१—कृष्ण के महत्त्व की सूचना देकर कवि अनेक स्थल पर उनकी लील को शृगारिक होने से बचाता है। वैष्णव भक्तिकाव्य मे यह प्रवृत्ति अधिक प्रधान है। कोई भी शृगारिक वर्णन होगा, कवि उसके बीच मे कृष्ण के विष्णुत्व का सकेत अवश्य कर देगा

स्याम भये वृषमानु सुता बस, और नहीं बस भावे हो

वृषभानुसुता के वश मे होना शृगार का सूचक है किन्तु इसके मार्जन के लिए कवि अन्त मे कृष्ण के विष्णुत्व की ओर सकेत करने लगता है—

जो प्रभु तिहूँ भुवन को नायक; सुर मुनि अन्त न पाये हो
जाको सिव ध्यावत निसि वासर; सहसानन जिहि गावे हो[1]

नन्ददास आदि कवियो ने कृष्ण के विष्णु स्वरूप का लीला के सदर्भ मे अनेक बार स्तवन किया है।

२—अवतारवाद के कारणो की ओर भी सकेत करके कवि कृष्णलीला का अध्यात्मीकरण करता है। ऐसे प्रसगो से सम्बन्धित अनेक पद कृष्ण

१ सूरसागर, प स० २६३८

भक्त कवियो मे प्राप्त होते है। राधाकृष्ण की विहार-लीला चल रही है, परस्पर आलिगन के गूढभाव मे बँधे है, किन्तु कवि वही सकेत करता है :

> **दुष्टनि दुख स तन सुख करन ब्रजलीला अवतार ।**
> **जै जै ध्वनि सुमिरन सुर बरसत निरखत स्याम बिहार ।**
> **श्रीराधा गिरधर वर ऊपर, सूरदास बलिहार ।**

३ अलौकिक क्रिया कलापो का सकेत कभी-कभी कवि लीला के मध्य मे करता चलता है। राससन्दर्भ मे कहा गया है कि रात्रि रुक गई थी, चन्द्र अपने स्थान पर स्तब्ध था, यमुना शान्त हो गई, देवतागण विमानो पर चढे इस दृश्य का सुख भोग कर रहे थे।[२] रास ही मे नही, कृष्ण की अन्य लीलाओ मे भी इस अध्यात्मीकरण की प्रवृत्ति की प्रधानता मिलती है। राधा कृष्ण विहार के सदर्भ मे सूर ने कृष्ण को अलौकिक क्रियाओ का अनेक रूपो मे सकेत किया है। कृष्ण कही अपनी अलौकिक शक्ति दिखाते हैं, कही देवता अत्यन्त कौतूहल पूर्वक जय, जय शब्द का उच्चारण करते है। इस प्रकार यह लीला सामान्य शृगार लीला न होकर उससे उच्च है।
४ कृष्णलीला की पवित्रता का वे एक और कारण बताते हैं। लीला ब्रह्म-कृष्ण की है, सामान्य व्यक्ति की नही। वे सीधा तर्क रखते है कि कृष्ण विषयक लीला होने के कारण यह पवित्र है। उन्होने ससार के हितार्थ इस लीला का अनुमोदन किया—

> **विविध विलास कला रस की विधि उभय अग परवीने ।**
> **अतिहित मानि मान मानिनि मनमोहन स ग दीने ।**[३]

इन कवियो ने कृष्ण की प्रत्यक लीला को नित्य बताया है क्योकि कृष्ण नित्य ब्रह्म स्वरूप है—

> **नित्य धाम वृन्दावन स्थान नित्यरूप राधा ब्रज बाम ।**
> **नित्य रास जल नित्य बिहार नित्य मान खडिताभिसार ।**[४]

नन्ददास ने भी रास पचाध्यायी मे बताया है—

---

१. सूरसागर प० स० ३५२५,
२ नन्ददास रास प चाध्यायी : अध्याय ५ ५७५ से ८० तक
३ सूरसागर प० ३४४४,
४ वही ३४६१,

नित्य रास रमनीय नित्य गोपी जन वल्लभ ।
नित्य निगम यो कहत नव तन अति दुर्लभ ।[1]

इस प्रकार कृष्ण की लीला को इन कवियो ने शृगारमूलक न मानकर नैसर्गिक रूप से भक्ति के पोषक तत्त्व के रूप मे स्वीकार किया है ।

ग फलश्रुति

इन कवियो ने कृष्ण की शृगार लीला के फल को मुक्तिदायक माना है । कृष्ण की समस्त शृगार कथाओ के अन्त मे प्राय फलश्रुति का निर्देश मिलता है । इस फलश्रुति मे ये इस लीला को अत्यन्त पवित्र एव मुक्तिदायक स्वीकार करते है ।

लीला मे फलश्रुति के एतद्विषयक सकेत प्राय समस्त लीलावादी कवियो द्वारा दिये गये है । इस सकेत का मूल प्रयोजन कृष्ण की शृगारिक लीला का अध्यात्मीकरण है । इस प्रकार कृष्ण की लीला सामान्य शृगार से उच्च उदात्त भाव की सूचक है । रामभक्ति शाखा मे किए गए प्रयत्न उन्ही दिशाओ पर ही आधारित है । राम का लीलाभाव अत्यधिक सामान्य है किन्तु जो कुछ भी है, उसकी दिशा इससे भिन्न नही है ।[2]

निष्कर्ष रूप से कहा जा सकता है कि लीलावादी भक्त कवि अपनी लीला विषयक शृगारमूलक भावना के मार्जन के लिए कृष्ण या राम के ब्रह्मत्व का आश्रय लेते है । ब्रह्म से प्रत्यक्ष सम्बन्धित होने के कारण कृष्ण की लीला शृगारिक होने से प्रत्यक्षत बच जाती है ।

आनन्द

हिन्दी वैष्णव भक्तिकाव्य मे निहित सौन्दर्यशास्त्रीय दृष्टिकोण को आनन्द के विश्लेषण के बिना पूर्ण नही कहा जा सकता । भक्तिकाव्य मे आनन्द सम्बन्धी दृष्टिकोण अत्यधिक व्यापक है । इसमे प्रेम, भक्ति एव तत्त्वदर्शन मे स्वीकृत आनन्द परस्पर निहित है । भारतीय चिन्तनधारा मे आनन्द को सर्वोच्च मूल्य के रूप मे स्वीकार किया गया है । इसके सामान्य इतिहास की ओर पहले सकेत कर दिया गया है । काव्यशास्त्र के

---

१ रासप चाध्यायी, प चम अध्याय ६ स ० ५७७, ७८

२. इस विषय पर विशेष के लिए देखिए, अध्याय ७, शृ गार रस

अन्तर्गत रसास्वाद को भी आनन्द की अभिधा दी गई है। भक्तिकाव्य मे प्राप्त आनन्द साधना का अग होते हुए भी इस काव्य का मूल व्यग्य रहा है। इस प्रकार अनेक स्रोतो से एकत्रित होकर आनन्द तत्त्व भक्तिकाव्य का मूलउपजीव्य बन गया है।

वैष्णव भक्त कवियो की आरम्भिक दृष्टि उपयोगितावादी रही है, किन्तु इस उपयोगितावादी सिद्धान्त के अन्तर्गत अनेक स्थलो पर उन्होने काव्य के या भक्ति के द्वारा प्राप्त होने वाले वैयक्तिक सुख एव सतोष की चर्चा की है। सन्तोष, मानसिक समत्व, सुख, शान्ति आदि शब्दावली इसी आनन्द की भूमिका मात्र है। भक्तिकाव्य की प्रकृति से परिचित होने के लिए इसकी सविस्तार व्याख्या आवश्यक है।

आनन्द का अर्थ

हिन्दी वैष्णव भक्त कवियो ने 'आनन्द' शब्द का प्रयोग अनेक अर्थों मे किया है। सूरदास के अनुसार आनन्द कृष्णरस भक्ति एवं साध्यरूप प्रेम रस का पर्याय है। इस सम्बन्ध मे उनके अनेक कथन सूरसागर मे भरे पडे है। परमानन्ददास के अनुसार कृष्ण रसासव का पान ही परमानन्द है। नन्ददास के अनुसार रसमय, रसकारण रसिक कृष्ण ही आनन्द है। परमानन्ददास ने एक अन्य स्थल पर बताया है कि कृष्ण द्वारा राधा का अधर खडित किया जाना ही उच्च आनन्द है। प्रायः सभी वैष्णव भक्त कवियो ने रास लीला से उत्पन्न रस को आनन्द का पर्यायवाची स्वीकार किया है। मीरा के अनुसार कृष्ण के प्रति प्रेम की उत्कृष्ट अनुभूति ही आनन्द है। चैतन्य एव राधावल्लभ सम्प्रदाय के कवि युगललीलाजन्य अनुभूति को आनन्द शब्द से परिभाषित करते है। नन्ददास, सरसदास एव व्यास जी उज्वलरस को ही आनन्द की सज्ञा देते है। इस प्रकार इन कथनो से स्पष्ट है कि आनन्द इन कवियो की साधना की उच्चतम अनुभूति है। इन परिभाषाओ मे आनन्द के तीन आधारो का सकेत मिलता है —

क—भक्तिजनित आनन्द
ख—लीलाजनित आनन्द
ग—प्रेमजनित आनन्द

भक्तिजनित आनन्द

कई स्थलो पर कहा जा चुका है कि वैष्णव भक्त कवियो की भक्ति

पूर्णरूपेण रूपाश्रिता थी। वे स्वरूप कल्पना के माध्यम से आराध्य की मधुरतम अनुभूति कर लेते थे।[1] मानस मे शंकर, कश्यप तथा अदिति एवं सुतीक्ष्ण इसी भक्तिजन्य आनन्द की अनुभूति करते है। इसके अन्तर्गत आराध्य के ललित स्वरूप, तत्सम्बन्धी चिन्ह, आगिक चेष्टाओ आदि के माध्यम से आनन्द सम्बन्धी भाव को व्यक्त किया है। मानस, सूरसागर परमानन्ददास सागर एव नन्ददास की रचनाओ मे विष्णु के अवतार रूप राम एव कृष्ण का आगिक एव चेष्टागत वर्णन मिलता है। पौराणिक परम्परा से चले आते हुए विष्णु के ये विशेषण इस प्रकार है, शरत् मयक की भाँति सुन्दर, शख की भाँति कठ से युक्त, ललाट पर तिलक, मकराकृत कुडल, मोरचन्द्रिका बनमाला, श्रीवत्स से शोभित सिह की भाँति स्कन्ध, कुटिल केश वाले आकर्षक स्मिति वाले, पुडरीक की भाँति विशालाक्ष, पीताम्बर युक्त, नीलकमल की भाँति चरण वाले, कज की भाँति हथेली मे युक्त आदि इन विशेषणो से सयुक्त करके ये कवि इनके रूपचित्रण मे आनन्दानुभूति प्राप्त करते है। रूप की इस अनुभूति को इन कवियो ने परम सुख, सहजसुख, अकथनीय सुख आदि नामो से सबोधित किया है।

---

१ सूरदास—गदगद सुर, पुलक प्रेम रोम रोम भीजे,
सूरदास गिरिधर जस गाई गाई जीजे। प्र० स्क०, प स ७०
कहो कहा कछु कहत न आवे, औ रस लागत खारौ री,
इनहि स्वाद जो लुब्ध मोइ जानत चाखन हारो री द० स्क प स० ७५३

हरिराम व्यास—एके प्रेम भक्ति को फल है, मोहनलाल रिझाए
गदगद सुर पुलकित जस गावत नैननि नीर बहाए,
भक्त कवि व्यास जी, छ स० २२५

:o o o:

जेहि रस राज परिछित राचे बिसरि गये जलनाज,
जिहिं रस मगन प्रेम भई गोपी तजि सुत पति ग्रहलाज,
सो रस व्यासदास की जीवनि राधा मोहनि आज, प० स० २२८,
यह रस चाखि और फूले, फूलत लखि मन अति घहराई,
अचरज कहा व्यास सुख बरनत थके रसिक यहिं गाई,

नन्ददास—सकल शास्त्र सिद्धान्त परम एकन्त महारस
जाके रचत सुनत गुनत श्री कृष्ण होत बस
रास सकल मडल रस के जे भवर भये है
नीरस विषय विलास छियाकरि छाँडि दिए है
श्री कृष्ण सिद्धान्त पचाध्यायी छ० स० १३७

मानस के अतिरिक्त सूरसागर एव परमानन्ददास सागर मे राम के विष्णु रूप के प्रति आनन्दमूलक भक्ति का आवेश प्रकट किया गया है ।

स्वरूपानन्द के अतिरिक्त भक्तिकाव्य मे भावजन्य आनन्द की भी धारणा मिलती है । यह धारणा प्राय समस्त कवियो मे वर्तमान है । ये कवि मात्र भक्ति की अनुभूति को ही आनन्द की सज्ञा प्रदान करते है । भक्ति सम्बन्धी यह आनन्द रहस्यवाद से थोडा ही भिन्न है । रहस्यवाद मे एक निश्चित रूपाधार की सम्भावना नही रहती । फलत यहाँ आराध्य विषयक अनुभूति मात्र अनुभति तक ही सीमित नही है । किन्तु वैष्णव भक्तिकाव्य मे आराध्य के स्वरूप की स्पष्टता होने के कारण रहस्यात्मकता तिरोहित हो जाती है, किन्तु अनुभूति की तीव्रता रहस्यवादियो जेसी ही होती है ।

चकई री चलि चरन सरोवर जहाँ न प्रेम वियोग,
जह भ्रम निसा होत नहि कबहू सोइ साचर सुख जोग

सूरसागर मे चित बुद्धि सवाद के रूप मे "चलि सखि तेहि सरोवर जाहि" एव "सुवा चलि वा बन को रस पीजे" आदि पद रहस्य की ही शैली मे निर्मित है । किन्तु उनमे निहित भावजन्य आनन्द अपनी प्रक्रिया मे रहस्य-वादियो से पूर्णरूपेण भिन्न है । इस भावानन्द की कल्पना समस्त कवियो मे मिल जाती है । यह भावानन्द निरन्तर स्वरूपानन्द की परिधि मे घूमता रहता है ।

लीलानन्द

लीलाजनित आनन्द वैष्णव भक्ति का मूल प्रतिपाद्य है । लीला के सदर्भ मे पहले दिखाया जा चुका है कि यह लौकिक एव अलौकिक तत्त्वो से युक्त है । लीला के लिए कृष्ण को लौकिक होना पडता है, किन्तु यह मूलत अलौकिक ही है । इस लीलाजन्य आनन्द के माध्यम से भक्त कवियो ने अपनी मधुर भक्ति की पुष्टि की है ।

लीला-विषयक आनन्द की आभासिक अनुभूति सख्य, वात्सल्य मे भी प्राप्त होती है, किन्तु इनसे सम्बन्धित पदो की सख्या अधिक नही है ।

मधुर लीलानन्द के सदर्भ मे अग प्रत्यग एव सज्जा वर्णन को भी ग्रहण कर लिया गया है । वातावरण के नियोजन मे यह अधिक सहायक ज्ञात होता है ।

लीलानन्द का स्वभाव प्रेमानन्द एव भक्तिजन्य आनन्द से भिन्न है। लीलानन्द पूर्णरूपेण आरोपित भावानुभूति है। प्रेमानन्द मे भक्त आराध्य विषयक रति का अनुभाव करता है। लीला मे इस रति का आरोप किया जाता है, मीरा के प्रेम से इस लीलानन्द की तुलना करने पर यह तथ्य पूर्ण स्पष्ट हो जाता है, मीरा का प्रेमानन्द इससे भिन्न कोटि का है। मीरा ने इसीलिए मुरली, कुब्जा, गोपियो को सपत्नी तथा गोपियो ने मोरचन्द्रिका मुरली एव कुब्जा को अपना शत्रु माना है। यह उनकी व्यक्तिगत रुचि का अग है। उनके प्रेम के बीच मे किसी अन्य माध्यम की आवश्यकता नही है। गोपियो के प्रेम की भी यही स्थिति है। वे अपने एव कृष्ण के बीच मे कोई तीसरा माध्यम नही चाहती किन्तु लीला विषयक आनन्द के लिए भक्त तथा आराध्य के बीच मे लीला का बना रहना आवश्यक है। यही कारण है कि भक्त कवियो की मनोवृत्ति लीला मे अधिक लगी है क्योकि वे समझते है कि यह लीला ही अन्ततया कृष्ण विषयक आनन्दानुभूति कराने मे समर्थ होगी।

यह लीलानन्द भक्ति विषयक आनन्द से भी किंचित् भिन्न है। भक्ति विषयक आनन्द पूणरूपेण समर्पणजन्य आनन्द है। भक्त ईश्वर मे आत्म-समर्पण के उपरान्त ही उस आनन्द का अनुभव करता है, किन्तु लीला के अन्तर्गत भक्त आराध्य के कृत्यो के साथ स्वत अनुरजन करके सुख भोग करता है। इस प्रकार लीलाजन्य आनन्द भक्त का आराध्य के कृत्यो के प्रति अनुरजनात्मक दृष्टिकोण मे निहित है। वह कृष्ण के साथ, उनकी प्रत्येक क्रीडा मे पुलक, रोमाच, हर्ष, उत्साह एव आनन्द की अनुभूति प्राप्त करता है, किन्तु भक्ति मे पूर्ण समर्पग की भावना वर्तमान है।

ऊपर कहा जा चुका है कि लीला के समस्त विषय लौकिक होते हुए भी अलौकिकता की अनुभूति कराते है। तात्पर्य यह कि उसमे अलौकिकता व्यंजन शृगार रस के अध्यात्मीकरण के सदर्भ मे इस विषय पर चर्चा की जा चुकी है। भक्तकवि शृगार लीला के माध्यम से अलौकिक अनुभूति का बोध कराने के लिए उनके ब्रह्मत्व के विषय मे दिए गए परम्परागत समस्त तर्को को दुहराते है। ब्रह्म के स्वरूप, गुण, क्रिया एव शक्तिमत्ता को मधुर या शृगारमूलक भावो के वीच इस प्रकार रखते है जिससे कि उनका सम्पूर्ण लोकिक भाव पूर्णरूपेण आध्यात्मिक भाव मे प्रच्छन्न हो जाए आरम्भ मे शृंगार लीला के अन्तर्गत ऐसा लगता है कि लौकिक भाव प्रधान है, किन्तु पद के अन्तर्गत ऐसी शब्दावली का प्रयोग मिलता है जिसके सम्पूर्ण

लौकिकता लीलानन्द मे परिणत हो जाती है।

इस प्रकार भक्त कवियो का लीलानन्द प्रेमानन्द एव भक्त्यानन्द से पृथक् शुद्ध आध्यात्मिक भाव से पुष्ट अनुरजनात्मक आनन्द है।

प्रेमानन्द

इस प्रेमानन्द का मूलाधार भक्ति है। यह भौतिक प्रेम या शृगार से भिन्न कोटि की है। यह तीन रूपो मे प्राप्त है

१ ऐतिहासिक प्रेमानन्द जिसका अनुभव गोपियो ने किया था।

२ भक्ति से शासित प्रेमानन्द जो मीरा के काव्य मे मिलता है।

३ आभासिक प्रेमानन्द जिसके अन्तर्गत भक्ति गोपियो का अनुकरण करके कुजलीला करते है। यह आभासिक या आरोपित लीलानन्द का ही एक प्रकार है।

ऐतिहासिक प्रेमानन्द मूलरूप से लौकिक था या अलौकिक–स्पष्ट रूप से इसके विषय मे कुछ भी नही कहा जा सकता, किन्तु इसका जो स्वरूप हिन्दी वैष्णव भक्तिकाव्य मे प्राप्त है, उसके आधार पर इसे अलौकिक आधार से सम्पन्न मानना, युक्तिसगत प्रतीत होता है। वैष्णव भक्त कवियो ने अपने काव्य मे अनेक स्थलो पर सकेत किया है कि गोपियो को यह ज्ञात था कि कृष्ण ब्रह्म है। यही नही, अनेक स्थलो पर कृष्ण को विष्णु, राधा को आह्लादिनी चित् शक्ति एव गोपियो को राधा की शक्ति कहा गया है। इस प्रकार तज्जन्य सुखानुभूति भौतिक सुख की अनुभूति से किंचित् भिन्न हो जाती है। आभासिक प्रेमानन्द पूर्णरूपेण आरोपित या अनुकृत आनन्द के समानान्तर है। इसमे भक्त उस सुख या आनन्द को प्राप्त करना चाहता है, जिसे गोपियाँ एव कृष्ण परस्पर सम्मिलन से प्राप्त कर चुके है। इन सब से महत्त्वपूर्ण प्रेमानन्द है, जो मात्र मीरा के ही काव्य मे प्राप्त होता है।

इसका स्वभाव रहस्यात्मक आनन्द की कोटि का है। रहस्यात्मक विशेषता के अन्तर्गत ईश्वर के प्रति प्रेमानुभूति, तीव्रतापूर्वक आसक्ति, मिलन की अवस्था मे रहस्य व्यजक अनुभूति आदि की अभिव्यक्ति मीरा के काव्य मे मिलती है, किन्तु मीरा के प्रेम विषयक आनन्द को शुद्ध रहस्यवाद की श्रेणी मे नही रखा जा सकता क्योकि यहाँ आराध्य के स्वरूपविषयक अस्पष्टता का अभाव नही है। रहस्यवाद के सदर्भ मे आत्मिक मिलन को ही प्रमुखता मिली है क्योंकि रहस्यवादी सशरीर मिलन को असम्भव मानते

है, किन्तु प्रेम से सदर्भ के मीरा कृष्ण से सशरीर मिलन की आकाक्षा प्रकट करती हैं।

लीला विषयक प्रेमानुभूति उनके काव्य का वर्ण्य विषयक है। शारीरिक मिलन की आकाक्षा, तत्परता, मिलनजन्य, सुखबोध आदि शास्त्रीय प्रेम की समस्त अवस्थाएँ उनके काव्य मे अभिव्नक्त है। इस प्रकार मीरा का प्रेमानन्द अपनी स्थिति मे रहस्यवाद से भिन्न ब्रह्मरति से सम्बन्धित आनन्द का विषय है। वे ईश्वर के कल्पित व्यक्तित्व के प्रति अपनी शृंगारिक आसक्ति प्रकट करती है। ब्रह्मविषयक आसक्ति होने के कारण यह शुद्ध विषयानन्द की श्रेणी मे आता है।

इसके अतिरिक्त भक्तिकाव्य मे आभासिक प्रेमानन्द की भी निष्पत्ति मिलती है। इसके समर्थक, हरिदासी, हरिव्यासी, राधावल्लभ एव रामोपासक मधुर कवि है। जहाँ अष्टछापी कवि प्रेमानन्द के सदर्भ मे गोपीलीला को माध्यम बनाते है, तथा मीरा कृष्ण से अपना प्रत्यक्ष सम्बन्ध स्थापित करती है, ये भक्त कवि स्वत अपने ऊपर गोपीभाव का आरोपण करते है। राधा, ललिता, विशाखा आदि एव रामभक्ति शाखा मे अष्ट मजरियाँ इनके आरोपण के लिए आधार स्वरूप है। ये भक्त अपने व्यक्तित्व को इन्ही मे परिवर्तित करके आराध्य के वास्तविक प्रेम को पाने का प्रयत्न करते है। इस प्रकार आरोपित व्यक्तित्व के कारण इनकी तद्विषयक आनन्दानुभूति को आभासिक ही कही जा सकी है।

आनन्द के इस स्वरूप के अतिरिक्त भी यहाँ एक विशेष प्रकार के आनन्दतत्व का उल्लेख करना अनिवार्य है जिसे काव्यानन्द कहा जाता है। यह वस्तुत अभिव्यक्तिजन्य आनन्द है। कलावादी आचार्य काव्य की क्रीडावृत्ति या भावात्मक आग्रह को काव्यानन्द की सज्ञा देते हैं, किन्तु यह काव्यानन्द भी अभिव्यक्ति का ही चमत्कार या फल है। भक्तिकाव्य मे ब्रह्मविषयक प्रेममूलक अनुभूति एव आनन्दतत्त्व की ही एकमात्र अभिव्यक्ति मिलती है। इस दृष्टि से यही आनन्दतत्त्व इनकी काव्याभिव्यक्ति का भी अग है। इस प्रकार इनके काव्य का अभिव्यक्तिजन्य आनन्द काव्यानन्द के नाम से पुकारा जाता है। यह भक्तगायको को उसी प्रकार प्रिय है, जिस प्रकार ब्रह्म—क्योकि ब्रह्म की प्राप्ति के लिए उनकी प्रेममूलक काव्यवाणी इनके लिए सदैव मूलाधार रही है।

———

अध्याय ६

हिन्दी वैष्णव भक्तिकाव्य तथा काव्यरूपों का सैद्धान्तिक अध्ययन

संस्कृत काव्यशास्त्र में निर्दिष्ट काव्यरूप तथा तत्सम्बन्धी सिद्धान्त

परम्परया काव्यरूपो के विषय मे अग्निपुराण का वर्गीकरण सबसे प्राचीन समझा जाता है। अग्निपुराण, अध्याय ३३७ मे वाड्मय के तीन भेदो मे काव्य को सर्वप्रमुख महत्ता मिली है। अग्निपुराणकार के अनुसार काव्य के महाकाव्य, कलापक, सविशेषक, कुलक, मुक्तक तथा कोष ये छ भेद है।[1] परम्परा से महाभारत एव रामायण की गणना भी महाकाव्यो मे होती है, किन्तु ये आर्ष प्रयोग होने के कारण लक्षणबद्ध नही किए गए है। अग्निपुराण के ही समकालीन भामह का वर्गीकरण काव्यरूप की दृष्टि से अधिक प्रसिद्ध है। भामह ने समस्त वाड्मय पर ४ दृष्टियो से विचार किया है—

१ रचनास्वरूप के आधार पर—इसके आधार पर रचनाओ के दो भेद किये जा सकते है, गद्य तथा पद्य।

२ भाषा के आधार पर—इसके अनुसार काव्य के तीन भेद हैं, सस्कृत प्राकृत तथा अपभ्रंश।

३ विषय के दृष्टकोण से काव्य के चार भेद होते हैं—ऐतिहासिक या चरित्काव्य, कल्पित, कलाप्रधान तथा शास्त्रप्रधान।

४ रचना शैली के आधार पर काव्य के पॉच भेद हो सकते हैं महाकाव्य, नाटक, आख्यायिका, कथा तथा अनिबद्ध।[2]

---

१. अग्निपुराण, अध्याय ३३७, श्लोक स० १२ से ३६ तक

२ काव्यालकार, प्रथम परिच्छेद, श्लोक सख्या १६ से २३ तक

भामह ने एक दूसरे स्थल पर गाथा काव्यरूप का सकेत किया है। उनके अनुसार एक श्लोक की प्रबन्ध रहित रचना गाथा होती है।[1]

भामह के इस वर्गीकरण मे विवेचन-विस्तार कम है। इसमे साकेतिक रूपो से प्राय काव्य के सभी रूप समाहित हो जाते है। विशेष रुप से महाकाव्य को छोडकर अन्य काव्यरूपो के लिए उन्होने मात्र अनिबद्ध काव्य की सज्ञा दी है।

भामह के बाद दन्डी का वर्गीकरण अधिक स्पष्ट एव तर्कसगत है। वे समस्त वाड्मय के तीन भेद करते है—गद्य, पद्य तथा मिश्र। उनके अनुसार इसके पॉच भेद है, सर्ग-बन्ध, मुक्तक, कुलक, कोश तथा सघात्। दन्डी सर्गबद्ध महाकाव्य को ही प्रमुखता प्रदान करते है। उन्होने पुन सक्षेप मे मुक्तक को एक श्लोक प्रधान, कुलक को पाच श्लोक प्रधान तथा कोश एव सघात् को अनेक असम्बन्धित पदो से युक्त बताया है।

भामह की भाँति दन्डी ने भी भाषा के आधार पर काव्य का तीन भेद किया है—

सस्कृत, प्राकृत तथा अपभ्र श।[1]

वामन ने वाड्मय का दो भेद बतलाया है, गद्य तथा पद्य। इनके अनुसार पद्य के दो भेद है, निबद्ध तथा अनिबद्ध। निबद्ध काव्य के भीतर प्रबन्धात्मक एव अनिबद्ध के भीतर मुक्तक काव्यो को रखा है।[3] वक्रोक्तिकार कुन्तक ने काव्य के भेदो का स्पष्ट उल्लेख नही किया है, किन्तु वक्रोक्ति के विभिन्न भेदो के अन्तर्गत प्रबन्धकाव्य या महाकाव्य, प्रबन्ध का एकदेशीय रूप सम्भवतया वह किसी अध्याय, सर्ग या खडकाव्य के लिए हो, मुक्तक आदि के संकेत मिलते है।[4] सस्कृत काव्यपरम्परा मे प्राप्त विभिन्न काव्यरूपो का उल्लेख आनन्दवर्धन ने किया है। ध्वन्यालोक के टीकाकार अभिनवगुप्त ने उनका लक्षण निर्धारण करके अत्यन्त विस्तार दिया है। ध्वन्यालोककार के अनुसार काव्य के निम्न भेद है—मुक्तक, सन्दानितक, विशेषक, कलापक, कुलक पर्यायबन्ध खडकथा, परिकथा, सकलकथा, सर्गबद्ध महाकाव्य, अभिनेयार्थ नाटक

---

१ काव्यालकार, प्रथम परिच्छेद, श्लोक स ख्या ३०

२ काव्यादर्श, प्रथम अध्याय

३. काव्यालकार सूत्रवृत्ति १, ३, २७, २८

४ हिन्दी वक्रोक्तिजीवितम् चतुर्थोन्मेष श्लोक स० ४, ६ तथा ६

आदि। परिकथा, मकलकथा, अभिनेयार्थ, आख्यायिका तथा तथा पद्य के भी होते है, किन्तु इनकी प्रवृत्ति काव्य से पृथक् है।[1] साहित्यदर्पणकार ने आनन्द-वर्धन की इस सूची को मात्र दुहराया है। उसके अनुसार प्रबन्ध मुक्तक, युग्मक, सन्दानितक, कलापक तथा कुलक काव्य के भेद है। इसके साथ-साथ उसने काव्य का दो नया रूप रखा–खडकाव्य तथा एकार्थकाव्य।[2] साहित्य-दर्पण के पूर्व भोजराज ने भी काव्यरूप के सम्बन्ध मे अपना विचार प्रगट किया था। उनके अनुसार काव्य के ६ भेद होते है–आशी, नान्दी, नमस्कार, वस्तुनिर्देश, ध्रुवा तथा प्रबन्धकाव्य।[3] काव्यानुशासन के आठवें अध्याय मे हेमचन्द ने काव्य का दो भेद किया है–श्रव्य तथा प्रेक्ष्य। श्रव्य काव्य के पाँच भेद है—महाकाव्य, आख्यायिका, कथा, चम्पू और अनिबद्ध। साकेतिक रूप से अनिबद्ध काव्य के भीतर महाकाव्य को छोडकर सभी काव्य आ जाते है। इन्होने भाषा के अनुसार ४ भेद किए है—सस्कृत, प्राकृत, अपभ्रश तथा प्राकृतापभ्रश। रुद्रट ने भाषा के आधार पर इसका छः भेद किया था–सस्कृत, प्राकृत, मागध, पिशाच, अपभ्रश और शौरसेनी।[4]

काव्य के इस वर्गीकरण के अन्तर्गत दन्डी कथित ४ आधार ही प्रमुख रहे है—रचनारूप, भाषा, विषय तथा शैली। भोजदेव का वर्गीकरण परम्परा से पूर्ण असम्बद्ध है। इसके अतिरिक्त काव्य का एक अन्य भेद भी प्रचलित है जो परम्परा से चला आता रहा है। इस वर्गीकरण को आनन्द-वर्धन ने प्रस्तुत किया था। उनके अनुसार काव्य के तीन भेद है–उत्तम या ध्वनिकाव्य, मध्यम या गुणीभूत व्यग्य काव्य तथा अवरकाव्य या चित्रकाव्य, पंडितराज जगन्नाथ ने इन मूल्यो का खंडन करते हुए काव्य का चार भेद किये है—उत्तमोत्तम काव्य, उत्तमकाव्य, मध्यम तथा अधमकाव्य।[5] भोजदेव के अनुसार इसके तीन भेद है–वक्रोक्ति, रसोक्ति एवं स्वभावोक्ति। रसोक्ति इसमे उत्तमकाव्य है तथा शेष दोनो मध्यम।

परम्परा से प्राप्त इन काव्यरूपो की यदि सरणि बनाई जाय तो वह इस प्रकार होगी—महाकाव्य, खंडकाव्य, एकार्थ काव्य, अनेकार्थकाव्य, कुलक

---

१ ध्वन्यालोक, तृतीय उद्योत कारिका ७ तथा अभिनवगुप्त की टीका

२ साहित्य दर्पण, षष्ठ परिच्छेद पृष्ठ ३१

३. सरस्वती कठाभरण–भोज, अध्याय ५, १२६, १४१

४. काव्यालकार २: ३१

५. भारतीय काव्यशास्त्र की परम्परा, पृष्ट ३५७

कोष कलापक, सघात, सन्तानितक, विशेषक, पर्यायवन्ध, मुक्तक तथा युग्मक। इनमे प्राप्त परिकथा, खडकथा सकलकथा, आख्यायिका, तथा कथासाहित्य से सम्बन्धित है। काव्यानुशासनकार कथाओ का ११ भेद करता है, किन्तु काव्य की दृष्टि से उनका अधिक महत्त्व नही है। यहा मात्र काव्य रूपो का अध्ययन करना अपेक्षित है।

महाकाव्य

इसके लिए सस्कृत साहित्य मे तीन नाम प्रयुक्त होते है महाकाव्य, प्रबन्धकाव्य तथा निबद्धकाव्य। प्रबन्ध तथा निबन्ध कथाप्रधान काव्य के लिए भी प्रयुक्त होता है। महाकाव्य के लक्षणो का सर्वप्रथम विवरण अग्निपुराण मे मिलता है। उसमे इसके निम्न लक्षण मिलते है—सर्गबद्धता, इतिहास-प्रसिद्ध कथानक, वैदिक छन्दो का प्रयोग, खडवर्णन, नगर वन पर्वत आदि का वर्णन, रस की प्रधानता, चतुर्थ पुरुषार्थ की प्राप्ति, सस्कृत भाषा का प्रयोग।[1]

सर्गबद्धता · अग्निपुराण कथित सर्गबद्धता के लक्षण को भामह ने ज्यो का त्यो स्वीकार किया है। उनके अनुसार महाकाव्य के नामकरण का कारण उसकी महनीयता है। 'महताच महच्च यत्।[2] दन्डी ने भी सर्गबद्धता का उल्लेख किया है। कुन्तक ने सर्गबद्ध को ही महाकाव्य स्वीकार किया है। आनन्दवर्धन सर्गवद्ध काव्य की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण विशेषता रसबोध बताते है। उनके अनुसार यदि सर्गबद्ध काव्य मे रस की प्रधानता न होगी तो वह इतिवृतात्मक मात्र रह जायेगा 'सर्गबद्धेतु रस तात्पर्य यथा रसमौचित्यम् अन्यथा तु कामचार'[3] साहित्यदर्पणकार को भी यह सर्गवद्धता स्वीकार है।[4]

इस प्रकार स्पष्ट है कि सस्कृत महाकाव्य के लिए सर्गबद्ध होना आवश्यक है। सर्गो की सख्या क्या हो इसके विषय मे अधिक मतभेद नही है—सात, आठ तथा दस तक इसकी सख्या हो सकती है किन्तु व्यावहारिकता मे इसका अतिक्रमण मिलता है।

नायक : अग्निपुराणकार के अनुसार नायक इतिहास-प्रसिद्ध, सज्जन, दैवी-शक्तिसम्पन्न एव प्रत्यक्ष जगत से सम्बन्धित हो।[5] भामह ने नायक को

१. अग्निपुराण, काव्यादि लक्षण, अध्याय ३३७, श्लोक स० २४, ३४ तक
२ काव्यालकार, प्रथम परिच्छेद, श्लोक १९
३. हिन्दी ध्वन्यालोक, पृ० २५३
४ अग्निपुराण अध्याय, ३३७ श्लाक ३४
५. काव्यालकार परिच्छेद १ श्लोक १८

महापुरुष बताया है ।[1] दन्डी ने नायक को चतुरोदात्त कहा है। विद्यानाथ के प्रतापरुद्रयशोभूषण तथा हेमचन्द्र के काव्यानुशासन मे नायक के विषय मे उल्लेख नही किया गया है। साहित्यदर्पणकार इसके विषय मे विस्तार पूर्वक चर्चा करता है। उसके अनुसार नायक सद्‌वश से सम्बन्धित क्षत्रिय होना चाहिए । आगे चलकर नाटक मे कथित नायको का आरोपण काव्य मे कर लिया गया। इसी के फलस्वरूप दिव्य, अदिव्य, दिव्यादिव्य, धीरोदात्त धीरोद्धत्त, धीरललित एवं धीरशान्त, उत्तम, मध्यम, अधम तथा अनुकूल, दक्षिण, शठ एव धृष्ट आदि वर्गीकरण किए गए।

कथावस्तु कथावस्तु का स्वभाव नायक पर आश्रित है। फलत नायक के आधार पर ही यह उदात्त, ख्यात् या कल्पित हो सकती है। काव्यादर्श के अनुसार कथावृत्त तथा इतिहास सज्जनो के सच्चे जीवन पर आश्रित हैं। भामह ने कथा को देवादि चरित से सम्बन्धित बताया है । साहित्यदर्पण-कार के अनुसार इसे इतिहाससम्मत होना चाहिए ।

कथावस्तु के अन्तर्गत सर्वाधिक महत्त्व उसके गठन या बन्ध को दिया गया है। कथाबन्ध के लिए सधियो का प्रयोग महाकाव्य मे आवश्यक बताया गया है तथा सगठन के विषय में वक्रोक्तिकार कुन्तक तथा ध्वन्यकार आनन्दवर्धन अधिक सचेष्ट हैं। उनके अनुसार जब तक कथा पूर्णत सगठित नहीं होती उसमे प्रबन्धवक्रता या प्रबन्धध्वनि नही आ पाती ।

प्रमुख कथा के साथ सहायक कथाओं का प्रयोग अनावश्यक नही माना गया है। किन्तु इसके साथ शर्त यह है कि वह प्रमुख कथा मे बाधक न हो।

उद्देश्य अग्निपुराणकार के अनुसार महाकाव्य मे चतु पुरुषार्थ, अर्थ, धर्म, काम एवं मोक्ष की प्राप्ति होनी चाहिए। भामह के अनुसार उसमें चतुर्वर्ग का वर्णन होना चाहिए किन्तु लौकिक अभ्युदय के परिवेश मे दन्डी भी महाकाव्य के चतुरोदात्त नायक के चतुर्वर्ग फल प्राप्ति की कामना करते हैं। साहित्यदर्पणकार के अनुसार चतुर्वर्ग मे से किसी एक फल की प्राप्ति नायक को होनी चाहिए। चतुर्वर्ग पुरुषार्थ में अर्थ, धर्म, काम तथा मोक्ष जीवन के अन्तिम मूल्य के रूप मे स्वीकृत किए गए है। उनमें से किसी एक की प्राप्ति महाकाव्य के उद्देश्य से सम्बन्धित है।

रस: काव्य मूल्यो की दृष्टि से महाकाव्य का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तत्त्व रस

---

१ काव्यादर्श, अध्याय १ श्लोक १५

है। भोज के अनुसार स्वभावोक्ति तथा वक्रोक्ति से कही अधिक श्रेष्ठ रस है। आनन्दवर्धन के अनुसार प्रबन्धकाव्य की मूलात्मा रस है और जब कि यही रस ध्वनि की भी मूलात्मा है।[1] कुन्तक के अनुसार रस से परिपूर्ण प्रकरण सारे प्रबन्ध का प्राण प्रतीत होने लगता है। अग्निपुराणकार ने इस सदर्भ रस का स्पष्ट उल्लेख किया है। भामह ने महाकाव्य को उत्कृष्ट अर्थ से युक्त अलकारो से अलकृत तथा समस्त गुणो से युक्त माना है।[2] दन्डी के अनुसार इसे अलकृत, असक्षिप्त तथा रसभाव से युक्त होना चाहिए। अग्निपुराणकार[3] ने रस का स्पष्ट उल्लेख किया है। भामह ने महाकाव्य को उत्कृष्ट अर्थ से युक्त अलकारो से अलकृत तथा समस्त गुणो से युक्त माना है।[4] दन्डी के अनुसार इसे अलकृत, असक्षिप्त तथा रसभाव से युक्त होना चाहिए, 'अलकारमसक्षिप्तम् रसभाव निरन्तरम्'।[5] साहित्यदर्पणकार महाकाव्य के लिए न मात्र रस का उल्लेख करता है, अपितु रस विशेष के प्रयोग को अनिवार्य बताता है। उसके अनुसार शृगार, वीर, शान्त इनमे से किसी एक रस को अगी तथा अन्य को अग होना चाहिए।[6]

अन्यवस्तुएँ · महाकाव्य के ये पॉच उपकरण अत्यन्त अनिवार्य है। इनके अतिरिक्त भी कुछ ऐसे अस्थायी शैली तत्त्व है जिनमे विषय मे प्राय परिवर्तन होता रहा है।

अग्निपुराणकार : के अनुसार ये तत्त्व शब्द प्रयोग, नगर, वन, पर्वत, चन्द्र, सूर्य, वायु, वृक्ष, आश्रम, उत्सव, मधुपान तथा भाषा प्रयोग है।

भामह : के अनुसार महाकाव्य मे मत्र, प्रयाण, सन्धि, युद्ध-सन्धि, नायकभ्युदय, कठिन प्रसगो का अभाव, गुण, अलकार, वश, पराक्रम आदि आवश्यक हैं :—

---

१ वक्रोक्तिश्च रसोक्तिश्च स्वभावोक्तिश्च वाङ्मयम्।
सर्वासु ग्राहिणीतासु रसोक्ति प्रतिजानते, ५, ८ सरस्व०

२ रसबन्धोक्तमौचित्य भाति सर्वत्र सश्रिता
रचना विषयापेक्ष तत्तुकिंचित् विभेदवत् तृतीय उद्योत कारिका ९, ध्वन्या०

३ यथा यथा प्रबन्धस्य सकलस्यापि जीवितम्
भाति प्रकरण काष्ठाधि रूढ रस निर्भरम्, चतुर्थोंचमेतु, श्लोक ४ वक्रो०

४. अग्राम्यशब्दमर्थ्यञ्च सालंकार सदाश्रयम, परिच्छेद १ श्लोक ९, काव्यालकार

५. काव्यादर्श, परिच्छेद १° श्लोक १७

६. अध्याय ६, श्लोक ३१७

दन्डी के अनुसार नगर, पर्वत, चन्द्र, सूर्योदय, उपवन, जलक्रीडा, मधुपान, रत्योत्सव, विप्रलम्भ, विवाह, कुमारोदय, मन्त्रदूत, प्रयाण, नायकाभ्युदय, आशीर्वचन, स्तुति, कथावस्तु का निर्देश, महाकाव्य के गौण लक्षण है। विद्यानाथ ने 'प्रतापरुद्रयशोभूषण' मे ठीक इन्ही लक्षणो को दुहराया है।

भोज के अनुसार गौण लक्षणो की सरणि अत्यन्त विस्तृत है। इनमे स्थानो का चित्राकन पुर, वन, राष्ट्र, समुद्र, आश्रम, ऋतु, रात्रि, दिन, चन्द्र, सूर्य का उदयास्त, राजकुमार, राजकुमारी, सेना, अगप्रत्यग, उद्यान क्रीडा, जलक्रीडा, मधुपान, रत्योत्सव, विप्रलम्भ, विवाह, शृगारिक, चेष्टा, मन्त्र, दूतागमन, युद्ध, नायक, नगरी, विरोधियो का निराकरण, शत्रु का वश, पराक्रम एव विद्या का वर्णन होना चाहिए। कविराज विश्वनाथ इसके निम्न गौण लक्षण बताते है—आदि मे नमस्कार, आशीर्वचन, वस्तुनिर्देश, खलादिनिन्दा, सज्जनकीर्तिवर्णन, आठ सर्ग, सर्ग के अन्त मे भावी सर्ग की सूचना संख्या, सूर्येन्दु, रजनी, प्रदोष ध्वान्त, प्रात, मध्याह्न, मृगया, शैल, वन, सागर, सयोग, विप्रलम्भ, मुनि, यश, रण-प्रयाण, मत्रणा, पुत्रोदय आदि का वर्णन।

महाकाव्य के ये गौण लक्षण रचना के आन्तरिक तत्त्व से कम सम्बन्धित है। इनका सम्बन्ध महाकाव्य के वाह्यस्वरूप से है। महाकाव्य के मुख्य तत्त्व ४ ही है—नायक, कथावस्तु, उद्देश्य एव रस। इनके प्रतिपादन मे दृष्टिकोण विशेष का आग्रह इन्हे महाकाव्य बना देता है। डॉ० शम्भूनाथ सिह अपने शोधप्रबन्ध 'हिन्दी महाकाव्यो का उद्भव और विकास' मे महाकाव्य सम्बन्धी ७ लक्षण निर्धारित करते है किन्तु इनका समाहार इन्ही चारो मे दृष्टिकोण विशेष के परिवर्तन के साथ हो जाता है।[1]

खण्डकाव्य

खडकाव्य का लक्षण निर्देश एकमात्र आचार्य विश्वनाथ ने ही किया है। उनके अनुसार खडकाव्य की परिभाषा इस प्रकार है—

खंडकाव्यं भवेत् काव्यस्येकदेशानुशारिच[2]

अर्थात् काव्य के एकाश या एकदेश का अनुसरण करने वाला काव्य खडकाव्य है। एकदेश का तात्पर्य टीकाकारो ने एकाश अनुरूप लगाया है—

---

१. महाकाव्य सम्बन्धी विशेष अध्ययन के लिए देखिए हिन्दी महाकाव्यों का उद्भव और विकास, डॉ० शम्भूनाथसिंह।

२. साहित्यदर्पण, परिच्छेद ६, श्लोक ३२८

'एकाशानुरूप काव्यम् इति खडकाव्यम्' का सकेत साहित्यदर्पणकार के पूर्ववर्ती या परवर्ती किसी भी साहित्यशास्त्री ने नही किया है। वक्रोक्तिजीवितकार कुन्तक ने महाकाव्य की एकदेशीय घटना सम्बन्धी वक्रता का उल्लेख अवश्य किया है—

प्रबन्ध स्वेकदेशाना फलवन्धान् बन्धवान्[1]

वस्तुत यह प्रसग प्रकरण वक्रता का है। कुन्तक के अनुसार वक्रता प्रकरण से भी आ जाती है। यह प्रकरण महाकाव्य का एकाश एकदेशानुसारि की भाँति भी हो सकता है। महाकाव्य का यह एकाश खडकाव्य के समानान्तर है। आनन्दवर्धन, अभिनवगुप्त, अग्निपुराणकार तथा हेमचन्द्र आदि ने खडकथा का उल्लेख किया है। अभिनवगुप्त के अनुसार किसी बडी कथा के एकदेश का अनुसरण करने वाली कथा खडकथा है।[2] इसके उदाहरण के रूप मे साहित्यदर्पणकार ने 'मेघदूत' को रखा है। परवर्ती लक्षणकारो ने मेघदूत तथा वृन्दावन काव्य को सघात् के अन्तर्गत रखा किन्तु सघात् तथा खंडकाव्य एक ही प्रकार के काव्यरूप नही है।

खडकाव्य के विषय मे महामहो० हरप्रसाद शास्त्री ने एकमत सुझाया है। उनका कथन इस प्रकार है–उस समय १४ वी शती खड शब्द का व्यवहार खाड के लिए होता था। १३ वी शती मे नैषधकार ने 'खडनखड खाद्य' बनाया था। ६ वी शती मे ब्रह्मगुप्त ने 'खडखाद्य' नामक ज्योतिष ग्रन्थ बनाया था। हम लोग इस समय जो 'अमिय निमाई चरित' कहते है उस समय खडकाव्य का अर्थ मधुमय अमृतकाव्य से था।[3] किन्तु खडकथा तथा खड काव्य मे प्रयुक्त खड शब्द की व्याख्या की ओर किसी भी साहित्यशास्त्री ने अभी तक इस मत को नही सुझाया है। खड अश के अर्थ मे ही प्रयुक्त हुआ है, जो तर्कसगत भी है।

खडकाव्य के लक्षणो का जहाँ तक प्रश्न है, वह महाकाव्य से अधिक समीप है। खडकाव्य कथारूप को छोडकर शेष नायक, रस तथा उद्देश्य की दृष्टि से महाकाव्य के सदृश ही हो सकता है। महाकाव्य के अनस्थायी लक्षण आ

---

१ वक्रोक्तिजीवितम्, चतुर्थ उन्मेष, श्लोक ५

२. ध्वन्यालोकलोचन उद्योत ३ ७

३ उद्धृत पृ० ५, हिन्दी खडकाव्यों का अध्ययन, शोधकर्ता डॉ० रामकुमार गुप्त

सकते है—किन्तु एक निश्चित सीमा ही तक ।[1]

एकार्थकाव्य—

इसका भी सर्वप्रथम सकेत विश्वनाथ ने ही किया था ।[2] उनके अनुसार इसका लक्षण इस प्रकार है—

भाषाविभाषा नियत्काव्य सर्गसमुज्झितम् ।
एकार्थ प्रवणे पद्यै सन्धिमामग्रह वर्जितम् ।

यह प्रबन्धकाव्य का वह प्रकार है, जो सस्कृत, प्राकृत, किवा अपभ्रंश भाषा मे निबद्ध किया जाता है । इसमे सर्गबन्ध एव सन्धियाँ आवश्यक नही है, इमके उदाहरण के रूप मे भिक्षाटन तथा वृन्दावन काव्य रखे गए है । प० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र का कथन है कि हिन्दी मे कुछ ऐसी भी रचनाएँ देखी जाती हैं, जिनमे जीवनवृत्त तो पूर्ण लिया गया है, किन्तु महाकाव्य की भाँति-वस्तु विस्तार नही दिखाई देता । एकार्थ ही की अभिव्यक्ति के कारण ऐसी रचनाएँ महाकाव्य एव खडकाव्य के बीच की होती है । उन्हे एकार्थ-काव्य या केवल काव्य कहना चाहिए[3] एकार्थकाव्य दर्पणकार ने मात्र दो लक्षण सुझाए है वे है—सन्धि एव सर्ग का अभाव । प० विश्वनाथ प्रसाद जी मिश्र का कथन पूर्णत सगत है कि इन काव्यो मे कथा सम्पूर्ण महाकाव्य की होती है, किन्तु उसके विकास का अभाव मिलता है, उसका कलेवर सक्षिप्त सन्धि एव सर्गहीन रहता है ।

कुलक : अभिनवगुप्त के अनुसार पाँच या पॉच से अधिक एक साथ अन्वित होने वाले श्लोकबन्ध को कुलक कहते है । इसमे वसत आदि का वर्णन होना आवश्यक है ।[4] अग्निपुराणकार के अनुसार कुलक नामक काव्य मे विभिन्न छः छन्दो का प्रयोग होना आवश्यक है । इसे सन्दानितक भी कहते है ।[5] साहित्य दर्पणकार ने भी कुलक को ५ छन्दो से युक्त काव्य बताया है ।[6]

---

१. विशेष अध्ययन के लिए देखिए हिन्दी खडकाव्यों का अध्ययन, डॉ० रामकुमार गुप्त अप्रकाशित शोध प्रबन्ध, प्रयाग विश्वविद्यालय पुस्तकालय, क्रम स० ३, ७४, ४० —१००५

२. साहित्यदर्पण . परिच्छेद ६, श्लोक ३२८

३ वाङ्मयविमर्श विश्वनाथप्रसाद मिश्र, पृ० ६

४. ध्वन्यालोक, ३·७ लोचनटीका,

५ अग्निपुराण, अध्याय ३३७ श्लोक ३६:१

६. साहित्यदर्पण ६· ३१४.

सविशेषक उस काव्यरूप को कहते है जिसमे सस्कृत अथवा किसी अन्य भाषा मे काव्य साम्रग्री की प्राप्ति हो ।[1]

युग्मक मात्र साहित्यदर्पणकार ने ही इसकी परिभाषा की ओर सकेत किया है । यह दो छन्दो का पर्यायबन्धकाव्य होता है ।[2]

सन्दानितक साहित्यदर्पणकार के अनुसार यह तीन छन्दो का समुच्चय होता है । अभिनवगुप्त इसे मात्र दो ही छन्दो का मानते है । अग्निपुराणकार ने इसे कुलक काव्य रूप का पर्यायवाची बताया है । अभिनवगुप्त की परिभाषा के अनुसार यह दो श्लोको मे क्रिया का समन्वय करने वाला छन्दयुग्म-युक्त काव्यरूप होता है ।

कलापक चार छन्दो मे प्रयुक्त एक काव्यरूप विशेष, साहित्यदर्पण के अनुसार इसकी परिभाषा है । अग्निपुराणकार के अनुसार एक वृत्ति मे प्रयुक्त, कैशिकी वृत्ति से कोमल बनाई गई रचना को कलापक कहते हैं । इसमे प्रवास एव पूर्वराग का होना आवश्यक है ।[3]

मुक्तक इसके सभी परिभाषाकार एकमत है । सहृदयो मे चमत्कार उत्पन्न कर देने वाली एक श्लोक प्रधान रचना मुक्तक काव्य है । निर्बन्धकाव्य मे यह सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है ।

संघात् : जहाँ कवि एक अर्थ को एक ही वृत्त के द्वारा काव्य मे वर्णन करता है, वह सघात् है, यथा वृन्दावन या मेघदूतकाव्य ।[4] काव्यानुशासन के अनुसार एक घटना के विषय मे एक ही कविकृत अनेक सूक्ति समुदायो से सघात् काव्य की रचना होती है ।[5]

कोष अग्निपुराणकार के अनुसार कोष नामक काव्यशिरोमणि कवियो की प्रभावशाली सूक्तियो का सग्रह होता है । इसमे रस का प्रवाह सतत् वर्तमान रहता है । यह चतुर सहृदयो को प्रिय है ।[6] इसमे आभास एवं उपशम की शक्ति होती है और एक ही सर्ग मे भिन्न-भिन्न छन्दो का प्रयोग होता है ।

---

१ आग्नि पुराण, अध्याय ३३७, श्लोक ३५, ३६
२ साहित्य दर्पण, ६ ३१८
१. अग्निपुराण अध्याय ३३७ श्लोक ३४, ३५
२ काव्यादर्श १, १३ वें सूत्र की टीका प्रेमचन्द्र तर्कवागीशकृत
५. काव्यानुशासन ८१३ सूत्र की वृत्ति
१ अग्निपुराण: अध्याय ३३७-श्लोक स० ३७, ३८, ३९ः १

इसके दो भेद हैं—मिश्रित तथा प्रकीर्णक। प्रथम श्रव्य एव अभिनेय होता है तथा दूसरा उक्तिसग्रहमात्र। इसके अतिरिक्त संस्कृत काव्यशास्त्र मे अन्य काव्यशास्त्रो के उल्लेख मिलते है यथा प्रभद्रक, गुणवती, वाणावती, करहाटक आदि। किन्तु ये सामान्य अनतिप्रचलित काव्यरूप होने के कारण प्रयोग-विरल है।

यदि इन समस्त काव्यरूपो का वर्गीकरण करे तो इनकी दो स्पष्ट सरणि दृष्टिगत होगी—प्रथम प्रबन्धात्मक या बन्धप्रधानकाव्य, द्वितीय निर्बन्ध या बन्धरहित काव्य। प्रबन्धकाव्य के अन्तर्गत महाकाव्य, खडकाव्य, एकार्थ तथा सघात् रखे जा सकते है शेष निर्बन्धकाव्य के अन्तर्गत।

हिन्दी वैष्णव भक्त कवियो के काव्यरूपो के अध्ययन के सदर्भ मे संस्कृत की काव्यशास्त्रीय परम्परा मे स्वीकृत काव्यरूपो के अध्ययन का तात्पर्य मात्र इतना है कि इन कवियो के काव्यरूपो के अध्ययन की पृष्ठभूमि स्पष्ट हो जाय। हिन्दी वैष्णव भक्तिकाल मे प्रणीत अनेकानेक काव्यरूप कहाँ से आए, उनके पीछे कौन सी परम्परा सक्रिय रही है, उस परम्परा को इन कवियो ने ज्यो का त्यो ग्रहण कर लिया था। किंचित् सशोधन के साथ इन समस्त प्रश्नो को ज।नने के लिए इस पृष्ठभूमि का अध्ययन अपेक्षित है।

प्रथम यह् कि वैष्णव भक्ति काव्यो की परम्परा का निर्धारण किया जाय उसके पूर्व उन काव्यरूप सम्बन्धी सिद्धान्तो का विश्लेषण करना आवश्यक है, जो इनमे निहित है। प्राय अध्ययन की दिशा मे परम्परा से चले आते हुए इन काव्यरूपो से सम्बन्धित सिद्धान्तो को उन रचनाओ पर आरोपित कर दिया जाता है। इस आरोप से इन कवियो के स्वतत्र कृतित्व एवं तत्सम्बन्धी रचनात्मक व्यक्तित्व की स्वतंत्रता पर आघात् पहुँचता है। यह सत्य है कि प्रतिभासम्पन्न कवि प्राचीन काव्य लक्षणो का ज्ञान भली भाँति रखता है, किन्तु उसके अन्धानुकरण की ओर सचेष्ट नही मिलता। अत इन बने बनाये सिद्धान्तो के आधार पर भक्तिकालीन काव्यरूपो का अध्ययन करना आवश्यक नही है। रचनाओ के अन्तर्गत विश्लेषण करने पर स्वत उनमे ऐसे तत्त्व मिल जाते हैं, जिनसे तत्सम्बन्धी सिद्धान्तो का ही स्थिरीकरण किया जा सके।

हिन्दी वैष्णव भक्तिकाव्य के विभिन्न काव्यरूप

सस्कृत के काव्यशास्त्रियो द्वारा प्रतिपादित काव्यरूप विषयक इन

सिद्धान्तो को पृष्ठभूमि मे रखकर हिन्दी वैष्णव भक्तिसाहित्य मे प्राप्त काव्यरूपो पर विचार किया जा सकता है। किन्तु जहाँ तक सिद्धान्त-नियोजन का प्रश्न है वह रचना की प्रकृति एवं स्वरूप पर ही आधारित है। यह आवश्यक नही है कि संस्कृत के शास्त्रकारो द्वारा निर्धारित लक्षण इन काव्यो पर पूर्णरूपेण चरितार्थ ही हो सके। फलत इस विषय मे स्वतत्र दृष्टि ही पूर्णरूपेण वाछनीय है। भक्तिकाव्य मे प्राप्त काव्यरूपो की स्थिति इस प्रकार है—

चरितकाव्य

वैष्णव भक्तिकाव्य मे चरित नाम से अनेक काव्य पाये गए है, किन्तु उनमे से कुछ अप्राप्त है तथा कुछ खंडकाव्य की कोटि मे आते है। चरित-काव्यो मे रामचरितमानस का स्थान सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। अत अन्य चरितमूलक महाकाव्यो के अभाव मे रामचरितमानस का ही अध्ययन अपेक्षित है।

रामचरितमानस को काव्यरूप की दृष्टि से किस कोटि मे रखा जाय, यह विवादास्पद रहा है। डॉ० श्रीकृष्णलाल एवं रजनीकान्त शास्त्री इसे पौराणिक काव्य या पुराण रचना तक स्वीकार कर बैठे हैं। डॉ० माता-प्रसाद गुप्त इसे उत्कृष्टकोटि का महाकाव्य मानते हैं जब कि डॉ० हजारी-प्रसाद द्विवेदी चरित काव्य, वस्तुत डॉ० द्विवेदी का ही कथन मानस के अन्तर्साक्ष्य एव रचना विश्लेषण के पश्चात् उचित ज्ञात होता है।

स्वत तुलसी ने मानस के काव्यरूप के विषय में सकेत किया है। उन्हे रामचरितमानस को चरितात्मक काव्य कहना प्रिय है।[1] उन्होने प्राय मानस के तीन दर्जन स्थलो पर इसे चरितकाव्य या चरित से सम्बन्धित बतलाया है। चरित का सामान्य अर्थ कवि लीला से लेता है। राम की लीला सम्बन्धी पुनीत प्रबन्ध रचना उसके अनुसार चरितकाव्य है। एक स्थल पर कवि कथा, चरित एवं प्रबन्ध तीनो शब्दो को पृथक्-पृथक् अर्थ का सूचक बताता है।

कलप कलप प्रति प्रभु अवतरहीं। चारु चरित नाना विधि करहीं।

---

१. रामचरित मानस, बालकांड दोहा स० ११, २५, ३२, ३१

तब तब कथा मुनीसन्ह गाई । परम पुनीत विचित्र बनाई ।[1]

प्रभु के अवतार लेने पर उनके द्वारा की जाने वाली लीला चरित है। इस चरित का जब मुनियो द्वारा गान या कथन होता है तो वह कथा बन जाती है, किन्तु यह जब सुन्दर सुरुचिपूर्ण क्रम एव बन्ध से लिख ली जाती है तो प्रबन्ध हो जाती है। इस प्रकार चरित या लीला यदि कथित होती है तो कथा और काव्यबन्ध के रूप मे प्रस्तुत की जाती है तो प्रबन्ध रचना बन जाती है। इस तरह स्वतः कवि के शब्दो मे कहना चाहे तो कह सकते है कि मानस चरितात्मक प्रबन्ध रचना है। चरित शब्द का प्रयोग कवि ने दो दृष्टियो से मानस मे किया है। प्रथम सम्पूर्ण मानस की कथा के लिए तथा दूसरा छोटी-छोटी कथाओ के लिए। इसी अर्थ मे नारद चरित, शम्भु चरित, बालचरित[2] आदि का प्रयोग मिलता है। चरित के समानान्तर ही कवि ने प्राय अनेक स्थलो पर कथा शब्द का प्रयोग किया है। रामकथा, रघुवीर कथा, रघुपति कथा, सवाद कथा आदि चरित काव्य के पर्याय रूप मे प्रयुक्त हुए है। कथा शब्द प्रयोग के लिए एक दूसरा सदर्भ भी है, वह है पौराणिक। वह कथा के लिए इतिहास शब्द का भी प्रयोग करता है, किन्तु इन शब्द प्रयोगो के आधार पर मानस को पुराण या इतिहास नही कह सकते। यह सत्य अवश्य है कि पौराणिक कथा के तत्त्व इसमे अवश्य प्राप्त होते है किन्तु उन्ही के आधार पर इसे पुराण काव्य की

---

१ चरित से सम्बन्धित ये स्थल प्रकट करते है कि कवि को मानस के लिए चरितकाव्य कहना कितना प्रिय है

रामचरित मानस महिं नामा, रामचरित मानस मुनि भावन,
ताते रामचरिस मानस वर, रामचरित मानस कवि तुलसी,
अवधपुरी यह चरित प्रकासा आदि मानस बालकाड, दोहा स० ३३, ३४, ३६ ३८ आदि,

२–क. सुत सनेह बस माता बाल चरित कर गान
ख. बाल चरित हरि बहुविधि कीन्हा
ग. बाल चरित अति सरल सुहाए
घ. अब यह चरित कहा में गाई। अगिल कथा सुनहु मन लाई
ङ: यह चरित जे गावाहिं हरि पद पावहिं
च भरत चरित करि नेम तुलसी जे सादर सुनहि
छ. सभु चरित सुनि सरस सुहावा मानस बालकांड दोहा स० क्रमशः २०३, २०४, २०५, २०६, १९१, ३२६, १०३

सज्ञा नही दी जा सकती। कथा मे पौराणिक तत्त्वो का प्रयोग मात्र मानस की ही विशेषता नही है अपितु अपभ्र श परम्परा की समस्त चरितात्मक रचनाओ मे ये तत्त्व प्रभूत मात्रा मे उपलब्ध हो जाते है।[1] कवि ने मानस की कथा के लिए अनेक स्थलो पर यशगाथा, गुणगाथा, गाहा, रघुबीरप्रताप आदि नामो का प्रयोग किया है, किन्तु इनके आधार पर मानस को प्रशस्ति काव्य की सज्ञा नही दी जा सकती, यद्यपि इनमे प्रशस्तिकाव्य के अनेक लक्षण मिल जाते है। इन शब्दावलियो के साथ मानस के काव्यरूप के विषय मे कवि एक शब्द का और भी प्रयोग करता है, वह है प्रबन्ध। इसके अन्तर्गत समस्त कथामूलक काव्य खडकाव्य, एकार्थकाव्य आदि समाहित हो जाते है। किन्तु स्पष्ट है, मानस न राम के खडचरित से सम्बन्धित है और न एकार्थक। फलत प्रबन्ध का तात्पर्य मात्र महाकाव्य से ही लगाया जा सकता है। कवि स्वत कहता है 'जे प्रबन्ध बुध नहि आदरही। सो कवि वादि बाल कवि करही।[2] इससे स्पष्ट है कि प्रबन्ध की रचना बाल कवि नही करते महाकवि ही करते है तथा इसके सम्मानकर्ता सहृदय बुध विद्वान ही होते है। शायद बुध को ही सदर्भ मे रखकर कवि प्रबन्ध के पूर्व विचित्र सुभग सोपान, ज्ञानदृष्टि से अवलोक्य, पुनीत आदि शब्दो का प्रयोग करता है। इससे स्पष्ट है कि कवि स्वत अपने काव्य को उच्चकोटि का प्रबन्धकाव्य मानने की ओर सकेत कर रहा है। उसके द्वारा कथित प्रबन्धकाव्य महाकाव्य का पर्याय है। फलत इसे कथाकाव्य, पुराणकाव्य कहना उपयुक्त नही है। यह उच्चकोटि का महाकाव्य या प्रबन्धकाव्य है; इसमे प्रयुक्त पुराण चरित, कथा, प्रशस्ति शब्द मात्र प्रबन्ध शब्द का पोषण करते हैं। फलत इसे कथा या पुराण समर्थित रामचरित एव प्रशस्ति सम्बन्धी प्रबन्ध काव्य कहा जा सकता है कि स्वत कवि के अनुसार इस पुराण समर्थित चरित एव प्रशस्तिमूलक प्रबन्ध काव्य के ये लक्षण है।

कवि ने स्वत गौण एव प्रमुख का भेद करके इसके लक्षणो की ओर सकेत किया है। उसके अनुसार इस काव्य के गौण लक्षण प्रमुख लक्षण के अभाव मे निरर्थक है।

रामचरित सर बिनु अन्हवाए सौ श्रम जाहि न कोटि उपाए

० ० ० .०:

---

१. इसके लिए देखिए चरित काव्य की परम्परा, प्रस्तुत अध्याय

२. मानस बालकाण्ड दोहा स० १४

राम कवित भूषित जिय जानी । सुनिहहिं सुजन सराहिं सुबानी ।
o o o
कवि कोविद अस हृदय बिचारी । गावहिं हरि जस कलिमल हारी ।
.o. o :o
मगल करनि कलिमल हरनि तुलसी कथा रघुनाथ की ।
गति कूर कविता सरित की ज्यो सरित पावन पाथ की ।।
o o :o
कवि कोबिद रघुबर चरित मानस मजु मराल ।
o .o o
प्रभु पद प्रीति न सामुझि नीकी । तिनहिं कथा सुनि लागहिं फीकी ।
राम भगति भूषित जिय जानी । सुनिहहि सुजन सराहि सुबानी ।[१]

निष्कर्ष

रामचरित मानस के लिए काव्य मूल्य गौण है । काव्य एव अलंकृति रामभक्ति एव चरित प्रतिपादन के बिना निरर्थक है । चरितात्मकता प्रबन्ध-काव्य का प्रथम लक्षण है । सर्वप्रथम इष्ट या नायक के चरित्र को प्राथमिक महत्त्व देकर प्रतिपादन करना ततश्च अन्य काव्य गुणो को उसकी शोभा के लिए नियोजन, चरितात्मक प्रबन्धकाव्य का मूल उद्देश्य है । मुख्य उद्देश्य के रूप मे, लोक कल्याण, भक्तिप्रचार, मुक्ति कल्पना तथा कलिग्रसित वासना का विनाश, सम्पूर्ण मानस मे कवि ने इसी का प्रतिपादन किया है । यदि मानस से इन तत्त्वो को निकाल लिया जाय तो वह पुन लौकिक या प्राकृत कवियो के धरातल पर उतर आवेगा । शकर, याज्ञवल्क्य तथा भुशुण्डि ने मानस कथा को आरम्भ करने के पूर्व इन्ही प्रयोजनो के विषय मे चर्चा की है । मानस की कथा आरम्भ करने के पूर्व स्वतः तुलसी ने ७२ पक्तियो में स्वोद्देश्य को स्पष्ट किया है ।[२]

इस प्रबन्ध काव्य के गौण लक्षण भी हैं, वे रचना शैली से सम्बन्धित हैं । इन्हे मुख्य कथा का पूरक लक्षण भी कहा जा सकता है .

१ इसमे काडो की सख्या अधिक नही होनी चाहिए कवि ने सात काड की स्वत मानस के लिए स्वीकृति दी है ।

२ इसमे सुन्दर संवादों का प्रयोग अपेक्षित है ।

३ औपम्य या साध्यमूलक अलकारो की प्रमुखता, ध्वनि, वक्रोक्ति,

---

१. रामचरितमानस, बालकान्ड, दोहा स० ३३, ३७ १४ ६

२. रामचरितमानस, बालकान्ड, दोहा स० ३६ से ४३ तक

गुण तथा रसो का प्रयोग अपेक्षित है ।

४ छन्दो के लिए कवि ने चौपाई, दोहा, सोरठा, छन्द, छप्पय आदि की स्वीकृति दी है ।

५ इसमे उदात्त अर्थों की व्यंजना अपेक्षित है ।

६ इसके अन्तर्गत अनेक कथाओ एव प्रसगो का समावेश आवश्यक है ।

रचना की मानसिक प्रक्रिया अत्यत उदात्त कोटि की होनी चाहिए ।[1]

कवि द्वारा कथित इन लक्षणो के साथ-साथ मानस के रचना स्वरूप के अन्तर्गत प्राप्त कतिपय अन्य लक्षणो की ओर सकेत किया जा सकता है । ये लक्षण इस प्रकार है —

१ कथावस्तु तथा कथा नियोजन

मानस की सम्पूर्ण कथा को चार भागो मे विभक्त किया जा सकता है—

१ मुख्य कथा	३ सहकथाएँ
२ पूरक कथाएँ	४ भूमिका से सम्बन्धित कथाएँ

मुख्यकथा रामअवतार, सुबाहु मारीच प्रसंग, धनुभँग, विवाह, रामराज्य की तैयारी, विघ्न, वनगमन, चित्रकूट निवास, सीताहरण, खरदूषणवध, राम के द्वारा सीता की खोज, सुग्रीव मैत्री, सीता की खोज, सेतुबध, लक्ष्मण-मेघनाद युद्ध, कुंभकर्ण वध, मेघनाद वध, अन्य राक्षस वध, रामराज्याभिषेक ।

पूरक कथाएँ ताडका वध, फुलवारी प्रसग, परशुराम आगमन, मथरा की कथा, केवट प्रसग, भरत कथा, भरत राम मिलन, जयन्त की कुटिलता, शूर्पणखा का नाक कान काटा जाना, जटायु प्रसंग, बालिवध, स्वयप्रभा तथा सपातीप्रसग, सुरसा, समुद्र, राक्षस, हनुमान पराक्रम, अक्षयकुमार वध, लकादहन, अगद रावण सवाद तथा सीता की अग्नि परीक्षा ।

सहकथाएँ अहिल्या कथा, गगा की उत्पत्ति कथा, तेजपु जतापस, वाल्मीकि प्रसग, अत्रि, अनुसुइया, सुतीक्ष्ण, सरभग, अगस्त, त्रिजटा, नारद, शबरी के प्रसग, विभीषण तथा हनुमान-रावण सवाद, दशरथ का आगमन,

---

१ रामचरितमानस, बालकांड, दोहा स० ३६, ३७, ३८

विभिन्न स्तुतियाँ, राम का प्रजा को उपदेश, कागभुशुन्डि लोमश सवाद एव अन्य अन्तर्कथाएँ।

भूमिका से सम्बन्धित कथाएँ नारद कथा, कश्यप अदिति कथा, प्रतापभानु-कथा, शकर पार्वती प्रसग, राक्षसवशोत्पत्ति, याज्ञवल्क्य सवाद, कागभुशुन्डि एव गरुड सवाद, तथा कवि के स्वगत प्रसग आदि।

इन कथाओ के देखने से रामचरित मानस की कथावस्तु विषयक जटिलता का अनुमान सरलता से लगाया जा सकता है। मानस की ये कथाएँ परस्पर सश्लिष्ट है। महाकाव्य के सदर्भ मे सम्पूर्ण कथावस्तु को दो भागो मे विभक्त करके अध्ययन होता रहा है—प्रमुख कथावस्तु तथा पूरक-कथाएँ। पौराणिक एव धार्मिक परम्परा से सम्बन्धित काव्य मे सहकथाओ का प्रयोग मिलता है। वाल्मीकि रामायण मे भी उपाख्यान के रूप मे इनमे से कतिपय कथाएँ मिलती है। मुख्य कथा का प्रयोग एक निश्चित फलसिद्धि के लिए होता है। पूरक कथाएँ इसी निश्चित फलोद्देश्य की पूर्ति मे सहायक होती है। मानस की पूरक कथाओ की भी यही स्थिति है।

फल को ध्यान मे रखकर मुख्य कथा का नियोजन होता है। साथ ही फलोद्देश्य की पुष्टि एव उसी के अनुकूल नायक का चरित्र नियोजन करना इसका लक्ष्य है। इस लक्ष्य तक पहुँचने के लिए पूरक कथाओ का आश्रय लिया जा सकता है। ये पूरक कथाएँ मुख्य कथा की टूटी हुई कडियो को जोडने मे भी सहायक होती है। मानसकार ने अनेक स्थलो पर मुख्य कथा के उद्देश्य को स्पष्ट किया है। उसके अनुसार सन्देह एव भ्रम का विनाश, कलिकलुष की समाप्ति, विवेक की जाग्रति, साधु समाज का पोषण, जीव-मुक्ति, पापशमन, कपट, मोह, लोभ, काम, क्रोध आदि का समूल विनाश, आनन्द का प्रचार, वैराग्य की वृद्धि आदि इसके मुख्य उद्देश्य है। किन्तु इन उद्देश्यो से कही अधिक सशक्त सगुण लीला भक्ति का प्रचार मुख्य कथा का फल माना जा सकता है।[1] पूरक कथाओ का प्रयोग मुख्य कथा के इस लक्ष्य पूर्ति की ही दृष्टि से होना चाहिए।

मानस मे प्रयुक्त सहकथाओ की स्थिति स्वतत्र है। वे मुख्यकथा की सहवर्तिनी भी रह सकती है, तथा उनसे पृथक् भी कथावस्तु को फलोद्देश्य तक पहुँचाने मे उनका सहयोग अपेक्षित नही है। इनका प्रयोग, नैतिक

---

१ मानस बालकाड, दोहा स० ३१, ३२ तथा ४३

उपदेश, शील निरूपण, आध्यात्मिक सदर्भण एव भक्तिविषयक मान्यताओ के स्पष्टीकरण मे है।

भूमिका भाग मे प्रयुक्त सहकथाएँ मुख्यकथा के स्पष्टीकरण के लिए है। उनसे कथा के मुख्य प्रयोजन का अनुमान सरलतापूर्वक लगाया जा सकता है। अवतारवाद एव शकर आख्यान से सम्बन्धित प्रसग कथा स्वरूप के स्पष्टीकरण तथा महात्म्य निरूपण के लिए प्रयुक्त है।

पात्र नियोजन

कथावस्तु की ही भाँति पात्रनियोजन की समस्या मानस मे अत्यधिक जटिल है। मानस मे कुल मिलाकर लगभग ८० पात्र है। ये पात्र कथा की विभिन्न प्रकृति के आधार पर नियोजित होने के कारण उसके मुख्य फल-नियोजन मे सहायक है। कथावस्तु के ही आधार पर इन्हे निम्नलिखित भागो मे विभक्त किया जा सकता है—

१ मुख्यकथा के पात्र २ पूरक कथा के पात्र ३ सहकथा के पात्र ४ सामूहिक पात्र ५ भूमिका कथाओ के पात्र

मुख्यकथा के नायक राम एव विरोधी कथा का नायक रावण है। कथा का फलोद्देश्य विरोधी नायक रावण के ऊपर राम की विजय है। मुख्य कथाफल तक पहुँचने के लिए राम का राज्य न पाना एक सचेष्ट कारण है। रामकथा का विकास राम के चित्रकूट निवास तक हो जाता है। रामकथा एव विरोधी कथा मे परस्पर कडी बैठाने का कार्य शूर्पणखा एव सीता के द्वारा सम्पन्न होता है। रावण शूर्पणखा के नाक कान काटे जाने का बदला सीताहरण से लेता है तथा राम अपनी पत्नी के हरण का बदला रावण वध से लेते हैं।

इस मुख्यकथा को अनेक सदर्भो से पुष्ट करने के लिए विभिन्न पात्र-योजनाएँ निर्मित की गई है। सम्पूर्ण पूरक कथा के पात्र इस फलोद्देश्य की सिद्धि मे प्रतिक्षण सचेष्ट रहते है। शेष, अन्य मुख्य एव पूरक कथा के पात्र इसी फलोद्देश्य मे किसी न किसी रूप मे सहायता पहुँचाते हैं।

सहकथा के पात्रो का सम्बन्ध मुख्य कथाफल से सम्बद्ध नही है। उनका अपने आप में एक निश्चित फलोद्देश्य है। इन कथाओ के नायक राम हो सकते है, किन्तु यह नायकत्व रावण वध से सम्बन्धित नही है।

भूमिका भाग मे प्रयुक्त कथापात्रो के दो उद्देश्य हैं—वे एक ओर मुख्य कथा को स्पष्ट करते है, दूसरी ओर नैतिक एवं सैद्धान्तिक निरूपण में

सहयोगी है। सामूहिक पात्रो का प्रयोग कथा की पूर्ति एव राम महात्म्य के सदर्भ मे हुआ है।

इस प्रकार कथा एवं पात्रो की स्थिति परस्पर सश्लिष्ट एव अन्योन्याश्रित है। वे परस्पर एक ही तथ्य की पुष्टि के लिए प्रयुक्त है।

फलोद्देश्य कथावस्तु एव पात्रो की स्थिति पर आश्रित है। कथावस्तु एव पात्रो के प्रयोग का अभिप्राय फलोद्देश्य को पुष्ट करना है।

मुख्य कथा का फलोद्देश्य

मुख्य कथा का सामान्य फलोद्देश्य रावण पर राम की विजय है किन्तु कवि इसे अवतारवाद की धारणा से पुष्ट कर देता है। रामावतार का कारण धर्म की पुष्टि, पृथ्वी, विप्र, धेनु, भक्ति एव देवताओ की सुरक्षा तथा धर्म का प्रचार है। इनके विरोधी असुर एव राक्षस पृथ्वी पर अनाचार का प्रचार करते है। फलत उन्ही के विनाश से अवतारवाद की धारणा पुष्ट होती है। रावणवध असुर या राक्षसवध से सम्बन्धित है, जिसका उद्देश्य पृथ्वी पर अनाचरण का प्रसार करना है। इस प्रकार इस चरितकाव्य का लक्ष्य है—अवतारवाद के कारणो की पुष्टि, जिसके अन्तर्गत धर्म आचरण, भक्ति, विप्र, धेनु, पृथ्वी एव देवताओ की सुरक्षा सम्बन्धी धारणा निहित है।

सहकथाओ का उद्देश्य पहले ही स्पष्ट किया जा चुका है। इनका प्रयोग कवि अपने सिद्धान्त की पुष्टि के लिए करता है। ये सिद्धान्त आचरण, भक्ति एव दर्शन से सम्बन्धित है। निष्कर्षत चरितमूलक महाकाव्य का कथाफल भक्ति एवं धर्म प्रचार से सम्बद्ध है।

रामचरित मानस मे सस्कृत काव्य परम्परा मे स्वीकृत महाकाव्य के अन्य शैलीगत लक्षण भी वर्तमान हैं। ये इस प्रकार है—सर्गबद्धता एवं सर्गान्त छंद का प्रयोग, नायकत्व, एवं रसत्व, कथावृत एव रचना विधान, स ध्या, सूर्येन्दु, रजनी, मृगया, शैल, बन, सागर, नदी, स्वर्ग, पुर, सभोग-विप्रलम्भ, मुनि, रणप्रयाण, पुत्रोपाय एव पुत्रोदय आदि अध्याय ७ मे काव्यशास्त्रीय रूढियो के अध्ययन के संदर्भ मे इनका विशेष अध्ययन हुआ है।

निष्कर्ष

रामचरित मानस को देखते हुए उसके रचना स्वरूप के विषय मे निम्न लक्षण निर्धारित किए जा सकते हैं—

१ चरित नियोजन पर अधिक ध्यान दिया जाना चाहिए।

२ इसका मुख्य उद्देश्य पापशमन, लोक कल्याण, भक्ति, मुक्ति, कलिग्रस्त वासना से सम्बद्ध है।

३ कथावस्तु के प्रमुख एवं गौण उद्देश्य से सम्बन्धित कई भेद हो सकते है—मुख्य कथा, पूरक कथा, सहकथा एव भूमिका भाग से सम्बन्धित कथाएँ।

४ कथावस्तु के आधार पर पात्रो की अधिकता इसके लिए दूषण नही है।

५ रस का विशेष आग्रह नहीं है।

इसके अतिरिक्त भी इसके कतिपय गौण लक्षण है—जिनका उल्लेख पहले किया जा चुका है।

वर्णनात्मक तथा एकार्थकाव्य

हिन्दी वैष्णव भक्तिकाव्य के अन्तर्गत कुछ वर्णनात्मक काव्य पाए जाते है और कुछ एकार्थ। वर्णनात्मक एव एकार्थ मे थोडी सी भिन्नता है। वर्णनात्मक काव्य प्राय सम्पूर्ण जीवन वृत्त का वर्णनात्मक काव्य शैली मे प्रस्तुत किए गए विशेष काव्यरूप प्राय वर्णनात्मक शैली के कारण अप्रभावशाली हो जाते है। एक सामान्य द्वन्द्व मे पूरी कथा से परिचय कराना एव कथा सम्बन्धी उद्देश्य को प्रगट करना इसका मुख्य प्रयोजन है। दूसरी ओर एकार्थ काव्य पूर्णत सक्षिप्त होता है, फिर भी सम्पूर्ण कथा उसमे निहित रहती है। सूरसारावली, भागवत भाषा दशम स्कन्ध तथा बरवैरामायण को वर्णनात्मक (नैरेटिव पोएट्री) काव्य के अन्तर्गत रखा जा सकता है। भागवत भाषा दशम स्कन्ध को अनुवाद नही कहा जा सकता, भागवत दशम स्कन्ध के प्रकरणो के सामान्य आधार के अनुमोदन की बात अवश्य है क्योकि कवि इसमे स्वत अपने रचनात्मक व्यक्तित्व की सूचना देता है। फलत इसमे रचनाकार का व्यक्तित्व प्रधान हो गया है।

वर्णनात्मक काव्य

सूरसारावली को विद्वानो ने या तो सूरसागर की अनुक्रमणिका की सज्ञा दी है, या एक अप्रामाणिक रचना माना है। यहाँ यह मानकर इस पर विचार किया गया है कि यह मध्यकालीन वैष्णव भक्तिकाव्य की रचना है क्योकि वैष्णव भक्ति के तत्त्व उसमे वर्तमान हैं, तथा काव्यरूप की दृष्टि

से यह वर्णनात्मक काव्य है। इसे अनुक्रमणिका कहना तो पूर्ण भ्रामक है। अनुक्रमणिका की भाँति यह काव्यगुणो से हीन तथा कवि की रचनात्मक प्रतिभा से च्युत नही है। फलत इसे वर्णनात्मक काव्य (नैरेटिव पोएट्री) कहना पूर्णत उचित होगा। दूसरी ओर भागवत भाषा दशम स्कन्ध भी वर्णनात्मक काव्य है। रचना मे भाषा शब्द का प्रयोग अनुवाद के अर्थ का पर्यायवाची न होकर भाषा मे प्रणीत रूप का सूचक है। इन दोनो काव्यो की निम्न विशेषताएँ है, जिनके कारण इन्हे वर्णनात्मक काव्य कहा जा सकता है—

१ सम्पूर्ण काव्य मे एक प्रकार के ही छन्दो का प्रयोग हुआ है। ये छन्द वर्णनात्मक काव्यरूपो के लिए प्रयुक्त हुए है। मध्यकालीन चरितकाव्यो मे इनका प्रयोग हुआ है। ये वर्णनात्मक काव्यरूप के लिए अधिक उपयुक्त ठहरते है। दशम स्कन्ध भाषा मे चौपाई और दोहा तथा सूरसारावली मे वर्णनात्मक सरसी छन्दो का प्रयोग हुआ है।

२ भागवत भाषा दशम स्कन्ध की कथा पूर्णत भागवत पर आधारित है किन्तु कवि ने उसका अनुवाद नही किया है। वह मात्र भाषाबद्ध करने की बात करता है। वह रचना के आरम्भ मे ही कहता है।

परम विचित्र मित्र इक रहे। कृष्ण चरित्र सुन्यो सो चहे।
तिन कही दशम स्कन्ध जु आहि। भाषा करि कछु बरनी वाहि।
सबद सस्कृत के है जैसे। मोपे समुझि परत नहि तैसे।
ताहे सरल जु भाषा कीजै। परम अमृत पीजै सुख जीजै।[1]

इन पक्तियो से स्पष्ट है कि कवि ने अपने मित्र को भागवत के दशम स्कन्ध के कृष्ण चरित्र को समझाने के लिए सरल भाषा मे उसी के आधार पर इसकी रचना की। 'सरल जु भाषा कीजे' का स्पष्ट अर्थ काव्य की वर्णनात्मकता से है। कवि ने भागवत को आधार बनाकर रचना करने की ओर भी सकेत किया है। वह ५ स्थलो पर शुक का नाम तथा शुक-परीक्षित के वक्ता श्रोता की परम्परा का उल्लेख करता है। भागवत की भाँति कतिपय लीलाओ मे इति वत्सासुर लीला, इति वच्छहरण लीला, इति धेनुकमर्दन

१ दशम स्कन्ध भाषा, अध्याय १, पक्ति ४, नन्ददास ग्र० प० उमाशकरशुक्ल

लीला जैसे पौराणिक अनुबन्धो का प्रयोग करता है, किन्तु कवि ने अनेक स्थलो पर कृति सम्बन्धी स्वतन्त्र व्यक्तित्व की सूचना दी है।[1] कवि के द्वारा प्रयुक्त 'यथामति' शब्दावली इसी का सूचक है। यहाँ भागवत की भाँति कथा का सम्पूर्ण विस्तार एव तत्सम्बन्धी अध्यायो तथा लीलाओ को विशेष प्रमुखता नही मिली है। कवि ने भागवत दशम स्कन्ध की सम्पूर्ण कथा को २६ अध्यायो और २८०० पक्तियो मे कहा है। ठीक यही स्थिति सूरसारावली की भी है। प्रभुदयाल मीतल सूरसारावली की कथा सूरसागर पर आधारित मानते है[2] जो सर्वथा भ्रामक है। नागरी प्रचारिणी से प्रकाशित सूरसागर की कथा योजना से सारावली मे समानता मिलती है, किन्तु सूरसारावली की कथा मे स्वेच्छया अनेकानेक परिवर्तन किए गए है। ये परिवर्तन वर्णनात्मक काव्यरूप की दृष्टि से पूर्णतः उपयुक्त प्रतीत होते है। ये परिवर्तन इस प्रकार है—

> **भागवत या सूरसागर की कथा का आरम्भ, महाभारत की कथा, परीक्षित उत्पत्ति, श्राप तथा शुक द्वारा भागवत कथन से आरम्भ होती है।**

भागवत की उत्पत्ति के लिए इस कथा का सदर्भ पौराणिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। कवि इस पौराणिकता का त्याग कर सृष्टि की उत्पत्ति का सामान्य सकेत 'होली' के रूपक से शुरू करता है। कवि परीक्षित की जन्म कथा का सकेत काव्य के अन्त मे करता है। वस्तुत वैज्ञानिक कथा नियोजन की दृष्टि से कवि ने सम्पूर्ण कथा को ही यहाँ उलट दिया है।

कथा नियोजन मे कवि एक और भी परिवर्तन करता है। भागवत तथा सूरसागर मे वर्णित २३ अवतारकथाओ के क्रम अत्यन्त सक्षेप मे रखने के बाद कृष्ण की सम्पूर्ण जीवन कथा को आदि से अन्त तक कहा जाता है। सूरसागर एव भागवत का क्रम दूसरा है। उसमे रामकथा के बाद कृष्ण अवतार की कथा आती है। बुद्ध एव कल्कि अवतार की कथा सबसे अन्त मे आती है। किन्तु सारावली मे बुद्ध और कल्कि अवतार के बाद रामकथा का वर्णन शुरू होता है।

---

१ नन्द जथामति कै तथा वरन्यो प्रथम बनाइ, अध्याय २, पक्ति १६७

२ सूरसारावली : सम्पा० प्रभुदयाल मीतल, भूमिका भाग

इस कथा की एक अन्य विशेषता है कृष्ण के सम्पूर्ण जीवन का चित्रण जो भागवत मे मात्र साकेतिक है तथा सूरसागर मे है ही नही। कवि कृष्ण जन्म की कथा से आरम्भ करके अपने काव्य की समाप्ति कृष्णपुत्रोत्पत्ति के बाद करता है। कृष्ण की यह कथा छन्द १ से ८६ तक समाप्त हो जाती है उसके बाद भी राधा कृष्ण विहार एव दृष्टकूट सम्बन्धी पक्तियाँ मिलती है, किन्तु वे उस सदर्भ से मेल नही खाती।

वर्णनात्मक काव्य की दृष्टि से इनकी ये विशेषताएँ या लक्षण बतलाए जा सकते है

वर्णनात्मकता की ओर कवि की दृष्टि अधिक सजग रही है। भाव-गाभीर्य तथा भावात्मक स्थलो पर रम जाने की प्रवत्ति कही भी नही मिलती। रूप, प्रकृति, सौन्दर्य तथा भावाभिव्यक्ति की सजगता का अभाव मिलता है। कवि अपनी वर्णनात्मक प्रकृति के अन्तर्गत कथाओ एव घटनाओ का समावेश करता चलता है। खण्ड कथानको को स्पष्ट करने के लिए अध्यायो एवं शीर्षको के प्रयोग की सूचना पक्तियो मे ही मिल जाती है। प्रभुदयाल मीतल ने सारावली मे कविकथित पक्तियो के आधार पर 'शीर्षक विभाजन' भी कर डाला गया है जो कवि अभीष्ट नही है। यह वर्गीकरण वर्णनात्मक काव्य की प्रकृति के अनुरूप भी नही है। दशम स्कन्ध भाषा मे अध्यायो का सामान्य वर्गीकरण है। यह वर्गीकरण वस्तुत भागवत के प्रभाव का फल है—

सम्पूर्ण कथा के लिए कृष्णचरित्र, पौराणिक कथा, कृष्ण के जन्म, कर्म, गुण, यशगान की कथा आदि शब्दावलियो का प्रयोग मिलता है। सूरसारावलीकार किसी एक लक्ष्य-पदबन्ध के रूप मे कथित कृष्ण कथा का सार रूप उसे स्वीकार करता है।

निष्कर्ष रूप से इसके निम्न लक्षण बताए जा सकते है—

१—वर्णनात्मक काव्य मे एक सम्पूर्ण कथा का आद्योपान्त चित्रण मिलता है।

२—शैली वस्तुविन्यास तथा छन्दयोजना पूर्णत वर्णनात्मक काव्य के अनुकूल है। शैली मे अलकरण, भावुकता एव एक स्थल पर रमकर चित्रण करने की प्रवृत्ति का पूर्ण अभाव होना चाहिए।

३—मुख्य कथाओ को उभारने की ओर कवि को सचेष्ट रहना चाहिए। खन्डकथाओं का मुख्य उद्देश्य प्रमुख कथा को पुष्ट बनाना है।

४—इस प्रकार के काव्यो का सर्वप्रमुख गुण है, सरलता। इस सरलता से कथा एवं शैली सम्बन्धी रोचकता का विकास होता है।

५—अवान्तर कथाओ का प्रयोग आवश्यक नही है। यदि भूमिका के रूप मे इनका प्रयोग होता है तो अति सक्षिप्त रूप मे सम्पूर्ण कथा का अत्यधिक अपेक्षित नही है।

६—अवान्तर तथा मुख्य कथाओ के अन्तर्गत सेवा, भावना, सिद्धान्त तथा अन्य धार्मिक सिद्धान्त विषयक टिप्पणियाँ जोडी जा सकती है।

खण्डकाव्य

हिन्दी खन्डकाव्यो का अध्ययन सन् १९६३ मे प्रयाग विश्वविद्यालय से हो चुका है। शोधकर्ता ने प्रस्तुत विषय की सीमा के अन्तर्गत मात्र ४ काव्यो का उल्लेख किया है—रुक्मिणीमगल, पार्वतीमगल, जानकी-मगल तथा रूपमजरी।[1] सक्षेप मे उसके अनुसार खन्डकाव्य के निम्न लक्षण हैं—

१ रचना का प्रबन्धात्मक रूप २ कथा की ऐतिहासिकता

३ नायक की उदात्तता ४ आद्यन्त एक रस की प्रधानता

५ नायक को फल की सिद्धि ६ कथा मे एक अश का चित्रण

इन प्रमुख लक्षणो के साथ आरम्भ मे मगल स्तुति, चतुर्वर्ग फल का सकेत होना चाहिए।[2] किन्तु ये लक्षण भक्तिकालीन खन्डकाव्यो के विषय मे पूर्णत चरितार्थ नही होते निष्कर्ष रूप मे ये मात्र प्रबन्धकाव्य के रचना स्वरूप पर ही आधारित है। भक्तिकालीन खन्डकाव्यो की सम्पूर्ण प्रकृति का निर्देश इन लक्षणो के आधार पर नही किया जा सकता। वस्तुत कथा एव काव्य की दृष्टि से हिन्दी के खन्डकाव्यो के अन्तर्गत निम्न काव्यो को लिया जा सकता है—जानकीमगल, पार्वतीमगल, रासपचाध्यायी, रूपमजरी, रुक्मिणीमगल, श्यामसगाई रामललानेहछू। यदि सामान्य छोटे काव्यो को लिया जाय तो इनमे रासपचाध्यायी (व्यास जी), (नन्ददास) आदि को लिया जा सकता है। इसके अतिरिक्त कतिपय अप्राप्त लघुचरित काव्य है जिनके विषय मे मात्र सकेत ही मिलता है। ये रचनाएँ सम्प्रति

---

१ हिन्दी खडकाव्यों का अध्ययन, रामकुमार गुप्त, अप्रकाशित प्रबन्ध प्रयाग विश्व-विद्यालय पुस्तकालय क्र० स० ३२७५, १०।१००५

२ हिन्दी खण्डकाव्यों का अध्ययन, पृष्ठ १२, १९, २०

अप्राप्त है—मदालसा आख्यान, ग्वालिन झगरौ, (अग्र०, बाल०) दानलीला, दयालमजरी आदि रचनाएँ इसी श्रेणी मे आती है।

प्राप्त काव्यो के कथा स्वरूप, शिल्प एव रचनाशैली की दृष्टि से अध्ययन करना अपेक्षित है।

१—समस्त काव्यो मे नायक अलौकिक व्यक्तित्व या अवतार से सम्बन्धित है। जानकी मगल, तथा रामललानेहछू के नायक राम एव रासपचाध्यायी, श्यामसगाई, रुक्मिणीमगल, रूपमजरी तथा सुदामाचरित के नायक कृष्ण है। पार्वतीमगल के नायक शिव है। इस प्रकार इन काव्यो के नायक का सम्बन्ध अलौकिक व्यक्तित्व से है।

२—सभी रचनाओ मे कथा सघर्ष कम है। कथा मे विकास की परिस्थितियाँ क्षीण कर दी गई है। जानकी मगल, पार्वतीमगल, रामललानेहछू, रुक्मिणीमगल, रूपमजरी, सुदामाचरित आदि मे कथा विस्तार एव फल की अन्तिम प्राप्ति को महत्त्वपूर्ण बना दिया है। कारण कि इनमे काडो का विभाजन नही है। कथादृष्टि सैद्धान्तिक बहुलता के कारण गौण है। फलत किसी मे भी सघर्षपूर्ण परिस्थिति का नियोजन नही मिलता। रासपचाध्यायी मे पाँच अध्याय है—किन्तु अध्याय का यह विभाजन उपयुक्त नही है। तीसरे, चौथे तथा पाँचवे अध्याय मे सामान्यत गतिशीलता है ही नही।

३—इनके आरम्भ मे गुरु, गणेश, शुक, वृन्दावन, कृष्ण, शकर, पार्वती, ब्रह्मा, सरस्वती, शेष, वृहस्पति, वेद, सरलमति सन्त, राम, सीता आदि की स्तुति का विधान मिलता है। श्यामसगाई मे किसी की भी वन्दना नही मिलती। रुक्मिणीमगल मे इस काव्य की फलप्राप्ति का आरम्भ मे सकेत मिलता है। किसी की वन्दना नही है। रूपमजरी मे भक्तिमाहात्म्य से सम्बन्धित लगभग ३० पक्तियाँ दी गई है। रासपचाध्यायी के आरम्भ मे शुक, भागवत, वृन्दावन, कृष्ण के माहात्म्य का निरूपण है।

४—अन्तिम फल के रूप मे भक्ति को प्रमुखता मिली है। जानकी तथा पार्वतीमगल मे फल के रूप मे स्त्री पुरुष का आनन्दित रहना, भक्ति की प्राप्ति, रुक्मिणीमगल मे समस्त मगलो की प्राप्ति, लोकप्रियता की प्राप्ति, कृष्ण तथा रुक्मिणी की पात्रता आदि का सकेत है। श्यामसगाई मे राधाकृष्ण की भक्ति तथा रूपमजरी मे परम प्रेम पद की प्राप्ति को इसका अन्तिम फल निदिष्ट किया गया है। रासपचाध्यायी मे मगल की प्राप्ति, अघ का विनाश, प्रेम का वितरण फल कहा गया है। इस प्रकार अन्तिम

फल के रूप मे इन रचनाओ का दृष्टिकोण लोकमगल एव भक्ति का प्रचार करना है।

५—इन रचनाओ मे गीतात्मकता को अधिक प्रधानता मिली है। जानकी तथा पार्वती मगल के उपवीत व्याह, उछाह एव अन्य मागलिक अवसरो पर गाए जाने की चर्चा मिलती है। नेहूछ के जन्म के समय गाने का सकेत मिलता है। रूपमजरी मे कवि ने कथन-श्रवण की परम्परा का सकेत किया है। आरम्भ मे प्रेममगी कथात्मक पद्धति पर उसने काव्य लिखने की चर्चा है। नन्ददास रासपञ्चाध्यायी मे उसके गाये जाने की चर्चा करते है।[१] किन्तु यह पूर्ण गेय रचना नही है। कवि ने एक स्थल पर स्पष्टत इसे कथा कहा है।[२] रुक्मिणी मगल को भी कवि गेय रचना कहता है।[३] इस प्रकार स्पष्ट है कि ये अधिकाशत रचनाएँ गेय है किन्तु गेय का तात्पर्य उत्कृष्ट गेय से नही है। वस्तुत इसका अर्थ लोकगेयता से है। मगल सम्बन्धी रचनाएं लोकगेयता के अधिक समीप है। वस्तुत इसका अर्थ लोक गेयता से है। रूपमजरी की प्रेम आख्यानमूलकता वस्तुत लौकिक काव्यो के समीप अधिक है।

६—इनमे पात्रो की अधिकता नही मिलती। चूकि कथा मात्र निश्चित लक्ष्य तथा बिना कथा श्रृखलाओ के आगे बढती है, अत गौण पात्र पूर्णत न्यून है। पार्वतीमगल मे शिव पार्वती प्रमुख पात्र है, गौण पात्रो मे मयना, पर्वतराज, सप्तऋषि है। जानकी मगल मे राम और सीता प्रमुख पात्र है। जनक, परशुराम, विश्वामित्र, दशरथ आदि पूर्णत गौण है। नेहछू मे राम कौशिल्या के अतिरिक्त दशरथ, नाइन आदि गौण पात्र हे। रूपमजरी मे रूप-मजरी-कृष्ण प्रमुख पात्र है, धर्मधीर, इन्दुमती गौण है। श्यामसगाई मे राधा-कृष्ण प्रमुख पात्र है, गौण पात्रो मे यशोदा तथा वृपभानु पत्नी है। रुक्मिणी मगल मे कृष्ण तथा रुक्मिणी प्रमुख एव शिशुपाल, विप्र गौण पात्र है।

---

१ जो यह लीला गावै चित सुनै सुनावै।

× × ×

रसिक जनन सौ सङ्ग करें हरि लीला गावै। पचम अध्याय पक्ति स० ७८ तथा ५६५

२ ताते मै यह कथा जथामति भाषा कीन्ही। प्रथम अध्याय पृ० ४०

३ विधिवत कियो विवाह, तिहू पुर मगल जायो, जो यह मगल गावै,
चित दे सुने सुनावै,
नन्ददास अपने प्रभु को यह मगल गावै। पक्ति २६१, २६२, २६६

रासपचाध्यायी मे कृष्ण, गोपियाँ प्रमुख है । गौण पात्रो मे मदन, रति का उल्लेख है—शुक, परीक्षित पूर्णत मूक पात्र है । इस प्रकार स्पष्ट है कि कथा सकोच के साथ-साथ पात्रो की भी न्यूनता मिलती है ।

७—रूढियो का प्रयोग—इन काव्यो मे कथा-रूढियो एव काव्य-रूढियो का प्रयोग अधिकाधिक मिलता है। नायक या नायिका को फल प्राप्त कराने, उनका उत्कर्ष तथा महत्त्व प्रतिपादित करने के लिए कथा रूढियो का प्रयोग हुआ । नहछू मे रामजन्म के अवसर पर नाइन की ठनगन, दशरथ का मुक्तहस्तदान तथा लोहारिन, बरायन, अहिरिन, तमोलिन, दहेडी, दरजिन आदि के प्रसग मायन (विवाह) से सम्बन्धित है।[1] जानकी-मगल मे लग्नपत्रिका का अयोध्या भेजना, पार्वतीमगल मे ब्याह सम्बन्धी रूढियो का प्रयोग, नन्ददास की रुक्मिणीमगल मे पत्र लेकर विप्र भेजना, देवी अम्बिका के मन्दिर मे रुक्मिणी का जाना और उनका वरदान देना, श्यामसगाई मे राधा का बहाना बनाकर मुछित हो जाना, गारुणी के रूप मे कृष्ण का आना, रूपमजरी के अन्तर्गत स्वप्न मे रूपमजरी का कृष्ण को देखना, स्वप्न-मिलन, ब्याह मे लोभी ब्राह्मण का विश्वासघात, रासपचाध्यायी मे कामदेव का मुछित हो जाना (पौराणिक कथारूढि) आदि कथारूढियो का प्रयोग मिलता है ।

कथारूढियो के साथ इन काव्यो मे परम्परागत काव्यरूढियो का भी प्रयोग है । इन काव्यरूढियो की स्थिति इस प्रकार है । काव्य के आदि अन्त मे मंगलाचरण तथा फलस्तुति, नगर का विस्तृत वर्णन, इस वर्णन का स्वरूप दो प्रकार का है, नगर की सम्पन्नता ऊँची अट्टालिकाओ का एक ओर वर्णन है दूसरी ओर उसकी तडक भडक का । नन्ददास निर्भयपुर नगर के वर्णन मे केलि से युक्त कैलासपर्वत के समान अट्टालिकाएँ, शिखंडो से युक्त अमराइयाँ, फुलवारी, फूल, माली, शुक, सारिका, पिक, तोती, कपोती, सारस, हस, कमल, सरोवर आदि मिलते है । रुक्मिणीमगल मे द्वारिकापुरी का वर्णन करते समय कवि ने ऊँची अट्टालिकाओ का वर्णन किया है ।

राजा का वर्णन—यह प्रसग विशेष मे दशरथ, जनक, रुक्मिणी के पिता, धर्म-धीर नन्द, पर्वतराज आदि का उल्लेख मिलता है ।

विरह तथा शृगार के प्रसग पूर्णत प्राचीन रूढ परम्परा से सम्बन्धित है । रूपमजरी मे कवि ने विरह के अवसर पर षट्ऋतु का वर्णन

---

१. रामललानेहछू, छ० स० ५१

प्रस्तुत किया है। यह वर्णन पावस से शुरू होकर ग्रीष्म मे समाप्त हो जाता है। शृंगार के अवसर पर वय.सन्धि युवावस्था के अवसर पर नखशिख-वर्णन रूपमजरी मे मिलता है। विप्रयोग के अवसर पर नन्ददास ने रासपचाध्यायी मे पौराणिक काव्यरूढि का प्रयोग किया है। गोपियाँ कृष्ण के अन्तर्धान हो जाने पर मालति, यूथिका, जाति, केतकी, मुक्ताफल, बलि, मन्दार, करबीर, चन्दन, कदम्ब, निम्ब, अशोक, कमल, अवनी तुलसी, कटहल, बट आदि वृक्षो को सम्बोधित करके कृष्ण के विषय मे पूछती है। सम्प्रयोग की स्थिति भी पूर्णत परम्परा का अनुमोदन करती है।

भक्ति सम्बन्धी रूढियाँ—इन काव्य रूढियो का प्रयोग मात्र भक्ति के ग्रन्थो मे ही मिलता है। शुद्ध काव्यो मे इनका अभाव है।

नायक को सर्वोच्च दैवी गुण से सम्पन्न मानना कहा गया है। कृष्ण श्यामसगाई मे वृषभानु पत्नी, रुक्मिणी मगल मे शिशुपाल, रूपमजरी मे स्वप्नमिलन, रासपंचाध्यायी मे मदन, पार्वतीमगल मे भी शकर को अपूर्व व्यक्तित्व, जानकीमगल मे धनुष की कठोरता तथा परशुराम का प्रसग—दैविक शक्ति से युक्त है। कथा मे भक्ति का समावेश भी भक्तिरुढियो से सम्बन्धित है। रूपमजरी का कृष्ण मिलन, गोपियो का कृष्ण के साथ कामकेलि-क्रीडा को कवि ने आध्यात्मिक बताया है। इन काव्यो मे कही-कही भक्तिसिद्धान्तो का भी प्रतिपादन मिलता है। विशेषरूप से रासपचाध्यायी तथा रूपमजरी मे कवि ने काव्य एव कथातत्त्व से पृथक् अपने-अपने भक्ति सम्बन्धी दृष्टिकोण को भी स्थापित करने का प्रयत्न किया है।

कथा का लौकिक या पौराणिक रूप—इन कथाओ का स्वरूप ऐतिहासिक नही है। रूपमजरी की घटना पूर्णत कल्पित है। पार्वतीमंगल, जानकीमंगल तथा रुक्मिणीमगल की कथा मे लोकतत्त्व अधिक है। वस्तुत ये रचनाएँ लोकप्रचार के दृष्टिकोण से लिखी भी गई है। इनका आधार पौराणिक ही है। श्यामसगाई की घटना अन्यत्र नही उपलब्ध होती। वल्लभ सम्प्रदाय के तीन कवियो सूररदास, परमानन्ददास तथा नन्ददास ने राधा कृष्ण व्यास विषयक पदो की रचना की है। यह प्रसग राधा को स्वकीया बनाने की दृष्टि से विशेष उपयुक्त है, वैसे पौराणिक एव बगाली वैष्णव भक्ति परम्परा के अनुसार राधा विवाहिता है। रामललानेहछू रामकथा से सम्बन्धित है, किन्तु लोकतत्त्व की प्रेरणा से निर्मित हुई है। रासपंचाध्यायी मे कवि ने भागवत प्रभाव का स्पष्ट उल्लेख किया है। इस प्रभाव कथन

के साथ-साथ इसके रचना शिल्प पर भी भागवत का प्रभाव स्पष्टत लक्षित होता है। अध्यायो का विभाजन तथा घटनाओ का उसी रूप मे चयन इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है। श्यामसगाई मे राधा कृष्ण के व्याह का प्रणेता कवि रासप चाध्यायी मे राधा का नाम न लेकर भागवत से प्रभावित होकर 'कृष्ण-प्रिय गोपी' का उल्लेख करता है।

अन्य इसके अतिरिक्त इन खन्डकाव्यो की कतिपय शैलीगत विशेषताएँ हैं—

१ अध्याय विभाजन की ओर सचेष्टता नही मिलती। इनमे मात्र रासप चाध्यायी मे ही अध्याय विभाजन है जो कथा के विकास की दृष्टि से नही है। शेष रचनाओ मे अध्याय विभाजन नही है।

२ इन खन्डकाव्यो मे छन्दो की विविधता का पूर्णत अभाव है। रचना की लघुता, कथात्मक काव्य के लिए एक प्रकार के छन्दो के प्रयोग की परम्परा के कारण प्रात सम्पूर्ण रचना मे समान छन्दो का ही प्रयोग मिलता है।

निष्कर्ष

सम्पूर्णत यदि इन काव्यो के लक्षणो का निर्धारण करे तो वे इस प्रकार होगे —

१ नायक का पूर्ण विष्णुत्व प्रतिपादन
२ कथा मे गतिशीलता का अभाव तथा अपेक्षाकृत छोटा होना
३ आरम्भ मे मगलाचरण तथा अन्त मे फल नियोजन
४ काव्य के अन्तिम उद्देश्य के रूप मे भक्ति की प्रमुखता
५ गीतितत्त्व की प्रधानता तथा लोकपक्ष की समीपता
६ रूढियों का प्रयोग
७ कथा का लौकिक या पौराणिक होना
८ अध्याय छन्द तथा पात्रो की अल्पता

एकार्थकाव्य

इसके अन्तर्गत तुलसीकृत बरवै रामायण को रखा जा सकता है। सम्पूर्ण रामकथा को आधार मानकर अति सक्षिप्त प्रबन्ध रूप मे यह कृति लिखी गई है। सम्पूर्ण कथा बाल, अयोध्या, अरण्य, किष्किन्धा, सुन्दर, लका

तथा उत्तर काडो मे विभक्त किया गया है। रामकथा लकाकाड मे ही समाप्त हो जाती है। उत्तरकाड मे भक्ति सिद्धान्त एव विनय सम्बन्धी कथन मिलते है। यदि लकाकाड को इसकी समाप्ति मान ली जाय तो रामकथा सम्बन्धी यह रचना ४२ बरवै छन्दो मे समाप्त होती है।

किन्तु यह रचना सम्पूर्णत एकार्थ काव्य का प्रतिनिधित्व नही कर पाती। कवि कथात्मक कडियो को अस्पष्ट एव विश्रृखल बना देता है। इस वृत्ति के आधार पर रामकथा का अनुमान नही किया जा सकता। किष्किन्धा एव लकाकाड मे कथा का कोई सकेत है ही नही। कवि की मूलदृष्टि सौन्दर्य निरूपण की ओर अधिक सजग रही है। वस्तुत इस काव्य की प्रकृति मुक्तात्मक काव्य की ओर झुकी है।

तुलसीकृत रामाज्ञा प्रश्न का भी स्थान एकार्थकाव्य के ही अन्तर्गत आता है। इसकी सम्पूर्ण कथा सात काडो मे विभक्त है तथा सम्पूर्ण रचना दोहे मे है—

प्रथम रचना छन्दप्रधान हे। छन्दनामवाची रचनाएँ मुक्तक काव्य परम्परा मे बहुत पहले से ही मिलने लगती है। आर्यशप्तशती, गाथा शप्तशती इसके अनन्य प्रमाण है। भक्तिकाव्य मे छन्दनामवाची काव्यो के अन्तर्गत कवितावली, बरवै, कुडलिया रामायण, दोहावली आदि को रखा जा सकता है। दोहावली शुद्ध मुक्तक काव्य है तथा शेष कथात्मकता एवं काव्य की मुकपूर्ण प्रकृति के मिश्रण के रूप मे उपलब्ध होते है।

पूर्णकथात्मक या चरितात्मक गीतिकाव्य

हिन्दी वैष्णव भक्तिकाव्य के अन्तर्गत पूर्ण कथात्मक गीतिकाव्यो को एक पृथक् श्रेणी मिलती है—इसमे ४ ग्रन्थ रखे जा सकते है, सूरसागर, परमानन्ददास सागर, गीतावली तथा कृष्णगीतावली। तुलसीकृत रामगीतावली तथा कृष्णगीतावली का स्वरूप सूरसागर एवं परमानन्ददास सागर से भिन्न है। परवर्ती दोनो रचनाओ मे पौराणिकता, सैद्धान्तिक विवरण आदि अधिक है जबकि गीतावली एव कृष्णगीतावली मे शुद्ध, चरितात्मक गीतितत्त्व निहित है।

सूरसागर एव परमानन्ददास सागर की स्थिति मे, प्रकाशित सस्करणो को देखते हुए, अन्तर स्पष्ट दिखाई पडता है। सूरसागर भागवत-अनुमोदित विष्णु के चौबीस अवतार की घटनाओ से युक्त है। परमानन्दसागर मात्र

कृष्ण के चरित्र को आधार बनाकर निर्मित की गई रचना है। इन काव्यो मे कथावस्तु का स्वरूप इस प्रकार है—

सूरसागर

सूरसागर की सम्पूर्ण कथा शिल्प की दृष्टि के चार भागो मे विभक्त की जा सकती है—

१ **कृष्णकथा की भूमिका रूप मे प्रयुक्त कथाएँ**
२ **विवरणात्मक या परिचात्मक कथा रूप**
३ **लीला सम्बन्धी प्रमुख कथाएँ**
४ **कथाहीन सैद्धान्तिक भक्ति विषयक प्रसग**

१ कृष्ण कथा की भूमिका तथा परम्परा से सम्बन्धित कथाएँ

कवि ने सूरसागर मे भागवत पुराण को आधार मानकर काव्य रचने की चर्चा अनेक बार की है। भागवत प्रसग के अन्तर्गत कवि ने ठीक भागवत के आधार पर वक्ता श्रोता के नियोजन की चर्चा की है—

क विष्णु ने चार श्लोक ब्रह्मा को सुनाए थे
ख ब्रह्मा ने इसे नारद को बताया
ग. नारद ने यह कथा व्यास को समझायी

व्यास ने इस कथा को द्वादश स्कन्धात्मक रूप देकर शुकदेव को बताया सूरदास उसी को पद्यबद्ध रूप मे गाने के लिए कहते है।[1] भागवत की एक दूसरी लौकिक परम्परा का भी कवि ने उल्लेख किया है। उसके अनुसार व्यास ने भागवत को शुकदेव को सुनाया, शुकदेव ने परीक्षित को, सूत ने इसे शौनकादि ऋषियो से कहा तथा विदुर ने मैत्रेय को सुनाया। इस प्रकार सब के लिए सुखकर भागवत को गाकर सुनाने की बात सूरदास कहते है।[2] एक स्थल पर सूर ने शुक के यथातथ्य अनुकरण की चर्चा सूरसागर मे की है। सूरदास स्पष्ट शब्दो मे कहते है, जैसे शुक को व्यास ने भागवत पढाया था, ठीक उसी क्रम मे इसे गाकर सुना रहा हूँ। एक अन्य स्थल पर जो वस्तुत. महाभारत की घटनाओ पर आधारित है, कवि महाभारत की चर्चा करता है।[3] किन्तु यह चर्चा मात्र प्रासगिक ही है। साकेतिक रूप से भागवत

---

१ भागवत, प्रसग, पद स० २२४
२ भागवत प्रसग, पद स० २२७
३ भारत माँहिं कथा यह विस्तृत, कहत होइ विस्तार।
सूरभक्त वत्सलता बरनौं सर्व कथा को सार।

शुक आदि का उल्लेख सम्पूर्ण सूरसागर मे किया गया है ।[1] इन कथनो से स्पष्ट है कि कवि सम्पूर्ण भागवत की कथा का प्रयोग करना चाहता है। इसके सदर्भ मे दूसरी बात यह है कि उसने अपनी कृति को गान रूप मे प्रस्तुत करने की भी चर्चा की है । इससे स्पष्ट रूप से इसे गीतिकाव्य माना जा सकता है, किन्तु कथात्मक या चरितात्मक गीति काव्य की सज्ञा दी जा सकती है ।

जहाँ तक परम्परानुमोदन का तात्पर्य है, इस दृष्टि से भागवत के ये सदर्भ मात्र परिचयात्मक है यद्यपि इनमे वर्णन-बहुलता है और गीतितत्त्व अत्यन्त है, फिर भी काव्य के उत्कृष्ट मूल्यो की दृष्टि से इनका महत्त्वपूर्ण स्थान है । ये कथाएँ मात्र नवम् तथा दशम् स्कन्धो मे ही है । विशेप रूप से दशम् स्कन्ध पूर्वार्ध के प्रसग कथा के मुख्य उद्देश्य के रूप मे सगठित काव्यगुणो से आद्यन्त परिपूर्ण है । तीसरे प्रकार के ऐसे प्रसग है, जिनका कथानक से कोई सम्बन्ध नही है। नैतिक उपदेशो तथा धर्माचरण विषयक टिप्पणियो का स दर्भ ऐसे ही प्रसगो से है ।

परमानन्दसागर

इस ग्रन्थ की स्थिति सूरसागर से कुछ भिन्न है । परमानन्ददास ने कृष्णलीला मात्र को ही आधार बनाया है । फलत सूरसागर की भाँति इनके काव्यसग्रह मे निरर्थक प्रसग अप्राप्य है । श्रीकृष्ण की कथा को मूलाधार बनाकर इन्होने अपना काव्य पुरस्कृत किया है । सूर के अतिरिक्त भी इनके पदो मे साम्प्रदायिक उत्सव विषयक पद प्राप्त है । इनके सम्पूर्ण पद साहित्य को दो भागो मे बाँटा जा सकता है—

१ कृष्णचरित सम्बन्धी पद २ नित्यसेवा तथा उत्सवविषयक पद

१ कृष्णचरित सम्बन्धी पद इसके अन्तर्गत तीन प्रकार के प्रसग मिलते है

क कथात्मक प्रसग ख क्षीणकथात्मक प्रसंग ग विभिन्न पर्व विषयक प्रसग

क कथात्मक प्रसग : इसके अन्तर्गत निम्न कथाएँ आती है

---

१ भागवत का सदर्भ, सूरसागर के पदों मे उल्लिखित है—प० स० २२६, २३०, २३१, २८५, ३७८, ३८०, ३६०, ३६३, ३६६, ६६७, ३६६, ४०१, ४०२, ४०३, ४०६, ४१६, आदि

नलकूबरउद्धार, माखनलीला, असुरवध, गोवर्द्धनलीला तथा इन्द्र-मानभग एव मथुरागमन प्रसग ।

ख क्षीणकथात्मक प्रसग श्रीकृष्णजन्माष्टमी की बधाई, नन्दमहोत्सव, पलना, अन्नप्राशन, कनछेदन, करवट, भूमि पर बैठना, देहली लघन, मृतिका-भक्षण, माता की अभिलाषा, बाललीला, पतग उडायबे के पद, माखन-चोरी, भोजन के लिए आह्वान, दधिमथन, गोदोहन, गोचारण, हटरी उराहने के पद, राधा की बधाई, राधा जी के पलना के पद, दानलीला मुरली के पद, रासलीला, ब्याह के पद, धमार, स्वामी जी के आसक्तिवचन, सख्यतासूचक पद, स्वामिनी जी की उत्कृष्टता, मानापनोदन, अभिसार मथुरा प्रवेश, नन्द का गोकुल प्रत्यागमन ।

ग विभिन्न पर्व सम्बन्धी प्रसग श्री वामन जी के पद, विजयदशमी के पद, दशहरे के पद, धनतेरस के पद, रूपचतुर्दशी के पद, गोपाष्टमी के पद, देव प्रबोधिनी के पद, भोगी सक्रान्ति के पद, मकर सक्रान्ति के पद, वसतपचमी के पद, श्री रामनवमी के पद, आचार्य जी की बधाई, श्री नृसिह चतुर्दशी के पद ।

२ **नित्य सेवा तथा उत्सवविषयक पद** · नित्य सेवा कीर्तन सम्बन्धी पदो की स्थिति प्राय इसी प्रकार है—इनके भिन्न वर्ग किए जा सकते हे ।

कृष्ण की नित्य नैमित्तिक लीला विषयक पद जगायबे के पद, खडिता के पद, कलेऊ के पद, ग्वाल के पद, छाक के पद, आवनी के पद, राजभोग के पद, पौढायबे के पद, समय-समय के पद, उष्णकाल पौडिबे के पद, धैया के पद, नाव यात्रा के पद, बीरी के पद, हिलग आकर्षण के पद, खडिता के पद, मान छुटिबे को पद, पनघट के पद, कुज के पद, मोर के पद ।

कृष्ण के स्वरूप एव अलंकार विषयक प्रसग · शृगार के पद, पिटारा के पद, किरीट के पद, आरती के पद, चन्दन के पद, स्नानयात्रा के पद, रथयात्रा के पद, नाव यात्रा के पद, मन्दिर की शोभा, कुसुम्बनी घटन के पद, श्याम घटा के पद, चुनरी के पद, फूल मडली के पद ।

उत्सव विषयक पद : मंगल आरती के पद, देवी पूजन के पद, अक्षयतृतीया सवत्सर के पद, पवित्रा के पद, हिंडोला के पद, राखी के पद, मल्हार के पद ।

स्तुति विषयक श्री महाप्रभुस्मरण, श्री यमना जी के पद, श्री गगा जी के पद, श्री व्रजभक्त के भोजन के पद, व्रजभूमि के प्रति आस्था, व्रजमाहात्म्य, व्रजवासी माहात्म्य ।

कथाहीन भागवत और प्रेमभक्ति की महत्ता, गोपी प्रेम महिमा, राधावदना, नाम माहात्म्य, अनुग्रहभक्ति, माहात्म्य विनती, समुदाय के पद, इष्टकूट ।

परिचयात्मक कथारूप

परिचयात्मक कथारूप मात्र सूरसागर मे ही प्राप्त है । ऊपर कहा जा चुका है कि इनका आधार भागवत है । परिचयात्मक कथारूप की विशेषता है मात्र भागवत की कथा का सामान्य विवरण प्रस्तुत करना । कवि प्रत्येक अवतारो एव स्कन्धो मे शुक तथा परीक्षित का स्मरण करता है ।

द्वितीय स्कन्ध

सुकदेव हरि चरननि सिरनाइ । राजा सौ बोल्यो या भाइ ।
तुम कह्यौ सप्त दिवस मय आइ । कहौं कथा सुनौ चितलाइ ।

तृतीय स्कन्ध

सुकदेव हरि चरननि सिर लाइ । राजा सौ बोल्यौ या भाइ ।
कहौ हरि कथा सुनौ चितलाइ । सूर तरो हरि के गुन गाइ ।[२]

शेष स्कन्धो के आरम्भ मे भी यही पक्तियाँ मिलती हे ।

दशम स्कन्ध

इसमे इस प्रकार की विवरणात्मकता नही मिलती, यद्यपि आरम्भ मे भागवत माहात्म्य का वर्णन है । फिर भी, उसका क्रम पृथक् है—आरम्भ मे भागवत के वक्ता श्रोता की परम्परा का सकेत है । दूसरे पद मे मात्र एक पक्ति मे परम्परा का वह सकेत करता है ।

जैसे सुक नृप कौं समझायौ । सूरदास त्यो ही कहि गायौ ।[३]

एकादश स्कन्ध

इसमे शुक एव परीक्षित का उल्लेख नही मिलता—मात्र दो स्थलो पर 'कहौ सो कथा सुनौ चितधार[४]'–का उल्लेख मिलता है । पुनश्च द्वादश-स्कन्ध मे आरम्भिक स्कन्धो की भाँति ही आरम्भ के पद मिलते हैं ।

---

१ द्वितीय स्कन्ध, प० स० १
२. तृतीय स्कन्ध, प० स० १
३ अष्टम स्कन्ध, प० स० १

इस प्रकार दशम स्कन्ध को छोडकर अन्य सभी विवरणात्मक है, और सभी के आरम्भ मे शुकदेव और परीक्षित का स्पष्ट उल्लेख मिलता है।

२—इन विवरणात्मक या परिचयात्मक प्रसगो की छन्द सख्या अत्यधिक कम है। प्रसगो की दृष्टि से दशम स्कन्ध की तुलना मे प्रसग कही अधिक है, किन्तु इनमे कथा का विकास, विश्लेषण, प्रयोग किसी मे भी मौलिकता नही मिलती, एक ही प्रकार की कथा को सामान्य वृत्ति मे कवि दुहराता है। ये मुख्य कथा के पूरक प्रसग की भी कोटि मे नही रखे जा सकते। भूमिका की दृष्टि से इनका सामान्य महत्त्व है।

३—ये प्रसग अवतार कथाओ से सम्बद्ध विष्णु की अवतार परम्परा मे सम्बन्वित मात्र है। मत्स्य, कूर्म, वाराह, नृसिह, वामन, परशुराम, राम, कृष्ण, बुद्ध तथा शेष, पुरुषावतार की सख्या १४ है जो इस प्रकार है— सनकादि, व्यास, हस, नारायण, ऋषभदेव, नारद, धनवतरि, दत्तात्रेय, भृगु, यज्ञपुरुष, कपिल, हयग्रीव, तथा ध्रुव। इस प्रकार कृष्ण को मिलाकर इन अवतारो की सख्या २४ है, जो भागवत पुराण के ठीक अनुकूल है।

४—अवतार से सम्बन्धित इन कथानको की मूलदृष्टि मे नवीनता या मोलिकता का अभाव है। प्रत्येक अवतारो का आरम्भ वह हरिहर हरिहरि, सुमिरन करौ मे शुरू करता है। निष्क्रिय कथानक मात्र कुछ थोडी पक्तियो के बाद समाप्त हो जाता है, कवि को उसके प्रयोजन से कोई रुचि नही है। वह अन्त मे सूर कह्यौ भागवतानुसार कहकर प्रसग को समाप्त कर देता है।

निष्कर्ष

इन प्रसगो का काव्य की दृष्टि से कोई मूल्य नही है। सूरसागर की महत्ता इनसे नही निर्धारित की जा सकती। ये सूरसागर को भागवत का अनुकरण करने की ओर सकेत करते है। इनमे न कथात्मकता की ओर कवि की दृष्टि गई है और न गीति के तत्त्व ही उभर सके हैं। भागवत अनुमोदित अवतार सम्बन्धी सामान्य कथा का विवरण देना, यहाँ कवि का मूल उद्देश्य रहा है।

---

१ नवम् स्कन्ध, प० स० १

२. दशम् स्कध, प० स० २

3 एकादश स्कन्ध, प० म० ३, ४

४. द्वादश स्कन्ध, प० स० १

विवरणात्मक कथारूप

सूरसागर नवम् स्कन्ध, दशम स्कन्ध, पूर्वार्द्ध एव उत्तरार्द्ध तथा परमानन्दसागर मे कथात्मक प्रसग को इसी के अन्तर्गत रखा जा सकता है। इस विवरणात्मक कथारूप की निम्न विशेषताएँ है—

ये प्रसग असुरवध तथा शौर्यसूचक भावो से सम्बन्धित है। कथात्मक दृष्टि से कृष्ण का व्यक्तित्व शौर्य एव वीरतासूचक भावो का प्रतिनिधित्व करता है। असुरवध, भक्तो का उद्धार, पापशमन, पृथ्वी से अराजकता का निवारण आदि इन प्रसगो के मुख्य भाव है। कथात्मकता की दृष्टि से कवि कथा का एक सामान्य परिचय देकर उससे सम्बन्धित भावो को तीव्र बनाता है। ये कथाएँ पूर्णरूपेण भागवत-अनुमोदित है, किन्तु भागवत जसी पौराणिक कथाशिलपता का इनमे अभाव है। कवि कथा का विस्तार नही करता है। कथा के मूल के निहित भाव को निरन्तर तीव्र बनाने का प्रयत्न करता है।

गीतात्मकता की दृष्टि से ये पद गेय है। इनकी रचना शैली गेय पदो मे हुई है। इन प्रसगो को एक खंड कथानक को लेकर एक निश्चित पद मे ही पूर्ण कर दिया गया है। इस प्रकार प्रत्येक पद मुक्तक गीतिकाव्य की विशेषताओ से मडित है। जहाँ पर कथात्मकता अधिक प्रबल हो उठी है, कवि ने गीतितत्त्व का त्याग करके वर्णनात्मक शैली एवं छन्दो का प्रयोग किया है। इस प्रकार श्रीधर अगभग, कमलार्जुन उद्धार की दूसरी लीला, अघासुरवध, ब्रह्मा, बालक, वस्त्रहरण, वत्सहरण दूसरी लीला, कालियनाग पाश दूसरी लीला आदि प्रसग कथात्मक प्रवृत्ति के होने के कारण गीतात्मक छन्द योजना के अनुकूल नही हो पाए है।

जहाँ तक कवि के वैयक्तिक भावो का प्रश्न है, इन संदर्भो मे उसकी आत्मरक्षा, समाज सुरक्षा, लोकहित सम्बन्धी भावो की प्रबलता मिलती है। प्रेम, क्रीडा, रजन आदि प्रवृत्तियो के अभाव मे कवि विस्तृत लोक सुरक्षा की भावना को अपने गीतिमूलक रचनाओ का आधार मानता है।

निष्कर्ष

इस प्रकार कृष्णचरित विषयक कथानक वस्तुनिष्ठ एव चरितात्मक होते हुए भी गीतितत्त्व से युक्त है। इनकी शैली अधिकाधिक गीतात्मक है। वस्तुनिष्ठता के दृष्टिकोण से इन गीतो की मूल-भावना शौर्य एव वीरता-

सूचक भावो को प्रगट करना है तथा आत्मनिष्ठता के दृष्टिकोण से इनमें आत्मरक्षा तथा समाज सुरक्षा की भावना निहित है।

१ सामान्य कथात्मक प्रसग ये प्रसग कथात्मकता की दृष्टि से अधिक विकसित नही है, किन्तु गीति का गीतितत्त्व एव काव्य की उच्चता की दृष्टि से सूर एव परमानन्ददास के काव्य के मुख्याधार है। इन पदो मे तीन प्रकार के भाव अधिक महत्वपूर्ण है—वात्सल्य, सख्य, तथा मधुर।

वात्सल्य वात्सल्य जीवन से सम्बन्धित सूरसागर एवं परमानन्ददाससागर मे दो प्रकार के भाव है, प्रथम का सम्बन्ध असुरबध से है तथा जिनमे विवरण-प्रधान कथाएँ है। इन कथाओ से वात्सल्यभाव की व्यजना न होकर उदात्त की व्यजना होती है, किन्तु इन दोनो रचनाओ मे कृष्णचरित से सम्बन्धित उदात्तभाव से भिन्न शुद्ध वात्सल्यभाव की अभिव्यक्ति मिलती है।

क सम्पूर्ण वात्सल्य भाव कृष्ण को केन्द्रित करके अभिव्यक्त हुआ है। इस वात्सल्यभाव के भोक्ता यशोदा, नन्द, गोपी, गोप तथा भक्त एव कवि हैं।

ख इस वात्सल्य का आरम्भिक स्वरूप लौकिक है। कृष्ण लोक जीवन के बीच सामान्य वात्सल्य भाव की लीला करते है। लीला के ये भाव कई भागो मे विभक्त किये जा सकते है।

अ उत्सव एव मंगल से सम्बन्धित हर्ष के भाव
आ कृष्ण की रूपाकृति से प्रभावित भोक्ताओ के आनन्द का भाव
इ कृष्ण की क्रियाओ से सम्बन्धित विह्वलता का भाव

अ उत्सव एव मगल से सम्बन्धित हर्ष का भाव इस भाव के प्रत्यक्ष आलम्बन कृष्ण न होकर वे उत्सव है जो कृष्ण जन्म अवसर, विकास से सम्बन्धित विभिन्न अवसरो पर व्यवहृत हुए हैं। प्राय सूर और परमानन्ददास मे ये इस प्रकार है—नन्द महोत्सव, छठी पूजन, पलना, अन्नप्राशन, कनछेदन, नामकरण तथा जन्म महोत्सव, बधाई, वर्षगाँठ। ये प्रसग हर्ष एव उत्सव सम्बन्धी आनन्द के भावो से सम्पूर्णत ओतप्रोत है।

आ कृष्ण की रूपाकृति से प्रभावित आनन्द के तत्त्व

सूरसागर एव परमानन्ददाससागर के वात्सल्य भाव के पदो मे रूप के प्रति आकर्षण का भाव अधिक है। इससे सम्बन्धित पदो की सख्या भी अधिक है। इन पदो के मूल मे सात्विक आनन्द का भाव निहित है

सूरसागर मे वात्सल्यसूचक पदो मे कुछ ऐसे भी पद है जिनमे गोपबन्धुओ की वासना का भी सकेत मिलता है, किन्तु ये पद अल्प ही है।[1]

३ कृष्ण की क्रियाओ से सम्बन्धित वात्सल्य के भाव यहाँ अधिक है। इन क्रियाओ मे करवट, भूमि पर बैठना, घुटनो के बल चलना, देहली उल्लघन, मृत्तिका भक्षण, बाललीला के सदर्भ मे प्रयुक्त विभिन्न क्रियाएँ प्राय आसक्ति के भावो से युक्त है।

४ कृष्ण के सदर्भ मे शुद्ध बाललीला से सम्बन्धित पद १ वर्ष से ५ वर्ष तक के ही है, ५ के बाद से १० वर्ष तक की अवस्थाओ मे सख्य के भाव प्राप्त होते है। १० के बाद १५ तक किशोरावस्था की शृगारलीला है।

सूर के राधा और कृष्ण प्राय १० वर्ष की अवस्था मे ही परस्पर वासनात्मक प्रेमभाव से आकर्षित हुए है।

५ कथात्मकता वात्सल्यभाव के पदो मे जहाँ शुद्ध वात्सल्य का प्रश्न है उसमे कथा विविधता का अभाव है। वात्सल्य भाव के पदो मे निहित कथा असुरवध सम्बन्धी घटना को छोड कर कृष्ण के विकास के सक्षिप्त भाव पर केन्द्रित है। कृष्ण का यह भावनामूलक विकास कथात्मकता की तुलना मे कही अधिक महत्त्वपूर्ण समझा जा सकता है।

कृष्ण की वात्सल्य कथा से सम्बन्धित विभिन्न पात्र—इन पात्रो मे नन्द, यशोदा, देवकी, वसुदेव, गोप, गोपबधुएँ आदि सभी है। इनमे प्राय हर्ष, उल्लास, पुलक, आनन्द, आसक्ति के भाव मिलते है। वात्सल्यभाव के पदो मे भक्तो तथा कवियो मे भी ठीक यही भाव है, किन्तु अनेक स्थलो पर भक्तो मे श्रद्धा एव भक्ति के भी भाव देखे जाते है। कही-कही शंकर, ब्रह्मा, देवगण आदि भी गोप, गोपियो तथा भक्तो के विभिन्न भावो से प्रभावित होते है।

किशोर लीला—किशोरलीला के भाव सख्य से सम्बन्धित है। असुरबध सम्बन्धी घटनाएँ इसमे भी प्राप्त हैं। इस कथा के मुख्य आलम्बन कृष्ण, बलराम तथा ग्वाल समूह है। यशोदा, नन्द, गोपबधू एव गोपिकाओ का स्थान गौण है। यशोदा, नन्द एव गोपबधुएँ इस भाव के पदो मे सामान्य महत्त्व के है। इसमे रूप-चित्रण एव क्रियाओ की बहुलता है। रूपसम्बन्धी पद अत्यल्प

---

१ सूरसागर, दशम स्कन्ध, उत्तरार्द्ध प० स० २७२, २७३, २७४, २७५, २९८, ३००, ३०१, ३०५, ३२६० आदि।

है। ये पद कृष्ण के आभूषण, वस्त्रविन्यास, मुरली, रूपसज्जा एव आकर्षण की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। इसीलिए इस प्रसग मे कलेवा, छाक, माखनचोरी, उलूखल, गोदोहन, गौचारण, वृन्दावन प्रस्ताव आदि लीलाएँ आती है। परमानन्ददास ने इस प्रसग मे कई नए सदर्भो को जोडा है। 'पतग उडाइवे के पद, तत्कालीन सामाजिक प्रसग से सम्बन्धित है। इन पदो के मुख्य भाव का जहाँ तक सम्बन्ध है, इनमे प्रीति एव सौहार्द की प्रमुखता है। किशोरावस्था की लीला मे असुरवध सम्बन्धी घटनाओ की अधिकता है।

प्रौढावस्था की लीला—प्रौढावस्था की लीला तथा तत्सम्बधी पद गीति काव्य की दृष्टि से उत्कृष्ट है। यद्यपि सम्पूर्ण पदो मे विषयगतता है, किन्तु यह प्रेम एव शृगार के भाव से ओतप्रोत होने के कारण गीतिशैली की दृष्टि से पूर्ण उपयुक्त बन गई है। विषयवस्तु, भाव एव भाषा के आधार से इनकी विशेषताओ का उल्लेख किया जा सकता है।

विषयवस्तु

कृष्ण की युवावस्था सम्बन्धी सम्पूर्ण लीला विषयक कथानक इससे सम्बद्ध है। कथा की दृष्टि से इन्हे दो भागो मे विभक्त किया जा सकता है—

१—प्रवाहपूर्ण कथानक २—खडित कथानक या स्वतन्त्र कथानक

प्रवाहपूर्ण कथानक—मुरली स्तुति, गोपिका बचन, श्रीराधाकृष्ण मिलाप, सुख-विलास, गृह गमन, राधिका का यशोदा गृहगमन, राधागृहगमन, राधिका का पुनरागमन, कृष्ण और गोपियो का यमुनागमन, युगल समागम, लघुमान-लीला, दपतिविहार, खडिता प्रकरण, राधा का मान, मधुपान, मध्यममान, वृहत्मान, सुषमा गृहगमन, सुषमा के घर सखियो का आगमन, वृन्दा गृहगमन, वृन्दा के गृह से प्रमुदा के गृहगमन, कृष्ण का मथुरा गमन, ब्रजदशा, परस्पर नन्द यशोदा बचन, वशीबचन, गोपीविरह वर्णन, स्वप्न दर्शन, चन्द्रोपलम्भ, उद्धव ब्रज आगमन, यशोदा सन्देश, उद्धव का आगमन, भ्रमरगीत, सदेश, उद्धव प्रत्यागमन, कुरुक्षेत्र मे यशोदा, गोपी कृष्ण मिलन।

स्वत पूर्ण कथानक—सूरसागर तथा परमानन्ददाससागर मे कुछ ऐसी लीलाएँ मिलती है जो अपने आप मे पूर्ण एव गठित कथानक तत्त्व से युक्त है। युवावस्था सम्बन्धी शृगारलीलाएँ, चीरहरण लीला, रासपचाध्यायी, पनघट लीला, दानलीला, ग्रीष्म लीला, झूलन तथा बसन्त लीला। इन्ही को स्वतन्त्र विषय बनाकर भी अनेक लीला काव्य इन कवियो द्वारा रचे गए है। प्रवाहपूर्ण कथानक इन तीन भावो मे विभक्त है।

क परस्पर विलास क्रीडा विषयक कथाएँ ।

ख विलासोत्तेजक कथाएँ ।

ग परस्पर विलासक्रीडा से वियुक्त होने के कारण दु खसूचक कथाएँ ।

परस्पर विलास क्रीडा के प्रसग सूरसागर एव परमानन्द सागर मे अधिक है । श्रीकृष्ण की मुरली, मादक वातावरण की सृष्टि मे सहायक है । राधा और कृष्ण परस्पर एक दूसरे मे मिलते हे । उनका मिलाप, सुख-विलास मे परिणत हो जाता है । राधाकृष्ण के सुगम समागम का वर्णन सूरसागर मे कई स्थलो पर है ।

कृष्ण राधा को छोडकर गोपियो की ओर आकृष्ट होने है—सुषमा, वृन्दा, प्रमुदा आदि इसी श्रेणी मे है ।

प्रेम को तीव्र करने के लिए शृगार के शास्त्रीय वातावरण का विधान मान एव खडिता के प्रकरण मे मिलता है ।

अन्तत प्रेम को और अधिक तीव्र बनाने के लिए कृष्ण के प्रवास की स्थिति की योजना मिलती है ।

इस प्रेम को और भी उत्कट बनाने के लिए एक लम्बी अवधि के बाद कुरुक्षेत्र मिलन दिखाया जाता है । यहाँ का चित्रित प्रेम इस दृष्टि से अत्यधिक उत्कृष्ट है । इस प्रकार के प्रवाहपूर्ण कथानक मे कई स्तर भेद दिखाई पडते हैं

क. प्रथम दर्शन तथा प्रेम एव विहार ।

ख मान तथा खडिता आदि प्रकरण से उत्पन्न विरह ।

ग प्रेम की तीव्र भाव योजना ।

घ प्रवासजन्य वियोग ।

ङ कुरुक्षेत्र मिलन के अवसर पर प्रेम सम्बन्धी तीव्रता का उच्चतम भाव दिखाई पडता है ।

स्वत पूर्ण कथानक

इसमे की चार लीलाएँ लौकिक दृष्टि से नग्न शृगार का प्रतिनिधित्व करती है—चीरहरणलीला, रासपचाध्यायी, पनघट तथा दानलीला । चीर-हरणलीला मे कृष्ण के प्रति लज्जा का त्याग करके सर्वात्म समर्पण की भावना निहित है । रासप चाध्यायी मे लौकिक बन्धन का त्याग एव मात्र कृष्णा-

सक्ति का सकेत है। पनघट लीला मे कृष्ण की अनेक प्रकार की यातनाएँ स्वच्छन्द प्रेम की सूचना देती है। किसी का घडा फोड देना, किसी का अग छू लेना, किसी की बाँह थामना आदि प्रेम के अनेक वासनात्मक चित्र इसमे मिलते है। कृष्ण की दानलीला लौकिक दृष्टि से लपटता का उदाहरण है—इसी दृष्टि से सूर ने इसे अंगदान, रतिदान, कहकर पुकारा है। एक विवश गोपी अपनी पराधीनता की सूचना इस प्रकार देती है—

ऐसे दान माँगिये नहिं जो, हम पै दियो न जाइ।[1]

दूसरी कहने का साहस करती है—

जीवन दान कहूँ कोउ माँगत, यह सुनि-सुनि अति लाजनि मारी।[2]

इन सदर्भों के कई पद पूर्णरूपेण अश्लील कहे जा सकते है।

यद्यपि कथानक पूर्णत अश्लील है, किन्तु कवि ने स्थल-स्थल पर आध्यात्मिकता का बाना पहनाया है फिर भी आध्यात्मिकता के बीच इन पदो की अश्लीलता नही छिप सकी है। ग्रीष्म, झूला तथा वसन्त के आनन्दमलक विलास-प्रधान उत्सव इस सदर्भ मे विशेष रूप से रखे जा सकते है।

अनेकानेक स्थलो पर कवि ने लीलाजन्य आनन्द की स्वीकृति दी है। अनेक पदो मे सूर ने आत्मद्रवता का भी सकेत किया है—

सूर सिन्धु सरिता मिल जैसे मनसा बूद हिरानी

× × ×

अब कैसे निरवारि जाति है मिली दूध ज्यो पानी

इस प्रकार कवि अपने आराध्य की शृगार लीला की अभिव्यक्ति के अवसर पर अधिकाधिक विह्वल एव आनन्दपरिपूर्ण हो जाता है। आत्मद्रवता, इस अवसर पर अधिक है।

शृगार निरूपण के अवसर पर कवि शृगारजन्य कामुकता के आध्यात्मीकरण की ओर सजग मिलता है। प्राय सूरसागर मे इस प्रकार के सैकडो उद्धरण मिल जाते है, जहाँ कवि मात्र शृंगार न मानकर इसे उत्तमकोटि का महारस स्वीकार करता है।[3]

---

१ सूरसागर, प० स० २०८०

२ सागर, प० स० २०८१

३ यह सुख देखि सूर के प्रभु कौ थकित अमर मग नारी, प० स० २२२३

इस प्रकार शृंगार विषयक पदो मे गीतितत्त्व अधिक प्रगाढता से व्यक्त प्रतीत होता है ।

कथाहीन प्रसंग

सूरसागर तथा परमानन्दसागर मे कुछ कथाहीन प्रसग भी है, जिनका सम्बन्ध भक्ति से है । ये पद भक्ति, दर्शन, सिद्धान्त निरूपण, आत्मदैन्य, मुक्ति, माया आदि सैद्धान्तिक एव व्यवहारजन्य विषयो से सम्बन्धित है ।

इनकी रचना गेयशैली मे है । इसके मूल आलम्बन कृष्ण तथा भक्त है । कृष्ण अनन्त सामर्थ्य के प्रतिनिधि ब्रह्म या विष्णु के अवतार है । भक्त अविद्या, तृष्णा आदि से ग्रस्त जीव का प्रतिनिधि है । वह दीन, कातर, मुक्त्येच्छु है । फलत ईश्वर की दया की प्राप्ति के लिए दीनता, विगर्हता, आत्मग्लानि, एव अज्ञानता का भाव इनमे निहित है । आत्मतत्त्व की दृष्टि से ये पद भक्तो के मलिन अन्तर्जगत की अभिव्यक्ति से पूर्ण है ।

धार्मिक रूढ़ियाँ

इनके अतिरिक्त परमानन्ददास के पदो मे अनेक पद विभिन्न पर्व एव नित्य सेवा से भी सम्बन्धित हैं । यह वस्तुत भक्ति विषयक साम्प्रदायिक आवेश है । वैष्णव भक्तिकाव्य मे भक्ति परम्परा से प्राप्त होने वाली अनेकानेक धार्मिक रूढियाँ चलती रही है । ये पद इसी धार्मिक रूढि से सम्बद्ध है । पर्व तथा उत्सव सम्बन्धी पद यहाँ पूर्णत रूढ हो गये है, जिनका विवरण आगे दिया जावेगा ।

निष्कर्ष

विषय वस्तु एव भाव विश्लेषण के आधार पर वैष्णव भक्तिकाव्य रूप मे प्राप्त चरितात्मक गीति काव्य के निम्न लक्षण निर्धारित किए जा सकते है ।

---

१ मोइ प्रभु दान मागत धन्य सूरजदास, २२२१

२ सूर प्रभु के चरित देखि सुरगन थकित, कृष्ण सग, सुख करतिं घोष नारी, २२१४

३ सूरदास प्रभु अन्तरजामी गुप्तहिं जीवन दान लयौ, २२०६

४ सुनहु सूर तरुनी जीवन मद, तापर स्याम महारस पाये, २२५५

५ सूरदास हरिचेरी कीन्ही मन मनसिज के चेरै, २२७१ आदि-आदि

विशेष के लिए देखिए सौन्दर्य सिद्धान्त शृगार एव प्रेम का आध्यात्मीकरण

कथा १ सम्पूर्ण रचना कथात्मक या चरितात्मक है। इस कथा का सम्बन्ध अवतारो से होगा जिनमे राम और कृष्ण के चरित्र को प्राथमिकता मिलती है।

२ अन्य अवतार मात्र सामान्य भूमिका मे परम्परानुमोदन के ही रूप मे स्वीकृत हैं। उनमे काव्यतत्त्व के प्रति कोई सुरुचि नही दिखाई पडती।

३ राम और कृष्ण दोनो अवतारो से सम्बन्धित कथाएँ दो प्रकार की है लोकिक तथा अलौकिक लौकिक कथा चरित्र का विकास सम्पूर्ण कथा रूप मे प्राप्त है तथा अलोकिक चरित्र प्रासगिक मात्र है।

४ कुछ कथाहीन प्रसग भी हो सकते है, किन्तु इनका मुख्य प्रतिपाद्य भक्ति ही है।

५ लौकिक कथाओ के अनेक अश सक्षिप्त घटना के रूप मे है यथा, सूरसागर रासपचाध्यायी, दानलीला आदि।

भाव १ कथा की कडियो के विकास पर अधिक बल न देकर भाव योजना के प्रति अधिक सुरुचि का प्रदर्शन मिलता है।

२ अलौकिक घटनाओ मे कृष्ण के ब्रह्मत्व, शक्ति, तेज का पूर्ण प्रतिपादन मिलता है तथाभक्तो मे श्रद्धा का भाव है।

३ लौकिक घटनाओ मे तीन प्रकार के भाव प्रमुख है, वात्सल्य, सख्य तथा मधुर विषयक, किन्तु भावविस्तार मधुर या शृगार लीला से ही सम्बन्धित है।

४ लौकिक घटनाओ के प्रवाहपूर्ण कथानको का अन्तिम लक्ष्य प्रेम को तीव्रतम बनाना है। इसके लिए वह कथा को दुखान्त एव सुखान्त तत्त्वो के अनेक परिवर्तनो से पुष्ट करता है।

५ खडित या स्वत. पूर्ण कथानको मे अश्लीलता अधिक उभरी है, किन्तु दार्शनिकता का आश्रय लेकर कवि रहस्यपूर्ण बना देता है।

६ यहाँ प्रेम के आध्यात्मीकरण की ओर झुकाव मिलता है।

अन्य क. पर्व, सेवा, उत्सव एव विहार से सम्बन्धित अन्य लीलाएँ धार्मिक रूढि बनकर वैष्णव भक्ति साहित्य मे अब तक चली आ रही है। इन रूढियो से सम्बन्धित कीर्तन के पद भी प्राप्त हो जाते हैं।

ख कथाहीन प्रसगो मे भक्ति से सम्बन्धित आत्मदैन्य, विगर्हणा तथा ग्लानि के भाव मिलते है। साथ ही, ब्रह्म की कृपा, दयालुता का भी इनमे सकेत है।

कथात्मक गीतिकाव्य मे प्रयुक्त समस्त लीलामूलक भाव तुलसी की कृष्ण गीतावली मे उपलब्ध हो जाते है। प्रचलित गीतावली के सस्करण मे मात्र ६१ गीत है जो कृष्णलीला के ठीक उन्ही भावो पर निर्मित है, जिन पर सूरसागर या परमानन्ददास सागर। किन्तु सूरसागर एव परमानन्ददास सागर से इसमे अनेक अशो मे भिन्नता देखी जाती है। कृष्णभक्त कवियो का सामान्य साम्प्रदायिक मोह यहा नही मिलता है। पर्व, उत्सव, वल्लभ स्तुति के पदो के अभाव के साथ-साथ कृष्ण भक्त कवियो की याचनामूलक प्रवृत्ति भी यहाँ नही मिलती। यहाँ शुद्ध गीतिकाव्य के वे समस्त भावात्मक तत्त्व वर्तमान है, जो सूर के दशम स्कन्ध मे है। कवि आधार के रूप मे भागवतपुराण की सामग्री नही ग्रहण करता। वस्तुत लोक प्रचलित या वैष्णव सन्तो की श्रुत परम्परा मे प्राप्त कृष्णकथा को अपनी काव्यरचना का आधार बनाता है। या फिर सम्भव है, कवि सूरसागर के तत्कालीन प्रचलित सस्करण या पदो से प्रभावित रहा हो, क्योकि इसमे एव रामगीतावली मे कई पद सामान्य परिवर्तन के साथ मिलते है। रामगीतावली भी भावात्मकता की दृष्टि से कथात्मक गीतिकाव्य के उन तत्त्वो से मेल खाती है, जिनका उल्लेख निष्कर्ष के रूप मे किया जा चुका है। गीतात्मकता की दृष्टि से इसमे अनेक परिवर्तन किए गए है। मानस की रामकथा की सम्पूर्ण प्रकृति ही यहाँ बदल जाती है। प्रसग नियोजन मे वस्तुत दास्य, सख्य, वात्सल्य एव मधुर भाव की ओर कवि अधिक सचेष्टता दिखाता है। वीर एव शौर्य विषयक भाव यहा कम है सूरसागर एव परमानन्ददास सागर मे प्राप्त भक्तिकाव्य के ये भाव कवि को भी प्रिय है।

१ वात्सल्यवर्णन के प्रति सूर की भाँति यहाँ सचेष्टता मिलती है। झूलना, घुटनो के बल चलना, अयोध्या की वीथियो मे विहार, सखाओ के साथ खेलने जाना, गोली, भँवरा, चक डोरी, कन्दुक, चोगान, घुडसवारी आदि का वर्णन विशेष सुरुचि से करता है।

२ जनकपुर मे राम का आसक्तिमूलक वर्णन, अयोध्याकाड मे वन मार्ग मे ग्राम बधूटियो के प्रसग का विस्तार, लगभग १० पदो मे ग्रामबधूटियो का विरह वर्णन, चित्रकूट मे ऋतुवर्णन तथा कौशिल्या का वात्सल्य

विरह तथा सीता का वियोगवर्णन आदि प्रसगो के प्रति कवि विशेष सुरुचि दिखाता है।

३ उत्तरकाड का प्रसग यहाँ अत्यधिक भावात्मक बना दिया गया है। यहाँ इसके अन्तर्गत अयोध्या, राम का सौन्दर्यवर्णन, हिडोला तथा झूला, दीपमालिका, वसन्तविहार, अयोध्या का आनन्द आदि प्रसग है।

४ रामगीतावली मे कथात्मक स्थलो के ऊपर कम महत्त्व दिया गया है। विशेष रूप से असुरवध एव कथा सघर्षो के विकास की परिस्थिति का अभाव मिलता है।

५ कहा जा चुका है कि इसके अनेक पद सूरसागर से मेल खाते हे। सूरसागर के पदो को यहाँ सामान्य परिवर्तन के साथ रख दिया गया है, किन्तु वस्तुस्थिति क्या है, अभी तक इस विपय मे कोई निश्चित समाधान नही मिलत.। यही सम्भावना अधिक है कि सूरसागर के ही प्रभाव से कवि ने इन्हे ग्रहण किया होगा।

संग्रहात्मक गीतिकाव्य

मध्यकालीन हिन्दी वैष्णव भक्ति सम्प्रदाय मे सेवा एव सगीत नियोजन की परम्परा वर्तमान थी। इन सेवाओ का क्रम दिनचर्या के रूप मे अष्टयाम से सम्बन्धित था। यहाँ दैनिक सेवा के अतिरिक्त वार्षिक सेवा का भी विधान मिलता है। इस वार्षिक सेवा के अन्तर्गत ३ प्रकार की पूजाओ का विधान है—प्रथम ऋतु सम्बन्धी तथा द्वितीय वैष्णवधर्म मे स्वीकृत विभिन्न पर्व सम्बन्धी वर्षोत्सव का। इस सेवा के अतिरिक्त आचार्य वल्लभ, उनकी वश परम्परा, विट्ठलनाथ, गोकुलदास आदि से सम्बन्धित भी कीर्तन प्रस्तुत है। वर्षोत्सव के पदो मे तीसरा विधान लीला विषयक पदो का है, दैनिक क्रम एव वर्ष की सम्पूर्ण ऋतुओ के विशिष्ट सदर्भो तथा वर्षा, वसन्त, शरत् आदि समयो मे नियोजित ये लीलाएँ अपना विशिष्ट स्थान रखती है। सग्रहात्मक गीतिकाव्य समय-समय पर कहे हुए इन्ही कवियो द्वारा कृष्ण की विभिन्न लीलाओ, वैष्णवपर्वो, वर्षोत्सव आदि से सम्बन्धित कीर्तनो या पदो का सकलन इन विशिष्टताओ के आधार पर नियोजित करके उनको पदावली के रूप मे रखा गया है।

रचनाएँ पद सग्रह के रूप मे सूरदास तथा परमानन्ददास को छोडकर शेष अन्य अष्टछापी कवि नन्ददास, छीतस्वामी, कृष्णदास, चतुर्भुजदास तथा हित हरिवंश, हरिदास, हरिरामव्यास, सूरदास, मदनमोहन आदि के पद-

सग्रह इस सीमा मे आते है। फुटकर रूप मे प्राप्त कीर्तन-सग्रह भी इसी के अन्तर्गत है।

इन सग्रहो मे काव्यरूपो का क्षीण सकेत मिलता है। सम्मिलित रूप से इन सभी कवियो ने अपने पदो को हरिगुणगान, गुणगान, लीलागान, विलासलीला, मगलगान, रसालगीत, लीलागान, नित्यविहारगान, गोपाल कथन, कीर्तन, मोहन महिमा, यशगान, केलिगान, अकथकथागान, कृष्णगीत, प्रेमकथा, चरितगान, रासलीलागान, कीर्तिगान, विलासगान आदि नामो से सम्बोधित किया है। गान की प्रमुखता के कारण इन पदो को गीति की सज्ञा दी जा सकती है। साथ-साथ इन कवियो से कृष्ण का चरित्र भी नही छट सका है।

विषयवस्तु

इन सग्रहात्मक गीतिकाव्य मे एक ओर कृष्ण का चरित्र निहित है, दूसरी ओर गुरु सेवा एव वर्षोत्सव की भी सूची मिल जाती है। अत विषयवस्तु के विश्लेषण के लिए इनका परस्पर विभाजन आवश्यक है। इन सम्पूर्ण पद-राशि को तीन भागो मे विभक्त किया जाता है—

१ **नित्यलीला**
२ **वर्षोत्सव**
३ **विनय तथा गुरुसेवा एव माहात्म्य**

१ **नित्यलीला** नित्यलीला विषयक पदो को दो भागो मे विभक्त किया जा सकता है–बाललीला तथा किशोरलीला। बाललीला सम्बन्धी पदो की सख्या कम है–नित्यलीला मे किशोरलीला ही अधिक महत्त्वपूर्ण है। इस किशोरलीला मे दान, श्रावनी, आसक्ति, वेणुगान, मान, रास, युगलरास, सुरति, सुरतान्त आदि से सम्बन्धित पद अधिक है। निम्बार्क, गौणीय तथा राधावल्लभी सम्प्रदाय के कीर्तनो मे परस्पर केलि एव शृगार लीलाविषयक पदो की अधिकता है। वहाँ बाललीला, विनय आदि पदो का पूर्ण अभाव है।

वर्षोत्सव वर्षोत्सव के पदो को कवियो ने बाललीला मे समाविष्ट कर लिया है। यह लीला जन्माष्टमी अर्थात् कृष्ण की जन्मलीला से आरम्भ होकर सगाई तक चलती है। कृष्णाष्टमी के साथ-साथ राधाष्टमी के पद भी यहाँ प्राप्त होते है। इन पदो मे बधाई, पलना, कृष्ण मिलन, प्रेम आदि के विषयो से सम्बन्धित भावो का चित्रण मिलता है। इन दो पर्वो के अतिरिक्त वैष्णवधर्म मे स्वीकृत दशहरा, दीपावली, वसन्त, होली, गनगौर, अक्षय-

तृतीया, रथयात्रा, हिंडोला, पवित्रा, राखी, हटरी, भाईदूज, रामनवमी, पर्वो से सम्बन्धित पद मिलते है।

२ इन पर्वो के अतिरिक्त कुछ विशिष्ट लीलाओ को वर्षोत्सव के रूप मे रख लिया गया है। ये गोवर्धन पूजा, प्रबोधनी रास, गिरिधर उत्सव आदि है।

३ आचार्य बल्लभ तथा उनकी वश परम्परा से सम्बन्धित अनेक पद वर्षोत्सव के रूप मे ही मिलते है इनमे वल्लभकुल स्तुति, श्रीमहाप्रभु जी उत्सव, श्री गुसाई विट्ठल उत्सव आदि से सम्बन्धित पद प्राप्त होते है।

४ इन विषयो के अतिरिक्त वर्षोत्सव के अन्तर्गत भक्त महिमा, भागवतमाहात्म्य, आश्रयपद, गगा तथा यमुना स्तुति, व्रज, गोकुल माहात्म्य आदि के पद लिखे गए है।

भाव

१ कृष्णचरित्र की माधुर्यलीला इनके पदो का मूल आश्रय है। प्राय सभी कवियो ने एक निश्चित क्रम मे कृष्ण की श्रृगार लीला का ही गान किया है। फलत गीतात्मक चरितकाव्य के सम्पूर्ण भाव इनके गीतो मे प्राप्त हो जाते है। वात्सल्य एव सख्यभावो की सख्या न्यून है, मधुर या कृष्ण की श्रृगार लीला से सम्बन्धित पदो की सख्या अधिक है।

२ कथा से सम्बन्धित भाव इनमे तीव्र नही है। कृष्णचरित्र के लौकिक पक्ष के श्रृगार विशेष की ओर इनकी दृष्टि अधिक टिकी है। चूँकि इनकी पद रचना-प्रक्रिया के सदर्भ मे निर्मित न होकर पूजाविधान के रूप मे आती है, अत काव्य की रचनात्मक शक्ति का इन पदो मे कही अभाव मिलता है। स्तुति एव प्रशसा के सामान्य भाव इनमे अधिक मिलते है।

३ समस्त कवियो का वर्ण्य-विषय एक-सा है। फलत समान पुनरावृत्ति एव भावो का पुनर्कथन इन कवियो की प्रधान विशेषता है। अष्टयाम, नित्यसेवा, वर्षोत्सव के समान भाव वाले पद सभी सग्रहो मे है। पुनरावृत्ति एव पूजा विषयक दृष्टिकोण की प्रधानता के कारण भाव स्वातत्र्य का ह्रास मिलता है।

४ श्रृगार निरूपण के सदर्भ मे इनकी भावगत एक अन्य विशेषता है, श्रृगार का नग्नचित्रण। सूर एव परमानन्ददास के साथ-साथ प्रायः

अष्टछाप के समस्त कवि शृंगार संयमित चित्रण की ओर सजगता दिखाते हैं। किन्तु निम्बार्क, गौडीय तथा राधावल्लभी सम्प्रदाय के भक्त कवि शृगार निरूपण की स्थिति मे अश्लीलता को मर्यादित नही कर सके हैं। सूरदास, मदनमोहन, हरीराम व्यास, श्रीभट्ट, हरिव्यास, हरिदास आदि सभी ने राधा-कृष्ण की केलि का स्पष्ट चित्रण किया है। इस सदर्भ मे सुरति, सुरतान्त के अनेक चित्रण इन काव्यो मे मिलते है।

५ इन काव्यो मे प्राप्त वर्ण्यविषय पूर्णत रूढ हो गये। ये उसी परम्परा के रूप मे अब तक स्वीकृत होते चले आ रहे है। अत' उन्हे काव्य रचना प्रक्रिया की दृष्टि से साम्प्रदायिकता को धार्मिक काव्यरूढि की सज्ञा दे सकते हैं।

गीतिकाव्य

चरितात्मक, वर्णनात्मक तथा सग्रहात्मक गीतिकाव्यो के अतिरिक्त वैष्णव भक्तिकाव्य मे भावात्मक गीतिकाव्य भी पाये जाते है। मीरा के पद, तथा तुलसी की विनयपत्रिका की गणना इसी के अन्तर्गत की जा सकती है। यद्यपि यह सत्य है कि मीरा के पदो एव तुलसी की विनयपत्रिका मे मध्य-कालीन गीतितत्त्व की कथात्मकता निहित है, किन्तु वह भावतत्त्व के समक्ष हीनकोटि की ज्ञात होती है। इनकी आन्तरिक प्रकृति के अनुसार इनके निम्न-लक्षण निर्धारित किये जा सकते है—

१ **कथात्मकता का क्षीण सकेत**—मीरा के गीतो मे जहाँ तक वस्तुपरकता का प्रश्न है, कृष्णचरित्र उसका आधार है। कृष्णचरित्र को आधार बनाने के कारण उसकी कथात्मकता के अनेक स्थल मीरा के पदो मे स्वतः आ गए है। तुलसी की विनयपत्रिका की भी वही स्थिति है। वियोगी हरि ने आठ भावनाक्रम के आधार पर विनयपत्रिका मे निहित सूक्ष्म कथातत्त्व की ओर सकेत किया है। वस्तुतः राम के हाथ से स्वीकृति मिलने तक की पूर्व घटनाएँ उसी की भूमिका मात्र है। इस पत्रिका का अन्तिम फल राम की स्वीकृति है। किन्तु ये कथाएँ इतनी महत्त्वपूर्ण नही हैं कि भावगीति तत्त्व मे उनसे व्याघात पहुँच सके।

मीरा के पद शुद्ध भावात्मक गीतिकाव्य के अन्तर्गत रखे जा सकते हैं, किन्तु व्रजभाव के पद मे कृष्ण कथा के अनेक प्रसग आ गए है। वृन्दावन-महिमा, बाललीला, अक्रूरलीला, विरहाभाव, राधाविरह, जलभरन, चीरहरण, गोपी, प्रेमालाप, गोपीभाव, उद्धवलीला, दानलीला, दधिबेचन, गोपीभाव,

नटखटपन, शरदोत्सव, श्रीकृष्णप्राकट्य, कुब्जाभाव, राधाकृष्ण सवाद, रास-शृगार आदि लीलाओ के पद मिलते है, किन्तु अन्य भक्त कवियो से यहाँ भिन्नता मिलती है। अन्य भक्त कवि वस्तुविषय मे जहाँ अधिकाधिक प्रभावित है, वहाँ मीरा इन कथात्मक स्थलो मे भी आत्मिक अनुभूति या विषयगतिता (Subjectivity) का आरोपण करती है। कथात्मकता उनके भावाभिव्यजन को पुष्ट करती है

२ मीरा के सम्पूर्ण पद विषय विवेचन की दृष्टि से ७ भागो मे विभक्त किए जा सकते है

१ **वैयक्तिक प्रेम एव विरह सम्बन्धी पद**

२ **स्वजीवन के पद**

३. **प्रार्थना तथा विनय के पद**

४ **भक्ति, वैराग्य तथा सैद्धान्तिक कथन से सम्बन्धित पद**

५. **प्रेमालाप तथा दर्शनानन्द के पद**

६ **व्रजभाव, मुरली तथा होरी के पद**

७ **सतसग सम्बन्धी पद**

इन सम्पूर्ण विषयो मे कथात्मकता का क्षीण सकेत स्वजीवन एवं व्रजभाव के पदो मे मात्र मिलता है, अन्यथा उनके पदो मे उनकी वैयक्तिक भावना की ही पूर्ण अभिव्यक्ति है।

३ इस वैयक्तिक भावना मे प्रेम तथा विरह की प्रधानता है। स्वजीवन एव भक्ति तथा वैराग्य के पद इस प्रेम की भूमिका मे है। कृष्ण प्रेम के लिए जीवन मे किये गये सघर्षों का कथन अनेक रूपो मे इनके पदों मे अभिव्यक्त हुआ है। वैयक्तिक प्रेम, प्रेमालाप, दर्शनानन्द तथा उसके वियोग मे विरह सम्बन्धी कहे गये पद उच्च आध्यात्मिक प्रेम के सूचक है। फलत मीरा के गीतिकाव्य का मुख्य प्रतिपाद्य कृष्ण के प्रति उच्चतम प्रीति की अनुभूति मात्र है।

४ इस प्रेम की भूमिका मे अनन्यता, प्रेमालाप, तीव्रता, आसक्ति, प्रतीक्षा, व्याकुलता, अन्तर्व्यथा, लगन, विरहालाप, वेदना, प्रेमोत्कठा, प्रेम-व्याधि, प्रेमविषयक तल्लीनता के भावो का कथन मिलता है। यह प्रेम की भावना इतनी सान्द्र है कि भक्ति, वैराग्य आदि के पदो मे यही सर्वोच्च हो गई है। वैराग्य की स्थिति मे मीरा का जोगन भाव सम्बन्धी पद उच्चतम प्रेम एवं वैराग्य का उदाहरण है।

विनय पत्रिका मे भी भावो के सवेदनजन्य प्रभाव ग्रहण की ओर कवि सचेष्ट है । सम्पूर्ण पदो की निम्न पाँच भागो मे विभक्त किया जा सकता है —

१ **स्तोत्रमूलक पद**
२ **उपदेशात्मक पद**
३ **सैद्धान्तिक भक्ति, ज्ञान तथा वैराग्य विषयक पद**
४ **आत्मचरित विषयक पद**
५ **विनय तथा दैन्य सम्बन्धी पद**

विनय पत्रिका मे स्तोत्रमूलक पदो को छोडकर अन्य समस्त पदो मे गीति के उच्चतम गुणो का समर्थन मिलता है । अनुभूति की दृष्टि से इन पदो को दो भागो मे विभक्त किया जा सकता है —

१ आत्मविषयक तत्त्व जिसमे कवि व्यक्तित्व के अनेक अग अभिव्यक्त हुए है ।

२ वस्तुगत तत्त्व जिसमे दार्शनिकता, सैद्धान्तिक कथन, भक्ति, ज्ञान एव वैराग्य विषयक कथन मिलते है ।

आत्मविषयक पदो का मूलभाव आत्मशोधन, दैन्य, भय, पीडा एव भौतिकता के उदात्तीकरण से सम्बद्ध है । गीतिकाव्य के लिए बताई गई अनुभूति की सान्द्रता एव आत्मिक लगाव इस प्रकार के पदो मे सर्वत्र प्राप्त है । कवि भौतिक पीडा, आत्महीनता, शरीरक्षय, सासारिक नश्वरता एवं ईश्वरालम्बन आदि के भावो से तीव्रतापूर्वक प्रभावित है । इस प्रकार विनयपत्रिका का वस्तुविषय एव भावतत्त्व अन्य भक्तिगीति काव्यो से पूर्णरूपेण पृथक् है । मात्र सूर के विनय एव दैन्य सम्बन्धी पदो मे इस प्रकार की भावनात्मक एकता देखी जा सकती है, अन्यथा यह भक्तिकाव्य मे शुद्ध गीतितत्त्व की दृष्टि से सर्वथा स्वतंत्र कृति है ।

वस्तुगत तत्त्व का जहाँ तक प्रश्न है, कवि सैद्धान्तिक आरोपण के बीच आत्मतत्त्व का समावेश करता चलता है । 'केशव कहि न जाई का कहिए' 'हे-हरि यह भ्रम की अधिकाई' आदि शीर्षको से सम्बन्धित पद शुद्ध दार्शनिक अभिव्यक्ति से सम्बन्धित है, किन्तु इनके मूल मे कवि आत्मपीडा, सासारिक नश्वरता, क्षय, आत्मशोधन, भय आदि भावनाओ को आरोपित करता चलता है ।

इन गीतितत्त्वो मे सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तत्त्व है व्यक्तित्त्व का समाजीकरण। ये कवि है—मन रे, मन, सन्त, साधु आदि सम्बोधनो से सामाजिक जनो को सम्बोधित करके उन्हे उसी भाव से प्रभावित करते है जो इनका व्यक्तिगत भाव है। इस प्रकार ये कवि अपनी वैयक्तिक पीडा, भय एव शोधन आदि के भावो को सामाजिक अभिव्यक्ति का अग बनाने की ओर अधिक सजग है।

निम्बार्क सम्प्रदाय का सम्पूर्ण पद साहित्य, सग्रहात्मक गीतिकाव्य की श्रेणी मे रखा जा सकता है। एक ही प्रकार का रूपचित्रण एव भाव नियोजन दोनो साहित्यो मे प्राप्त है।

निम्बार्क सम्प्रदाय की रचनाओ मे श्रीभट्ट कृत युगलशतक, हरिव्यास कृत युगलशतक, श्री महावाणी भाष्य, स्वामी हरिदास कृत केलिमाल, विट्ठल विपुल की पदावली, बिहारिन देव के श्रृगार सम्बन्धी पद, इस दृष्टि से विशेष महत्त्वपूर्ण है। निम्बार्क सम्प्रदाय के कवियो मे परशुराम देवाचार्य की रचनाएँ पृथक् श्रेणी मे रखी जा सकती है। बिहारिन देव के श्रृगार विषयक पदो को छोडकर शेष दोहे तथा परशुरामदेव की रचनाओ की प्रवृत्तियो से मेल खाते है।

वर्ण्यविषय की दृष्टि से इन रचनाओ मे कृष्ण की श्रृगार लीला विषयक क्षीण कथावस्तु का सकेत मिलता है। इन विषयो को दो वर्गों मे विभाजित किया जा सकता है, सेवा एव माहात्म्य सम्बन्धी पद तथा कृष्ण के श्रृंगार लीला विषयक पद।

सेवा एवं माहात्म्य सम्बन्धी पद : सेवा तथा माहात्म्य, चरण कमल की सेवा, वृन्दावन माहात्म्य, राधाकृष्ण की युगल उपासना, स्वामिनी के पद, राधा-कृष्ण की उपासना, कृष्णोपासना की तुलना मे जप, तप, तीर्थ, नियम, पुण्य, व्रत, शुक, साधन की व्यर्थता, वृन्दावन की केलि विलास की उपासना, आचार्य की पद वन्दना, अपने हाथ से राधा कृष्ण को भोजन कराना, भोजन के समय गान, माल्यार्पण, बीरी खिलाना, आरती उतारना, चँवर ढारना, पाँव धुलाना, बिस्तरा लगाना, छप्पन विधि से बने छत्तीसो प्रकार के व्यजन खिलाना, पान सुपारी देना, मिश्री मिलाकर औटे हुए दूध को श्री कृष्ण को देना, सोते हुए राधा-कृष्ण के ऊपर चँवर ढारना आदि।

श्री कृष्ण की श्रृंगार लीला सम्बन्धी पद : कृष्ण की बाल्यावस्था केलि से सम्बन्धित युगलस्वरूप वर्णन, राधारूप वर्णन, कुंजविलास, परस्पर

शृगार, राधास्तुति, दूतिका वचन, होरी, सुरति वर्णन, राधा का सगीत, रासनृत्य, कृष्ण के द्वारा राधा का रूप वर्णन, कुज शयन, सगीत, उनीद तथा आलस्य, शतरज क्रीडा, छिरका खेल, राधाकृष्ण केलि वर्णन, वसन्त, फाग, निकुज आगमन, सुरति चिन्ह, वनविहार, हिंडोल, राधा के द्वारा कृष्ण को वीणा शिक्षा, राधा कृष्ण केलि, सुरत युद्ध।[1]

गीतितत्त्व की दृष्टि से इनकी निम्न विशेषताएँ है—

जहाँ तक नित्य सेवा का प्रश्न है, सग्रहात्मक गीतिकाव्यो की सामान्य विशेषताएँ इनमे निहित है। रचना, रूप-वर्णन, सदर्भ तथा निरूपण शैली ठीक सग्रहात्मक गीतिकाव्य की ही भाँति है। विषयो मे थोडा सशोधन अवश्य मिलता है। जहाँ तक अष्टछाप के कवि नित्य सेवा तथा वर्षोत्सव मे भागवत अनुमोदित कृष्णलीला को आधार मानते है, ठीक वही निम्बार्क सम्प्रदाय के कवि कृष्ण लीला को सामान्य दिनचर्या तक घसीट लाए है। भोजन, बीरी एव औटा कर दूध पिलाना आदि प्रसंगो को परवर्ती अष्टछापी एव राधावल्लभी सम्प्रदाय के कवियो ने भी वर्ण्यविषय बनाया है, किन्तु अतिसामान्य रुचि के साथ नित्य सेवा के प्रति इतनी आसक्ति उन कवियो मे नही है।

२ गीतिकाव्य के लिए कृष्णलीला के शृगार विषयक प्रसग इनको अभीष्ट है। यह शृगारलीला, केलि एव परस्पर मिलन सम्बन्धी भावो से युक्त है। रास, विहार, शयन, परस्पर केलि, प्रेमवचन, हिंडोल, फाग, वर्षाविहार, शतरज, छिरका, पतग, वीणावादन आदि प्रसग कृष्णराधा तथा गोपियो मे परस्पर शृगार उद्बोधन के उद्दीपक है। केलि के अन्तर्गत उद्दाम शृंगार विषयक पद प्राप्त होते है। शृगार के अन्तर्गत आनन्दोपभोग, अनेक रूप धारण करके प्रेमक्रीडा, राधाकृष्ण का परस्पर पर्यंक शयन, सभोग, निकुज, सुरति एवं सुरति युद्ध जैसे गर्हित प्रसगो के अनेक पद उपलब्ध है।

३ भावो की उत्कृष्टता एव कृतिकार का सामान्य व्यक्तित्व इन रचनाओ मे दृष्टिगत होता है। भाव सामान्य कोटि के शृंगार से सम्बधित है। इस शृंगार की मूलभावना प्रेम न होकर वासना एवं ऐन्द्रिक भोग है। इस भोग के प्रति इन कवियो की सुरुचि अत्यधिक तीव्र है। वे कृष्ण की सुरति लीला के प्रसगो मे उनके साथ रहने की कामना प्रकट करते है।

---

१. ये प्रसंग निम्बार्क माधुरी के आधार पर संकलित हैं

४ गीतिकाव्य की दृष्टि से इनमे एक ही तत्त्व प्रधान है, वह है—भावात्मकता। कवि प्रत्येक लीला के साथ अपना भावात्मक सम्बन्ध बनाए रखता है। उसकी इस भावुकता का आधार श्रृंगार है। कृष्णलीला की शृगारिक अभिव्यक्ति केलि तथा विहार से सम्बन्धित भावो की ओर अधिक तन्मय मिलती है।

मुक्तक काव्य : हिन्दी वैष्णव भक्तिकाव्य मे गीतिपरक एवं कथात्मक रचनाओ के सकेत अवश्य प्राप्त हो जाते है, किन्तु मुक्तक काव्यो के लिए कोई उल्लेख नही मिलता। मुक्तककाव्य की परम्परागत परिपाटी के ही आधार पर भक्तिकाव्य मे प्राप्त मुक्तककाव्यो का अध्ययन किया जा सकता है प्राप्त परम्परा के अनुसार मुक्तक एकश्लोक प्रधान सहृदयो मे चमत्कार उत्पन्न करने वाली रचना को कहते है—विषय वस्तु की दृष्टि से राजा की कीर्ति का वर्णन, इष्ट या आराध्य की स्तुति, सूक्तियो का प्रयोग, शृगारमूलक क्रीडा या वृत्ति के प्रयोग से आत्मरजन, आत्मरक्षा विषयक प्रयोग, नैतिक, व्यावहारिक, आचरणमूलक तथा भक्तिपरक भावनाओ का प्रचार इसके मुख्य आधार है। मुक्तककार कलाप्रिय कवि, भक्त, नीतिज्ञ, आचार्य, शृगारप्रिय, विनोदशील मनोवृत्ति का हो सकता है। हिन्दी वैष्णव भक्तिकाव्य मे मुक्तक की श्रेंणी मे निम्न रचनाएँ है—दोहावली, कवितावली, हनुमान बाहुक, द्वादशयश (अप्रकाशित), अष्टयाम (हरिव्यास), अष्टयाम (नाभा०) ब्रजभाषा गद्य तथा पद्य से युक्त रचना (अप्रकाशित), कृष्णकथा से सम्बन्धित हित हरिवंश के हित-चतुरासी एव हरिदाम कृत केलिमाल की प्रवृत्ति मुक्तक की है, किन्तु गीति-तत्त्व की प्रधानता के कारण उन्हे गीतिकाव्य की ही श्रेणी मे रखा जा सकता है।

वैष्णव भक्तिकाव्य मे उपलब्ध मुक्तक रचनाओ मे इस प्रकार तुलसी-कृत दोहावली, कवितावली एव बाहुक को ही रखा जा सकता है। विषय की दृष्टि से इन्हे दो भागो मे विभक्त किया जा सकता है—शुद्धमुक्तक एव कथात्मक मुक्तक।

शुद्ध मुक्तक तुलसीदास की दोहावली को इसके अन्तर्गत रखा जा सकता है। दोहावली मे कवि ने रस को काव्य का उच्चगुण स्वीकार किया है। उसके अनुसार गुण-दोष का सम्यक् विवेचन करके विरला रसिक ही काव्यरीति को समझ सकता है। किन्तु इस कथन से मुक्तक के स्वरूप का अनुमान नही लगाया जा सकता। रस एवं रसिक काव्य की उच्च कसौटी के विधायक

है किन्तु मुक्तककाव्य के सदर्भ मे उनका क्या अस्तित्व है, इस ओर कोई भी सकेत नही मिलता।

दोहावली का वर्ण्यविषय मुक्तककाव्यो की ही भाँति दोहावली का सम्बन्ध निम्न विषयो से है—राममाहात्म्य, भक्ति एव राम के प्रति प्रेम, धार्मिक एव नैतिक उपदेश, रामकथा तथा राम के स्वजनो का माहात्म्य-वर्णन, आत्मपीडा, सासारिक असारता एव तत्सम्बन्धी दार्शनिक टिप्पणियाँ, धर्मतीर्थो का माहात्म्य, उद्बोधन, भक्ति एव प्रेम की अनन्यता के लिए चातक, मृग, सर्प, कमल, मीन, मयूर, शिखडी आदि का सदर्भ, सासारिक व्यावहारिकता एव अनीति, नैतिक आचरण, वैष्णव धर्म मे स्वीकृत आचरण विषयक उच्चगुण, शुभ, अशुभ, सामाजिक व्यवहार, सज्जन-दुर्जन स्वभाव एव कलियुग वर्णन—इस प्रकार तुलसी के ये विषय मुक्तक काव्य की प्रवृत्ति से पूर्णरूपेण मेल खाते है।

चमत्कारवृत्ति सस्कृत के आचार्य चमत्कार वृत्ति को मूलतत्त्व स्वीकार करते है। यह चमत्कार वृत्ति कवि को कही-कही अधिक प्रिय दिखाई पडती है। राम एव रामनाम माहात्म्य के सदर्भ मे अक विषयक उक्ति, स्थल-स्थल पर रूपक, उपमा, उत्प्रेक्षा, वक्रोक्तिगर्भित उक्तियाँ, कार्यकारणमूलक अलकार-प्रयोग, परम्परागत भक्तो के उदाहरण, लोक मे प्रचलित कथन आदि मूलत चमत्कृति से ही सम्बद्ध है। कही-कही सस्कृत कवियो जैसी रजनात्मक क्रीडा-वृत्ति का भी प्रयोग कवि करता है। एकाध उदाहरण से इसकी पुष्टि की जा सकती है .

तनु विचित्र कायर बचन, अहि अहार मन घोर।
तुलसी हरि भये पच्छधर, ताते कह सब मोर।

इस दोहे मे **'पच्छधर'** तथा **'मोर'** शब्द मे चमत्कार वृत्ति का प्रयोग किया गया है।

पच्छधर पक्षधारण करने वाले एव पंख धारण करने वाले का सूचक है, मोर मयूर तथा मेरा का। मयूर मे अनेक बुराइयो के होते हुए भी लोग इसे 'मोर या मेरा' कहते है। इसी प्रकार क्रीडावृत्ति के पोषक और भी अनेक उदाहरण दोहावली मे प्राप्त है।

भावात्मकता : तुलसी को इस चमत्कारवृत्ति से कही अधिक भावात्मकता प्रिय है। भक्ति, भक्तिविषयक प्रेम, एव आसक्ति के सदर्भ मे कवि इसी मनोवृत्ति का आधार लेता है। वह कई स्थलो पर सहृदय, भक्त, भक्ति, प्रेम,

आसक्ति का अपनी एव अभिव्यक्ति का मूल आधार बताता है। चातक, मृग, मीन, सर्प, कमल आदि के उदाहरण प्रेमविषयक अनन्यता को ही सिद्ध करने के लिए है, इन स्थलो पर कवि का भावात्मक आवेश अधिक है।

शैलीगत सरलता : नीति एवं उपदेश विषयक मुक्तको मे परम्परा से ही शैलीगत सरलता दृष्टिगत होती है। कवि ने भी आधार तथा नैतिक उपदेशो, मायामोह के त्याग तथा विवेकपूर्ण कृत्यो आदि के सदर्भ मे शैलीगत सरलता का आश्रय लिया है। चमत्मकारप्रियता एव रसात्मकता की दृष्टि से ये स्थल अधिक महत्त्वपूर्ण नही कहे जा सकते, किन्तु जहाँ तक उपदेशात्मक वृत्ति से सम्बन्धित सरलता का प्रश्न है, वह कवि के लिए वाछित है।

मुक्तक काव्य के सहृदय मे वर्ण्यविषय के अनुसार अनेक स्तर देखे जा सकते है। दोहावली जेसे मुक्तक काव्य के सहृदय भक्त सामान्यजन, काव्यमर्मज्ञ, आचरणशील सभी हो सकते है। वस्तुत· कवि की काव्यरुचि नैतिक विवेकसम्पन्न श्रद्धालु सहृदय की ओर ही अधिक सजग है।

मुक्तक के लिए जहाँ तक वृत्त का प्रश्न है, दोहे तथा सोरठे उसे एकमात्र प्रिय हैं। भक्तिकालीन परम्परा के पूर्व दोहे को मुक्तक वृत्त के रूप मे स्वीकार किया जाने लगा था।

कथात्मक मुक्तक सस्कृत साहित्य मे कथात्मक मुक्तक नही है, मेघदूत एव वृन्दावन जैसी क्षीण कथात्मक सकेत से युक्त रचनाओ को यहाँ खडकाव्य की श्रेणी मे रखा गया है। इस दृष्टि से बाहुक तथा कवितावली मे कथात्मकता कही अधिक है। किन्तु उन्हें खडकाव्य की श्रेणी मे न रखकर मुक्तककाव्य की श्रेणी मे रखना अधिक उपयुक्त काव्य है। मुक्तक की अनेक संभावनाएँ इसमे वर्तमान है।

खडकाव्य की एकदेशानुसारिता का मुख्य तात्पर्य घटना एव भाव की एकदेशीयता से है। पात्रो की अल्पता, घटनाओ मे परस्पर सघर्ष का अभाव, उद्देश्य की निश्चित सीमा तथा वर्णनात्मक छन्दो का प्रयोग इसके अन्य लक्षण है। कवितावली मे इससे सम्बन्धित लक्षणो का अभाव है। इसके सक्षेप मे निम्नतत्त्व निर्धारित किए जा सकते है।

कथात्मकता में अधिक रमणीक स्थलों का चुनाव

यह दृष्टि कवितावली मे प्रधान रही है। यहाँ कथात्मकता से कही अधिक ध्यान रमणीक स्थलो के नियोजन की ओर दिया गया है। कवि

यदि चाहता तो इन्ही वृत्तो मे राम की सम्पूर्ण जीवनकथा कह जाता, किन्तु वह उसके स्थान पर भावात्मक आग्रहपूर्ण स्थलो को चुनता है। रामकथा मे ये स्थल कवि को अधिक प्रिय रहे है, क्योकि ऐसे स्थलो पर उसकी मनोवृत्ति रमी हुई दिखाई देती है। बालवर्णन विवाह, वनगमन, केवट सवाद, मार्ग मे उत्पन्न श्रम, ग्राम बधूटियो के कथन, मुनियो का परिहास, लकादहन, वानर राक्षस युद्ध, राक्षस एवं रावण वध, तथा दैन्य एव भय विषयक प्रसग ही कवितावली के वर्ण्यविषय है, सम्पूर्ण रामकथा मात्र इन्ही प्रसगो पर नही आधारित है। उसके लिए कथा की जिस एकरूपता की आवश्यकता है, उसका इसमे अभाव मिलता है। अभाव का कारण यही है कि कवि की मनोवृत्ति मुक्तक काव्य के अनुकूल प्रसगो मे रमी है। हनुमान बाहुक मे मात्र ४४ पद है। इन पदो मे कथात्मकता का स्फुट सकेत व्यग्य है। इस व्यंग सकेत का अर्थ हनुमान की शक्ति एवं सामर्थ्य का बोध कराना है। खडकाव्य या एकार्थ काव्य जैसी सामान्य कथा इसमे भी नही है। कवि के आत्मपीडा विषयक प्रसग मे कथाभास निहित हैं। फलत इन्हे किसी भी दृष्टि से खडकाव्य नही कहा जा सकता।

वर्णन वैचित्र्य वर्णन वैचित्र्य मे चमत्कृति का अधिक सहयोग है। वर्णन वैचित्र्य के सदर्भ मे ही कवि यहाँ कूट, दृष्टान्त, रूपक, वक्रोक्ति, श्लेष, उत्प्रेक्षा, भ्रम, असगति आदि अलकारो को प्रमुख आधार बनाता है। वर्णन-वैचित्र्य उदाहरणो से अधिक स्पष्ट किया जा सकता है।

कूट प्रयोग

धनुही कर तीर निषग कसे कटि, पीत दुकूल नवीन फबै।
तुलसी तेहिं अवसर लावनिता दस, चारि, नौ, तीन, इकीस सबै॥

दस, चार, नौ, तीन इक्कीस का प्रयोग निश्चित रूप से वर्णन वैचित्र्य का अग है, जिसके कम-से-कम १० अर्थ बताए जाते हैं। रीतिकालीन कवियो की भाँति अन्तिम पक्ति मे चमत्कृति उत्पन्न करने का सहज लोभ तुलसी मे अनेक स्थलो पर देखा जाता है। चमत्कारबहुल एव प्रिय लगने वाली पक्तियो की पुनरावृत्ति कवि के लिए रोचक है। कवितावली मे पुनरावृत्ति के लिए निम्न पक्तियो का उदाहरण पर्याप्त होगा।

अवधेश के बालक चारि सदा तुलसी मन मन्दिर मे बिहरैं

× × × ×

राजिव लोचन राम चले तजि बाप को राज बटाऊ की नाई

पक्तियो को कवि ने बार-बार दुहराया है। जहाँ तक अन्तिम पक्ति मे चमत्कृति उत्पन्न करने का प्रश्न है, कवितावली तथा बाहुक के अनेक कवित्त इस दिशा मे द्रष्टव्य है। अन्तिम पक्तियो मे जहाँ अलकार विषयक सूक्ष्म व्यजना का प्रश्न है, इस दृष्टि से अधिक महत्त्वपूर्ण है। इसके लिए कुछ उदाहरण रखे जा सकते है।

मनहुँ चकोरी चारू बैठी निज निज नीड,
चन्द की किरन पीवे पलको न लावती।

× × ×

राम को रूप निहारित जानकी कचन के नग की परछाही।
याते सबै सुधि भूलि गई कर टेकि रही पल टारति नाहीं।

× × ×

आखिन मे सखि राखिबे जोग इन्हे किमि के बनवास लियो है।[1]

इसी तरह चमत्कार एव सुरुचिपूर्ण छन्द की अनेक अन्तिम पंक्तियाँ इन काव्यो मे खोजी जा सकती है। कवित्त मे योजना मुक्तक काव्य के रचनाकारो को अधिक प्रिय रही है। यहाँ उसकी भी बानगी मिल जाती है।

छोनी मे के छोनीपति, छाजे जिन्हे छत्रछाया
छोनी छोनी छाए छिति आए निमिराज के।
प्रबल प्रचड बीरबन्ड बर बेष बपु।
बपवे को बोलि बैदही बर काज को।[2]

यहाँ 'छ' एव 'ब' वर्णों का छेकानुप्रास तुलसी की चमत्कारमूलक मनोवृत्ति का सूचक है।

भावात्मक आग्रह बाहुक एवं कवितावली दोनो रचनाओ मे कवि भावात्मक तीव्रता का बोध कराने की ओर सचेष्ट है। इस आग्रह का सम्बन्ध भक्ति, उत्साह, शृगार, प्रियता, उदारता, धृति, चिन्ता, मोह, विषाद, दैन्य, चपलता, भय, ग्लानि, पीडा, असन्तोष आदि भावो से है। कवि किसी विशेष संचारीभाव को आधार बनाकर उससे सम्बन्धित भावात्मक तीव्रता का वर्णन करने मे अधिक पटु है। ग्राम वधूटियो का प्रसग, लकादहन, उत्तरकाड के

---

१. कवितावली : बालकाण्ड छ० स० १३, १७, अयोध्याकाड २०
२ कवितावली, बालकाड, छ० स० ८

दैन्य, भय एव भक्तिविषयक स्थल तथा हनुमान बाहुक के अधिकाधिक कवित्त मात्र सचारी भावो को केन्द्र मे रखकर रचे गए है ।

जहाँ तक छन्द का प्रश्न है, इन दोनो रचनाओ को मिलाकर ४ छन्दो का प्रयोग किया गया है । कवित्त या घनाक्षरी सवैया विशेष रूप से दुर्मिल एव मत्तगयद, छप्पय तथा झूलना । तुलसी के युग मे सम्भवत मुक्तक काव्य के लिए इन्ही वृत्तो को प्रमुखता प्राप्त थी ।

इसके आधार पर यह निष्कर्ष सरलता से लगाया जा सकता है—

१—हिन्दी वैष्णव भक्तिकाव्य के अन्तर्गत प्राप्त मुक्तक दो प्रकार के है—शुद्ध तथा कथात्मक ।

२—मुक्तक का मूल प्राण चमत्कार या वर्णन वैचित्र्य मात्र नही है । उसके साथ-साथ भावात्मक आग्रह एव शैली सम्बन्धी सरलता अपेक्षित है ।

३—इसके पाठक या सहृदय मात्र सत्व्यक्ति रसिक या कलाप्रेमी ही नही हो सकते, समाज के किसी भी वर्ण या श्रद्धालु व्यक्ति इससे प्रभावित हो सकता है ।

४—छन्द की दृष्टि से इसमे घनाक्षरी, सवैया, छप्पय, झूलना तथा दोहे मे से किसी एक या सभी को अपनाया जा सकता है । दोहो का शीर्षक साखी के ही नाम से सकलित किया गया है । परशुरामदेव भी अपने दोहे को साखी कहते है ।

साखी सुनो मुरारि की परसा प्रीति लगाई[1]

इनमे उपदेशात्मकता की प्रवृत्ति मिलती है । यही कारण है कि इनमे मुक्तक काव्य की चमत्कारबहुल शैली प्रियता के स्थान पर सरलता है । शैलीगत सरलता के ही कारण इन साखियो को दैनन्दिन व्यवहार का अग बनाने का प्रयत्न किया गया है ।

इनमे कही-कही सिद्धान्त-कथन की भी प्रवृत्ति प्राप्त होती है । तुलसी की दोहावली की भाँति इन कवियो ने भी इसके माध्यम से भक्तिविषयक सिद्धान्तो एव सामान्य दार्शनिक प्रश्नो का समाधान दिया है ।

दोहावली के अतिरिक्त व्यास की साखी एव परशुरामसागर मे संकलित दोहो को भी सामान्य रूप से इसी के अन्तर्गत रखा जा सकता है । इनके क्रमशः निम्नवर्ण्य विषय के रूप है—

---

१ निम्बार्क माधुरी, परशुरामदेव, दोहा स० २४

गुरु स्मरण, युगल चरण ध्यान, सन्त प्रशसा, हरिभजन, महिमा, दीनता, गौरव, दृढ विश्वास, अनन्य व्रत, मन की एकाग्रता, प्रेमभाव, कहनी-करनी, प्रसादोत्कृष्टता, नामगुणगान, भक्ति उपदेश, वृन्दा वनवास, साधना, हरिकृपा, कुसंगत्याग, कपट से घृणा, लोक प्रतिष्ठा, आशा परित्याग, अभिमान से दूर रहना, भ्रमजाल, कचनकामिनी प्रभाव, कुटुम्बशिक्षा।[1]

व्यास के ही अनुरूप परशुराम ने भी निम्न विषयो को अपने सागर मे प्रयुक्त किया है—

गुरुमहिमा, प्रेम, हरिसेवक, परमप्रेममर्म, गुरु की महिमा, प्रेमरम, आन्तरिक शुद्धि, सत्य, झूठ, सतसग, साधु माहात्म्य, प्रेम तथा रति-सिद्धान्त, ब्रह्म, राधा, ज्ञान, जीव, वैराग्य, प्रीतम और प्रेम, आस्तिक, नास्तिक, हरि-भजन, सुख दुख, आत्मा की हसस्थिति।[2] संक्षेप में इन दोहो की निम्न विशेषताएँ है—

इन दोनो कवियो ने इन दोहो को साखी के नाम से पुकारा है।

विषयवस्तु की दृष्टि से वैष्णव भक्तिकाव्य के विभिन्न काव्यरूप

कथात्मक काव्य

१. **चरितकाव्य** रामचरित मानस

२ **वर्णनात्मक काव्य** सूरसारावली, भागवत भाषा दशम स्कन्ध

३ **खडकाव्य :** जानकीमगल, पार्वतीमगल, रामललानेहछू, श्यामसगाई, सुदामा चरित्र, रूपमंजरी, रुक्मिणीमगल, रासपचाध्यायी

४ **एकार्थ काव्य** रामाज्ञा प्रश्न, बरवै रामायण

गीतिमूलक काव्य

चरितात्मक गीतिकाव्य कृष्णगीतावली, रामगीतावली, सूरसागर, परमानन्ददास सागर

संग्रहात्मक गीतिकाव्य कुभनदास, कृष्णदास, नन्ददास, गोविन्द स्वामी, चतुर्भुजदास, छीतस्वामी, हितहरिवश, सेवक जी व्यास, हरिदास आदि कवियो के पद संग्रह इसके अन्तर्गत रखे जा सकते हैं।

गीतिकाव्य मीरा के पद तथा विनयपत्रिका

---

१ सकलित भक्त कवि व्यास जी, सं० वासुदेव गोस्वामी साखी

२. निम्बार्क माधुरी, परशुरामदेव, दोहा स० २४

मुक्तक काव्य

मुक्तक काव्य दोहावली, व्यास की साखी, परशुरामदेव की साखी

कथात्मक मुक्तक काव्य कवितावली, हनुमानबाहुक आदि

शेष रचनाएँ

हिन्दी वैष्णव भक्ति सम्प्रदाय के अन्तर्गत बताई जाने वाली रचनाओ मे अनेक अप्राप्य हैं। अधिकाश रूप से ये अप्राप्य रचनाएँ लीला तथा भक्ति-सिद्धान्त विषयक हैं। ये इस प्रकार है—

दानलीला (परमा०) ध्रुवचरित्र (परमा०) युगलमान चरित्र (कृष्ण०) भ्रमरगीत (कृष्ण०) भक्ति प्रताप (चतु०) द्वादशयश (अप्रा०) हितू जू को मगल (चतु०) बाललीला (माधव०) जन्मकरन लीला (माधव) स्वयम्बर-लीला (माधव०) रघुनाथ लीला (माधव०) चन्द्र चौरासी (चन्द्र०) अष्टयाम (चन्द्र०) गौराग अष्टयाम (चन्द्र०) ऋतुविहार (चन्द्र०) राधाविरह (चन्द्र०) श्याममजरी बाल ग्वालपहेली (बाल०) परतीत परीक्षा (बाल०) प्रेम परीक्षा (बाल०) परशुराम सागर (परशु०) अग्रदास रामचरित सग्रह (नाभा०) अष्टयाम (नाभा०) आदि।

इन रचनाओ के स्वरूप निर्धारण के विषय मे सामान्यरूप से अनुमान लगाया जा सकता है। लीलामूलक रचनाएँ कथात्मक है। कृष्णलीला से सम्बन्धित रचनाएँ भागवत लीलाओ पर अधिकाश रूप से आधारित जान पडती हैं। चरित काव्य को लीलाकाव्यो की भाँति कथात्मक ही है। अष्टयाम एव ऋतुविहार विषयक रचनाएँ कृष्ण या राम की नित्यलीला से सम्बन्धित है। शेष या भक्ति विषयक सैद्धान्तिक रचनाएँ हैं या भक्ति माहात्म्य से सम्बन्धित। इसके अतिरिक्त बाल अलीकृत दयालमजरी, ग्वाल पहेली, प्रेम-परीक्षा जैसी रचनाओ के विषय मे स्पष्ट रूप से कुछ भी नही कहा जा सकता।

इनके अतिरिक्त हिन्दी वैष्णव भक्ति सम्प्रदाय के अन्तर्गत काव्यशास्त्रीय शब्दकोश, नायक नायिका भेद तथा अनुवाद विषयक रचनाएँ भी प्राप्त होती है। किन्तु शुद्धकाव्य की दृष्टि से इनका महत्त्व गौण है।

हिन्दी वैष्णव भक्ति सम्प्रदाय के अन्तर्गत प्राप्त कतिपय काव्यरूपो को उनके नाम के आधार पर भी वर्गीकृत किया जा सकता है। परम्परा-निर्देशन की दृष्टि से इनका विशेष महत्त्व है। ये इस प्रकार है—

चरित्रकाव्य · रामचरितमानस, सुदामाचरित्र, ध्रुवचरित्र, युगलमान चरित, रामचरित (सग्रह नाभा०) आदि को इसके अन्तर्गत रखा जा सकता है।

लीलामूलक काव्य दानलीला, बाललीला, जन्मकरनलीला, रथलीला, जानरामलीला, ध्यानलीला, स्वयम्बरलीला, रघुनाथलीला तथा सूरदास की बताई जाने वाली नागलीला, मानलीला एव दानलीला तथा नन्ददास कृत गोबर्धनलीला रचनाएँ भी इसी के अन्तर्गत रखी जा सकती है।

मगल काव्य . मगलकाव्यो के अन्तर्गत हितू जू को मगल, जानकीमगल, पार्वतीमगल, रुक्मिणीमगल रचनाओ को रखा जा सकता है।

मजरीकाव्य रूपमजरी, अनेकार्थ मजरी, मानमजरी, रामध्यान मजरी, ध्यान मजरी इस श्रेणी मे आती है।

मुक्तक काव्यरूपो की परम्परा मे अष्टयाम, कवितावली, गीतावली, रामललानेहछू, दोहावली आदि को रखा जा सकता है। सख्यावाची एव छन्द-वाची काव्य रूपो की परम्परा का विकास मुक्तक से ही हुआ है। स्तोत्र साहित्य की परम्परा मे लिए जाने वाले काव्यो मे विनय पत्रिका का महत्त्व-पूर्ण स्थान है। हिन्दी वैष्णव भक्तिसम्प्रदाय के अन्तर्गत प्राप्त होने वाले विभिन्न काव्यरूप नाम की दृष्टि से भी महत्वपूर्ण है। इन काव्यरूपो की परम्परा का निर्देश इस प्रकार किया जा सकता है।

चरित काव्य रामचरितमानस चरित काव्य है। यह तुलसी का साहित्यक्षेत्र मे कोई नवीन प्रयोग नही है। चरित काव्य की एक विशाल परम्परा ई० की दूसरी शती से आरम्भ होकर अब तक चलती रही है। आरम्भ मे चरित किसी-किसी काव्य रूप विशेष का सूचक नही था। नाटक, कथाएँ एव महा-काव्य सभी चरित के नाम से पुकारे जाते रहे है। भास द्वारा रचित बालचरित तथा भवभूतिकृत उत्तर रामचरितम् नाट्यकृतियाँ है। दडीकृत दशकुमार-चरित (७वी शती) सोमदेव कृत कथाचरित्सागर (११वी शती) तथा वाणभट्ट कृत हर्षचरित (७वी शती) कथा रचनाएँ है। यहाँ चरित का सामान्य अर्थ चरित्र से लिया गया है। काव्य के अन्तर्गत चरित के नाम से सर्वप्रथम व्यवहृत होने वाली रचना अश्वघोष कृत बुद्धचरित है। ५वी शती के आचार्य भामह ने काव्यालकार के अन्तर्गत चरितमूलक प्रबन्ध-काव्य के प्रणयन की चर्चा का उल्लेख किया है। सम्भवत धीरे-धीरे परवर्ती काल मे चरित शब्द कथात्मक काव्य के लिए रूढ हो गया था। १०वी शती

मे अभिनन्द कृत रामचरित का उल्लेख मिलता है, जिसके अन्तर्गत सीताहरण से लेकर सम्पूर्ण रामचरित का वर्णन मिलता है। चरितमूलक काव्यो की एक निश्चित सरणि सस्कृत काव्य परम्परा मे प्राप्त होने लगती है। क्षेमेन्द्र कृत दशावतार चरित्र (११वी शती), मखक कृत श्री कठचरित (१२ वी शती), जयरथ कृत हर्षचरित चितामणि (१२वी शती), सन्ध्याकर नन्दी रचित रामपाल चरित (१२वी शती) श्री हर्षकृत नैषधचरित, देवप्रभूसूरि कृत पाडवचरित, मृगावती चरित (१३वी शती) रचनाएँ चरितमूलक महाकाव्य है।[1] इसके अध्ययन से इतना अवश्य स्पष्ट हो जाता है कि चरितमूलक महाकाव्य प्रणयन का प्रारम्भ अश्वघोष के समय दूसरी शती विक्रमी से हो चुका था।

सस्कृत काव्य के ह्रासकाल मे चरित सम्बन्धी काव्यो का प्रणयन प्राकृत तथा अपभ्र श मे होने लगा था। अपभ्रश खडकाव्यो की परम्परा मे ९वी शती से चरितकाव्य प्राप्त होने लगते है। महाकाव्यो मे स्वयंभू रचित पदुमचरित (७ वी शती), रिष्ठणेणिचरिउ (७ वी शती), अपभ्र श के दो प्रमुख महाकाव्य है जिन्होने परवर्ती चरितकाव्य की परम्परा को अधिकाधिक प्रभावित किया। अपभ्र शकाल मे अनेक चरितमूलक खडकाव्य ही तत्कालीन साहित्य मे अपना महत्वपूर्ण स्थान रखते है। पुष्पदन्तकृत नयकुमारचरित (९वी शती), जसहरचरिउ (७वी शती), नयनन्दी कृत सुदसण चरिउ (११वी शती), कनकामर रचित करकडचरिउ (१० वी शती), धाहिल रचित पउम श्री चरिउ (१२वी शती), पदमकीर्ति पास चरिउ (१०वी शती), श्रीधर, पासणाह चरिउ (१२वी शती), सुलोचना चरिउ (१४वी शती), पज्जुण्ण चरिउ सिह या सिद्ध चरिउ (१३वी शती), हरिमन्द्र रचित सनत्कुमार चरिउ(१३वी शती), धनपाल रचित बाहुबलि चरिउ(१५वी शती), यशकीर्ति रचित चन्द्रप्रभ चरिउ (१५वी शती), चन्दापह चरिउ (१५वी शती), रमधू रचित सन्मति नाथ चरिउ (१६वी शती), लखणदेव रचित नेमिणाह चरिउ तथा इनकी अन्य चरित मूलक रचनाएँ सुकौशल चरित, श्रीपालचरित, वर्धमान चरित, अमरसेन चरित, सुकुमार चरित, नागकुमारचरिउ तथा शान्तिनाथ चरिउ (१६वी शती) इससे ही सम्बन्धित है। इस प्रकार स्पष्ट है कि देश-भाषा-काल के आरम्भ हो जाने के बाद भी धार्मिक क्षेत्रो

---

१ ये सूचनाएँ कीथ द्वारा लिखित स स्कृतसाहित्य का इतिहास, भाषान्तरकार मगलदेव शास्त्री से स‍ंकलित की गई है।

मे अनेकानेक चरितमूलक कथाकाव्य प्रणीत होते रहे । इन धार्मिक चरितकाव्यो की सक्षेप मे ये विशेषताएँ है —

१ चरितमूलक इन धार्मिक रचनाओ का उद्देश्य जीवन के पुरुषार्थ धर्म का प्रचार करना है ।

२ इन काव्यो से काव्यात्मक एव धार्मिक प्रवृत्ति का समन्वय मिलता है ।

३ प्राय अधिकाधिक काव्यो मे वक्ता-श्रोता की परम्परा का स्पष्ट उल्लेख मिलता है ।

४ सभी कथाएँ पौराणिक आधारो पर निर्मित हुई है । ये पुराण जैन धर्मावलम्बियो के ही है ।

५ इन चरित काव्यो मे वर्ण्य विस्तार अधिक मिलता है, मूलकथा के साथ अवान्तर कथाओ की सख्या अधिक है ।

६ ग्रन्थ के आरम्भ मे एक वृहत् प्रस्तावना, स्तुति, सज्जन, दुर्जन-निन्दा, आत्मअज्ञता का प्रदर्शन, कथा स्वरूप आदि के प्रति सकेत एव अन्त मे विस्तार के साथ फल का वर्णन मिलता है । कथा के बीच-बीच मे नैतिक, धार्मिक तथा दार्शनिक टिप्पणियाँ भी मिलती है ।

चरित काव्यो मे प्राप्त ये समस्त लक्षण प्राय. थोडे बहुत परिवर्तन के बाद रामचरित मानस मे प्राप्त हो जाते है, किन्तु इनके अतिरिक्त मानस मे उसकी प्रबन्धात्मकता की अपनी मौलिक विशेषता भी है जो उसके लक्षणो मे स्पष्टतया देखी जा सकती है।

लीलामूलक काव्य

संस्कृत साहित्य मे लीलामूलक काव्यो की भी सामान्य परम्परा प्राप्त हो जाती है । ये लीलामूलक काव्य कृष्णचरित से सम्बन्धित है । कृष्णचरित के अन्तर्गत आरम्भ मे रासलीला को अधिक महत्ता मिली है। हरिवंश, दशावतार तथा भास कृत बालचरित मे रास के स्थान पर हल्लीसक नृत्य का उल्लेख मिलता है । हल्लीसक उपरूपक की परम्परा का प्रसिद्ध लोकनाट्य है । इसके लक्षणकारों मे भावप्रकाशकार शारदातनय ने हरि तथा गोपबधुओ के नृत्य को हल्लीसक के अन्तर्गत रखा है ।[1] अग्निपुराणकार हल्लीसक का

---

१ मडलेन तु यन्नृत हल्लीसकमिति स्मृतम्
एकैवास्तस्य नेता स्याद्गोपस्त्रीणा यथा हरि

स्पष्ट उल्लेख करता है। हल्लीसक की एक अन्य प्राचीन परिभाषा के अनुसार भी मुरारी कृष्ण तथा गोपियो का उल्लेख मिलता है।[1] पुराणो मे हरिवश को छोडकर अन्य सभी मे रास का ही उल्लेख मिलता है। ब्रह्मवैवर्तपुराण मे इस रास की रचना प्रक्रिया का विस्तृत विधान है। मध्यकालीन काव्य की परम्परा भागवत से ही अधिक प्रभावित रही है। अत भागवत मे कथित पच अध्यायो का रास वर्णन परवर्तीकाल मे रास पचाध्यायी नाम से विश्रुत हुआ। नन्ददासकृत रासपचाध्यायी भागवत पर ही आधारित है। हरीराम व्यास की रासपंचाध्यायी पूर्णत स्वतत्र कृति है। भक्तिकालीन कृष्णकाव्य मे रास को लेकर प्राय· सभी कवियो ने अपनी रचना प्रस्तुत की है। सूर एव परमानन्ददास के रासगीति मे भागवत की छाप स्पष्ट दिखाई पडती है। लीलामूलक अन्य काव्यो मे भागवत या भागवतसम्प्रदाय की ही प्रेरणा अधिक सक्रिय दिखाई पडती है। भागवतलीला से सम्बन्धित सस्कृत काव्यो का एक विशाल साहित्य मध्यकाल प्राय (१० वी से १२ वी शती) तक मिल जाता है। उज्ज्वलनीलमणि मे लगभग विभिन्न कृतियो से सम्बन्धित ६०० श्लोक कृष्ण की श्रृगारलीला से सम्बन्धित हैं। इनमे कतिपय कृष्णलीला सम्बन्धी स्वतत्र काव्यो के भी उल्लेख मिलते है।

चैतन्य सम्प्रदाय के भक्त कवि कृष्णलीला को ही अपने काव्य का विषय बनाते है। इस कृष्णलीला के अन्तर्गत वृन्दावन लीला ही अधिक महत्त्वपूर्ण रही है। इन काव्यो के वर्ण्यविषय के रूप मे कृष्ण की विलासजन्य आनन्दमयी लीला एव तत्सम्बन्धी भक्तिभावना अभिव्यक्त हुई है। इन काव्यो मे न केवल भक्ति अपितु काव्यजन्य रस एव श्रृगार सम्बन्धी भावनाओ की पूर्ण अभिव्यक्ति मिलती है। भक्ति परम्परा मे गृहीत होने के कारण इन्हे स्तोत्र या भक्तिविषयक साहित्य मात्र नही कहा जा सकता। ये काव्य अपने रूप, शिल्पविधान, छन्दयोजना, वस्तुचयन एव रूपसघटना सभी दृष्टियो से उत्तमकाव्य की कोटि मे आते है। इन काव्यो का प्रेरणास्रोत सस्कृत काव्य ही रहा है। यही कारण है कि इनकी दृष्टि काव्यमूलक अधिक है। कृष्ण के लीला विषयक ये पद नित्यसाधना के रूप मे अष्टकालिक लीला मे

---

१ यन्मडलेन नृत स्त्रीणा हल्लीसके तत्प्राहुः
तत्रैकोनेता स्याद् गोपस्त्रीणामिव मुरारि

प्रयुक्त होते थे। यह स्थिति बल्लभ एव राधावल्लभ सम्प्रदाय मे समान ही थी। इस दृष्टि से प्रणीतकाव्यो की स्थिति इस प्रकार है—कृष्णकौमुदी कविकर्णपूरगोस्वामी कृत, गोविन्दलीलामृत कृष्णदास कविराज कृत, कृष्णभावनामृत विश्वनाथ चक्रवर्ती कृत, सकल्प कल्पद्रुम जीवगोस्वामी कृत, सगीतमाधव प्रबोधानद सरस्वती कृत, गीतगोविन्द जयदेव कृत, दानकेलि चिन्तामणि रघुनाथदाम कृत, दानकेलिकौमुदी रूपगोस्वामी कृत, माधवमहोत्सव जीवगोस्वामी कृत आदि।

आरम्भ मे इन लीलाओ का स्रोत पुराणो मे खोजा जा सकता है। हरिवश, पद्म, ब्रह्मवैवर्त एव भागवत पुराणो मे प्राप्त कृष्ण की वृन्दावन की लीलाएँ इस युग मे लीलाविषयक काव्यो की प्रेरणास्रोत रही। चैतन्य सम्प्रदाय मे लीलाकाव्य की यह परम्परा ज्यो की त्यो हिन्दी मे चली आई। दूसरी ओर वल्लभ सम्प्रदाय के अन्तर्गत आचार्य वल्लभ ने भक्तो को दीक्षा देकर कृष्ण की अष्टकालिक लीला के अनुकूल पद रचना की प्रेरणा दी थी। आचार्य वल्लभ की यह प्रेरणा भागवत पर ही आधारित है। उन्होने स्वयं भागवत की पचलीलाओ पर पृथक् से भाष्य लिख कर उन्हे पूर्णरूपेण समादृत किया है। हिन्दी वैष्णव भक्तिकाव्य मे कृष्णलीला विषयक काव्यो की यह परम्परा अपने आप मे पूर्ण स्पष्ट है।

यदि इन लीलामूलक रचनाओ की विशेषता की ओर ध्यान दिया जाय तो उनकी स्थिति इस प्रकार होगी—

१—लीला विषयक इन कृतियो मे शृगार की अधिकता है।

२—इनमे भावात्मक तत्त्व अधिक है।

३—इन रचनाओ की विशेषता इनकी मुक्तात्मकता है।

मंगलकाव्य की परम्परा

लोककाव्य मध्यकालीन काव्यरूपो मे मगलकाव्यो का महत्त्वपूर्ण स्थान है। मगलकाव्यो की उत्पत्ति कैसे हुई इसके विषय मे अभी तक निश्चित साक्ष्य नही मिल सके है। डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी के अनुसार मगलकाव्य मे देवताओ का यश वर्णित है।[1] डॉ० सुकुमार सेन का विचार है कि इसके साथ ही साथ किसी न किसी देवता अथवा देवतुल्य मनुष्य की महिमा कीर्तित होती थी। इसीलिए काव्यो के नाम प्राय मगल अथवा विजय से

१, हिन्दी साहित्य का आदिकाल, पृ० १०३

सम्बन्धित होते थे। देव महात्म्य सम्बन्धी गीति के अर्थ मे 'मगल' शब्द का प्रथम व्यवहार जयदेव ने किया था।[1] डॉ० शिवप्रसाद सिह ने 'सूरपूर्व व्रजभाषा काव्य' मे मगलकाव्यो की ओर सकेत किया है। उनकी धारणा डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी से अभिन्न है।

जहाँ तक इतिहास का प्रश्न है डॉ० सेन ने देव महात्म्य गीति के सदर्भ मे जयदेव द्वारा मगलगीति गाए जाने का उल्लेख किया है। डॉ० द्विवेदी के अनुसार मध्यकालीन हिन्दी साहित्य मे मगल सम्बन्धी उपाख्यानमूलक काव्य अनेक मात्रा मे प्रचलित हो चुके थे। इसके लिए उन्होने रासो के विनयमगल तथा कबीर के आदिमगल, अनादिमगल एव अगाधमगल की चर्चा की है। उनके अनुसार मध्यकालीन वातावरण मे राजस्थान से लेकर बगाल तक मगलकाव्यो की सुनिश्चित परम्परा वर्तमान थी।[2]

बगला मे मगल साहित्य मध्यकालीन काव्यरूपो का मुख्य अंग रहा है। ये मगल काव्य इस प्रकार है–

श्री कृष्ण विजय या मगल,	मालाधर वसु १४७४ ई०
मनसामगल—विजयगुप्त	१४९५
मनसामगल—काणा हरिदत्त	१४ वी शती पूर्वार्द्ध
मनसामगल—विप्रदास पिपिलाई	१४९६
चडी मगल—अज्ञात	१५ वी शती
चडी मगल—माणिकदत्त	१६ वी शती आदि

एस० के० डे महोदय ने रूपगोस्वामी कृत एकादश श्लोको का 'स्मरण मगल' 'वैशनव फेथ एड मूवमेन्ट' नामक पुस्तक के अन्त मे प्रकाशित किया है। इसके प्रथम श्लोक मे उल्लेख है कि मगल का उद्देश्य कृष्ण की नित्य माधुर्यलीला का ज्ञान कराना है। प्राप्त सूचना के अनुसार यह सस्कृत काव्य का प्रथम मगलकाव्य है। इस प्रकार बगला साहित्य मे मगलकाव्य के मध्यकाल मे एक विशेष प्रकार की प्रशस्तिमूलक परम्परा वर्तमान थी। मध्यकालीन हिन्दी साहित्य मे भी मगलकाव्यो की एक निश्चित श्रेणी मिलती है। इन काव्यो की स्थिति इस प्रकार है—तुलसी कृत जानकी मगल, पार्वती

१ बगला साहित्य की कथा—डॉ० सुकुमार सेन, हिन्दी अनुवाद–श्री भोलानाथ शर्मा, पृ० ६

२. हिन्दी साहित्य का आदिकाल, १०३, १०४

मंगल, नन्ददास कृत रुक्मिणी मगल, तथा चतुर्भुजदास कृत हितू जू को मगल। मध्यकालीन हिन्दी वैष्णव भक्ति साहित्य मे मगलकाव्यो का प्रयोग एक विशिष्ट अर्थ मे हुआ है। तुलसीदास के अनुसार यज्ञोपवीत, विवाह एव उछाह उत्सव के समय गाए जाने वाले काव्यो को मगल कहा जाता है। उछाह के प्रसग मे प्रायः पुत्रोत्सव के अवसर पर मगल या मगलाचार के गाए जाने की ओर सकेत सूर, तुलसी, परमानन्ददास आदि करते है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि मध्यकालीन हिन्दी मगलकाव्यो मे विवाह, यज्ञोपवीत, एव उत्सव सम्बन्धी गान प्रचलित थे। इनमे मगल काव्य का प्रमुख स्थान था। इसके अतिरिक्त लौकिक प्रचलनो को आधार बनाकर मध्यकाल मे अन्य काव्य कभी प्रणीत हुए है, जिनका किसी पूर्ववर्ती परम्परा मे उल्लेख नही मिलता। तुलसीकृत रामलला नेहछू सोहलो, श्यामसगाई आदि काव्य तत्कालीन लोक प्रचलनो एव परम्पराओ के बीच से ही निकले है।

मंजरीकाव्य हिन्दी वैष्णव भक्तिकाव्य मे मजरी शीर्षक से अनेक काव्य मिलते है। मजरीमूलक काव्य की परम्परा का आरम्भिक सकेत राजशेखर (९वी शती) से मिलता है। इसके द्वारा प्रणीत सट्टक कर्पूरमजरी शृगारिकता से ही ओतप्रोत है। प्राकृतकाल मे आयण कवि विरचित (१३वी शती) विवेक मजरी नामक औपदेशिक कथा काव्य उपलब्ध होता है। परवर्ती प्राकृतकाव्य मे मजरी नामक दो और भी सट्टक प्राप्त होते है। वे है, क्रमश विश्वेश्वर रचित सिंगारमजरी एव नन्दनन्दकृत रगमजरी। सस्कृत के कथा साहित्य मे धनपाल (१००० ई०) कृत तिलकमजरी का भी उल्लेख मिलता है। मजरीमूलक इन कृतियो मे प्राय शृगार विषयक भावनाओ की प्रधानता है। इनमे नायक एव नायिका के परस्पर स्वच्छन्द प्रेम की कल्पनाएँ मिलती है। इसके साथ ही साथ इनमे पात्रो की स्थिति कल्पित है। ऐतिहासिक पात्रो का इनमे अभाव मिलता है। हिन्दी वैष्णव भक्ति काव्य मे प्राप्त मंजरी मूलक काव्य अधिकाश रूप से प्रेम प्रधान है। नायिका की स्थिति या काल्पनिक है या फिर पौराणिक चैतन्य सम्प्रदाय मे निर्मित। मजरीमूलक काव्य अधिकाश रूप से कृष्ण की प्रणयकथा पर आधारित है।

इन काव्यरूपो के अतिरिक्त तत्कालीन लोक परम्परा मे प्रचलित उत्सवो आदि को काव्यरूप के माध्यम से व्यक्त करने की एक पद्धति बन

चली थी। इस दृष्टि से सोहलो, नहछू, बधाई आदि के रूप मे काव्य यहाँ प्राप्त है।

मुक्तक काव्यरूप मुक्तक काव्यरूपो की परम्परा सस्कृत साहित्य मे आरम्भ से ही मिलने लगती है। काव्यरूपो के विकास के संदर्भ मे इस विषय पर अध्ययन किया जा चुका है। ये मुक्तक सख्यावाची अधिक है। भट्ट हरि कृत नीति, वैराग्य एव शृगार शतक त्रय, अमरुक कृत अमरुशतक एव आर्या-सप्तशती तथा गाहासतसई की परम्परा सख्यावाची मुक्तको से सम्बद्ध है। स्तोत्र साहित्य मे इस सख्यावाची मुक्तक काव्यो का अधिक विकास हुआ। सूर्यशतक, चडीशतक, चडी कुच पचासिका, आत्मशतक, निर्वाणशतक, भक्ति-शतक, चतुस्तव, जिनशतक आदि काव्य परवर्ती धार्मिक परम्परा मे प्राप्त होते है। हिन्दी वैष्णव भक्तिकाव्य मे प्राप्त सख्यावाची काव्यो के मूल मे यही परम्परा वर्तमान रही है। चैतन्य सम्प्रदाय के अन्तर्गत स्तोत्र, गीत एव विरुद काव्य की परम्पराएँ बहुत कुछ इसी से सम्बद्ध है।

मध्यकाल मे यहाँ मुक्तककाव्यो की एक विशिष्ट परम्परा चल पडी थी। इसका सम्बन्ध पूर्णरूपेण कृष्णभक्ति से था। इन काव्यो का मूल विषय कृष्ण-लीला है। ये काव्य इस प्रकार है—स्तवावली चैतन्यस्तव, गौरागस्तव, कल्प-द्रुम, राधिकास्तोत्रशत नाम, प्रेमाम्भोज मकरन्द, व्रजविलासस्तव, स्वनिया-मकदशक, विलापकुसुमाजलि, राधिकास्तव, उत्कठादशक, नवशतक, अभीष्ट-प्रार्थना, अभीष्ट सूचना, विशेषानन्दस्तोत्र, राधाकृष्णोज्वल कुसुमकेलि, स्तव-माला। इसी मुक्तककाव्य की परम्परा मे राधा कृष्ण विषयक अनेक अष्टक-काव्य भी लिखे गए। इनमे अजनवीनद्वन्द, हरिकुसुमस्तव आदि है। अन्य सख्यामूलक काव्यो मे त्रिभगपचक, चतुष्पुष्पाजलि, प्रणामप्रणय आदि का नामोल्लेख मिलता है। विरुद काव्य के अन्तर्गत गोविन्द विरुदावली, आनन्द-वृन्दावन, समय विरुदावली लक्षण, गोपालविरुदावली, निकुजकेलि विरुदावली तथा गौराग विरदावली का महत्त्वपूर्ण स्थान है।[1] मुक्तक स्तोत्रमूलक काव्यो की यह एक विशिष्ट परम्परा है। गीतिकाव्यो मे कीर्तनो की सख्या अधिक है। ये कीर्तन गौणीय सम्प्रदाय के वैष्णव भक्तो द्वारा पूर्णरूपेण स्वीकृत होते रहे है। इनमे सदूक्तिकर्णामृत, चैतन्य चरितामृत, गीतावली एव पद्मावली के नामोल्लेख महत्त्वपूर्ण है।

---

१. वैशनव फेथ एन्ड मूवमेन्ट, दे० लिट्रेरी वर्क

हिन्दी वैष्णव भक्तिकाव्य मे स्तोत्र, सख्यामूलक मुक्तकाव्य एव कीर्तन से सम्बन्धित गीत अधिक प्रणीत हुए है। कृष्णभक्ति साहित्य मे प्राप्त सम्पूर्णपदो का विभाजन कीर्तन के ही दृष्टिकोण से किया जाता है। भक्तिकाव्य मे प्राप्त सख्यामूलक काव्य भी इसी परम्परा की प्रत्यक्ष कडी के रूप मे दिखाई पडते है।

हिन्दी वैष्णव भक्तिकाव्य मे छन्दमूलक काव्य भी वर्तमान है। दोहावली, कवितावली, बरवैरामायण आदि इसी के अन्तर्गत रखे जा सकते है। इसका सम्बन्ध सस्कृत के छन्दमूलक मुक्तककाव्य की परम्परा से है। आर्यासप्तशती, गाथा सप्तशती आदि इस परम्परा के आरम्भिक काव्य कहे जाते है।

इस प्रकार हिन्दी वैष्णवभक्तिकाव्य के काव्यरूपो की परम्परा अत्यधिक प्राचीन ज्ञात होती है। क्षेत्रीय भक्ति आन्दोलनो के फलस्वरूप अभिव्यक्ति के क्षेत्र मे स्वीकृत समस्त काव्यरूप भक्त कवियो द्वारा किंचित सशोधन के साथ स्वीकृत हुए। इस प्रकार काव्यरूप विषयक इनके प्रयोग पूर्ववर्ती परम्परा से सम्बद्ध है।

———

अध्याय ७

भक्तिकाव्य का काव्यशास्त्रीय अध्ययन

भक्तिकाव्य मे काव्यरस का उल्लेख

इस सन्दर्भ मे वैष्णव भक्त कवियो के रस सिद्धान्त की विवेचना की जा चुकी है। यह दृष्टिकोण भक्तिमूलक ही अधिक है, किन्तु इसके अतिरिक्त भी वैष्णव भक्तिकाव्य मे रस सम्बन्धी काव्यशास्त्रीय सकेत मिलते है, जिनसे उनके कलात्मक दृष्टिकोण का अनुमान सरलता से लगाया जा सकता है। मानस मे काव्यरस का अनेक स्थलो पर उल्लेख है, एक स्थल पर कवि के द्वारा सम्पन्न होने वाले अनन्त भावभेद एव कतिपय रसभेद की चर्चा की गई है।[1] एक अन्य स्थल पर, कवित्वरस की चर्चा मिलती है।[2] मानस रूपक के सदर्भ मे कवि ने नवरस जप तप जोग वैराग्य आदि की भी चर्चा की है।[3] इसके साथ ही वह यह भी कहता है कि रामचरित से आनन्दित होने वाले के

---

१. भावभेद रस भेद अपरा। कवित्त भेद गुन विविध प्रकारा। मानस बालकाड, दो० स० ६

२. जदपि कवित रस एकउ नाहीं। राम प्रताप प्रकट यहि माहीं। दो० स० १० की चौपाई

३ नवरस जप तप जोग विरागा। ते सब जलचर चारु तडागा। दो० स० ३८ की चौपाई

लिए रस विशेष अर्थात् काव्यरस के ज्ञान की आवश्यकता नही है ।[१] बालकाड मे कवि ने शकर की तपस्या को शान्तरस से उपमित किया है ।[२] धनुष भग के प्रसग मे कवि ने रसरूपो की ओर सकेत करके राम को रसो का समुन्चय स्वीकार किया है। चूँकि रस मानव भावनाओ के अग है फलत विभिन्न परिवेश मे राम के व्यक्तित्व की रस मूलकता का बोध कराना कवि को यहाँ अभीष्ट है। इस प्रसग मे वीर, भयानक, शृगार, अद्भुत, वात्सल्य एव शान्तरस का सकेत प्राप्त है। विभिन्न प्रमाता राम के व्यक्तित्व मे विभिन्न भावो के आरोपण से इस प्रकार का भाव बोध करते है। लक्ष्मण शक्ति के प्रसग मे कवि रस मिश्रण की चर्चा करता है। उसने हनुमान के पर्वत सहित आगमन को करुणरस मे वीररस की निष्पत्ति के समान बताया है

प्रभु प्रलाप सुनि कान, विकल भए बानर निकर।
आइ गयेउ हनुमान, जिमि करुणा मह बीर रस।[४]

उत्तरकाड मे भी कवि ने राम और भरत के सम्मिलन के लिए भावनाओ का मूर्तीकरण प्रस्तुत करता है । वह उनके सम्मिलित रूप को प्रेम एव शृगार रस का सम्मिलन कहता है।[५] तुलसी की अन्य रचनाओ मे आनन्द एव प्रियता के अर्थ मे अनेक स्थलो पर रस शब्द का प्रयोग मिलता है। इस दृष्टि से भक्तिरस, लीलारस, अमृतरस, मधुर द्रव पदार्थ, परमार्थरूप एक रस, रासरसिकरस का प्रयोग प्राप्त है। काव्य के सम्बन्ध मे कृष्णगीतावली मे दो स्थलो पर सकेत मिलता है। एक स्थल पर वे कृष्ण के माधुर्य चित्रण से उत्पन्न रस की तुलना मे अन्य रस को गूलर की भाँति निरर्थक तथा दूसरे स्थल पर कृष्ण की रूपमाधुरी से अपना ध्यान हटाने को रसभग

---

१. रामचरित जे सुनत अघाही । रस विसेस जाना तिन नाही।
उत्तरकाड, दो० स० ५३

२ बैठे सोह कामरिपु वैसे। धरे सरीर सान्त रस जैसे। बालकाड, दो० स० १०७

३ देखहि रूप महा रनधीरा। मनहुँ वीर रस धरे सरीरा।
डरे कुटिल नृप प्रभुहिं निहारी। मनहुँ भयानक मूरति भारी।
नारि बिलोके हरसि हिय, निज निज रुचि अनुरूप।
जनु सोहत सिंगार धरि, मूरति परम अनूप।
आदि मानस बालकाड, दो० स० २४१, २४२

४ मानस लकाकाँड, दो० स० ६१

५. मानस उत्तरकाँड, दो० स० ५

बतलाते है।[1] दोहावली मे कवि पुन कहता है कि रसो के अनेक रूप है तथा भोक्ता भी अनेक प्रकार के है। किन्तु रसिक रस रीति का ज्ञाता एव रस गुण दोष का विचारक कोई विरला ही होता है।[2] तुलसी की भाँति सूर-साहित्य मे काव्य रस का उल्लेख प्राप्त है। एक स्थल पर रस मे ढलने वाले रसिक की चर्चा उन्होने की है। उनके अनुसार कृष्णानन्द का आस्वाद रस का मूल कारण है। इस प्रकार यहाँ रसिक एव रस का परस्पर सम्बन्ध बताना कवि को अभीष्ट है।[3] शृगार सम्बन्धी तीव्रभाव को व्यक्त करने के लिए कवि ने अनेक स्थलो पर रस शब्द का प्रयोग प्रेम एव आनन्द के अर्थ मे किया है। ये उल्लेख इस प्रकार है—

१ सूर प्रभु रस भरी राधा दुरत नही प्रकास।[4]
२ या रस ही मे मगन राधिका चतुर सखी तब ही लखि लीन्ही।[5]
३ तुम अब प्रगट कही मो आगे स्याम प्रेम रस माची।[6]
४ कहाँ कहौं दरसन रस अटक्यौ बहुरि नही घर आयो।[7]
५ माखन की चोरी सहि लीनी बात रही वह थोरी।
सूरस्याम भयो निडर तबहि ते गोरस (इन्द्रियरस) लेत अजोरी।[8]
६ भय चिन्ता हिरदे नहि, स्याम रग रस पागी।[9]
७ सूरदास प्रभु नन्द नन्दन को, रस लै लै डारौगी।[10]
८ स्याम रस भरे मदन जिये डरे, सुन्दर बात को भेद पायी।[11]

इस प्रकार राधा और कृष्ण के सयोग चित्रण मे कवि ने 'रस' शब्द का प्रयोग अनेक स्थलो पर किया है। ये प्रेम शृगारमूलक प्रेम, क्रीडा एव

---

१ कृष्णगीतावली पद स० ४४ तथा ५४
२ जो जो जेहिं जेहिं रस भजन तह सौ मुदित मनमानि
रस गुन दोष विचारिये रसिकरीति पहिचानि। दोहावली, दो०, स० ३७१
३ यह गति मति जाने नहिं कोऊ किहिं रस रसिक ढरै। सूरसागर अध्याय २, छ० स० ३५
४. सूरसागर दशमस्कन्ध पद स० २४७३
५ ,, वही, २४६८
६: ,, वही, २४७८
७ ,, वही, २५०७
८. ,, वही, २५१२
९ ,, वही, २५२७
१०. ,, वही, २५५४
११ ,, वही, २५६७

तज्जन्य आनन्द से ही सम्बन्धित है। अध्याय ३ के अन्तर्गत इस विषय पर विचार किया जा चुका है। सूर के सयोग एव वियोग चित्रण से स्पष्ट है कि उन्हे रस सिद्धान्त का पूर्ण ज्ञान था। शृगार के छोटे से छोटे मनोभाव को लेकर कवि ने उससे सम्बन्धित अभूतपूर्व चित्रण प्रस्तुत किया है। शृगाररस मे प्रयुक्त होने वाली मनोभावसूचक शब्दावली एव चेष्टाओ का स्पष्ट उल्लेख सूरसागर मे मिलता है। सयोग शृगार के पक्ष मे निम्न शब्दावली सूरसागर मे प्राप्त है–पुलक, रोमाच एव कटकित होना, प्रेमश्रम, स्वेद[1], आत्मविस्मृति, बकविलोकनि, चित का चुराया जाना, बिवशता, ज्ञान-ध्यान का हरा जाना, जडता,[2] अनुराग से भर जाना, गदगद को उठना, गुप्त प्रीति, रस कथा का बखान करना तन मान प्राण समर्पण, रति वचन, अग खडन, अधर खडन[3], काम द्वन्द एव विरह दुख का हरण, बहुरमणी रमण कृष्ण को अक मे लगा लेना, मदन से पीडित होना, रति युद्ध, रस विरह मग्न होना, गूढभाव का सकेत आदि। सूर साहित्य मे प्रयुक्त प्रेममूलक शब्दावली से स्पष्ट है कि शृगार रस का सम्पूर्णत ज्ञान सूरदास को था। विप्रलम्भ शृगार के चित्रण मे भी यही मनोभाव यहाँ मिलता है। उन्हे शृगार रस की सम्पूर्ण शब्दावली का ज्ञान था, काव्य मे प्रयुक्त होने वाली शृगार की प्रत्येक अवस्थाओ से वे भली भाँति परिचित थे।

सूर ने रस शब्द का प्रयोग भक्तिजन्य आनन्द मे भी किया है। इस दृष्टि से लीलारस, अमृतरस, महामधुर रस आदि शब्दो का प्रयोग सूरसागर मे मिलता है। सूर के कूटो मे शृगार रस विषयक नायिका-नायक भेद का उल्लेख है।[4]

नन्ददास साहित्य मे काव्यरस की स्थिति पूर्णतया स्पष्ट है। उन्होने रस को आधार मानकर विरह मजरी एव मानमजरी की रचना की है। इन दोनो कृतियो से पृथक् भी वे काव्यरस का उल्लेख कई स्थलो पर करते

---

१ कछु वे कहत कहू नहिं आवत, प्रेम पुलक स्रम स्वेद चुई, सूरसागर पद स० २४७३

२ तदपि सूर मेरी जडता प्रभु मगल माभ्फ गनी–२४६८

३ खडौं एक अग कछु तुम्हरौ, चोरी नाउँ मिटाऊ–२५५५

+ + +

खडौ अधर भूलि गौरस रस हटौं न काहू कौ री–२५५६

४ मन मृग वेध्यौ नैन बान सो।

गूढ भाव को सैन अचानक, तकि ताक्यो भृगुटी कमान सौं। प० स० २५६२

है। शृगार के लिए उन्होने प्रेमरस की शब्दावली का प्रयोग किया है।[1] श्री-कृष्ण सिद्धान्त पचाध्यायी मे उन्होने भक्ति रस तथा शृगार रस को परस्पर पृथक् प्रवृत्ति का बताया है। उनके अनुसार सिद्धान्त पचाध्यायी मे जो शृगार रस समझता है वह पडित भक्ति का भेद नही समझ सकता।[2] उन्होने अनेकार्थ-मजरी मे रसिक का अर्थ विज्ञ बताया है।[3]

रसमजरी पूर्णरूपेण काव्यशास्त्रीय रचना है। रचना से स्पष्ट है कि कवि रस का निष्णात् पडित था। उसने किसी भी अपनी पूर्ववर्ती रस सम्बन्धी काव्यशास्त्रीय रचना को इसके लिए आधार नही बनाया है। भानु-दत्त की 'रसमजरी' से इसका कोई सम्बन्ध नही है। कवि इस ग्रन्थ की रचना का प्रयोजन अपने एक अज्ञ मित्र को रस का ज्ञान कराना बतलाता है। यह रस ज्ञान 'नायिकाभद' से सम्बन्धित है। कवि आरम्भ मे 'रस मजरी' के वर्ण्य विषय की ओर सकेत करके उसके नायक-नायिका भेद, हाव भाव हेलादिक तथा रति के वर्णन की ओर अपनी सजगता प्रकट करता है।[4] नन्ददास के द्वारा दी गई परिभाषाएँ अधिक महत्त्वपूर्ण नही कही जा सकती, क्योकि कवि की दृष्टि मे विषय विभाजन प्रमुख रहा है। सम्भवत वह अपने मित्र को 'नायक-नायिका भेद' से परिचित कराना चाहता था, फलत विस्तार मे न जाकर वह सामान्य परिभाषाओ एव प्रचलित वर्गीकरणो की ही ओर अधिक सजग है। उसकी कुछ परिभाषाएँ इस दृष्टि से देखी जा सकती है।

भाव

भाव की नन्ददास ने यह परिभाषा की है—

प्रेम की प्रथम अवस्था आई। कवि जन भाव कहत है ताही।

---

१ रूप भरी गुन भरी पुनि परम प्रेम रस। पक्ति स० १०१ रासप चाध्यायी, प्रथम अध्याय

× × ×

तैसेहि रचक विरह प्रेम के पुज बढत अग अग। द्वितीय अध्याय

२. जे पडित शृङ्गार प्रेम के, ग्रन्थ मत यामे साने।
ते कछु भेद न जाने हरि को विषई माने। सिद्धान्त पचाध्यायी पक्ति ९७, ९८

३ कृती कुशल कोविद निपुन पटु प्रवीन निष्णात।
पर विदग्ध नागर कोऊ जाने रस की बात। अनेकार्थमजरी।

४ एक मीत हमसो अस गुन्यो, मै नाइका भेद नहि सुन्यो।
अरु जु भेद नाइक के गुने, तेहूँ मैं नीके नहि सुने।
हाव भाव हेलादिक जिते, रति समेत समझावहु तिते। दो० स० ८ की अर्धालियाँ

हाव

नैन बैन जब प्रगटे भाव, ते भल सुकवि कहत है हाव ।

हेला

खन खन रूप बनायो करे, बार बार दर्पन धरे ।
अति सिंगार मगन मन रहै, ताकहु कवि हेला छवि कहै ।

रति

रति की परिभाषा अत्यन्त सामान्य है। उसने भाव के स्थान पर अवस्था का चित्रण कर दिया है :

जाके हिय मे रति सचरे । निरस वस्तु सब रस मय करे ।
जैसे निम्बादिक रस जिते । मधुर होहि मधु मे मिलिहिते । आदि ।

नन्ददास की इन परिभाषाओ से स्पष्ट है कि वस्तु का उसे भली भाँति ज्ञान है । भाषा आदि के अभाव मे वह उनको पारिभाषिक रूप न दे पाया है—यह दूसरी बात है ।

विरह मजरी शृगार रस के वियोगपक्ष से सम्बन्धित है । प्राय मध्यकाल मे भक्तिकाव्य की व्याख्या के लिए एक नवीन सिद्धान्त की आवश्यकता प्रतीत हुई थी, क्योकि पूर्ववर्ती काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तो से भक्ति काव्यो की सम्पूर्णत व्याख्या सम्भव नही थी । विरह मजरी के मूल मे यही दृष्टिकोण परिलक्षित है । नन्ददास इसमे अपनी पूर्ववर्ती परम्परा मे प्राप्त विप्रलम्भ के स्वरूप एव भेदो पर आश्रित न रहकर कृष्णभक्तिकाव्य मे प्राप्त विरह के स्वरूप को उसके विवेचन का आधार बनाते है । इस दृष्टि से उन्होने विरह को चार भागो मे विभक्त किया—प्रत्यक्ष, पलकान्तर, वनान्तर, एव देशान्तर विरह । इस विप्रलम्भ भेद को उन्होने ब्रज का विरह भाव कहकर पुकारा ।[1]

मान मजरी की स्थिति पूर्णरूपेण काव्यशास्त्रीय मान्यता पर आधारित है । मानिनी एव मान की स्थिति तथा शब्दकोश दोनो का एक साथ निर्वाह कराना यहाँ कवि का मूल प्रयोजन है ।

---

१ ब्रज में विरह चारि परकारा । जानत हैं जो जाननहारा ।
प्रथम प्रतच्छ विरह तू गुनि ले, तातें पुनि पलकान्तर सुनि लै ।
तिसरौ विरह बनान्तर भये, चतुरथ देशान्तर के गये ।
प्रतच्छि विरह के जु निअवलच्छन, चकित होंत तह बडे विचच्छन । पक्ति २०, २४

परमानन्ददास, भक्त कवि व्यास एव अन्य भक्त कवियो के काव्यो मे रस विषयक सामान्य उल्लेख मिलते है । भक्त कवि व्यास ने शृगार रस का सकेत अपने पदो मे किया है । उसने शृगार लीला के आरम्भ मे अपना दृष्टिकोण प्रकट करते हुए शृगार रस की लीला करने वाले कृष्ण को ही परम उपास्य बताया है—

परिरम्भन चुम्बन धन सग्रह, अधर सुधा आधार ।
मन्दहास अवलोकनि अद्भुत, उपमत मदन विकार ।
सरब रूपगुन नागर आगर, वैभव अकह अपार ।
यह रस नित पीवत जीवत हैं, उदास बिसरि ससार ।[1]

शृगार रस की सम्पूर्ण स्थिति भक्त कवि हरिराम व्यास के पदो मे पाई जाती है । इनके शृगार विषयक पदो के शीर्षक इस प्रकार है—प्रातः सेज्या विहार, सुरतान्त मनन विहार, रसोद्गार, वसन, स्नानममय, रतिक्रीडा, रसावेश, चरणस्पर्श रस, स्तुतिरस, भेषपलट, आतुररस, रस रास, सभ्रममान, अभिसार, चोज वचन, सेज्यारस, विपरीत विहार, सुरतियुद्ध आदि इन प्रसगो से स्पष्ट है कि इन कवियो की दृष्टि पूर्णरूपेण शृगारिकता की ओर उन्मुख होती गई है । भक्तिकाव्य मे प्रेमचित्रण के दो स्तर है, एक स्तर पर कवि लौकिक शृगार से सम्बन्धित का भावो आध्यात्मीकरण करता है, किन्तु दूसरे स्तर पर वह उन्हे पूर्णरूपेण शृगार की ही स्थिति मे छोड देता है । भक्ति के सदर्भ मे इनकी नैतिकता एव अनैतिकता का प्रश्न उठाया जा सकता है, किन्तु काव्य की दृष्टि से इन्हे शुद्ध शृगार के अन्तर्गत रखा जा सकता है । कही-कही अतिशय शृगारिकता के कारण अश्लीलत्व दोष आ गया है—

आजु लवगलता गृह राजत कुंज विहारी,
कुसुम निकट सजि ललित सेज रचि नख शिख कु वरि सिंगारी ।
प्रथम अग प्रति अग बारि सङ्ग करि मुख चुम्बन सुखकारी ।
तब कचुकि बन्द खोलत बोलत चाटु बचन दुतिहारी ।
हस्त कमल करि विमल उरज धरि हरि पावत सुखभारी ।
आदि आदि ।[2]

परमानन्ददास के काव्य मे रस का सामान्य उल्लेख मिलता है । उनके अनुसार मानजन्य आनन्द ही रस है । इस रस मे सहायक अग-प्रत्यग भी

१ व्यास वाणी, वन्दना, प० स० १
२. भक्त कवि व्यास जी, प० स० ३२

रस है। इस दृष्टि से आखिरस, कन (कर्ण) रस, बतरस, सबरस, नन्दनन्दन कृष्ण मे पाए जाते है।[1] शृगार सदर्भ मे उन्होने सुरत समागम रस, प्रेमरस, सर्वरस, शृगाररस, विवसरस, रासरस, आदि का उल्लेख किया है। कुम्भनदास, छीतस्वामी, गोविन्दस्वामीदास आदि भक्त कवियो के पदो मे रस के ये ही सामान्य उल्लेख प्राप्त है। काव्य विषयक उल्लेख अत्यल्प है। इनकी रस सम्बन्धी यह शब्दावली शृगार, आनन्द, सुख, प्रेम आदि की वाचक है। काव्यरस के उल्लेख भक्तिकाव्य मे सीमित मात्रा मे है। नाभादास ने जयदेव, चैतन्य के शिष्य नित्यानन्द, वल्लभ तथा नन्ददास, के सम्बन्ध मे काव्यरस की चर्चा की है। इससे स्पष्ट है कि ये भक्त कवि अपने काव्य के द्वारा लीला विषयक शृगार का पोषण करना चाहते थे।[2]

निष्कर्ष

भक्त कवियो द्वारा काव्य रस का प्रयोग अवश्य हुआ है, किन्तु किसी भी कवि ने अपने काव्य मे उनकी प्रमुखता नही स्वीकार की है। तुलसी ने नवरस की चर्चा मानस मे की है, किन्तु वह अत्यधिक गौण है। रस विषयक अन्य शब्द प्रयोग मात्र कृष्ण की शृगार लीला से सम्बन्धित है। रामभक्ति शाखा के रसिकोपासक कवि भी रस शब्द के इसी प्रयोग के समर्थक है। नन्ददास ने रस निरूपण अवश्य किया है, किन्तु उसमे नायक-नायिका भेद, हाव-भाव, हेला, रति तथा शृगार रस की ही स्थिति प्रयुक्त है।

भक्तिकाव्य मे शृंगार स्वरूप

भक्तिकाव्य मे व्यवहृत शृगार की प्रवृत्ति तीन प्रकार की है :

१ **भक्ति आदि सात्विक भावो से शासित शृगार**

२ **आध्यात्मिकता की ओर उन्मुख शृगार**. इस शृगार का वातावरण पूर्णत लौकिक है, किन्तु कवि की प्रवृत्ति इस शृगार को आध्यात्मिकता प्रदान करने की नही है।

३ **शुद्ध शृगार** यह कृष्ण या राम की विभिन्न शृगारमूलक लीलाओ पर आश्रित है।

---

१ परमानन्दसागर, प० स० ४५०

२. भक्तमाल प० स० ३९, ७२, ८८, ११०

भक्ति आदि सात्विक भावो से शासित शृगार इस शृगार की अभिव्यक्ति रामचरित मानस एव सूरसागर मे मिलती है। मानसकार की दृढ धारणा है कि आराध्य एव उनकी शक्ति माता-पिता के तुल्य है। फलतः भक्त के लिए इनकी रति का चित्रण अपेक्षित नही है।[1] यद्यपि शृगार रस विषयक अनेक अवसर मानस मे आते है, जहाँ खुलकर शृगार चित्रण किया जा सकता है, किन्तु कवि ने अपने नैतिक विवेक को ऐसे स्थलो पर अधिक जागरुक रखा है। इसी सजगता की दृष्टि को ध्यान मे रखकर मानस एव सूरसागर के कतिपय प्रसगो से इस तथ्य को सरलता से पुष्ट किया जा सकता है।

शृगार रस का आध्यात्मीकरण : वैष्णव भक्तिकाव्य की पृष्ठभूमि धार्मिक या दूसरे शब्दो मे आध्यात्मिकता हे। कृष्ण या राम की लीला लोकिक है। लौकिक लीला का वर्णन आराधक कवि का इष्ट है। इस लौकिक लीला मे आध्यात्मिकता के भाव का आरोपण किस प्रकार कराया जाय भक्तिकाव्य के लिए यह भी एक प्रमुख समस्या रही है। इसके लिए एक उपाय तो वह है जिसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है, किन्तु चरितात्मक काव्यो मे ही यह सम्भव हो सकना है। लीलामूलक मुक्तक काव्यो के लिए रस की प्रधानता आवश्यक है। इस दृष्टि से शृगार इसका मुख्य भाव अवश्य होगा, किन्तु भक्ति काव्य के पाठक मात्र इसी शृगार मे डूब न जायें, इससे बचाने के लिए इन कवियो ने शृगार चित्रण मे आध्यात्मीकरण की प्रवृत्ति दिखाई है। इस प्रकार की प्रवृत्ति अष्टछाप के पद साहित्य मे विशेष रूप से द्रष्टव्य है।

राधा कृष्ण के उद्दीपन सयोग शृगार के कृष्ण काव्य अनेक रूपो मे मुखरित है। सभोग की अनेकानेक अवस्थाएँ यहाँ प्राप्त हो जाती है। ये कवि अपने काव्य का आरम्भ प्रथम दर्शन से करके राधा कृष्ण की प्रेम-पिपासा की रति-सुरति मे विहार करते है। अष्टछाप के सभी कवियो की दृष्टि प्राय इसी प्रकार की मिलती है।

नायिका कृष्ण के स्वरूप को देखकर नायिका राधा मुग्ध हो जाती है। प्रथम दर्शन मे ही वह उनके हाथो बिक उठती है। उनका मुकुट, कच, भाल, तिलक, कुन्डल, वक्ष, हास, नासिका, मुरली, अधर, दसन,

---

१ जगत मातु पितु शम्भु भवानी, तेहि सिगारु न कहउ बखानी। मानस, बालकांड दो० स० १०३

चिबुक, भुजा, पीतपट, कनक मेखला, जघ, जानु आदि सभी सुन्दर लगने लगता है ।[1] कृष्ण का सौन्दर्य अत्यधिक आकर्षक था । इस सौन्दर्य के प्रति नायिका के प्रेम भाव जाग्रत होते है । वे मुग्ध हो जाती है । उनका चित्त चुरा लिया जाता है, उस स्वरूप पर वे ललचा उठती है । रूप को देखकर चित्रवत हो जाती है । कृष्णस्वरूप को देखकर वे नही सोच पाती कि यह रात्रि है या दिन, स्वप्न है या जागरण, सभ्रम है या चेतना ।[2] रूप दर्शन के समय पलक निमेष को युग के समान समझना, मदन के वाण से विद्ध, कृष्ण के मुख सरोज के लिए राधा के नयन का मृग बन जाना, मन का पगु हो जाना, पाँवो का लडखडा जाना, रोम-रोम मे लोचन लगाकर कृष्ण का रूप देखना, एक-एक अग से कृष्ण की छवि का पान करना, अमृतसिन्धु मे हिलोरें लेना, अग-अग का बिध जाना उनके अग-प्रत्यग के दर्शन की तीव्र लालसा, उनके स्वरूप को देखकर आत्मविभ्रम आदि भाव जाग्रत होते है ।

काव्यशास्त्रीय दृष्टि से इन भावो को रति के सचारी विभिन्न भावो मद, गर्व, आवेग, उन्माद, विरह, औत्सुक्य, हर्ष, स्नेह आदि के अन्तर्गत रखा जा सकता है ।

नायक पक्ष कृष्ण भक्त कवियो ने नायक आरब्ध शृगार को गौण रखा है, किन्तु अनेक स्थलो पर उनका व्यक्तित्व उभर पडा है । प्रथम दर्शन के बाद दोनो का एकाएक मिलन हो उठता है । कृष्ण ने राधा को अक मे भर लिया, अधर से अधर नेत्र से नेत्र, हृदय से हृदय, कठ से कठ, भुजा से भुजा मिल जाते है ।[3] इस गूढ आलिगन के बाद कृष्ण ने राधा को कुज गृह मे चलने

---

१. सुन्दर मुकुट कुटिल कच सुन्दर, भाल तिलक छवि धाम ।
सुन्दर भुव, सन्दर अति लोचन, सुन्दर अवलोकनि विश्राम ।
अति सुन्दर कुडल स्रवननि पर, सुन्दर झलकनि रीझत काम ।
सुन्दर हास नासिका सुन्दर, सुन्दर मुरली अधर उपाम ।
सुन्दर दसन चिबुक अति सुन्दर, सुन्दर हृदय विराजत राम ।
सुन्दर जघ जानु पद सुन्दर सूर उधारन सुन्दर नाम । सूरसागर प० स० २४४३

२ तब तकि जकि ह्वै रही चित्र सी, पलन लगत दिन चैन ।
सुनहु सूर यह साच कि सभरम सुपन किधौ दिन रैन । सूरसागर प० स० २४२२

३. समुझि न परत प्रगट ही निरखत, आनन्द को निधि खानि ।
सखि यह विरह सजोग की समरस सुख दु ख लाभ कि हानि ।
मिटति न घृत है होम अगिनि रुचि सूर सु लोचन बानि ।
इत लोभी उत रूप परम निधि, कोउ न रहत मिति मानि ।

सूरसागर, प० स० २४७०

के लिए सकेत किया ।[1] इसके बाद दोनो कु ज मे मिलते है ।

१—शृगार विषयक इन पदो के बीच मे कवि कृष्ण की शक्ति, ऐश्वर्य एव ब्रह्मत्व का सकेत करता चलता है ।

२—पद के अन्त मे कुछ ऐसे गूढ सकेत दे देता है, जिससे भावविह्वल पाठक की दृष्टि शृगारोन्मुख होने से बच जाती है ।[2]

विप्रयोग शृगार के अन्तर्गत भी प्राय आध्यात्मीकरण की प्रवृत्ति की यही स्थिति है ।

शुद्ध शृगार रस हिन्दी वैष्णव भक्तिकाव्य के रसिकोपासक कृष्ण एव राम भक्ति साहित्य मे शुद्ध शृगार की स्थिति प्राप्य है । इस दृष्टि से राधावल्लभी, हरिव्यासी तथा हरिदासी एव रसिकोपासक रामभक्ति शाखा का काव्य भक्ति के अन्तर्गत शुद्ध शृगार रस-निरूपण का आधार है । सूर आदि लीलाप्रिय कवि इसके अपवाद नही है । शुद्ध शृगार रस चित्रण की प्रवृत्ति का विकास सूर एव परमानन्ददास के ही साहित्य से आरम्भ हो जाता है । चैतन्य-सम्प्रदाय के प्राप्त लीला विषयक पदो मे शुद्ध शृगार का भावप्राधान्य मिलता है । भक्ति का आध्यात्मिक पक्ष यहाँ इतना गौण हो चुका है कि वह शायद ही कही स्पष्ट हो सके । इस दृष्टि से इस विषय मे प्राप्त पद द्वारा उदाहरण देकर उनके भावो की ओर सकेत कर देना मात्र पर्याप्त होगा क्योकि उदाहरण मे प्राप्त पदो की सख्या पर्याप्त है ।

शृंगार रस

नायक	**कृष्ण या राम**
नायिका	**राधा या सीता**

नायक के सखा कृष्ण के साथ श्रीदामा, अर्जुन, सुबल आदि अष्टसखा तथा राम के साथ उनके भाइयो का उल्लेख ।

नायिका के साथ सखियाँ राधा के साथ ललिता, प्रमदा, सुषमा, चन्द्रावली, विशाखा आदि का उल्लेख मिलता है और सीता के साथ अष्ट मजरियो

१ विहसि राधा कृष्न अक लीन्हीं
अधर सौं अधर जुरि, नैन सौं नैन मिलि, हृदय सौं हृदय लगि हरषि कीन्ही
क ठ भुज भुज जोरि, उछ ग लीन्हीं नारि, भुवन दु ख टारि सुख दियो भारी
हरषि बोले श्याम, कुन्ज बन धाम, जहाँ हम तुम सग मिले प्यारी, सूरसागर, प० सं० २५६६

२ विशेष के लिए देखिए, अध्याय ५, शृगार भाव का आध्यात्मीकरण

के विभाव कायिक, वाचिक, मानसिक, गुण वय, वयस्सन्धि, मानसिक प्रियता के अन्तर्गत रूप, माधुर्य, प्रियता, लावण्य, भाव, अभिरूपता आदि की ओर आसक्ति तथा कृष्ण चरित्र के अन्तर्गत रास, फाग, कन्दुक, ताण्डव, वेणु, गोदोहन, वन गमन तथा वनागमन, गोधूलि, मोरचन्द्रिका, पीताम्बर, वनमाल, चन्दन लेपन, गोरोचन-गीत, गु जमाल, लकुटी, वृन्दारण्य आदि आते है। इसके उद्दीपक तत्त्वो मे कृष्ण की तिरछी दृष्टि, त्रिभगी रूप, खग, मृग, भृ ग, कुज, लता, कर्णिकार, कदम्ब, मालती, यमुना, चन्द्रिका, मेघ, विद्युत, वर्षा, वसन्त, शरत्, पूर्णसुधाशु, सुगन्धित वायु आदि प्रयुक्त है।

अनुभाव अगज अलकारो मे समस्त शास्त्रीय तत्त्व भक्तिकाव्य मे प्राप्त शृगार मे वर्णित है। हाव, भाव एव हेला तथा स्वभावज मे लीला, विलास, विच्छिति, विभ्रम, किलकिंचित, मोट्टायित, कुट्टमित, विव्वोक, ललित तथा विकृति आदि के भाव यहाँ प्रयुक्त मिलते है। यत्नज अलकारो मे शोभा, कान्ति, दीप्ति, माधुर्य, प्रगलभता, औदार्य एव धैर्य के भाव वर्तमान है।

उद्भास्वरो मे नीवी उत्तरीय, धम्मिल का खिसकना तथा जृम्भा आदि भावो के अनेक जीवन्त उदाहरण भक्तिकाव्य मे वर्तमान है। वाचिक उद्भास्वर के अन्तर्गत विशेष रूप से वनान्तर एव देशान्तर विरह की स्थिति मे विलाप, सलाप, प्रलाप, अनुलाप, अपलाप एव सदेश सभी स्थितियाँ भक्तिकाव्य के शृगार मे प्रयुक्त है।

भक्ति काव्य के प्राप्त शृगार विषयक भाव शृगार काव्य की तुलना मे कम नही है। सम्पूर्ण भक्ति काव्य मे शृगार के विषय मे ये सचारी भाव प्राप्त है—विषाद, दैन्य, दु ख, ग्लानि, श्रम, सताप, गर्व, शका, त्रास, आवेग, उन्माद, अपस्कार, व्याधि, मोह, अवहित्था, जडता, स्मृति, वितर्क चिन्ता, हर्ष, मति, धृति, सौभाग्य के कारण उत्पन्न असूया, राग से उत्पन्न चपलता, श्रम से उत्पन्न निद्रा आदि। मरण सचारी भाव का स्पष्ट उल्लेख नही मिलता किन्तु अनाथ होने के कारण मृत्यु सचारी का आभास मात्र मिलता है।

शृगार की ध्वनि शृगार वस्तुत विषयोन्मुखी भाव है जबकि भक्तिकाव्य का उद्देश्य विषयोन्मुखी प्रवृत्ति को ईश्वरोन्मुख करना है। इस प्रकार शुद्ध-शृगार की स्थिति भक्तिकाव्य शास्त्रीय दृष्टि से क्या होगी ? इसका समाधान ध्वनि सिद्धान्त के आधार पर दिया जा सकता है। ध्वनि सम्प्रदाय वस्तु एव ध्वनि को दो पृथक् तत्त्व के रूप मे स्वीकार करता है। उसके अनुसार भक्ति-

काव्य मे प्रयुक्त शृगार वस्तु है और उससे उत्पन्न सात्विकता या ईश्वरोन्मुख भाव ध्वनि है। इस प्रकार शृगार को प्रकरण ध्वनि का उत्कृष्ट उदाहरण माना जा सकता है। यदि ऐसा नही समझा जाता तो भक्ति काव्य मे प्राप्त शृगार के साथ अन्याय होगा। शृगार अपने आप मे भक्तिकाव्य मे साध्य रूप मे नही प्रयुक्त है। वहाँ साध्य तो मधुर भक्ति है। इसी मधुर भक्ति की व्यजना कराना, शृगार विषयक पदो का मूल मन्तव्य है। यह नारदभक्तिसूत्र के अनुसार राग द्वेषादि मनोविकारो को ईश्वर मे समर्पित कर देने का एक रूप मात्र है।

शान्तरस भक्तिकाव्य मे दो ही रस प्रमुख है—लीला विषयक शृगार एव शान्तरस। शान्त भक्तिमूलक काव्यो मे परम्परा से चला आता हुआ प्रचलित भाव रहा है। इस शान्त का पर्यवसान भक्तिरस मे किस प्रकार हुआ—तृतीय अध्याय के अन्तर्गत इसका उल्लेख किया जा चुका है। यहाँ काव्यशास्त्रीय दृष्टि से भक्तिकाव्य मे व्यवहृत शान्तरस की प्रवृतियो पर विचार करना अपेक्षित है।

वैष्णव भक्तिकाव्य मे शान्तरस की दो प्रवृत्तियाँ मिलती है—

१ **शम या निर्वेदमूलक शान्तरस**

२ **सुखमूलक या आसक्तिमूलक शान्तरस**

शममूलक शान्तरस इस शान्त का विषय तत्त्वचिन्तन, ब्रह्म, ब्रह्म के अवतारो का ज्ञान तथा उसके प्रतिनिष्ठा एव आश्रय भक्ति है। वैराग्य, निर्वेद या तत्त्वचिन्तन इसके स्थायीभाव है। तुलसी एव सूर की रचनाओ मे शान्त के इस स्वरूप की पूर्ण अभिव्यक्ति मिलती है। इसके उद्दीपन के अन्तर्गत ससार विषयक असारता, क्षणभगुरता, मनुष्यदेह की नश्वरता एव अनुभावो के अन्तर्गत शममूलक वृत्ति ही रखी जा सकती है। वैराग्य भाव से प्रेरित शान्तरस की प्रक्रिया की ओर मानसकार ने स्पष्ट उल्लेख किया है। उसके अनुसार शान्तरस मानसिक शमत्व के अतिरिक्त और कुछ भी नही है। यह शमत्व भाव परस्पर कार्यकारण सम्बन्ध से सम्पृक्त है। शमत्व को इस स्थिति की प्राप्ति के लिए आरम्भ मे सात्विक भाव की परिपूर्णता अपेक्षित है। इससे क्रमश ये भावरूप आगे विकसित होते है—श्रद्धा, हरिकृपा, जप, तप, व्रत, यम, नियम, सासारिक निवृत्ति, मति की निर्मलता, सन्तोष, क्षमा, धृति, मुदिता, सत्याचरण, विमल वैराग्य एव शान्ति।

सुखमूलक शान्तरस : सर्वप्रथम अभिनवगुप्त ने अभिनवभारती के शान्तरस प्रकरण मे यह सिद्ध किया था कि शान्तरस भी सुख या आनन्दमूलक है। इसी को ध्यान मे रखकर इन्होने इसका स्थायीभाव तृष्णाक्षय सुख माना। मध्यकालीन कृष्ण भक्तिकाव्य मे प्राप्त शान्तविषयक भाव मात्र वैराग्य से ही प्रेरित नही है। उसमे तृष्णाक्षय सुख भी है। आराध्य के प्रति सुखभोग की अनिवार्यता एव तीव्रता दोनो भाव यहाँ वर्तमान है। भक्त लीला का अनुकरण करके ऐतिहासिक प्रमाता का सुख भोगना चाहता है। तात्पर्य यह कि हिन्दी भक्तिकाव्य मे प्राप्त शान्त विषयक सुख को तृष्णाक्षय सुख न कहकर आसक्ति-मूलक सुख कहना समीचीन होगा।

आसक्तिमूलक भावो के अन्तर्गत कवि आसक्ति के माध्यम को अपनाकर ब्रह्मविषयक सुख का अनुभव करता है। इसी दृष्टि से वैष्णवाचार्यों ने ब्रह्म विषयक इस आनन्द को रति या आसक्तिभाव से पुष्ट माना है। आचार्य निम्बार्क ने दशश्लोकी के अन्तर्गत दास्य, सख्य, वात्सल्य, एव मधुर विषयक भाव को रतिमूलक बताया है—नारद भक्तिसूत्र मे इन्हे क्रमश आसक्तियो के ही नाम से पुकारा गया है। रूपगोस्वामी इमी आधार पर रस सम्बन्धी मान्यता को शास्त्रीय आधार देकर पुष्ट करते है। फलत शान्तरस विषयक इन विभेदों को काव्यशास्त्रीय दृष्टि से आसक्तियो पर ही केन्द्रित कहा जा सकता है।[1]

दास्य रूपगोस्वामी ने दास्य भाव को शान्त मे पृथक् रखा है। उनके अनुसार यह प्रीति भक्तिरस है। इसकी प्रियता की ओर श्रीधर स्वामी ने अपनी 'कौमुदी' नामक किसी कृति मे सकेत किया है।[2] उनके अनुमार यह दो प्रकार का है—

सभ्रम प्रीति तथा गौरव प्रीति

सम्भ्रम प्रीति : उनके अनुसार इसका स्थायी भाव प्रीति है। कृष्ण के प्रति आदर एव समधर्म का भाव इसका मुख्याधार है। इसके अलावा आलम्बन कृष्ण, हरि एव उनके दास हैं। हरि का रूप यहाँ चतुर्भुज न होकर द्विभुज है। इनके रोमकूपो मे कोटि-कोटि ब्रह्माड स्थिर है। उद्दीपन के अन्तर्गत अनुग्रह के सभी भाव वर्तमान है। स्तम्भादि इसके सात्विक हैं। इसके व्यभि-

---

१. मानस बालकाड दो० सं० ११६

२ श्री हरिभक्तिरसामतसिंधु, प्रीति भक्तिरस, श्लोक १ से १० तक

चारियो मे उन्होने मद, त्रास, अपस्मार, आलस्य, उग्रता, क्रोध एव असूया को गिनाया है।

गौरव प्रीति · यह इससे पृथक् है। स्नेह इसका स्थायी भाव है। भक्त के हीन-भाव की अनुभूति इसका मुख्य आधार है। इसके आलम्बन कृष्ण एव उद्दीपन कृष्ण कृपा है। अनुभाव कृष्ण के चरणो मे अर्पण भाव, उनकी आज्ञा का पालन, प्रणाम एव विनम्रता है। इसके सात्विक स्तम्भादि है। सम्भ्रम प्रीति के अन्तर्गत कथित व्यभिचारी भाव ही इसके सचारी है। इस रस की निष्पत्ति जीवगोस्वामी के अनुसार आश्रय दास्य भक्ति एव प्रेयस् के परिणामस्वरूप होती है।[1]

हिन्दी वैष्वण भक्तिकाव्य मे प्राप्त दास्य रस इससे किंचित् भिन्न है। कोई आवश्यक नही कि इसके आलम्बन कृष्ण ही हो। कृष्ण के साथ, राम, हरि, गणिका, अजामिल, गृद्ध, शवरी, निषाद का उद्धार करने वाले विष्णु इसके आलम्बन है। शममूलक सचारी भावो मे धृति एव मति दास्य भक्ति का मुख्य आधार है। हिन्दी वैष्णवभक्ति काव्य की अधिकतर प्रवृत्तियाँ स्नेह-प्रीति भक्तिरस से मिलती है। इस सदर्भ मे जीवगोस्वामी की मान्यता रूपगोस्वामी से अधिक सगत है। जीवगोस्वामी आश्रय, दास्य, आश्रयदास्य, एव प्रेयस् मूलदास्य भाव को इसका आधार मानते है। हिन्दी भक्ति काव्य मे प्राप्त दास्यरस, आश्रयदास्य भाव के अधिक निकट है। रूपगोस्वामी इसे भक्तिरस का प्रमुख अग मानकर इसकी व्याख्या करते है। काव्यशास्त्रीय दृष्टि से वैष्णवभक्ति काव्य मे प्राप्त दास्य मुख्य रस न होकर शान्तरस का अग रस कहा जा सकता है क्योकि इसका मूल उद्देश्य शमत्व की स्थापना से सम्बन्धित है।

सख्य रूपगोस्वामी ने इसे स्वतन्त्र रस माना है। श्रीहरिभक्तिरसामृतसिन्धु मे इसके भावो का विस्तृत परिचय दिया गया है। रूपगोस्वामी के अनुसार इसका नाम प्रेयस् भक्तिरस होना चाहिए। डॉ० करुणा वर्मा ने अपने शोध प्रबन्ध 'मध्ययुगीन हिन्दी भक्तिसाहित्य मे वात्सल्य तथा भक्ति, के अन्तर्गत सख्य का अध्ययन करते हुए इसका शास्त्रीय विवेचन इस प्रकार से किया है—

१ **आलम्बन** कृष्ण तथा उनके सखा

२ **उद्दीपन** · कृष्ण की बाल, कुमार एव पौगन्ड अवस्थाएँ एव पत्र-

---

१. वैशनव फेथ एन्ड मूवमेंट, एस० के० डे, पृ० १९५, १९६

निर्मित अलकरण, वाद्य तथा उनके सखाओ की विभिन्न क्रीडाएँ।

३ **आश्रय** यशोदा, नन्द, गोपियाँ, गोप तथा कृष्ण सखा

४ **अनुभाव** साधारण सख्य के बाहु युद्ध, कृष्ण शौर्य राक्षसवध, क्रीडा, छाक, दधिदान, एक शैया शयन आदि सभी सात्विक अनुभाव है।

५ **सचारी** क्षोभ, ईर्ष्या, स्पर्धा, गर्व, चापल्य, सारल्य, भोलापन, चातुर्य, पुलक, गदगद होना, रोमाच, मोह, चिन्ता, स्मृति, अश्रु तथा स्नेह आदि सख्य के भाव सचारी है।

६ **स्थायीभाव** समानदृष्टि, सायुज्य एव सख्यधर्म के कारण सख्यरति या मैत्री स्थायीभाव है। यही रति उत्तरोत्तर सख्य, प्रणय, प्रेम, स्नेह तथा रागभेद से पाच रूपो मे देखी जाती है।

सखा प्रियसखा, प्रियनर्मसखा आदि रूपो मे अर्जुन, भीमसेन, श्रीबल, श्रीदामा, सुबल, स्तोक, सुमगल आदि देखे जा सकते है। इन्ही के सयोग से सख्य भाव साहित्य मे एक स्थायीभाव कहा जा सकता है।

वात्सल्य आसक्तिमूलक शात का अन्तिम भाव वात्सल्य है। इसका प्रयोग भक्तिकाव्य मे अधिकाधिक मात्रा मे हुआ है। तुलसी एव समस्त अष्टछापी कवियो की पदावली मे कुछ न कुछ वात्सल्य भाव के पद अवश्य मिल जाते है। रूपगोस्वामी के अनुसार वात्सल्य रस की स्थिति इस प्रकार है।

इसका स्थायी भाव वात्सल्य रति है। इसके आलम्बन कृष्ण तथा उनके गुरु माता पिता आदि है। उद्दीपन के अन्तर्गत कौमार्यादि वय, रूप, वेष, शिशु-सुलभ चापल्य, स्मिति तथा लीला आदि के भाव हैं। उनका यह कौमार्य तीन प्रकार का है—आदि, मध्य एव अवशेष। इसके सात्विक के अन्तर्गत स्तनस्राव एव स्तम्भादि है। व्यभिचारी भाव के अन्तर्गत उग्रता, आलस्य आदि के भाव है। रूपगोस्वामी के अनुसार यह भक्तिरस का एक प्रकार मात्र है, किन्तु वैष्णव भक्तिकाव्य मे इसकी स्थिति दो प्रकार की है। कही-कही इसमे स्वतत्र रसत्व की पूर्ण क्षमता मिलती है। किन्तु अधिक स्थलो पर यह शान्त का अग बनकर आया है। वात्सल्य सम्बन्धी पदो का प्रयोजन यहाँ कृष्ण के अलौकिक व्यक्तित्व से परिचय कराना है। इस दृष्टि से इसे आसक्तिमूलक शमत्व का अग होना पडा है।

हिन्दी वैष्णव भक्ति काव्य मे प्राप्त मधुर भाव का विवेचन, काव्यशास्त्रीय दृष्टि से शृंगार के अन्तर्गत ही किया जाना चाहिए। इस दृष्टि से

भक्तिकाव्य के सौन्दर्य शास्त्र एव शृगार रस के सदर्भ मे इनका पूर्णरूपेण विवेचन किया जा चुका है।

हिन्दी वैष्णव भक्तिकाव्य मे एक अन्य प्रकार का भी शान्तरस प्राप्त है, जिसे तृष्णाक्षय सुख के नाम से पुकारा जा सकता है। इसकी अनुभूति रहस्यवादियो के समीप की है, किन्तु यह रूपोपासना के कारण उनसे भिन्न हो जाती है। भक्तिकाव्य मे ब्रह्म की आनन्दानुभूति के अवसर पर इस प्रकार के भावो का सकेत मिलता हे। इसमे भक्त की आसक्ति या ब्रह्म-विषयक प्रियता की अनुभूति प्रगट होती है, किन्तु उसका स्वाद अकथनीय एव अतुलनीय है।

अन्यरस

हिन्दी वैष्णव भक्तिकाव्य मे प्रयुक्त काव्यशास्त्रीय रस सिद्धान्त के दृष्टि-कोण से दो ही प्रधान रस है—शृगार एवं शान्त, शेष वीर, अद्‍भुत, करुण, रौद्र, वीभत्स एव भयानक की स्थिति सामान्य है। प्रयोग की दृष्टि से वीर अद्‍भुत एव करुण सम्बन्ध पदो की सख्या अधिक है। उदात्त(Sublime) के सदर्भ मे इन भावो का अध्ययन किया जा चुका है। रस की दृष्टि से इनका परिचयात्मक अध्ययन अपेक्षित है।

वीर आचार्य भरत के अनुसार उत्तम प्रकृति वाला उत्साहदायक रस वीर कहलाता है। इसकी उत्पत्ति आदि के अभाव से निश्चित नीति, इन्द्रियजन्य-विनय, सेना पराक्रम, सामर्थ्य, प्रताप आदि विभावो मे होती है। स्थिरता, शौर्य, धैर्य, त्याग, निपुणता आदि अनुभावो के द्वारा इसका अभिनय करना चाहिए। धृति, मति, आवेग, उग्रता, गर्व, अमर्ष, स्मृति, रोमाच एव प्रति-बोध इसके संचारी भाव है।[1] रूपगोस्वामी के अनुसार यह भक्तिरस का अगरस है। इसके लिए उनका तर्क यह है कि वीर से सम्बन्धित समस्त भाव कृष्ण विषयक है, फलत यह वीररस कृष्ण से सम्बन्धित होने के कारण भक्तिरस का अग है। उनके अनसार भक्तिकाव्य मे प्राप्त यह स्थिति वीरभक्तिरस की कही जा सकती है। इसका स्थायीभाव उत्साह भक्तो मे भक्ति विषयक आवेश के रूप मे भी गृहीत होता है।[1] आचार्य गोस्वामी ने काव्य मे प्रयुक्त वीर के युद्ध, दान, दया एव धर्म सम्बन्धी भेदो का आरोपण भक्ति

---

१ नाट्यशास्त्र, अध्याय ६, श्लोक ५१ के बाद की कारिका

मे भी किया है। प्राय काव्य मे प्रयुक्त समस्त विभाव, अनुभाव एव सचारी इसके भाव है।[1]

वैष्णव भक्तिकाव्य मे प्राप्त वीर रस की स्थिति अपने विभावादि के सम्बन्ध मे प्राय: उसी प्रकार है, जिस प्रकार रूपगोस्वामी ने प्रकट की है। मात्र इसमे थोडा सा अन्तर है जो भक्तिकाव्य मे प्रयुक्त वीर रस वस्तु से सम्बन्धित हे। इसका मूल उद्देश्य भक्त के हृदय मे ब्रह्म के उदात्त भाव की स्वीकृति से सम्बन्धित है। भक्त इस वीर भाव द्वारा आराध्य विषयक अपनी आस्था का एक ओर पोषण करते है, दूसरी ओर उनके शील, शक्ति, महत्ता आदि का बोध भी कराते है। असुरवध विषयक घटनाओ मे वीर रस वस्तु के रूप मे प्रयुक्त है किन्तु उसकी व्यजना का लक्ष्य लौकिक काव्य की भाँति उत्साह का भाव प्रकट करना नही है। वह कृष्ण के अलौकिक व्यक्तित्व को व्यजित करने का साधन है।

हास्यरस हास्य स्थायीभाव से युक्त रस हास कहलाता हे और वह दूसरे के विकृत वेष, अलकार, निर्लज्जता, लालचीपन, असगतभाषण और गालो के फडकाने, आँखो के फैलाने पेट, के पकडने आदि अनुभावो के द्वारा इसका अभिनय करना चाहिए। अवहित्था, आलस्य, तन्द्रा, निद्रा, स्थान, प्रबोध, असुया, इसके सचारी भाव है।[2] रूपगोस्वामी ने कृष्ण-भक्ति को आधार बनाकर इसे हास्यभक्ति के नाम से पुकारा है। इनके अनुसार इसका स्थायी भाव हासरति है। इसके आलम्बन कृष्ण एव उनके सखा है, आश्रय वृद्ध एव शिशु है। उद्दीपन के अन्तर्गत कृष्ण, उनका उसी से सम्बन्धित वेष तथा चरित्र है। रूपगोस्वामी द्वारा कथित यह हास्यभक्तिरस भी स्मित, हसित, विहसित, अपहसित, अवहसित, अतिहसित ६ प्रकार का होता है।[3] वैष्णव भक्ति साहित्य मे तुलसी ने हास्य के सामान्य स्वरूप स्मिति, हसित का प्रयोग मानस मे किया हे। नारद के प्रसग मे हसित को उन्होने आलम्बन बनाकर प्रस्तुत किया गया है। इसके अतिरिक्त स्मिति के अनेक प्रसंग यथास्थान प्राप्त हैं।

रूपगोस्वामी के इस लक्षण निर्धारण से स्पष्ट लगता है कि वे

---

१ श्री हरिभक्तिरसामृतसिंधु, उत्तरविभाग, गौण भक्तिरस लहरी, बीभत्सरस-श्लोक १ से ४० तक

२ नाट्यशास्त्र, अध्याय ६, कारिका ४० के बाद

३. उत्तर विभाग, हास्य भक्तिरस लहरी, श्लोक १—१६ तक

कृष्णाश्रित हास्य के विभावादि के सयोजन मे हास्यरस की निष्पत्ति मानते है, फिर लौकिक हास्य एव भक्ति विषयक हास्य मे अन्तर क्या रह जाता है। कृष्ण का नाम मात्र लेने से वैष्णव भक्त ही इसकी अनुभूति से प्रभावित हो सकता है, सामान्य जन नही। भक्तिकाव्य मे इसकी स्थिति किंचित भिन्न है। उसका भी मूल उद्देश्य इष्ट या ईश्वर की सामर्थ्य से ही सम्बन्धित है। इस प्रकार हास्य प्रमुख रस न होकर ब्रह्म विषयक उदात्त भाव का एक अग है।

करुण रस आचार्य भरत के अनुसार करुणरस का लक्षय इस प्रकार है। शोक नामक स्थायीभाव से उत्पन्न रस करुण कहा जाता है। वह शाप, क्लेश मे पतित, प्रियजन के वियोग, विभवनाश, बध, देश निर्वासन, अग्नि आदि मे मर जाने तथा व्यसनो आदि विभावो मे फँस जाने से होता है। विलाप करने, मुख सूख जाने, वैवर्ण्य, अगो की शिथिलता, लम्बी साँस भरने, स्मृति के लोप आदि अनुभावो के द्वारा इसका अभिनय किया जाता है। निर्वेद, ग्लानि, चिन्ता, औत्सुक्य, आवेग, भ्रम, मोह, श्रम, भय, विघ्न, विषाद, दैन्य, व्याधि, जडता, उन्माद, अपस्मार, त्रास, आलस्य, मरण, स्तम्भ, वेपथु एव स्वरभग इसके सचारी भाव है।[1] रूपगोस्वामी के अनुसार यह करुणभक्तिरस है।[2] उनके अनुसार इसका स्थायीभाव शोकभक्तिरति है। उन्होने १२ श्लोको मे इसके स्वरूप का स्पष्टीकरण किया है। भरत द्वारा कथित विभावानुभाव एव इस सदभ मे कथित समस्त सचारी करुण भक्तिरस की निष्पत्ति मे सहायक होते है। हिन्दी वैष्णव भक्तिकाव्य मे करुण अधिकतर पात्रगत न होकर भक्तगत है। मानस मे यह प्रमुख भक्त पात्रो का आलम्बन है। दशरथ आदि पात्रो मे इसकी निष्पत्ति मिलती है। शुद्ध दास्य भक्ति के पोषण के सदर्भ मे इसका प्रयोग अधिक मिलता है।

रौद्र रस उदात्त भाव के सम्बन्ध मे इसकी स्थिति पर विचार किया जा चुका है। आचार्य भरत के अनुसार इसकी स्थिति इस प्रकार है। यह क्रोध, आकर्षण, अधिक्षेप, अनृतभाषण, उपघात, वाक्यारूष्य, अभिद्रोह, मात्सर्य आदि विभावो से उत्पन्न होता है। मारना, फाडना, मसलना, काटना, अस्त्र

---

१ नाट्यशास्त्र, अध्याय ६ कारिका, ४१ के बाद

२ श्री हरिभक्तिरसामृतसिंधु उत्तरविभाग, गौण भक्तिरस करुण भक्तिरस लहरी, श्लोक १–१२

उठाना, शस्त्रपतन, शस्त्रप्रहार, रक्त निकाल लेना आदि उसके अनुभाव है। असम्मोह, उत्साह, आवेग, अमर्ष, चपलता, उग्रता, स्वेद, कम्प, तथा रोमाच, इसके व्यभिचारी भाव है।[१] आचार्य गोस्वामी के अनुसार यह रौद्रभक्ति रस है तथा इसका स्थायीभाव क्रोध भक्तिरस है। इसका विस्तारपूर्वक विवरण भक्ति रसामृत सिन्धु मे मिलता है।[२] क्या रौद्र भक्ति के सदर्भ मे रतिमूलक है? यह सामान्य प्रश्न उठ सकता है। किन्तु इस उत्तर का समाधान भी अन्य समाधानो की ही भाँति है। ये रौद्र के भाव कृष्ण या राम से सम्बन्धित उदात्त भाव के व्यजक है। फलत रौद्र का प्रयोग मात्र कृष्ण विषयक भक्ति-भाव को तीव्रता प्रदान करने के लिए किया गया है।

भयानक रस उदात्त भाव के सम्बन्ध मे भयानक रस की भी चर्चा की जा चुकी है। आचार्य भरत के अनुसार यह भय स्थायी भाव से निष्पन्न होता है। विकृत शब्द, भूत, शृगाल आदि के देखने एव भय, घबडाहट, शून्य वन मे जाने इत्यादि भावो से यह उत्पन्न होता है। काँपते हुए हाथ, पैर, नेत्रो की चचलता, रोमाच, मुख का रग उडना, आवाज का बदल जाना आदि इसके अनुभाव है। हाथ पैर का जकड जाना, पसीना, गद्गद हो जाना, रोमाच, कम्प, शका, घबराहट, चचलता, मृगी, मरण आदि इसके व्यभि-चारी भाव है।[३] श्रीहरिभक्तिरसामृतसिन्धु मे इसे भी भयानक भक्ति रस के नाम से पुकारा गया है। भयरति इसका स्थायीभाव है। कृष्ण को आरो-पित करके रूप गोस्वामी ने भरत के लक्षणो को ज्यो-का-त्यो दुहरा दिया है।[४] अन्य गौण काव्य रसो की भाँति ही वैष्णव भक्तिकाव्य मे इसका प्रयोग मिलता है। हिन्दी भक्तिकाव्य मे इसके प्रयोग का मूल उद्देश्य कृष्ण या राम माहात्म्य का निरूपण करना है।

वीभत्सरस : जुगुप्सा स्थायी भाव से युक्त रस का नाम वीभत्स है। अरूप, अप्रिय, अपवित्र एव अनिष्ट के देखने, सुनने एव शरीर के हिलाने आदि के विभावो

---

१ नाट्यशास्त्र, अध्याय ६, रौद्र रस प्रकरण

२ श्री हरिभक्तिरसामृतसिंधु, उत्तर विभाग, गौण भक्तिरस, रौद्रभक्तिरसलहरी, श्लोक १—१८ तक

३ नाट्यशास्त्र, अध्याय ६, भयानक रसप्रकरण

४ श्री हरिभक्ति रसामृतसिन्धु, गौणभक्तिरस निरूपण · भयानक भक्तिरसलहरी श्लोक १–११ तक

से इसकी उत्पत्ति होती है । समस्त अगो के सकोचन, मुख के अवयवो के सिकोडने, उल्लेखन, थूकने आदि से सम्बन्धित अनुभाव, अपस्मार, जी मचलना, वमनादि, रूप आवेग, मूर्छा, रोग, मरण आदि इसके व्यभिचारी भाव है।[1] रूपगोस्वामी ने भक्तिकाव्य के सदर्भ मे इसे वीभत्स स्वीकार किया है। उनके अनुसार इसका स्थायीभाव जुगुप्सा भक्तिरति है। इसके दो भेद है—विवेकजा एवं प्रायिकी।[2] यह भेद जुगुप्सा के स्वरूप पर ही आधारित है। विवेकजा के अन्तर्गत जुगुप्सा आन्तरिक और प्रायिकी के अन्तर्गत कथित होती है। हिन्दी वैष्णव भक्ति काव्य मे वीभत्सरस स्वतन्त्र रस के रूप मे नही आया है।[3] यद्यपि यह सत्य है कि उसके समस्त विभावादि काव्यलक्षणो-से मेल खाते है, किन्तु वह वस्तु के रूप मे नही है। वह भी उदात्त भाव की व्यजना का आधार है।

अद्भुत रस आचार्य भरत के अनुसार विस्मय आदि स्थायी भाव स्वरूप-रस अद्भुत कहलाता है। यह दिव्य जन के दर्शन, मनोवाछित और मनोरथ-प्राप्ति से, उपवन, देवमन्दिर आदि मे गमन, सभा, विमान, इन्द्रजाल आदि की सभावना, रूपविभव से उत्पन्न होता है। आँख फाडने, अपलक देखने, रोमाच, अश्रु, स्वेद, हर्ष, साधुवाद, दान आदि इसके अनुभाव है। सचारी भावो के अन्तर्गत उन्होने स्तम्भ, अश्रु, रोमाच, आवेग, सम्भ्रम, प्रहर्ष, चपलता, उन्माद, धृति, जडता, मूर्छा आदि की गणना की जाती है। रूपगोस्वामी ने इसे अद्भुत भक्तिरस के नाम से पुकारा है। उनके अनुसार इसका स्थायी भाव विस्मय रति है। उहोने इसको दो भागो मे विभक्त किया है—साक्षात् तथा अनुमित।[4] इनकी भाव एव रसत्व की मान्यता आचार्य भरत से अधिक विपरीत नही है। हिन्दी वैष्णव भक्ति काव्य मे निहित अद्भुत के स्वरूप को उदात्त भाव के अन्तर्गत रखा जा सकता है और इस ओर सकेत भी किया जा चुका है। भक्तिकाव्य मे ये भाव प्रधानरस के अग है। भक्त कवियो ने इसके द्वारा आराध्य की शक्तिमत्ता का बोध कराया है।

---

१ नाट्यशास्त्र . अध्याय ६, वीभत्सरस प्रकरण

२ श्रीहरिभक्तिरसामृतसिन्धु गौणभक्तिरस निरूपण . वीभत्स भक्तिरसलहरी, श्लोक १–१० तक

३ नाट्यशास्त्र ' अध्याय ६, अद्भुत रस प्रकरण

४ श्री हरिभक्ति रसामृतसिंधु उत्तर विभाग, गौणभक्ति रस निरूपण अद्भुत रसलहरी, श्लोक १–७ तक

भक्तिकाव्य मे प्रयुक्त काव्य रसो की स्थिति पर विचार करने के उपरान्त कतिपय निष्कर्षों को सरलतापूर्वक निकाला जा सकता है। प्रथम यह कि, भक्तिकाव्य अपनी मूलस्थिति मे मानवीय सवेगो पर अधिक आश्रित है। काव्य के रस मानवीय सवेदनो के अग है। कोई आवश्यक नही कि भक्त कवियो ने काव्यशास्त्रीय रस का आरोपण अपने काव्य मे किया हो। यदि शुद्ध आरोपण होता तो ये रस इनके काव्य के लक्ष्य बन जाते। इन्होने अपने काव्य के माध्यम के लिए इतना विशाल वातावरण चुना कि काव्यरस सम्बन्धी समस्त मान्यताएँ जीवनगत मूल्यो पर आश्रित होने के कारण इनके काव्य की मूल्य बन गई।

भक्ति काव्य मे प्राप्त रस सम्बन्धी मान्यता के अध्ययन से दूसरा तथ्य यह निकलता है कि समस्त काव्यशास्त्रीय रस साधन के रूप मे प्रयुक्त हैं। ध्वनिवादियो की शब्दावली मे कहे तो यह मात्र वस्तु है। इनकी व्यजना भक्तिरस की निष्पत्ति से सम्बन्धित है। कारण कि जिस परिवेश मे रस का चित्रण मिलता है, वह आध्यात्मिक है। यही कारण है कि, रूपगोस्वामी ने प्रत्येक काव्य को अग रस मान कर उसके साथ भक्तिरति को अनिवार्य बताया है। यद्यपि अद्भुत भक्तिरस, भयानक भक्तिरस, वीभत्सभक्तिरस आदि मे अद्भुत, भयानक एव वीभत्स आदि रसत्व का सवहन नही कर पाते। वे भक्तिकाव्य मे प्रयुक्त भक्ति के अग होने के कारण भाव की श्रेणी मे ही रखे जा सकते हैं।

अलंकार

हिन्दी वैष्णव भक्तिकाव्य मे अलकार विषयक शब्दवाली का प्रयोग प्राप्त है। तुलसी ने अलकार के लिए अलकृति शब्द का प्रयोग किया है।[1] एक अन्य स्थल पर वह उपमा आदि अलकारो को मानस का वीचिविलास कहता है। वीचिविलास का तात्पर्य शोभावर्धन से है।[2] इस प्रकार वह अलकार को काव्य के शभावर्धक तत्त्व के रूप मे स्वीकार करता है। तुलसी ने अलकारो मे उपमा शब्द का प्रयोग समस्त साम्यमूलक अलकारो के अर्थ

---

१ आखर अरथ अलकृति नाना। छन्द प्रबन्ध अनेक विधाना। मानस बालकांड, दो० स० ९

२ राम सीय जस सलिल सुधासम। उपमा वीचि विलास मनोरम। मानस : बालकाण्ड दो० स० ३८

मे किया है। एक अन्य स्थल पर उन्होने 'वक्र उकिति' वक्रोक्ति शब्द का प्रयोग वक्रगर्भित वाणी एव अर्थ के सदर्भ मे किया है।[1] तुलसी की ही भाँति सूर ने भी उपमा शब्द का प्रयोग उत्प्रेक्षा, प्रतीप, उपमा, रूपक एव अतिशयोक्ति के अर्थ मे किया है।[2] सूर की साहित्य लहरी इस दृष्टि से महत्त्वपूर्ण रचना कही जा सकती है। इसका मुख्य प्रतिपाद्य अलकार शास्त्र ही है। कवि ने यहाँ परम्पर मे स्वीकृत १०८ अलकारो का परिचय दिया है। ये इस प्रकार है—

उपमा, अनन्वय, उपमेयोपमा, प्रतीप, रूपक, परिणाम, उल्लेख, स्मृति, भ्रान्ति, सदेश, अपह्नुति, उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति, तुल्योगिता, दीपक, आवृतिदीपक, दृष्टान्त, निदर्शना, व्यतिरेक, सहोक्ति, विनोक्ति, समासोक्ति परिकर, परिकराकुर, श्लेष अप्रस्तुत प्रशसा, प्रस्तुत प्रशसा, प्रस्तुताकुर, पर्यायोक्ति, व्याजोक्ति, व्याज निन्दा, आक्षेप, विरोधाभास, विभावना, विशेषोक्ति, असभव, असगति, विषम, सम, विचित्र, अधिक, अल्प, अन्यान्य विशेष, व्याघात, कारण माला, एकावली, मालादीपक, सार, यथासख्या, पर्याय, परिवृत, परिसख्या, विकल्प, समुच्चय, कारकदीपक, समाधि, प्रत्यानीक, अर्थापत्ति, काव्यलिग अर्थान्तिरन्यास, विवस्वर, प्रौढोक्ति, सभावना, मिथ्याध्यवसान, ललित, प्रंहर्षण, विषादन्, उल्लास, अवज्ञा, लेश, मुद्रा, रत्नावली, तद्गुण, पूर्वरूप, अतद्गुण, अनुगुण, मीलित, विशेष, उत्तर, सूक्ष्म, विहित व्याजोक्ति, गूढोक्ति विवृत्तोक्त युक्ति, लोकोक्ति, छेकोक्ति, वक्रोक्ति, स्वभावोक्ति, भाविक, उदात्त, अत्युक्ति, निरुक्ति, प्रतिषोध, विधि, हेतु, प्रत्यक्ष, प्रमाण, अनुमान, उपमान, शब्द, अर्थापत्ति, रसवत्, प्रेयस् तथा सकर। सूर एवं तुलसी दोनो सागरूपक के प्रयोग मे अभिरुचि दिखाते है। जहाँ तक शब्दा-

---

१ वक्रउकुति धनु बचन सर, हृदय दहेउ रिपु कीस मानस लकाकाड, दो० स० २३

२. उत्प्रेक्षा उपमा एक अनूपम उपजत कुंचित अलक मनोहर भारे.
विडरत विझुकि जानि रथ ले मृग जनु ससकि ससि लगर डारें। सूरसागर प० सं० २४१४,
प्रतीप • उपमा धीरज तज्यो निरखि छवि, उपमा हरि तन देखि लजानि। प० स० २३७४, २३७५
रूपक वदन कमल उपमा यह साँची। प० म० ३१४२.
सादृश्यमूलक अलकार के अर्थ में : खंजरीट मृग मीन बिचारत उपमा को अकुलात। प० सं० २४२६

लकार का प्रश्न है—ये कवि इसके अन्तर्गत शब्दगत रणन, चमत्कृति आदि का बोध कराने के लिए इसका प्रयोग करते है ।[1] नखशिख वर्णन तथा सौन्दर्य चित्रण के सदर्भ मे ये कवि एकमात्र आलकारिक दृष्टि को ही प्रश्रय देते है । इन प्रयोगो को देखकर यह स्पष्टतया कहा जा सकता है कि ये अलकार की प्रयोगविधि से पूर्णरूपेण परिचित थे ।

उपमा तथा रूपक सादृश्यमूलक अलकारो मे उपमा तथा रूपक का प्रयोग अधिकता से हुआ है । वैष्णव भक्तिकाव्य के अध्ययन से स्पष्ट है कि ये कवि उपमा एवं रूपक से भली भाँति परिचित एव उनके काव्यात्मक प्रयोग के प्रति सजग थे । कहा जा चुका है कि उपमा शब्द का प्रयोग उपमा, रूपक, अतिशयोक्ति, उत्प्रेक्षा एव प्रतीप के अर्थो मे आलोच्य साहित्य मे मिलता है । इस प्रकार स्पष्ट है कि ये कवि अतिशय सादृश्यमूलक अलकार को उपमा के नाम से पुकारते थे ।

उपमा

हिन्दी वैष्णव भक्तिकाल का यह प्रिय अलकार रहा है । इसकी वाचक शब्दावली मे से, सो, सो, सी, सम, समान, इव, समाना, निभ आदि शब्दो का प्रयोग मिलता है । इस शब्दावली मे लिग एव वचन भेद की प्रवृत्ति मिलती है । सस्कृत साहित्य मे प्राप्त उपमा के समस्त भेद वैष्णव भक्तिकाव्य मे प्राप्त हो जाते है ।

उपमा का प्रस्तुत पक्ष उपमा के प्रस्तुत पक्ष मे साधु प्रशसा, भक्ति, सत-सगति, गुरुमाहात्म्य, विष्णु के स्वरूप, गुण, चेष्टा का वर्णन, शकर के स्वरूप एव स्वभाव का निरूपण, इष्ट के शौर्य की सूचना, कुसगति, कवित्व की प्रशसा, रामकथा की उत्तमता, स्वरूप एव स्वभाव का निरूपण, राम या कृष्णनाम माहात्म्य, ब्रह्मस्वरूप निरूपण, प्रकृतिचित्रण, वाणी एव सरस्वती का स्वरूप, अगवर्णन, अलकरण, सौन्दर्य चित्रण, आगिक चेष्टा का निरूपण, रूपचित्रण, भावनिरूपण आदि का प्रयोग मिलता है । यह प्रकृति वस्तुत द्विधा है । इसके माध्यम से एक ओर पौराणिक एव नैतिक परम्परा मे स्वीकृत भक्ति के मूल्यो के स्पष्टीकरण, आराध्य के स्वभाव, कथा के स्वरूप को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया गया है, दूसरी ओर लीला या शृगार आदि

१. साहित्यलहरी, स० प्रभुदयाल मीतल, साहित्यसस्थान मथुरा, मार्च १९३१

निरूपण के सदर्भ मे रूप, गुण, क्रिया एव भाव को स्पष्ट करने के लिए इनका प्रयोग मिलता है।

अप्रस्तुत पक्ष उपमा एवं अन्य साम्यमूलक अलकारो मे प्राप्त अप्रस्तुत पक्ष की सूची प्राय. समान ही है। सम्भवत इसका सबसे प्रबल कारण यही है कि ये कवि अतिशय सादृश्यमूलक अलकारो को समान समझते थे। इनके अप्रस्तुत पक्ष की सूची अत्यन्त व्यापक है । इसका सामान्य विवरण इस प्रकार है—

१ पौराणिक पात्रो का अप्रस्तुतीकरण यशोमति, हरि, हलधर, विष्णु, कालनेमि,रावण, राहु, नरकेशरी नृसिह, प्रह्लाद, ध्रुव, कनककशिपु, हनुमान, कामतरु, कुभज, कामधेनु, गिरिनन्दिनि, कासी, अदितिअम्ब, पौराणिक कथाएँ आदि।

२ प्राकृतिकतत्वो का अप्रस्तुतीकरण, सूर्य, चन्द्र एव तत्सम्बन्धी अन्य पर्यायवाची शब्दो का प्रयोग, नक्षत्र, नदी, तट, वारि, बीचि, वर्षाऋतु, सालि, सावन, भादो, यमुना, गगा, नर्मदा, अमरकटक, मन्दाकिनी, चित्रकूट पर्वत, वृक्ष, कमल, एव उसके पर्यायवाची अन्य शब्द, इन्द्रधनु, प्रसून, मधुकर, एव उसके पर्यायवाची शब्दो का प्रयोग, त्रिवेणी गगा, यमुना एव सरस्वती का सगम, पुष्पो के प्रकारो मे बन्धूक, कुन्द, आदि पल्लव नीलघन, दामिनी, रम्भा, श्रीफल आदि अप्रस्तुत के रूप मे प्राप्त होते है।

३ पशु तथा पक्षी अप्रस्तुत के रूप मे इनका उल्लेख अधिक मिलता है। भ्रमर तथा उसके पर्यायवाची मधुकर, मधुलिह, भँवर, सिलीमुख, मधुप, भृग, मराल, खजन, शुक, मीन, केहरि, अहिराज, करभा शुन्ड, पन्नगिनि, चकोर, चातक, मयूर, मकर,बकपाँति, गजराज, कोकिल, पन्नग, चक्रवाक, सारग हिरण, गो, काग, मणिधरनाग, शेष, बाज, पक्षी तमचुर, वीरवधूटी आदि। **युद्ध सूचक शब्दावली**-नेज, खग्ग अनी, सेल्ह, कमान, फन्द, धनुष, कुलिश, कोदड, शर, बाण, कवच, रणछेत्र, रणयोद्धा, भलुका, चक्र, गज, बाजि, ढाल, चँवर सुभट, रणतरा, रण, मल्ल, योद्धा, घायल, घन्टाघोष, ध्वजा, अस्त्र-, शस्त्र की चमक आदि।

इस प्रकार अप्रस्तुतो की एक विस्तृत शृखला भक्ति काव्य मे वर्तमान है। जीवन के प्रत्येक क्षेत्रो मे लिए गए ये अप्रस्तुत भक्ति-काव्य के लिए अत्यधिक महत्त्वपूर्ण हैं । प्रस्तुत एव अप्रस्तुत मे सामजस्य

बैठाने का कार्य भाव करता है। हिन्दी वैष्णव भक्ति साहित्य मे प्राप्त भावो की सूचना इस प्रकार है।

क सात्विक मनोवृत्तिसूचक प्रस्तुत ब्रह्मा, विष्णु, शंकर, गुरु, गणेश, कृष्ण, साधु, रामकथा, साधुसगति, कृष्णकथा एव कृष्ण कथा के पात्र, सन्त स्वभाव, भक्ति आदि की महत्ता सिद्ध करने के लिए सात्विक भावो का प्रयोग मिलता है। इन अप्रस्तुतो के द्वारा इनकी श्रेष्ठता, पवित्रता, प्रकृति, माहात्म्य निरूपण आदि की ओर सकेत किया गया है।

ख अंग-प्रत्यग वर्णन से सम्बन्धित प्रस्तुत : अग-प्रत्यग वर्णन के अन्तर्गत दो प्रकार के भाव वैष्णव भक्ति साहित्य मे प्राप्त हैं।

१ सात्विक या भक्ति सम्बन्धी भाव २ शृंगारिक भाव

१ सात्विक भाव के अन्तर्गत आराध्य का अग वर्णन रति प्रसग को छोडकर सख्य, वात्सल्य, दास्य एव शान्त के अवसरो पर मिलता है। प्राय सम्पूर्ण तुलसी साहित्य, सूरसागर पूर्वार्ध, नन्ददास की कतिपय रचनाओ तथा छुटपुट पदो मे यह अग प्रत्यंग वर्णन उपलब्ध है।

प्रस्तुत. शरीर का रग, बाल्यावस्था, किशोरावस्था, शैशवावस्था, पौगडा-वस्था, युवावस्था, पूर्ण विग्रह रूप, बाल, लटें, मस्तक, भौंह, नेत्र, पलक गोलक पुतली, कपोल, चिवुक, ग्रीवा, ग्रीवा-दर, ओष्ठ, दन्त, कान, कर्ण विवर, मुखभाव छाती, रोमावली, कटि, त्रिवली, नाभि, हाथ, भुजा, हथेली, उगली, नख, नख, जव घुटना, पैर, तलुवा, नख आदि।

अप्रस्तुत : नील सरोरुह या कमल के पर्यायवाची शब्द, नील बादल या उसके पर्यायवाची शब्द, नीलमणि, यमुना, आकाश, तमालवृक्ष, मधुप एव उसके पर्याय वाची शब्द, पूर्णचन्द्र, द्वितीय चन्द्र, खडित चन्द, पंकजकोश, चंचुपुटी चन्द्र एवं उसके पर्यायवाची शब्द, सूर्य एवं उसके पर्यायवाची अन्य शब्द, भवरगीति, शख, बिम्बाफल, विद्रुम, मकर, केहरि, मृणाल, कुन्दकली, पल्लव चपला आदि का प्रयोग मिलता है।

२—भक्तिकाव्य मे अग-प्रत्यंग वर्णन से सम्बन्धित शृगारमूलक प्रस्तुतो की सख्या कही अधिक है। इसके अन्तर्गत अंग प्रत्यंग वर्णन, अलकरण तथा रूपसज्जा, स्वभावचित्रण, भावव्यापार एव प्रेममूलक क्रियाकलापो को गति एव तीव्रता प्रदान कराने के लिए अप्रस्तुतो का प्रयोग हुआ है।

अग प्रत्यग वर्णन · मुख, अधर, दन्त, नेत्र, भौह, ललाट, वेणी, माग, मुख-सपुट, रद, चिबुक, कठ, कठ की रेखाएँ, वक्ष तथा उसकी विशालता, उत्तुगता एव पीनता, त्रिबली, रोम, नाभि, कटि, जघ, भुजा, हाथ, पॉव की उगलियाॅ आदि ।

अलकरण तथा रूपसज्जा पीताम्बर, कछनी, चन्दन, कुडल, मेखला, केशरलेप, केशर तिलक, मुरलिका, मोरचन्द्रिका, माल्यानुलेपन, वशीरव, गुजा, बेनु, बनमाला, मृगमद, मलयज तथा केशर का लेप, कर्पूर, अगरु, अरगजा आदि चन्दनो के लेप, कुडल, तरकी, बेसरि, मोतीमाला, मोतिसरा, बुलाक, नथ, पुष्पसज्जा, चोली, चीर आदि ।[1]

स्वभाव एव भाव व्यापार आदि का चित्रण यमुना जल विहार, नायक-नायिका का प्रथम दर्शन, दर्शन की लालसा, परस्पर आसक्ति, आकर्षण, तीव्रता, मिलन की उत्कटता, मन, कर्म एवं वाणी से एकमात्र एकाग्रता, नित्यक्रीडा, कठ मे लगाना, परस्पर केलि क्रीडा मे उन्मत्त होना, कुंजभवन-मे रतियुद्ध, आलिगन, चुम्बन, परिरभन, विरह, व्याकुलता, उन्माद, आवेग आदि भावो तथा तत्सम्बन्धी क्रियाओ के सदर्भ मे अनेकानेक अप्रस्तुतो का प्रयोग किया गया है ।

शृगारमूलक इन प्रस्तुतो के लिए दैनन्दिन प्रयुक्त होने वाले व्याव-हारिक एव अन्य प्रकार के अनेक अप्रस्तुत वैष्णव भक्तिकाव्य मे प्राप्त है । सगीत, नृत्य, वाद्य, गृहकार्य, कृषिसूचक, मध्यकालीन शासन, व्यापारिक कार्य आदि मे प्रयुक्त होने वाली शब्दावली शृगारमूलक अप्रस्तुत विधान के रूप मे मिलती है । सक्षेप मे इनकी अप्रस्तुतमूलक शब्दावली को तीन भागो मे विभक्त किया जा सकता है—

१ काव्यशास्त्रीय या काव्यपरम्परा मे रूढ शब्दावली
२ तत्कालीन समाज मे प्रचलित शब्दावली
३. इसके अतिरिक्त इन काव्यो ने अप्रस्तुत के रूप मे धार्मिक या पौराणिक पात्रो तथा घटनाओ का प्रयोग किया है ।

इनके इन अप्रस्तुतो को देखकर इनके काव्य सम्बन्धी दृष्टिकोण का

१: इसके विशेष अध्ययन के लिए देखिए, 'सूर की शब्दावली' का अध्ययन, डॉ० निर्मला-सक्सेना, प्रका० हिन्दुस्तानी एकेडेमी, प्रयाग

अनुमान सरलता से लगाया जा सकता है। ये काव्य के द्वारा व्यावहारिक जीवन एव धार्मिक वातावरण की एकता की ओर सजग थे।

रूपक

उपमा के साथ जिस अलकार का अधिकतापूर्वक प्रयोग मिलता है, वह रूपक है। रूपक के प्रयोग को दृष्टि मे रखकर इन कवियो की काव्य-दृष्टि का अनुमान सरलता से लगाया जा सकता है। शेष, अन्य कवियो मे सूर, नन्ददास, व्यास, परमानन्ददास रूपक का प्रयोग अधिक मात्रा मे करते है।

निरग रूपक निरग रूपक का प्रयोग भक्तिकाव्य मे अत्यधिक हुआ है। प्रायोगिक दृष्टि से यह उपमा से थोडा-सा ही पृथक् है। अप्रस्तुत मे प्रस्तुत का अध्यवसान या आरोपण होने के कारण वाचकधर्मलुप्तोपमा से बहुत कम पृथक् रह पाता है। वस्तु एवं वरतु के लिए प्रयुक्त अप्रस्तुत के नियोजन की मम्पूर्णत वही दृष्टि इस अलकार के प्रयोग मे भी वर्तमान है, जो उपमा मे मिलती है। इसके प्रस्तुतो एवं अप्रस्तुतो की दृष्टि से उपमा मे कम अन्तर दिखाई पडता है। जहाँ तक भाव विवेचन या अभिव्यक्ति का प्रश्न है वहाँ उपमालकार से निरगरूपक अलकार मे थोडा-सा अन्तर दिखाई देता है। इन अलंकारो का प्रयोग भावाभिव्यक्ति के सदर्भ मे अधिक हुआ है। ये वस्तु के व्यजक न होकर भाव के व्यजक है, इनके द्वारा भाव की गभीरता पर अधिक बल पडा है। निरगरूपक के सदर्भ मे प्रयुक्त भाव सत्सग, ज्ञान, भक्ति, इष्ट की शक्तिमत्ता, प्रेम, शृगार तथा सौन्दर्यानुभूति आदि के है।

सागरूपक यह दो प्रकार का है—एक अतिशयोक्ति का अग बन जाने के कारण रूपकातिशयोक्ति के रूप मे प्रयुक्त हुआ है, दूसरा, शुद्ध सागरूपक है। तुलसी एव सूर के काव्यो मे इतने लम्बे-लम्बे सागरूपको का प्रयोग मिलता है, जिससे उनकी आलकारिक सजगता का अनुमान सरलता से लगाया जा सकता है। मानस के उत्तरकाड मे ६४ अर्धालियो का विस्तृत सागरूपक प्राप्त है।[१] तुलसी ने लम्बे-लम्बे साग रूपको का प्रयोग गीतावली, कृष्णगीतावली एवं विनयपत्रिका मे भी दिया है। इस अलकार के प्रस्तुत पक्ष मे कवित्व की उत्पत्ति, कवित्व की प्रशसा, रामकथा के पात्रो मे विशेष रूप से राम, लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न, कौसल्या, हनुमान, दशरथ, जामवन्त, अगद, विभीषण,

---

१ मानस, उत्तरकाड दो० स० ११७ की ८ वी अर्धाली के बाद से ११८ तक

रघुपति के उपासक, खग, मृग, सुर, नर, शकर आदि की वन्दना, साधु-माहात्म्य, सत्सगति, प्रेममूलक चेष्टाओ का वर्णन, प्रत्यग वर्णन, भाव चित्रण, विहार एव लीला आदि है। जहाँ तक अप्रस्तुत का प्रश्न है, इन कवियो ने ऐसी वस्तुओ को चुना है, जो दूर तक कार्यकारण सम्बन्ध से युक्त हो या उसके अनेक अग भेद हो। इस दृष्टि से इन प्रसगो मे समुद्र, नदी, वृक्ष, मानस, वर्षा, बन, क्रीडास्थली, सूर्योदय, रात्रि, दिन, दीपक आदि का अप्रस्तुतीकरण किया गया है। कही-कही इन्ही के साथ पौरणिक कथाओ या पात्रो का भी अप्रस्तुतीकरण मिलता है। मानसकार तथा सूरदास इस प्रकार के अप्रस्तुत सम्बन्धी प्रयोगो मे अत्यधिक सिद्धहस्त है। सागरूपक का प्रयोग भाव-निरूपण की ही दृष्टि से हुआ है। इसके द्वारा भक्त कवि अधिकतर भाव की व्यजना ही कराते है। कही-कही चेष्टा के निरूपण मे भी ये अलकार प्रयुक्त है। सूर ने अनेक स्थलो पर सागरूपक अलकार का प्रयोग चेष्टा के सदर्भ मे किया है। शेष कवि, इसका अधिक प्रयोग भाव निरूपण के सदर्भ मे करते हैं।

उत्प्रेक्षा : सम्भावनामूलक अलकारो की दृष्टि से इसका महत्त्वपूर्ण स्थान है। उत्प्रेक्षा अन्य साम्यमूलक अलकारो से इसलिए भिन्न है कि इसमे दृष्टिगत प्रत्यक्ष सादृश्य का प्रयोग न होकर काल्पनिक सादृश्य का प्रयोग मिलता है। यहाँ सभावना का तात्पर्य मात्र काल्पनिकता से है। उपमा आदि अलकार तो रूढिबद्ध परम्परा का आँख मूदकर समर्थन करने के कारण व्यजनाशून्य हो जाते है, किन्तु उत्प्रेक्षा के माध्यम से नवीन वस्तुव्यंजना का बोध होता है। निश्चित रूप से कवित्व शक्ति का वास्तविक मूल्याकन उत्प्रेक्षा के आधार पर ही किया जा सकता है। कवि की कल्पनाभिव्यजन-शक्ति का पूर्ण परिचय उत्प्रेक्षालकार के द्वारा किया जा सकता है। हिन्दी वैष्णव भक्ति काव्य मे सबसे अधिक उत्प्रेक्षा अलकार का प्रयोग किया गया है। उसका कारण सम्भवत यही है कि उनकी काव्यदृष्टि कल्पना के क्षेत्र मे पूर्ण स्वच्छन्द थी। इन कवियो ने उत्प्रेक्षा अलकार के लिए भी 'उपमा' शब्द का प्रयोग किया है। जिस तरह तुलसी की रुचि रूपक प्रयोग की ओर अधिक सचेष्ट मिलती है उसी प्रकार सूर को उत्प्रेक्षा सर्वाधिक प्रिय है।

उत्प्रेक्षा का प्रस्तुत पक्ष रामकथा, सत्सगति, भक्ति निरूपण, स्थान, अग वर्णन, सीता एव राधा के सौन्दर्य निरूपण, अलकार वर्णन, प्रेमभाव की व्यजना, क्रियामूलकता के अन्तर्गत नेत्र, भौह, ओष्ठ, मुख, पलक आदि की गतियों

परस्पर काम चेष्टा, रूपवर्णन आदि के चित्रण के सदर्भ मे इस अलकार का प्रयोग किया गया है।

उत्प्रेक्षा की वाचक शब्दावली के अन्तर्गत मानहुँ, मनहुँ, मनहु, मनु, जेसी, जनु, मनो, ज्यो, जानहुँ, जानो, मानो आदि शब्दो का प्रयोग मिलता है।

उत्प्रेक्षा का अप्रस्तुत पक्ष उत्प्रेक्षा मे प्रयुक्त होने वाले अप्रस्तुतो को सामान्य रूप से दो भागो मे विभक्त किया जा सकता है—प्रथम, काव्यशास्त्रीय रूढ़ अप्रस्तुत तथा द्वितीय, मौलिक अप्रस्तुत। काव्यशास्त्रीय रूढ अप्रस्तुतो का प्रयोग अग-प्रत्यग वर्णन, सौन्दर्य चित्रण, चेष्टावर्णन आदि के अन्तर्गत ही मिलता है। इनके अतिरिक्त मौलिक अप्रस्तुतो की संख्या अधिक है। उत्प्रेक्षा सम्बन्धी अप्रस्तुतो को उनके स्वरूप की दृष्टि से तीन भागो मे विभक्त किया जा सकता है।

१ शब्दगत अप्रस्तुत २ पदगत अप्रस्तुत ३ वाक्यगत अप्रस्तुत

उत्प्रेक्षामूलक शब्दगत अप्रस्तुत : इन अप्रस्तुतो की सख्या अधिक है। काव्य-शास्त्रीय परम्परा मे प्रयुक्त प्राय समस्त रूढ अप्रस्तुत यहाँ प्रयुक्त है। इनका प्रयोग प्रायः स्फुट अग-प्रत्यग एव चेष्टाओ के वर्णन मे मिलता है। ये अप्रस्तुत इस प्रकार है —

वदन-इन्दु, सरोज, विधु, ससि आदि, दसन-कुद, गति-गजराज, पद-कमल, नख-इन्दु, जानु-करभा, दसन-दुति, विद्युत, आँख-खजन आदि अधर-विद्रुम, भुजा-अहिराज, कटि-केहरि, वचन-कोकिल, नासा-शुक आदि। इसी सदर्भ मे मौलिक उत्प्रेक्षा सम्बन्धी शब्दगत अप्रस्तुत मिलते है यथा उरोज-खग, चंचुपुटी, शैवालमजरी, कटाक्ष-किरण, जयमाल-वकपाति, मोती-माल-सुरसरि धारा, कनक छुद्रावली, हसमाल, ग्रीवमोती, गगा-यमुना आदि।

ये रूढ उत्प्रेंक्षाएँ परम्परा से ही उपमान-क्षेत्र मे प्रयुक्त होती आई है। इन कवियो ने इनके द्वारा भावाभिव्यजन-व्यापार का बोध कराया है। खडिता एव मान प्रकरण मे प्रयुक्त उत्प्रेक्षा अलकार का मूल उद्देश्य व्यजना का चमत्कार दिखाना रहा है।

पदगत अप्रस्तुत भक्त कवियो मे पदगत उत्प्रेक्षालकार भी प्राप्त है। इनका प्रयोग शुद्ध, स्वच्छन्द भावाभिव्यजन रहा है। इनमे इन कवियो की काल्पनिक

क्रियाशीलता का परिचय मिलता है—

यथा, कटि छुद्रावलि—कनक भूमि ढिग स्थित रुचिर मराल।
बनमाल—बरन बरन सुक युक्त सुरसरितट।
अरुण अधर—द्विजकोटि वज्र द्युति ससि घन रूप समाने।
कुचित अलक—सिलीमुख मिलि मनु लै मकरद उडाने
कटि मेखला अलकृत साजति—साते रासि मेलि द्वादस मे
लट लटकनि मनो मत्त मधुपगन मादक मदहिं पिये। आदि

इस प्रकार के प्रयोग कवि की स्वतत्र काल्पनिक काव्यशक्ति का परिचय देते है।

वाक्यगत अप्रस्तुत कल्पनाशक्ति की उन्मुक्त अवस्था मे वाक्यगत अप्रस्तुतो का प्रयोग मिलता है। तुलसी, सूर, व्यास एव परमानन्ददास आदि कवियो ने इसका प्रयोग किया है। इसका सबसे अधिक प्रयोग सूरसागर मे मिलता है।

यथा, वह लखि निमिष नवत मुरली पर कर मुख नयन भए इक चारे।
मनु जलरुह तजि बैर मिलत विधु करत नाद बाहन चुचुकारे।

उपमा एक अनूपम उपजति कुंचित अलक मनोहर भारे।
विडरत विझुकि जानि रथ ते मृग जनु ससकि ससि लगर डारे।
कनक बरन तन पीत पिछौरी उर भ्राजति बनमाल।
निर्मल गगन स्वेत चादर पर मनो दामिनी माल।

इस प्रकार के अप्रस्तुतो के साथ कही-कही सम्पूर्ण पदगत एक प्रस्तुत के लिए सम्पूर्ण सदर्भो को कवि अप्रस्तुतमय कर देता है। इस प्रकार वैष्णव भक्ति काव्य मे उत्प्रेक्षालकार अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है।

अतिशयोक्ति हिन्दी वैष्णव भक्तिकाव्य मे अतिशयोक्ति के सम्पूर्ण प्रकार प्राप्त हो जाते है। सामान्य दृष्टि से अतिशयोक्ति अलकार को दो भागो मे विभक्त किया जा सकता है

१ अतिशयोक्त्याभास
२ शुद्ध अतिशयोक्ति

१–अतिशयोक्त्याभास इसका एकमात्र प्रयोग ब्रह्म की अनन्तशक्तिमत्ता के सदर्भ मे किया गया है। राम या कृष्ण तथा उनके सहायक पात्र दैवी शक्तियो

से सम्पन्न हैं । फलत अतिशयोक्तिपूर्ण अप्रस्तुत विधान इसी के अनिवार्य अग बनकर प्रयुक्त हुए है । ऐसे अवसरो पर कवि ब्रह्म की अनन्त शक्तिमत्ता के द्योतन के लिए अतिशयोक्तिपूर्ण पद्धति का प्रयोग करता है । इस प्रकार यह अलकार शुद्ध अतिशयोक्ति न होकर अतिशयोक्त्याभास हो जाता है । इनके अनेकानेक उदाहरण भक्तिकाव्य मे प्राप्त है—

उदा० करुनामय जब चाप लियौ कर, बाधि सुदृढकर चीर ।
भूभृत सीस नमित जो गर्वगत पावक सीच्यो नीर ।
डोलत महि अधीर भयो फनपति कूरम अति अकुलान ।
दिग्गज चलित, खलित मुनि आसन इन्द्रादिक भयमान ।

इस उदाहरण को अतिशयोक्ति अलकार के अन्तर्गत नही रखा जा सकता है, क्योकि प्रस्तुत की शक्तिमत्ता की दृष्टि से यह कार्य असम्भाव्य न होकर सभाव्य है । इस प्रकार के अनन्त उदाहरण हिन्दी वैष्णव भक्ति काव्य मे भरे पडे है । इनका मूल उद्देश्य इष्ट की शक्तिमत्ता का आभास कराना मात्र है ।

शुद्ध अतिशयोक्तिमूलक अलकार इसका प्रयोग अनन्त शक्तिमत्ता, सौन्दर्य के अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन, प्रभावमत्ता, चेष्टा की त्वरा, अग-प्रत्यग वर्णन, साकेतिक वार्ता आदि सदर्भो मे अधिक हुआ है । साकेतिक वार्ता के अन्तर्गत गुरुजनो के समीप नायक से सम्मिलन के उचित अवसर का निर्देश कई-कई स्थलो पर इसी अलकार के द्वारा कराया गया है । अनन्त शक्तिमत्ता के संदर्भ मे सम्बधातिशयोक्ति, असम्बधातिशयोक्ति एवं चचलातिशयोक्ति का प्रयोग प्राप्त है । शकर, राम, कृष्ण, हनुमान आदि की शक्तिमत्ता की व्यजना इसी अलकार के द्वारा कराई गई है । मानस मे रामकथा के माहात्म्य निरूपण मे कई बार अतिशयोक्ति का प्रयोग किया गया है । सौन्दर्य-चित्रण एव अग-प्रत्यग वर्णन मे सौन्दर्यातिरेक की व्यजना इसी अलकार के द्वारा कराई गई है । सीता, राधा, कृष्ण एव राम के सौन्दर्य-निरूपण मे इन कवियो ने इसी अलकार को माध्यम बनाया है । मानस मे सीता के सौन्दर्य की व्यजना के लिए कवि ने इसी अलकार का प्रयोग किया है । यथा—

जो छवि सुधा पयोनिधि होई । परम रूपमय कच्छप सोई ।
सोभा रज्जु मदरु सिंगारू । मथइ पानि पकज निज मारू ।
यहि विधि उपजई लच्छ जब सुन्दरता सुख मूल ।
तदपि सकोच सनेह बस, कहिय सीय समतूल ।

प्रतीप साम्यमूलक अलकारो मे प्रतीप का भी प्रयोग वैष्णव भक्तिकाव्य मे अधिक मिलता है। प्राय प्रयोगाधिक्य मे तृतीय, चतुर्थ एव पचम प्रतीप की ही अधिकता मिलती है। अनेक स्थलो पर उपमेय के सम्मुख उपमान का निरादर मिलता है। चतुर्थ एव पचम् प्रतीत के प्रयोग तृतीय की तुलना मे कम प्राप्त है। चतुर्थ प्रतीप के अन्तर्गत उपमेय की तुलना मे उपमान तुल नही पाता एव पचम प्रतीप मे उपमेय की तुलना मे उपमान हीन हो जाता है। माहात्म्य निरूपण, अग-प्रत्यग वर्णन एवं सौन्दर्य-निरूपण के सदर्भ मे इस अलकार का प्रयोग अधिक किया गया है। इस अलकार के द्वारा वस्तु एव भाव निरूपण की ओर सचेष्टता मिलती है। चेष्टा या क्रिया व्यापार के सदर्भ मे इसका प्रयोग कम मिलता है।

दृष्टान्त एव उदाहरण वैष्णव भक्तिकाव्य मे उदाहरण अलकार प्रचुरता मे प्राप्त होते है। इसके लिए वाचक शब्दो मे जैसे, ज्यो, जिमि, यथा आदि का प्रयोग मिलता है। उदाहरण अलकार के समकक्ष दृष्टान्त अलकार भी प्राप्त हैं। उदाहरण एव दृष्टान्त अलकारो का प्रयोग शरणागत का उद्धार, शरणागति भाव, मर्यादा की रक्षा, दीनता से भक्त की रक्षा, भक्तो की पीडा का ज्ञान, स्वामित्वसूचक भाव की पुष्टि, भक्त वत्सलता, लोकहित का भाव, इष्ट माहात्म्य, भक्ति की पुष्टि, स्वभाव निरूपण, देवताओ का माहात्म्य निरूपण, सामर्थ्य की व्यजना, सत्संगति एव कुसमति के स्वरूप की व्यजना, राम कथा के स्वरूप एव माहात्म्य का निरूपण, आत्मशालीनता एव शृंगार विषयक भावो के सदर्भ मे हुआ है। ये दोनो अलकार भाव की दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण हैं। काव्य की दृष्टि से उनका उद्देश्य निन्दा, भय, प्रशसा, माहात्म्य, आत्मशालीनता, पौराणिक विश्वासो एव कथाओ के आधार पर पवित्रता, पवित्रतम वस्तु की कल्पना, आत्म-हीनता, इष्ट की श्रेष्ठता एव उच्चता, सामर्थ्य, असामर्थ्य किसी भाव की तीव्रता का बोध, वात्सल्य एव सरक्षण तथा रति विषयक भावो की व्यजना कराना है। वस्तु की दृष्टि से ऊपर कहे हुए भाव महत्त्वपूर्ण हैं। इन्हे प्रस्तुत की कोटि मे रखा जा सकता है। दृष्टान्त एव उदाहरण दोनो अलकारो के लिए प्रयुक्त प्रस्तुतो की पुष्टि के लिए प्रयुक्त अप्रस्तुत अधिकतर पौरा-णिक परम्परा के ही हैं। कही-कही लौकिक विश्वासो का भी समर्थन अप्रस्तुत के रूप मे मिलता है। प्रस्तुत में निहित भावो की पुष्टि के लिए निम्नलिखित उदाहरणो को प्रयुक्त किया गया है—

दीनता एवं आत्मोद्धार के भाव के सदर्भ मे प्रयुक्त उदाहरण या अप्रस्तुत शिव, ब्रह्मा, प्रह्लाद, ध्रुव, विदुर, राजसूय यज्ञ, व्याध, अजामिल, शबरी के जूठे बेर, दुर्वाशा-श्राप, गोवर्धन धारण, अम्बरीष आदि कथाओ का उल्लेख मिलता है।

वन्दना के सदर्भ मे प्रयुक्त उदाहरण . शिव, सिधुसुता, प्रह्लाद, अहल्या, गोपागनाएँ, पाडवदल, विदुर, सुदामा, द्रौपदी आदि प्रचलित समस्त कथाओ का प्रयोग इस सन्दर्भ मे मिलता है।

शरणागत का उद्धार, शरणागति एवं इष्ट माहात्म्य के सदर्भ मे प्रयुक्त उदाहरण · अवरीग, दुर्वासा, गोवर्धनधारण, इन्द्रगर्व विनाश, हिरणाकुसवध, कस वध, रावण कुम्भकरण आदि राक्षसो की विनाश-कथाएँ, नरहरि रूप कथा, आदि का उल्लेख है।

मर्यादा की रक्षा के लिए प्रयुक्त उदाहरण अबरीष, शिवि, वासुदेव-देवकी, कौसल्या-दशरथ, प्रह्लाद आदि की कथाओ का प्रयोग मिलता है।

दीनता से रक्षा के लिए प्रयुक्त उदाहरण दु शासन, द्रौपदी, गज-ग्राह कथा, ब्रह्मवाण से गर्भ रक्षा, पाडव पुत्र की रक्षा आदि पौराणिक कथाएँ मिलती है।

भक्तो की महत्ता के ज्ञान के सदर्भ मे प्रयुक्त अप्रस्तुत इसके लिए निम्नलिखित उदाहरण प्राप्त है—गोवर्धनधारण, शिशुपालवध, कसवध, नृपमुक्ति, नृसिंह-वपुधारण, असुरवध की समस्त कथाएँ, द्रुपदतनया की रक्षा, अबरीष की रक्षा, लाक्षागृह मे पाडवो की रक्षा, वरुणपाश से नन्द की रक्षा, दावानल से रक्षा आदि।

स्वामित्व या माहात्म्य की सूचना के लिए प्रयुक्त उदाहरण इस दृष्टि से कौरवो को जीत करके युधिष्ठिर को राज्यदान, रावणवध, असुर विनाश की अनेक कथाएँ, गुरुसुत की रक्षा, सुदामा, दु शासन आदि कथाएँ मिलती है।

भक्तो की रक्षा के संदर्भ मे प्रयुक्त उदाहरण इस सदर्भ मे इन कवियो ने मध्यकाल मे प्रयुक्त समस्त पौराणिक कृष्ण एवं रामकथा से सम्बन्धित कथाओ का प्रयोग किया है।

ये पौराणिक उदाहरण इसी तरह वस्तु की व्यजना से सम्बन्धित हैं। कही-कही लौकिक व्यवहार मे प्रचलित अतिसामान्य कथाओ,

विश्वासो, किवदन्तियो आदि का भी प्रयोग उदाहरण या दृष्टान्त अलकार की पुष्टि के लिए प्रयुक्त किया है। इन उदाहरणो मे कौवे की निरामिषता, जल एव जोक का एक साथ उत्पन्न होना, कालिख से पुराण का लिखा जाना, पारस पत्थर के स्पर्श से लोहे का सोना हो जाना, गगा की पवित्रता, मणि का अहि, गिरि, गज के साथ पाया जाना, खटाई के पडने से दूध का जमना आदि। इन दोनो अलकारो के सहकारी अलकार सकर या ससृष्टि के रूप मे मिलते है। हिन्दी वैष्णव भक्तिकाव्य मे प्राप्त उदाहरण एव दृष्टान्त अलकारो के सहकारी अलंकार तुल्ययोगिता, दीपक, निदर्शना एव अर्थान्तर-न्यास अधिक हैं। इस दृष्टि से सकर एव ससृष्टि दोनो रूपो मे उदाहरण दृष्टान्त के साथ पाए जाते है।

इस प्रकार निष्कर्ष रूप से कहा जा सकता है कि उदाहरण एव दृष्टान्त अलकार के सदर्भ मे सर्वप्रथम एक प्रमुख भाव मिलता है, जिसे वस्तु कहा जा सकता है। इस वस्तु की पुष्टि के लिए उदाहरण या दृष्टान्त के रूप मे अनेक पौराणिक एव लौकिक विश्वासजन्य विषयो का कथन मिलता है। तुल्ययोगिता, अर्थान्तरन्यास, निदर्शना आदि अलकारो का प्रयोग करके कवि पुन उन उदाहरणो के आधार पर कुछ निष्कर्ष निकालता है, जो वस्तु की व्यजना का समर्थन करता है।

शेष अन्य अलकारो मे आक्षेप, निदर्शना, यथासख्य, विरोधाभास, अप्रस्तुत प्रशसा, विशेषोक्ति, व्याघात, तुल्ययोगिता, व्याजोक्ति, कारणमाला, सूक्ष्म, मुद्रा, सहोक्ति, परिकर, परिकराकुर, लोकोक्ति, सदेह, भ्रान्तिमान, मीलित, उन्मीलित, दीपक, प्रतिवस्तूपमा, अर्थान्तरन्यास, विभावना, काव्य-लिंग, तद्गुण, अतद्गुण आदि का प्रयोग अधिक मात्रा मे मिलता है।

इन अलकारो मे वस्तु के रूप मे वैष्णव भक्तिकाव्य मे व्यवहृत समस्त वर्ण्य विषय प्रस्तुत है। नीति, उपदेश, भक्ति, माहात्म्य, आराध्य विषयक रूपगुण, चेष्टा, व्यवहार, लीला आदि समस्त विषयो को स्पष्ट करने के लिए इन अलकारा का प्रयोग किया गया है।

वात्सल्य, सख्य एव मधुरलीला के अन्तर्गत चेष्टा, भाव तथा रूप-निरूपण के सदर्भ मे साम्यमूलक अलकारो का प्रयोग अधिक मिलता है। जहाँ तक भाव निरूपण का प्रश्न है, इनके द्वारा सात्विक एव श्रृगारमूलक दोनो प्रकार के भाव यहाँ व्यवहृत किए गए है। इसके माध्यम से कवि-

महत्ता, निन्दा, स्तुति, सन्सगति आदि से सम्बन्धित पवित्र भाव, आत्मगर्व, वैयक्तिक अह के विनाश से सम्बन्धित भाव, कवित्व शक्ति की व्यजना, गूढ स्नेह, रमणीभाव, शील एव सदाचारगत अन्य उदात्त गुणो का स्पष्टीकरण, पुण्य, सात्विकता, मानव स्वभाव, स्नेह, प्रियता, कान्ति, शोभा, प्रेम, सौन्दर्य की अलौकिकता, आसक्ति, स्वरूप विषयक मादकता, आगिक सौन्दर्य के प्रति लिप्सा आदि भावो की व्यजना कराता है।

चेष्टा निरूपण के अन्तर्गत लौकिक एव अप्राकृत घटना-व्यापार से सम्पन्न अनेक चेष्टाओ मे त्वरा, अन्त· सघर्ष, उदात्तता, शालीनता आदि की व्यजना मिलती है। इसकी पोषण क्रियाओ मे शृगारमूलक चेष्टाओ की लौकिक जीवन मे घटित होने वाली सूक्ष्म क्रियाएँ यहाँ वर्तमान है। इस दृष्टि से जीवन क्षेत्र मे प्रयुक्त होने वाली समस्त घटनाएँ यहाँ व्यवहृत हुई है। अलौकिक चेष्टाओ की व्यजना लौकिक क्रियाओ के ही आधार पर की गई है। जहाँ तक रूप एव गुण निरूपण का प्रश्न है, इसका सम्बन्ध अधिकाधिक पौराणिक एव काव्य परम्परा से है।

निष्कर्ष

हिन्दी वैष्णव भक्तिकाव्य मे सबसे अधिक प्रयोग साम्यमूलक अलकारो का हुआ है। साम्यमूलक अलंकारो मे उत्प्रेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण है। दृष्टान्त एव उदाहरण अलकारो का प्रयोग सादृश्यमूलक अलकारो की भाँति प्रचुरता से हुआ है। साम्यमूलक अलकारो के प्रयोग का मूलकारण माहात्म्य निरूपण, सौन्दर्य चित्रण एव अग प्रत्यग वर्णन है। उत्प्रेक्षा का प्रयोग चेष्टानिरूपण एवं काल्पनिक सौन्दर्य-विधान के सदर्भ मे किया गया है।

इनके कार्यों का पूर्णरूपेण निर्वाह इसी अलकार के द्वारा किया गया है। उदाहरण एव दृष्टान्त अलकार भक्ति भावना की पुष्टि के लिए अधिक प्रयुक्त है। सौन्दर्य निरूपण एव अगप्रत्यग वर्णन के सदर्भ मे भी इसका प्रचुर प्रयोग हुआ है।

शेष अलकारो के प्रयोगों के सदर्भो का उल्लेख किया जा चुका है। मूलत सम्पूर्ण अलकार भक्ति काव्य के वर्ण्य विषय के स्पष्टीकरण के लिए ही प्रयुक्त हैं। अलकार के द्वारा वस्तु की व्यंजना कराना भक्तिकाव्य का मुख्य लक्ष्य रहा है। सस्कृत कवियो की भाँति इन कवियो ने अलकार के द्वारा अनुरजन, क्रीडावृत्ति एवं चमत्कृति का प्रयोग कम ही किया है।

सूर एव तुलसी के काव्य मे यह सामान्य वृत्ति कही-कही परिलक्षित अवश्य होती है।

वक्रोक्तिसिद्धान्त तथा वैष्णव भक्तिकाव्य

काव्यशास्त्रीय दृष्टि से वक्रोक्ति के ६ भेद किए गए है—वर्ण्यविन्यास, पदपूर्वार्ध, पदपरार्ध, पद या वाक्यविन्यास, प्रकरण एव प्रबन्धवक्रता। वक्रोक्ति सम्बन्धी समस्त रचना-व्यापार शब्दार्थ एवं रचनास्वरूप पर आश्रित हैं। वर्णविन्यास वक्रता के अन्तर्गत समस्त शब्दालकार, अनुप्रास, यमक, श्लेष आदि प्रयुक्त होते है। पदपूर्वार्ध मे पूर्व पद से सम्बन्धित सज्ञा, सर्वनाम, विशेषण, प्रत्यय, लिंग, क्रिया, रूढिगत प्रयोग, उपचार आरोपणवृत्ति सज्ञा एव क्रियाओ से जुडने वाले प्रत्ययो एव तद्धितो के द्वारा चमत्कार उत्पन्न किया जाता है। पदपरार्ध मे उत्तरपद मे स्थित वाक्यरचना के समस्त काल, पुरुष, वचन, परस्मैपद, कर्मवाच्य आदि के द्वारा वक्रता उत्पन्न की जाती है। पदो के पश्चात् वाक्य विन्यास का स्थान आता है। इसमे कवि उदार एव सुन्दर वस्तु के रमणीक वर्णन का आधार ग्रहण करता है। स्वभावोक्ति या चमत्कृति के माध्यम मे रीति सम्बन्धी विशेषता को उत्पन्न कराना वाक्यवक्रता है। कुन्तक इस 'वक्रता' को मार्ग का नाम देता है। यह मार्ग रीति-सिद्धान्त ही है। इस रीति का मुख्याधार है, वस्तु का यथातथ्य स्वभावगत निरूपण। जडवस्तु का वर्णन उसके स्वभाव के अनुकूल होना चाहिए एव चेतन सम्बन्धी वर्णन रसोद्दीपन के रूप मे। इस प्रकार इसमे स्वभावोक्ति का विशेष हाथ है। प्रकरणवक्रता का सम्बन्ध प्रसग विशेष से है। इसमे कवि रचना विशेष के प्रसग-औचित्य को सिद्ध करने के लिए विशेष प्रकार के वातावरण की सृष्टि करना चाहता है। इसके लिए कवि ऐसी प्रणाली का आधार ग्रहण करता है, जिससे प्रसग मे चमत्कृति उत्पन्न हो जाए। इसका अन्तिम भेद प्रबन्धवक्रता का है। यह प्रबन्ध ध्वनि की ही भाँति वक्रता का व्यापक स्वरूप है। कवि इसके अन्तर्गत घटना विशेष की प्रमुखता, रचना के निश्चित उद्देश्य आदि के प्रयोग से कथानक मे इस प्रकार की विशिष्टता उत्पन्न करता है, जिसके फलस्वरूप सम्पूर्ण प्रबन्ध मे विशेष प्रकार की चमत्कृति उत्पन्न हो जाती है। इस प्रकार वक्रोक्ति विषयक सम्पूर्ण-चमत्कार योजना रचना के बाह्य स्वरूप पर आधारित हैं। कवि अपने निश्चित लक्ष्य की पूर्ति के लिए वर्ण, पूर्वपद, उत्तर पद, वाक्य, प्रकरण एवं प्रबन्ध मे कतिपय विशिष्ट प्रयोग करता है। इस परिवर्तन विशेष से इनमे

वक्रता का पोषण होता है। इस प्रकार वक्रता काव्य के वाह्य पक्ष से ही अधिक सम्बन्धित है।

वर्णविन्यास वक्रता · हिन्दी वैष्णव भक्तिकाव्य मे शब्दालकारो का प्रयोग वर्तमान है। जहाँ तक अनुप्रास का प्रश्न है—लाटीय को छोडकर इसके समस्त भेदोपभेद भक्तिकाव्य मे मिल जाते हैं। भक्त कवियो मे शब्दालकार सम्बन्धी सचेष्टता का सकेत अनेक स्थलो पर मिलता है। तुलसी ने 'आखर, अलकृति अरथ के' काव्य-प्रयोग की चर्चा मानस मे की है। ये मानस के आरम्भ मे वाणी विनायक गणेश से वर्ण एव अर्थसघ की सिद्धि की प्रार्थना करते है। तुलसी को यह पूर्णतया ज्ञात था कि उत्कृष्ट कवियो की कसौटी अक्षर एव अर्थ दोनो है। यही कारण है कि वे वाणी एव अर्थ की साथ-साथ उपासना करते है। भक्तमालकार ने सूर के कवित्व की विशेपताओ की ओर सकेत करते हुए उन्हे अनुप्रास योजना मे विशेष कुशल बताया है। इन साक्ष्यो से इतना स्पष्ट अवश्य हो जाता है कि इन कवियो की दृष्टि शब्दालकार या वण-नियोजन की वक्रता पर अवश्य थी।

पदपूर्वार्ध पर्यायवक्रता भक्तिकाव्य मे पर्यायवक्रता के उदाहरण कम प्राप्त हैं। इसके अन्तर्गत पर्याय के चमत्कारपूर्ण प्रयोग के माध्यम से वक्रता उत्पन्न की जाती है। मानस तथा सूरसागर मे इसके छुटपुट सकेत मिलते है —

> **विस्व भरन पोषन कर जोई। ताकर नाम भरत अस होई।**
> **जाके सुमिरन ते रिपु नासा। नाम सत्रुहन वेद प्रकासा।**
> **लच्छन धाम राम प्रिय, जग जाके आधार।**
> **गुरु वसिष्ठ तेहिं राखा, लछिमन नाम उदार।**

इनमे क्रमशः भरत, लक्ष्मण एव शत्रुघ्न का उल्लेख है। साथ ही, भरण-पोषण के पर्याय भरत, शत्रुनाश के पर्याय शत्रुघ्न तथा लक्षणधाम के पर्याय लक्ष्मण बताए जाते गये है। इस प्रकार यहाँ पर्याय सम्बन्धी वक्रता स्पष्टरूप से लक्षित होती है।

इसी प्रकार से भक्तिकाव्य मे पदवक्रता के अन्य भेदो सवृत्ति, प्रत्यय, वृत्ति आदि के अनेक उदाहरण मिल जाते है।

पदपरार्ध वक्रता : यह वक्रोक्ति कारक, काल, पुरुष, प्रत्यय एव पदवक्रता के रूप मे प्रकट होती है। इसका सम्बन्ध पद के उत्तर भाग से है।

कारक जहाँ किसी विशेष प्रयोजन से कारक मे परिवर्तन उपस्थित किया जाता है। भक्तिकाव्य मे इसके उदाहरण कम मिलते है।

अनहित तोर प्रिया केहि कीन्हा। केहि दुइ सिर केहि जमु चह लीन्हा।

कौन दो सिर का होना चाहता है, कौन यमराज को लेना चाहता है। जिनके कर्मवाच्य मे किसको दो सिर का कर दूँ, तथा किसे यमराज को दूँ, हैं। यहाँ दशरथ की शक्ति की व्यजना कराने के लिए लिए कवि इस प्रकार की शब्दावली का प्रयोग करता है।

किसी औचित्य के अनुरूप काल का प्रयोग सूर के विरह वर्णन मे प्राप्त है। स्मरण अलकार या स्मृति सचारीभाव विषयक समस्त कथन काल-वैचित्र्य के अन्तर्गत ही आते हैं। इस प्रकार कथन से सम्बन्धित अभिव्यक्ति-गत सम्पूर्ण कौशल भक्तिकाव्य मे अपनी सम्पूर्णता के साथ अभिव्यक्त हुआ है।

वाक्यवक्रता : कुन्तक के अनुसार यह स्वभावोक्ति या कवि की अभ्यासजन्य विलक्षणता से सम्बन्धित है। भक्तिकाव्य मे वक्रताजन्य वर्णन सर्वत्र सुलभ है। प्रकृति चित्रण, देव एव असुरवर्णन, कृष्ण तथा राम के बाल्यजीवन आदि के स्वाभाविक वर्णन रूपो को इसी के अन्तर्गत रखा जा सकता है। वाच्य तथा प्रतीयमान अर्थ से सयुक्त एव कवि की विलक्षण प्रतिभाजन्य वाक्यवक्रता के अन्तर्गत प्रायः समस्त अर्थालकारो का प्रयोग मिलता है। इस दृष्टि से प्राप्त अलकारगत वाक्यवक्रता हिन्दी भक्ति साहित्य मे सर्वत्र सुलभ है।

प्रकरणवक्रता : वक्रोक्तिकार कुन्तक ने शब्द, शब्दरचना एव वाक्यविन्यास के अतिरिक्त काव्य मे प्रयुक्त प्रकरण विशेष को भी वक्रता की सज्ञा दी है। इस प्रकरण की विशिष्टता यह है कि वह वक्रगर्भिता एवं औचित्य की दृष्टि से मूलविषय को पुष्ट करती है। प्रकरणवक्रता उसके अनुसार ६ प्रकार की होती है—

१ **नायक के चारित्रिक उत्कर्ष को दिखाने के लिए**

२ **रचना की विलक्षणता प्रगट करने के लिए**

३. **ऐतिहासिक कथानक मे परिवर्तन के द्वारा**

४. **सक्षिप्त प्रसग को सरस एव विस्तृत बनाने के लिए**

५ वर्णन के समर्थन के लिए प्रयुक्त दूसरा वर्णन रूप

६ किसी प्रकरण के भीतर अन्य प्रसंगो की कल्पना

प्रकरणवक्रता मूलरूपेण ऐसे काव्यो मे खोजी जाती है, जिसमे किसी न किसी रूप मे कथात्मकता वर्तमान हो। महाकाव्य, कथात्मक गीतिकाव्य, खड तथा अनेकार्थ काव्यो मे इस प्रकार की विशेषताएँ देखी जा सकती है। हिन्दी के वैष्णव भक्ति काव्य मे इस प्रकार के अनेक प्रकरण मिलते है। मानस मे धनुर्भंग का प्रसग नायक का शौर्य प्रकट करता है। पुष्पवाटिका, तापस का आगमन आदि प्रसग रचना मे विलक्षणता के सूचक है। सीता का अग्नि-प्रवेश नवीन कथा-प्रसग की योजना मे पूर्णरूपेण सहायक है। वैष्णव भक्ति-काव्य मे ऐतिहासिक कथानक नही आए है। ये पौराणिक कथानक है। इन कथानको मे भक्त कवियो ने काफी उलटफेर किया है। मानस मे प्रतापभानु कथा एवं भुशुण्डि गरुडसवाद की कथा कुछ इसी प्रकार की है। यद्यपि ये कथानक कल्पित नही है, किन्तु इनमे पर्याप्त यात्रा मे सशोधन किया गया है,। कथापरक गीतात्मक काव्यो मे छोटे-से-छोटे प्रसग को लेकर उसका विस्तृत काव्यपूर्ण सरस चित्रण अनेक स्थलो पर हुआ है। सूरसागर मे प्रयुक्त राधाकृष्ण-विहार, भ्रमरगीत, वात्सल्यवर्णन को इसी के अन्तर्गत रखा जा सकता है। सूर-परवर्ती कवियो मे राधा कृष्ण-केलि का वर्णन भी प्रकरणवक्रता का उदाहरण है। इसके अन्तर्गत शुद्ध काल्पनिक प्रकरणवक्रता भी प्राप्त होती है। नन्ददास की रासपचाध्यायी के अन्तर्गत रति एव कामदेव का प्रसग, सूरसागर मे राधा का रात्रि भर कृष्णकेलि मे समय व्यतीत करना और प्रातः माता से मोतीमाला के खो जाने का बहाना बताना, श्री कृष्ण द्वारा राधा के स्तन-स्पर्श के अवसर पर यशोदा के आ जाने पर गेद चुरा लेने का बहाना, राधा-मिलन के लिए कृष्ण का यशोदा से रात्रि मे गाय ब्याने का उदाहरण आदि कल्पनात्मक प्रकरणवक्रता से सम्बन्धित है। इस प्रकार प्रकरणवक्रता भक्तिकाव्य मे कथात्मकता के सदर्भ मे अनेक स्थलो पर प्रयुक्त मिलती है।

प्रबन्धवक्रता यह सम्पूर्ण कथानक के मूल मे देखी जाती है। इसके पाँच भेद किए गए है। किन्तु भक्तिकाव्य के सदर्भ मे एक ही प्रकार की प्रबन्ध-वक्रता देखी जाती है। नायक के सम्पूर्ण जीवनचित्रण को अभिव्यक्त करके मात्र उसी के आधार पर रचना का उद्देश्य प्रकट करना। इसके अन्तर्गत मानस, सूरसागर, रूपमजरी आदि प्रबन्धात्मक रचनाओ को लिया जा सकता है।

इस प्रकार वक्रता काव्य की वाह्य प्रकृति से ही सम्बन्धित है। किसी भी शब्दार्थरूप काव्य के ऊपर इस सिद्धान्त का आरोपण किया जा सकता है। विशेष रूप से शैलीप्रधान काव्यो के लिए मूल उपजीव्य वक्रोक्ति ही है। भक्तिकाव्य के शैलीपक्ष के निरूपण के लिए इस वक्रता को सामान्य आधार के रूप मे स्वीकार किया जा सकता है। सम्पूर्णकाव्य भक्ति को शैली के दृष्टिकोण से देखना असगत है। कारण स्पष्ट है, भक्तिकाव्य की रचना के मूल मे नैतिक, सामाजिक एव व्यक्तिगत आत्मसृजन की प्रेरणा निहित है। इसलिए शैलीवादी सिद्धान्तो से इसकी व्याख्या नही की जा सकती।

अलकार एव अलकार्य वक्रोक्तिवाद के अनुसार काव्य की मूलात्मा वक्रोक्ति या अन्तश्चमत्कार है। इस अन्तश्चमत्कार के लिए शैली पक्ष का चमत्कृत पूर्ण-होना अपेक्षित है। इस प्रकार वक्रोक्ति सिद्धान्त के अनुसार अलकार एव अलकार्य का भेद निरर्थक है।

हिन्दी वैष्णव भक्तिकाव्य मे प्राप्त वक्रोक्ति के उदाहरणो मे इस प्रकार की किसी भी स्थापना की ओर सकेत नही मिलता। भक्त कवि वक्रोक्ति का प्रयोग सोद्देश्य करता है। इसमे शैली सम्बन्धी विलक्षणता की सिद्धि न मिलकर भक्ति, नैतिक नियम, सामाजिक व्यवस्था, लीला नियोजन, माहात्म्य-वर्णन आदि वस्तुओ की व्यंजना कराने का उद्देश्य निहित है। ये कवि इस उद्देश्य की पुष्टि के लिए वस्तु के गुण, पात्रो की चेष्टाओ, रूप, स्वभाव, या वैचित्र्य का बोध कराने के लिए वक्रोक्ति का प्रयोग करते है। मानसकार द्वारा प्रयुक्त ऋष्यमूक का प्रकरणगत वक्रोक्ति वर्णन भास के शिशुपाल वध महा-काव्य मे प्राप्त रैवतक वर्णन से पूर्णरूपेण पृथक् है। यहाँ वस्तु की व्यजना आलंकारिक दृष्टि के सम्मुख धुँधली पड गई है। सूरसागर का गोपिका विरह कालगत वक्रोक्ति के रूप मे कृष्णलीला का जीवन्त चित्रण प्रस्तुत करता है। इस प्रकार भक्तिकाव्य मे प्रयुक्त वक्रोक्ति मात्र साधन या अलकार के रूप मे है। भक्ति काव्य मे वक्रोक्ति की वक्रता से कही अधिक पुष्टि रसात्मकता या प्रयोजनशीलता को मिली है। इस प्रकार भक्तिकाव्य के लिए वक्रोक्ति का प्रयोग मात्र शैलीपक्ष की सार्थकता का सूचक है।

भक्तिकाव्य में ध्वनिकाव्य सिद्धान्त की सम्भावनाएँ

हिन्दी वैष्णव भक्तिकाव्य मे ध्वनि सिद्धान्त के सम्पूर्ण लक्षण वर्तमान है। भक्तिकाव्य मे एकमात्र तुलसी ने मानस मे ध्वनि-सिद्धान्त के प्रयोग की

चर्चा की है[1] उनके अनुसार ध्वनि, वक्रोक्ति का प्रयोग मानस मे हुआ हे। इस ध्वनि तत्त्व को वे मानस मे प्राप्त मीन की भाँति विलास भाव से मयुक्त मानते है। इस प्रकार मानस मे ध्वनिकाव्य सिद्धान्त की सम्भावनाएँ वर्तमान है। जेसा कि पहले कहा जा चुका है, कुशल कवि किसी काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ या आदर्श को अपने सम्मुख रखकर काव्यरचना मे प्रवृत्त नही होते। उनके मस्तिष्क मे कतिपय आदर्श, प्रयोग, प्रौढियाँ एव परम्पराएँ वर्तमान रहती है, जिनका वे सचेष्ट या निश्चेष्ट भाव से पालन करते हैं साथ ही, काव्य, वाणी एव रस का व्यापार है। वाणी शब्दार्थ से सयुक्त काव्य के वाह्य तत्त्व की पोषक है। रस वस्तु मे स्थित भाव व्यजना का समर्थक है। इस प्रकार सम्पूर्ण काव्य मे यही दो तत्त्व क्रियाशील मिलते है। ध्वनि सिद्धान्त की भी यही विशिष्टता है। वह तत्कालीन प्रचलित समस्त शैलीगत काव्य-मूल्यो के साथ भावतत्त्व को अपने मूल मे अन्तर्भुक्त कर लेता है। इस प्रकार इसके अन्तर्गत अलंकार, रीति, वक्रोक्ति, गुण, रस एव भाव सम्बन्धी समस्त काव्य-सिद्धान्त समाहित है।

ध्वनिवादी आचार्यो ने ध्वनिकाव्य को तीन भागो मे विभक्त किया है, ध्वनिकाव्य या उत्तमकाव्य, गुणीभूतव्यग्य या मध्यम काव्य तथा चित्रध्वनि या अवरकाव्य। पडितराज जगन्नाथ ध्वनिकाव्य मे गुणीभूत व्यग्य को उत्तमकाव्य की श्रेणी के अन्तर्गत स्वीकार करके इसको क्रमश चार भागो मे विभक्त करते है—उत्तमोत्तम काव्य, उत्तमकाव्य, मध्यमकाव्य एवं अवरकाव्य।

ध्वनि वाच्य एव लक्ष्य पर आधारित रहती है, इसलिए ध्वनिवादियो ने इसे दो भागो मे विभाजित किया है, अभिधामूलकध्वनि तथा लक्षणा-मूलकध्वनि।

लक्षणा के अन्तर्गत वाच्यार्थ तिरस्कृत रहता है। इस प्रकार लक्षणामूलक ध्वनि के भी अन्तर्गत या तो वाच्यार्थ तिरस्कृत रहता है या वह लक्ष्यार्थ मे सन्निविष्ट हो जाता है। इस प्रकार लक्षणामूलक ध्वनि के दो भेद किए जाते है—

---

१. धुनि अवरेव कवित गुन जाती। मीन मनोहर से बहुभाती। रामचरित मानस।

अत्यन्त तिरस्कृतवाच्य ध्वनि, एव अर्थान्तर सक्रमित । जहाँ तक वैष्णव भक्ति काव्य का प्रश्न है, इसके अनेक उदाहरण इस सदर्भ मे रखे जा सकते है, किन्तु इनमे ध्वनिमूलकता के अतिरिक्त और कोई विशेष सिद्धान्त नही निकलते । भक्त कवि इनका प्रयोग काव्यपूर्ण स्थलो पर ही अधिक करते है । मानस एव सूरसागर मे इस प्रकार के अनेक स्थल है, जहाँ सम्पूर्ण रूप से लाक्षणिक प्रयोग की मालाएँ ही दृष्टिगत होती है । मानस मे लक्ष्मण-परशुराम सवाद, अयोध्याकाड मे कैकयी का कोपभवन मे गमन एव दशरथ का मनाना, अगद-रावण सवाद, सूरसागर मे राधा का मान प्रसग एव भ्रमरगीत मे लक्ष्यार्थ की मालाएँ ही दिखाई पडती है । परवर्ती कृष्णभक्ति काव्य मे उक्तिवैचित्र्य के स्थान पर भावात्मकता का आग्रह अधिक है । स्फुट रूप से कही-कही इनका प्रयोग अवश्य मिलता है, किन्तु उनमे कवि की सचेष्टता नही दिखाई पडती । भक्त कवियो मे इस प्रकार की विशेषता सूर, तुलसी एवं स्फुट रूप से नन्ददास मे मिलती है । ध्वनि के माध्यम से प्रकट होने वाली लक्षणामूलक शब्द-शक्ति भक्तकवियो को पूर्णरूपेण ग्राह्य है । इस लक्षणा-प्रयोग के माध्यम से ये कवि राम या कृष्ण का माहात्म्य निरूपण, पराक्रम एव शौर्य चित्रण, कृष्ण विषयक प्रेमभाव की तीव्रता तथा प्रेम के विभिन्न स्फुट भावो की अभिव्यक्ति करना चाहते है । इस प्रकार लक्षणामूलक शब्दशक्ति भक्ति-काव्य मे साधन के रूप मे प्रयुक्त है ।

भक्तिकाव्य मे पदगत, वाक्यगत एव प्रबन्धगत ध्वनिभेदो के अनेक उदाहरण प्राप्त है । पद एवं वाक्यगत व्यजनाएँ तो है ही, साथ ही, प्रबन्ध-ध्वनि की दृष्टि से भक्तिकाव्य अत्यधिक सबल ज्ञात होता है । प्रबन्ध ध्वनि के आधार के बिना भक्तिकाव्य का अर्थ नही निकाला जा सकता । सम्पूर्ण भक्ति काव्य मे अभिधेयार्थ उतना महत्वपूर्ण नही है, जितना कि व्यग्यार्थ । पदशैली मे प्रणीत कृष्ण की शृगारलीलामूलक समस्त काव्यसाधना ही ध्वनि-काव्य का उदाहरण है, इस प्रबन्धध्वनि के ही फलस्वरूप भक्तिकाव्य का अर्थ शृगार एव लौकिक भावो की सीमा से ऊपर उठ जाता है । इस प्रकार भक्तिकाव्य मे प्रबन्धध्वनि अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है । इसके अभाव मे भक्ति-काव्य का वास्तविक मूल्याकन असम्भव है ।

रसध्वनि हिन्दी वैष्णव भक्तिकाव्य के लिए रसध्वनि अधिक महत्त्वपूर्ण है । रसध्वनि के अन्तर्गत काव्य मे प्रयुक्त रस या भाव के विभिन्न विभेदो पर गभीरतापूर्वक विवेचन ध्वनिवादियो ने किया है । इस दृष्टि से रस, रसाभास,

भाव, भावाभास, भावशान्ति, भावोद्भव, भावशबलता एव भावसन्धि इसके आठ भेद मिलते है। शुद्धकाव्यशास्त्रीय दृष्टि से रसध्वनि के ऊपर विचार किया जा चुका है। इसका निष्कर्ष है कि भक्तिकाव्य मे काव्यरस निरपेक्ष्य रूप से कम प्रयुक्त है। शृगार या तो भक्ति रस का अग है या उसमे परिपक्वता नही आ पाई है। जहाँ तक दूसरे रस का प्रश्न है, अगरूप मे इनका भी प्रयोग हुआ है। काव्यशास्त्रीय दृष्टि से उसे रसाभास की सज्ञा दी जाती है। रस के अन्तर्गत यह रसाभास काव्य का एक दोष माना जाता है, किन्तु ध्वनिवादी आचार्य इसे गुण की सज्ञा देते है। भक्तिकाव्य मे रसाभास की स्थिति अधिक है। पशुपक्षियो के मानवीकरण, कृष्ण का बहुनायकत्व एव अलौकिक नायकत्व, शृगार मे आध्यात्मीकरण की प्रवृत्ति काव्यशास्त्रीय दृष्टि से रसाभास के अन्तर्गत आती है। भक्तिकाव्य मे भाव की स्थिति स्पष्ट है। भक्तिकाव्य मे शृगार के साथ-साथ अन्य रसो मे भी पुष्ट स्थायी एव प्रमुख सचारियो के अभाव मे रस निष्पत्ति की सम्पूर्ण योग्यताएँ नही आ सकी है। मानस मे लक्ष्मण-परशुराम सवाद पूर्णरूपेण भाव के अन्तर्गत आता है। रौद्र रस का स्थायीभाव क्रोध मात्र फरसे के झटकने एव अपने कृत्यो का अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन करने तक ही सीमित रह जाता है। कृष्ण भक्त कवियो के पदो मे दैन्य पद अधिकाश रूप से करुण रस विषयक न होकर मात्रकरुण भाव तक ही सीमित है। भावाभास की स्थिति भक्तिकाव्य मे कम प्राप्त होती है। भावाभास भाव के औचित्यपूर्ण वर्णन से सम्बन्धित है। सूर के कतिपय पदो एव मानस मे एकाध स्थल पर भावाभास के भी उदाहरण मिल जाते है।

भावोदय की स्थिति भक्तिकाव्य मे अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। भक्तिकाव्य भावोदय की दृष्टि से अत्यधिक सम्पन्न है। भावोदय के प्रेरक अलंकार एव वर्णन वैचित्र्य अनेक रूपो मे भक्तिकाव्य मे प्राप्त है। भावोदय के सदर्भ मे इन कवियो ने कही-कही एक सचारी मात्र मे मूलभाव की व्यजना करा दी है। वैसे भाव के प्रेरक उद्दीपन, आलम्बन, अनुभाव आदि की स्थिति भक्तिकाव्य मे अत्यधिक दृढ है। रसध्वनि के शेष भेद भावसन्धि, भावशान्ति एव भावशबलता के उदाहरण भक्तिकाव्य मे पग-पग पर मिलते है। भावसन्धि के अन्तर्गत भक्त कवियो का विशेष चमत्कार यह है कि शृगारादि काव्य के अष्टरस से सम्बन्धित भावो को भक्ति से सम्बन्धित कर दिया। एक ही भोक्ता को एक ही परिस्थिति मे शृगार, वीर, हास्य,

करुण, अद्भुत आदि रस की अनुभूति भक्ति सम्बन्धी उदात्त भाव के साथ होती है। इसके अतिरिक्त काव्यशास्त्रीय परम्परा से सम्बद्ध भावशान्ति एव भावशबलता के अनेक काव्योचित प्रयोग भक्तिकाव्य मे प्राप्त है।

गुणीभूतव्यग्य काव्य पडितराज जगन्नाथ के अनुसार यह उत्तमकोटि का काव्य है, क्योकि यहाँ वाच्यार्थ मे व्यग्य निहित रहता है। गुणीभूत व्यग्य के आठ भेद किए गए है—अगूढ, अपराग, वाच्यसिध्यग, अस्फुटव्यग्य, सदिग्ध, प्राधान्यव्यग्य, तुल्यप्राधान्यव्यग्य, काक्वाक्षिप्त, असुन्दरव्यग्य। इसके अन्तर्गत अस्पष्टता, प्रधानता, अप्रधानता, रस एव भावो का परस्पर सम्मिश्रण, व्यग्यार्थ की गूढता, व्यग्यार्थ की चमत्कारशून्यता आदि भाव आते है। जहाँ तक हिन्दी वैष्णव भक्तिकाव्य का प्रश्न है, गुणीभूत व्यग्य के अनेक उदाहरण यहा प्राप्त होते है, किन्तु उनसे किसी विशिष्ट सैद्धान्तिक नियम की आशा करना असमीचीन है। वे काव्य के अन्तर्गत अनिवार्य गुण बनकर प्रयुक्त हुए है।

चित्रकाव्य ध्वनिवादियो के अनुसार यह निकृष्टकोटि का काव्य है, क्योकि इसमे व्यग्यार्थ रहता ही नही। इसका मूल उद्देश्य भाव अलकरण या चमत्कृति का पोषण करना है।

हिन्दी वैष्णवभक्त कवि काव्य के इस प्रयोग से अपने को दूर रखते है।

निष्कर्ष रूप से कहा जा सकता है कि हिन्दी का वैष्णव भक्तिकाव्य ध्वनि सिद्धान्त की समस्त सम्भावनाओ से युक्त है। मूलरूप से यह व्यग्यकाव्य ही है। इसमे अभिधेयार्थ से कही अधिक महत्त्वपूर्ण व्यग्यार्थ है। यह अर्थशक्ति उद्भव, अनुरणन ध्वनि के अन्तर्गत दिखाया जा चुका है। पद, वाक्य एव प्रबन्धगत व्यग्यार्थ ही भक्तिकाव्य मे अधिक महत्त्वपूर्ण है। भक्तिकाव्य शब्द मे 'काव्य' शब्द मूलत अभिधेयार्थ एव भक्ति लक्ष्यार्थ का व्यग्यार्थ है। सम्पूण भक्तिकाव्य मे काव्य भक्ति की पुष्टि के लिए प्रयुक्त एक सफल आधार है। स्वत भक्त कवि भी अपने काव्य के द्वारा काव्य या कलापरक उद्देश्य की सिद्धि नही चाहते। उनका मूल उद्देश्य भक्ति या भक्तिसम्बन्धी तत्त्वो का पोषण करना है। इस दृष्टि से भक्तिकाव्य मे प्रबन्धध्वनि अत्यधिक सफल कही जा सकती है।

वैष्णव भक्तिकाव्य मे प्रयुक्त काव्यशास्त्रीय रूढ़ियों का अध्ययन

काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तो के प्रयोग के साथ-साथ भक्तिकाव्य मे काव्य-शास्त्रीय रूढियो का भी प्रयोग हुआ है। काव्यशास्त्रीय रूढि का व्यापक अर्थ कवि समय एव सकुचित अर्थ काल-परम्परा मे प्रयुक्त निश्चित लक्षणो के स्वीकरण से है। तुलसी ने इसके लिए 'प्रौढि' शब्द का प्रयोग किया है।[1] वस्तुत इसके अन्तर्गत काव्य के विशिष्ट सदर्भ मे परम्परा से गृहीत प्रयोग वैशिष्ट्य का अध्ययन करना अपेक्षित है। काव्यलक्षण, अप्रस्तुतयोजना, गुणनिरूपण, शृगारचित्रण आदि प्रसगो मे भक्त कवियो ने उन काव्यशास्त्रीय रूढियो का प्रयोग किया है जो परम्परा से चले आते हुए काव्यो मे प्राप्त या लक्षण ग्रन्थो मे निर्दिष्ट है। इससे इन कवियो की परम्पराबद्ध शास्त्रीय दृष्टि का अनुमान सरलतापूर्वक लगाया जा सकता है।

१ **काव्यलक्षण** काव्यलक्षण के अन्तर्गत एकमात्र तुलसी ने मानस मे इसका प्रयोग किया है। तुलसी मानस रूपक के सदर्भ मे स्पष्ट रूप से बताते है कि उनके प्रबन्ध काव्य मे रस, छन्द, अलकार, गुण, दोष, ध्वनि, वक्रोक्ति आदि सभी प्राप्त है किन्तु इसके अतिरिक्त उन्होने परम्परा से चले आते हुए महाकाव्य सम्बन्धी अन्य रूढियो का भी प्रयोग किया है।

क सर्गबद्धता तथा सर्गान्त छन्द प्रयोग महाकाव्य के लक्षणो मे साहित्य दर्पणकार ने बताया है कि यह आठ सर्गो से अधिक नही होना चाहिए तथा सर्गान्त मे प्रयुक्त अन्तिम छन्द नवीन सर्ग के आरम्भ मे भी होना चाहिए। मानसकार इसी दृष्टि का पालन करता हुआ कथा की सम्पूर्ण सामग्री सात सर्गो मे विभाजित करता है। यह सर्गो का आरम्भ सस्कृत के श्लोको या दोहो तथा समाप्ति भी उसी से करता है। सर्गान्त मे भावी सर्ग की कथा की ओर सकेत करने की भी चर्चा की है। कवि इस दृष्टिकोण मे परिवर्तन करके सर्ग के आरम्भिक श्लोक मे कथा की सूचना देता है। अयोध्या, अरण्य, सुन्दर काडो मे उसने सर्ग के अन्तर्गत प्रयुक्त होने वाली कथा की ओर सकेत कर दिया है। जहाँ तक एक सर्ग के अन्तर्गत निश्चित कथा स्वरूप के निर्वाह का प्रश्न है, कवि पूर्णरूपेण उसकी ओर सचेष्ट है।

---

१. प्रौढि सुजन जन जानहिं जन की।
कहउ प्रतीति प्रीति रुचि मन की।मानस, बालकांड, दो० स० २३

महाकाव्य का नामकरण तथा फलस्तुति का निर्देश मध्यकालीन सस्कृत के काव्य या स्वतत्र ग्रन्थो पर रूपक शैली का गहरा प्रभाव पडा है। श्रीहरिभक्तरसामृतसिन्धु के सर्गो को लहरियो का नाम दिया गया है, इसी प्रकार चन्द्रिका, भास्कर, प्रकाश, आलोक नामो से युक्त ग्रन्थो के साथ सर्गो का नामकरण उन्ही के धर्मों के साथ मिलता है। तुलसी ने अपने महाकाव्य का नामकरण मानस रखकर उसके लिए सप्तसोपान बनाया है। इस प्रकार महाकाव्य का नामकरण एव सर्गविभाजन परम्परागत काव्यशैली का प्रतिफल है। वह सस्कृत के महाकाव्यकारो की भाँति कथा के आरम्भ मे वन्दना करता है। यह वन्दना गणेश, श कर, राम आदि की है। वह वाणी-विनायक गणेश से वर्ण, अर्थसघ, रस, छन्द आदि काव्यतत्वो की याचना तो करता ही है, साथ-साथ काव्य के आदर्श की ओर भी सकेत करता है। आगे चलकर उसने मानस की काव्य परम्परा, काव्य के आवश्यक तत्त्व, रचना-प्रक्रिया आदि की ओर भी सकेत किया है। प्रत्येक सर्गो के आरम्भ मे स्तुति, देव-वन्दना, दृष्टिकोण का प्रतिपादन एव अन्त मे काव्य का फलनिर्देश करता है। कथान्त मे वह पुन अपने काव्योद्देश्य की ओर सकेत करता है।

नायकतत्व एव रसत्व कवि अपने नायक को उच्चतम दैवत् गुणो से सम्पन्न एव रसत्व के दृष्टिकोण से भक्तिजन्य शान्त का पोषक बताता है। भक्तिजन्य शान्तरस उसके काव्य का अगीरस है तथा अन्य रस अग है। नायक राम का सम्बध सद्वश से है, वे लौकिक दृष्टि से क्षत्रीय एव धीरोदात्त है। इसमे कुल का वर्णन न होकर मात्र एक नायक के चरित्र का वर्णन है।

कथावृत्त एव रचना विधान महाकाव्य के लक्षणकारो ने महाकाव्य की कथा को इतिहासोद्भव बताया है। मानसकार इस दृष्टि का सम्पूर्णत. समर्थन करता है। वह अपनी परम्परा मे व्यास, नारद, वाल्मीकि आदि कवियो द्वारा रामचरित्र के गाए जाने की चर्चा करता है। उसने सम्पूर्ण काव्य मे प्रमुखता एक ही वृत्त को दी है। अन्य वृत्त इसी के साथ सहायक होकर प्रयुक्त है। मानस मे समस्त नाटकीय सधियो एव रसो का प्रयोग मिलता भी प्राप्त है।

उद्देश्य इसके अन्तर्गत कवियो या काव्यलक्षणकारो ने चतुर्वर्गफल की ओर संकेत किया है। मानसकार चतुर्वर्गफल से अत्यधिक महत्त्वपूर्ण तत्त्व

सामाजिक हित एव भक्ति को स्वीकार करता है । उसके काव्य मे इस प्रकार उद्देश्यतत्त्व भी वर्तमान है ।

महाकाव्य के गौण तत्त्व इसके अन्तर्गत सध्या, सूर्येन्दु, रजनी, प्रदोष, ध्वान्त, वासर, अपराह्न , मृगया, शैल, बन, सागर, नदी, स्वर्ग, पुर, सम्भोग विप्रलम्भ, मुनि, रणप्रयाण, मत्रोपाय, पुत्रोदय आदि का वर्णन महाकाव्य के लिए अनिवार्य माना गया है । उसमे कवि अप्रस्तुत के रूप मे सध्या, सूर्येन्दु, रात्रि, अपराह्न, मृगया का सचेष्ट होकर वर्णन करता है, ऋष्यमूक-पर्वत, चित्रकूट, समुद्र, गगा, अयोध्या, लका, सीता एव राम का परस्पर सयोग तथा विप्रलम्भ शृंगार, मुनि, रणप्रयाण, मत्रोपाय आदि की ओर सचेष्टता का भाव प्रगट करता है । कतिपय स्थल मानस मे मात्र महाकाव्य के लक्षणो की सक्रियता को ध्यान मे रखकर वर्णित है । राम का वियोग एवं तत्सम्बन्धी वर्णन, महाकाव्यो मे प्रयुक्त विप्रयोग शृगार की परम्परागत भावना से अधिक प्रभावित ज्ञात होता है । इसी तरह लकाकाड के आरम्भ मे प्रयुक्त चन्द्रवर्णन प्रसग भी महाकाव्य की अनिवार्यता को लक्ष्य बनाकर प्रयुक्त हुआ है अन्यथा इसके प्रयोग का दूसरा स्पष्ट कारण नही दृष्टि-गत होता ।

ख शृगारचित्रण · शृगार निरूपण के सदर्भ मे भक्त कवियो ने अपनी पूर्ववर्ती परम्परा मे प्राप्त काव्यशास्त्रीय रूढियो का अधिक प्रयोग किया है । शृगारचित्रण सम्बन्धी निम्न रूढियाँ भक्ति काव्य मे प्राप्त है

नायक काव्यशास्त्रीय दृष्टिकोण से नायक अनुकूल, दक्षिण एव धृष्ठ हैं । राम के चरित्र को अनुकूल नायक की कोटि मे रखा जा सकता है । कृष्ण रूक्मिणी के साथ अनुकूल है, अन्य प्रसगो मे कृष्ण दक्षिण एव धृष्ठ हो गए है ।

नायिका इस दृष्टि से स्वकीया के भाव का चित्रण अधिक मिलता है । सीता एव राधा का चरित्र स्वकीया के दृष्टिकोण से किया गया है । नायक एव नायिका का सविस्तार वर्णन शास्त्रीय प्रेम एव शृगार उपशीर्षक के अन्तर्गत किया जा चुका है । नायिका की दृष्टि से राधा के चरित्र मे अन्य कार्यगत, स्वभावगत भेद भी प्राप्त होते है । कार्य की दृष्टि से भक्ति काव्य मे नायिका भेद सम्बन्धी अनेक रूढियाँ प्राप्त होती है । वह अभिसारिका, वासकसज्जा, उत्कठिता, खडिता, विप्रलब्धा, प्रोषितपतिका, सुरति-गोपना आदि रूपो मे दिखाई पडती है । स्वभाव की दृष्टि से उसके ऊपर

मुग्धा, धीराधीरा, रसाक्रान्ता, प्रगल्भा आदि लक्षण पूर्णरूपेण चरितार्थ होते है।

चेष्टा एव भाव : काव्यशास्त्रीय परम्परा मे प्राप्त समस्त शृगारिक चेष्टाओ एव भावो का प्रयोग हिन्दी वैष्णव भक्तिकाव्य मे प्राप्त होता है। राग, प्रथम स्नेह, दर्शन, आसक्ति, उत्कठा, प्रथमस्पर्श एव कम्पन, उन्माद, परस्पर मिलन, की चेष्टाएँ, मुस्कान, सरोवरक्रीडा, उत्सव एव कामुक चेष्टाएँ, उपवन मे मिलन, मौनभाव, प्रेरक अगो का स्पर्श, चुम्बन, आलिगन, सुरति, सुरति-लक्षणो का गोपन, नख,-शिख शृगार, सुरतान्त, शिथिलता आदि भाव एवं चेष्टाएँ भक्तिकाव्य मे रूढ प्रयोग के रूप मे ही मिलती है। वियोग शृगार के समस्त भेद पूर्वराग, मान तथा प्रवास की कल्पनाएँ यहाँ प्रयुक्त है। यही नही चिन्ता, जागरण, प्रलाप, व्याधि, विरहोन्माद, मोह एव सदेश की स्थिति भक्तिकाव्य मे काव्यरूढि के ही रूप मे वर्तमान है। इसका विस्तृत विवेचन अन्यत्र किया जा चुका है। किन्तु इस सदर्भ मे इतना कह देना आवश्यक है कि ये तत्त्व निश्चित रूप से काव्यशास्त्रीय या पूर्ववर्ती काव्यपरम्परा से ही ग्रहण किए गए है।

अप्रस्तुत नियोजन सस्कृत काव्य परम्परा मे रूढ अप्रस्तुतो का इन कवियो ने सचेष्ट एव निश्चेष्ट दोनो भावो मे प्रयोग किया है। सौन्दर्यचित्रण, अग-प्रत्यग वर्णन एव शृगारमूलक भाव व्यजना के सदर्भ मे कवि सचेष्टभाव से काव्यशास्त्रीय रूढ अप्रस्तुतो को अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम बनाते है। इन प्रयोगो से इन कवियो की काव्य विषयक सतर्कता का अनुमान लगाया जा सकता है। इसके अतिरिक्त काव्य मे व्यवहृत होने वाले सामान्य अप्रस्तुत निश्चेष्ट भाव से यहाँ प्रयुक्त है। इन काव्यशास्त्रीय रूढिगत अप्रस्तुतो की सक्षिप्त तालिका इस प्रकार है—

मुख : बदन, इन्दु, चन्द, ससि, सरोज, पद्म, कमल, सरदमयक, मयक आदि।

नेत्र तथा उसके अन्य पर्यायवाची शब्द. मृग, मीन, खजन, चातकी, चकोर, मधुप, कमलदल, नलिन, भृग, सरसीरुह, राजीवदल, कुसेसय, अनी, वाण आदि।

बरौनी अनी, **कटाक्ष** किरण, **नेत्र** श्यामघटा, **बाल** मधुप-निकर, भुजंगिनी, पन्नगिनि आदि **मस्तक :** द्वितीया चन्द्र, सोम आदि, **माग** गगा, **भृकुटी** धनुष, चातक, कमान, मन्मथ-फद, **नासिका** शुक,

ओष्ठ विम्वाफल, इन्द्रायण, विद्रुम, **मुक्ता** तारागण **सिन्दुर विन्दु** बन्धूक कुसुम [नासातिल प्रसून, **दसन या दन्तपक्ति कुन्द** कुन्दकली, दन्त प्रकाश, दाडिम, **वचन** कोकिल, मधुप शब्द, **उरोज** कुम्भ, शिव, शम्भु, कचनघट, श्रीफल, घट, कचन मेरु, शिखर, चक्रवाक, कनक कमल, मेरु, मगल कलश आदि, **त्रिबली** तरग, **भुजा** मृणाल, सर्पिणी, अहिराज आदि, **कटि** केहरि, **नाभि** भवर, **जघ** कदली, **गति** गज, केहरि, मराल, हस-गति, कनक क्षुद्रावली रसाल हस **पद** . कमल, एव उसके अन्य पर्यायवाची, **नख** इन्दु, चन्द्र आदि ।

इसी प्रकार के अनेक रूढ अप्रस्तुतो का प्रयोग हिन्दी वैष्णव भक्ति काव्य मे मिलता है ।

रीति एव शैली सम्बन्धी रूढियाँ रीति एव गुण के सम्बन्ध पर प्रथम अध्याय मे विचार किया जा चुका है । रीति के अन्तर्गत माधुर्य गुण की योजक वैदर्भी या सरस शैली का प्रयोग भक्त कवि शृगार या भक्ति विपयक स्नेह निरूपण के सदर्भ मे करते है । ये कवि इन सदर्भो मे ओज सूचक शब्दावली को पूर्णरूपेण त्याज्य समझते है । प्रसादगुण युक्त मधुर शैली का भी प्रयोग इन्ही स्थलो पर हुआ है, किन्तु इससे भिन्न जहाँ ओजसूचक उदात्त शैली का प्रश्न है, ये कवि सर्वाधिक सचेष्ट मिलते है । सूर एव तुलसी की दृष्टि इस विषय की ओर अधिक सजग है । वीर, रौद्र, उत्कर्षसूचक भावो, उत्साह, उदात्त एव भय की स्थिति मे दोनो कवि ओजगुण सम्पन्न, दीर्घ श्वास प्रवाही विकटाक्षरबन्ध का प्रयोग करते है । ये तत्त्वरूढि के रूप मे परम्परा से स्वीकृत होते चले आ रहे है। इन प्रसगो मे कवियो ने पुन मुक्तक वृत्त का ही प्रयोग किया है ।

कवि समय

हिन्दी वैष्णव भक्तिकाव्य मे कवि समयो का भी प्रयोग मिलता है । संस्कृत काव्यस्शात्र मे कवि समय के ऊपर विस्तृत विवेचना मिलती है । आचार्य राजशेखर ने समस्त कवि समय को तीन भागो मे विभक्त किया है । जाति, गुण द्रव्य क्रिया मे सयुक्त भौम कवि समय जिसके अन्तर्गत लोक-प्रचलित कवि विश्वासो या अशक्य घटना व्यापारो को शक्य रूप मे रखने का प्रयत्न किया गया है। इसका दूसरा वर्ग गुण का है । भाववाचक सज्ञाओ मे

व्यक्ति या जातिबोधक वस्तुओ के गुणो का आरोपण गुणसम्बन्धी कवि समय के अन्तर्गत रखा जा सकता है। इसके अतिरिक्त उनके अनुसार इसका एक तीसरा वर्ग पौराणिक विश्वासो का है। कवियो द्वारा प्रयुक्त पौराणिक विश्वासो को उन्होने स्वर्गपातालीय विषयक कवि समय के नाम से सम्बोधित किया है।[1] इन कवि समयो का प्रयोग सस्कृत काव्यो मे अधिक मात्रा मे प्रचलित रहा है। हिन्दी वैष्णव भक्तिकाव्य मे इनका प्रचुर प्रयोग मिलता है।

लौकिकवर्ग : हिन्दी वैष्णव भक्ति काव्य मे इस प्रकार के कवि समयो का प्रयोग शृगार चित्रण, आसक्ति, भक्ति को तीव्रता या भाव को उत्कर्ष प्रदान करने के लिए किया गया है। इस वर्ग को निम्न भागो मे विभक्त किया जा सकता है।

जडपदार्थ इसके अन्तर्गत वृक्ष, पर्वत, नदी, कमल, मुक्ता आदि से सम्बन्धित कवि समय प्रयुक्त मिलते है। इनके प्रयोग का मुख्य कारण भावात्मक तीव्रता को उत्कर्ष प्रदान करना है। ये कवि समय प्राय परम्परा से लिए गए है। चन्द्र का पकज द्रोही होना, सूर्य को देखकर कमल का पुष्पित होना, चन्द्र को देखकर कौमुदी का पुष्पित होना, सजीवनीमूलि, बनज कमल, यमुना मे कमल का होना, स्वाति नक्षत्र के जल का मोती बनना, पारस पत्थर के स्पर्श से लोह धातु का स्वर्ण बनना, गिरि पर माणिक्य की प्राप्ति, चन्द्रमा को देखकर समुद्र का बढना आदि।

पशुपक्षी सम्बन्धी कवि समय . इस प्रकार के भी कवि समय भक्तिकाव्य मे अधिक प्राप्त होते है। चन्द्र चकोर की प्रियता, चन्द्र का कोक के लिए दुख-प्रद होना, चकोर का रवि प्रकाश न सहन करना, भ्रमर का कमलकोष मे बन्द हो जाना, चन्द्र का मृग रथ पर चलना, चन्द्र का अपने हृदय मे मृग धारण करना, कीटभृग की गति होना, हंस का मानसर मे रहना, हस का मोती चुगना, हस का नीर-क्षीर विवेक, कौवे का निरामिष होना, चक्वे-चकवी का रात्रि वियोग, चातक का स्वाति जल पान, चातक की रटन, अहि, मयूर सिह मृग का नैसर्गिक बैर गज के सिर मे मुक्ता की प्राप्ति, सर्पमणि आदि।

मानवगुण, स्वभाव एव अंग आदि से सम्बन्धित कवि समय · सिद्धांजन का

---

१. राजशेखर, काव्यमीमासा, अध्याय १४

प्रयोग, स्त्रियो का अबला होना, राजाओ के हाथ मे चक्रवर्तित्व के लक्षण, नूपुरध्वनि से परस्पर सलाप की कल्पना, नायिकाओ की गजगति, कटि-केहरि, शुक-नासिका, केशो के लिये वरुणपाश या कामफन्द की कल्पना, चन्द्र का विरिहणियो के लिए दु:खप्रद होना, अपशकुन मे स्त्रियो की दाहिनी आँख का फडकना या अन्य अपशकुन, कुन्द के सदृश दन्तपक्तियाँ, दन्तपक्तियो मे विद्युत प्रकाश की कल्पना, नख मे रवि प्रकाश की कल्पना, भृकुटी का धनुष होना, आँखो के रगो मे गगा यमुना सरस्वती आदि की कल्पना आदि । इस प्रकार गुण, जाति, क्रिया एव अग सम्बन्धी कवि समयो का प्रयोग भक्तिकाव्य मे शृगारव्यजना का बोध कराने के लिए अधिक किया गया है ।

अचेतन वस्तुओ का मानवीकरण हिन्दी वैष्णव भक्तिकाव्य मे अनेक स्थलो पर प्रकृति के मानवीकरण का प्रयोग मिलता है । यह आरोपण की प्रवृत्ति विश्वास पर आधारित होने के कारण कवि समय के ही अन्तर्गत रखी जा सकती है । प्रकर्ष मादन भाव मे तालाब, तलैया का सम्मिलन, लताओ से तरुशाखाओ का आलिगन, कामविह्वल नदी का समुद्र से मिलने के लिए दौडना, पूर्णचन्द्र को देखकर समुद्र के प्रेम की वृद्धि, विरहिणियो को बादल के द्वारा विह्वल कर दिया जाना, वियोग मे मेघ गर्जन को उसका गर्व समझना आदि ।

लौकिक जगत मे प्रयुक्त होने वाले कवि समयो के द्वारा अकार्य से कार्य की सिद्धि के भी अनेक उदाहरण भक्तिकाव्य मे मिलते है । इन उदाहरणो से कवि व्यजनावृत्ति को अधिक पुष्ट करना चाहते है । करील बन मे कोकिल का रहना, चकोरी का रवि प्रकाश न सहन करना, खारे समुद्र मे मराली का रहना, हस का बन मे रहना, शरद रात्रि मे चकई की दाहकता आदि को इसके अन्तर्गत रखा जा सकता है ।

गुण सम्बन्धी कवि समय इनकी सख्या भक्तिकाव्य मे अपेक्षाकृत कम है । ये कवि समय भाव का बोध कराने के लिए ही प्रयुक्त हुए है । भक्ति का विमल होना, पाप का काला होना, पुण्य का श्वेत होना, अनाचार की वृद्धि से जप, तप, योग एव वैराग्य का भाग जाना, अधर्म का चारो चरणो पर खडा होना, हसी का प्रकाश, भौहो से बिध जाना, बालो का अँधेरा आदि इसी के अन्तर्गत है ।

पौराणिक के कवि समय हिन्दी वैष्णव भक्तिकाव्य मे पौराणिक विश्वासो की

प्रचुरता है । सम्पूर्ण भक्तिकाव्य पौराणिक मान्यताओ पर आश्रित होने के कारण कवि समय सम्बन्धी इन धारणाओ का समुचित उपयोग करता है। पौराणिक विश्वासो को भक्तिविषयक कवि समय कहना ही उचित होगा क्योकि जिस प्रचुरता के साथ यहाँ इनका प्रयोग हुआ है, अन्यत्र दुर्लभ है । राजशेखर ने काव्यमीमासा मे इसके अन्तर्गत देव विषयक कवि समय का ही उल्लेख किया है, किन्तु भक्तिकाव्य मे असुरवर्ग सम्बन्धी कवि समयो का भी प्रयोग मिलता है । इन कवि समयो को निम्नक्रमो मे रखा जा सकता है

उच्चतमदेव सम्बन्धी कवि समय : इसके अन्तर्गत विष्णु, शकर, ब्रह्मा तथा उनके अवतारो को लिया जा सकता है। इनका प्रयोग उनके माहात्म्य, भक्तिव्यजना एव अन्य नैतिक मूल्यो की पुष्टि के लिए किया गया है, ये इस प्रकार है —

विष्णु विष्णु के उर पर भृगु पद का चिन्ह या श्रीवत्स, शख, चक्र, गदा, एव पद्म, वनमाल, क्षीरसागर मे शयन, रमानिकेत होना, अतिमान्थ होना, उनके श्वासो से चारो वेदो की उत्पत्ति, विष्णु का अहि-शयन, बिना पाँव का चलना, बिना कान के सुनना, बिना हाथ के समस्त कार्यों का करना, शरीर के बिना स्पर्श, नासिका के अभाव मे भी तीव्र घ्राण शक्ति का पाया जाना, बिना वाणी का वक्ता, गरुड का वाहन आदि ।

शकर · शकर का निर्लज्ज, निर्गुण, कुवेश, कपालयुक्त, कुल, गेहहीन, दिगम्बर तथा सर्पयुक्त रहना, नीलकठ होना, पचमुख, मस्तक पर गगा एव बालचन्द्र का धारण करना, पन्द्रह आँखो का होना आदि ।

ब्रह्मा चतुर्मुख होना, उनके द्वारा भाग्यलेख का लिखा जाना आदि ।

इनके अतिरिक्त कामदेव, इन्द्र, लक्ष्मी, गगा, शेष, ब्राह्मण, ऋषि आदि से सम्बन्धित कविसमय भक्तिकाव्य मे प्रयुक्त मिलते है । इन्द्र का सहस्राक्ष होना, वज्र धारण करना, चन्द्रमा का अमृतमय होना, शेष का सहस्र फणयुक्तहोना, कमठ का पृथ्वी धारण करना, कामदेव का मनसिज होना, पुष्प का धनुष धारण करना, अनग होना, गणेश का गजमुख होना, सुरतरु, सुरधेनु की कल्पना, सरस्वती की वाचालता, कुभज का समुद्र पी जाना, विष्णु क्रोध के समय दिग्गजो का डोलना, पृथ्वी का डगमगाना, कमठ का कम्पित होना, पृथ्वी का भार शेष, गज, कमठ एव शूकर के ऊपर रहना, सीता का पृथ्वी-पुत्री होना, लक्ष्मी के बन्धु विषवारुणी की कल्पना, क्षीर-

सागर से लक्ष्मी, विष-वारूणी, अमृत आदि का निकलना, निमि का पलको पर निवास, कार्तिकेय के लिए मोर तथा गणेश के लिए चूहे का वाहन होना आदि अनेक कवि समय भक्ति काव्य मे प्रयुक्त है। देववर्ग के अतिरिक्त असुरवर्ग विषयक अनेक कविसमयो का प्रयोग भक्तिकाव्यो मे मिलता है। यथा स्वर्णनिर्मित लका, दैत्य एव राक्षसो की एकता, मेघनाद, कुम्भकर्ण, तृणावर्त, शकटासुर, व्योमासुर, सूर्पणखा, ताडका आदि रूपकगर्भित पात्र, रावण का दसशीश होना इत्यादि। यदि भक्तकवियो द्वारा स्वीकृत समस्त पौराणिक विश्वासो का अध्ययन किया जाय तो इनके प्रयोग के विषय मे इस प्रश्न का उठना सभव है कि इन्हे कवि समय माना जाय या नही ? मूलत. कवि समय की कल्पना के मूल मे चमत्कारवृत्ति के पोषण एव काव्य दोषो के सुरक्षित रहने का भाव निहित है। कवि समय का तात्पर्य अशक्य-वस्तु व्यापार का शक्य हो जाना भी है। शुद्ध काव्य मे दसमुख का अर्थ दसमुख वाले व्यक्ति के समान शरीर धारण करने वाले व्यक्ति से लिया जा सकता है, किन्तु भक्तिकाव्य मे यह रावण के रूढ अर्थ मे ही प्रयुक्त हैं। इस प्रकार जहाँ शुद्धकाव्य मे इन कविसमयो के द्वारा व्यजना व्यापार की पुष्टि मिलती है, भक्तिकाव्य मे वह अभिधामूलक अधिक है। ऊपर के उदाहरणो मे कुछ कविसमय ऐसे है जो पूर्णरूपेण अभिधेय अर्थ की ही व्यजना करते है। कवि समयो का प्रयाग लक्षणा या व्यजना बोध के लिए होता है। इस प्रकार भक्तिकाव्य मे उन कवि समयो पर सन्देह किया जा सकता है जो पौराणिक विश्वासो से इतने अधिक पुष्ट है कि उनसे व्यजना या लक्षणा व्यापारशक्ति असम्भव ज्ञात होती है।

काव्यहेतु

हिन्दी वैष्णव भक्तिकाव्य मे काव्य हेतु के विषय मे सामान्य सकेत मिलता है। इसके विषय मे मात्र तुलसी ने ही अपना विचार व्यक्त किया है। उनका विचार है कि भक्तिकाव्य के हेतु सरस्वती स्मरण करते ही दौडी आती है।[1] किन्तु यहाँ काव्य सरस्वती का मूलहेतु भक्ति है। काव्य के सदर्भ में भक्तिविषयक प्रयोजनशीलता की दृष्टि से वाणी की अधिष्ठात्री देवी तक को दौडा आना पडता है। यही एक अन्य स्थल पर वह किंचित् विस्तार के साथ काव्यहेतु की चर्चा करता है। उसके अनुसार हृदय सिन्धु है, मति सीप,

---

१ मानस, बालकाड, दोहा स० ११

शारदा स्वाति है, इस पवित्र पर्व मे वृष्टि होने से ही कवित्व मुक्ता का वपन होता है। यहाँ कवि काव्य को मात्र भावनात्मक व्यापार की श्रेणी मे रखने के लिए तैयार नही है और न सस्कृत के काव्यशास्त्रियो की भाँति प्रतिभा एव अभ्यास एव व्युत्पन्नता को काव्य की आधारशिला मानता है। उसके अनुसार हृदय की विशालता, निर्मल मानसिक आवेश एव सरस्वती की कृपा, भक्तिकाव्य के लिए एकमात्र आधार है। यहाँ सर्वाधिक महत्त्व कवि, शारदा या वाणी की अधिष्ठात्री देवी को देता है।[1] एक अन्य स्थल पर वह पुन काव्यहेतु की ओर सामान्य सकेत करता है .

सुमति भूमि थल हृदय अगाधू। वेद पुरान उदधि घन साधू।
बरसहि राम सुजस बरबारी। मधुर मनोहर मगल कारी। आदि

कवि पुन अगाध हृदय एवं सुमति या निर्मल मनोनिवेश को काव्य का मुख्य हेतु स्वीकार करता है। भक्तिकाव्य के सदर्भ मे वेद पुराण साधु जन मिलकर उसकी शालीनता की वृद्धि करते है। सम्भवत कवि की दृष्टि से काव्य का मुख्य हेतु निर्मल मति है। वह मानस मे अनेक स्थलो पर निर्मल मति, विमलमति, विमलबुद्धि का प्रयोग करता है। इसी निर्मल मति के ही कारण काव्य की आदि शक्ति सरस्वती को स्वत वहाँ निवास करना पडता है। पार्वतीमगल मे कवि काव्यहेतु के सदर्भ मे पुन इस मति शब्द का उल्लेख करता है

प्रेम पाट पट डोरि, गौरि हरि गुन मनि।
मगल हार रचेउ कवि मति मृगलोचनि।[3]

नन्ददास ने अनेकार्थ मजरी मे सरस्वती शब्द के अर्थ मे उनके कार्य की स्पष्ट सूचना दी है

बानी, वाक्, सरस्वती, गिरा, सारदा, नाम।
चली मानवन भारती, बचन चातुरी काम।[4]

काव्य रचना प्रक्रिया के सदर्भ मे स्मरण करते ही सरस्वती का पहुँच जाना इस तथ्य का सूचक है कि काव्य हेतु से उनका सम्बन्ध अवश्य है।

---

१. मानस, बालकाड, दो० स० ११
२ वही दोहा स० ३६
३. पार्वतीमगल, छ० स० १४८
४. अनेकार्थ मजरी, छ० स० ८

रसमजरी मे कवि ने पुन रसमय सरस्वती की वन्दना की है । यहाँ वन्दना करने का मुख्य कारण है, सरस अक्षरो की याचना ।[1]

इस प्रकार स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि भक्ति काव्य मे काव्य-हेतु विषयक समस्या बहुत कम कवियो द्वारा उठाई गई है । सम्भवत उनका सामान्य विश्वास बन चुका था कि काव्य की अधिष्ठात्री देवी सरस्वती काव्य की मुख्य हेतु है । यदि शास्त्रीय शब्दावली मे कहे तो यह काव्यहेतु से सम्बन्धित एक वस्तुगत तथ्य है, जिसका आधार पौराणिक विश्वास है । किन्तु, जहाँ कवि की वैयक्तिक रचनात्मक शक्ति का प्रश्न है—इस सदर्भ मे निर्मल-मति आवश्यक है । इस प्रकार भक्त कवियो के अनुसार काव्य का मूलहेतु, निर्मल मति है । भक्ति, सत्सगति, वेद, पुराण, साधु आदि इस मति को उत्कृष्ट बनाने के साधन मात्र है । अत इन्हे अभ्यास के ही अन्तर्गत रखा जा सकता है ।

———

१ रस मजरी, पक्ति स० २३

अध्याय ८

उपसंहार

हिन्दी वैष्णव भक्तिकाव्य मे निहित काव्यादर्शो एव काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तो के अध्ययन के उपरान्त इस प्रकार का निष्कर्ष निकाला जा सकता है।

काव्यादर्शों के सदर्भ मे भक्त कवियो की दृष्टि अपनी पूर्ववर्ती सस्कृत की काव्यशास्त्रीय परम्परा से पूर्णरूपेण भिन्न थी। सस्कृत के काव्यादर्शों के सम्बन्ध मे कहा जा चुका है कि उसमे जीवनगत मूल्यो के स्थान पर कलात्मक सजगता अधिक है। इस कलात्मक सजगता के ही फलस्वरूप सस्कृत साहित्य मे काव्य के नियामक शास्त्रो का निर्माण हुआ है। इस प्रकार यहाँ मूल्यो का विकास निश्चित नियमबद्ध शास्त्रीयता के रूप मे हुआ है। काव्यादर्श के सम्बन्ध मे यही परम्पराबद्ध दृष्टि मध्यकाल तक के सस्कृत रीतिकारो द्वारा मान्य होती चली आई है। हिन्दी के रीतिकालीन आचार्य भी इसी परम्परा के पोषक थे। इन काव्यादर्शों की सख्या ६ है :

काव्यानन्द की प्राप्ति यह अलकारवादियो द्वारा चमत्कृति तथा रसवादियो द्वारा आनन्द के रूप मे स्वीकृत हुआ है।

काव्य के द्वारा यश या कीर्ति की प्राप्ति सस्कृत के कवि इस प्रयोजन पर अधिक बल देते है।

राजकुमारो को काव्य द्वारा शिक्षा देना यह काव्य के उपयोगी पक्ष का समर्थक है। इसमे लोक व्यवहार को काव्य का विषय बनाकर प्रस्तुत करने की ओर बल दिया गया है। यहाँ भी साहित्यिक कलात्मकता की दृष्टि ही प्रमुख है।

लोक व्यवहार की प्राप्ति : अनिष्ट का विनाश, राजाश्रय एव राजाओ की प्रशसा द्वारा उनका विश्वास-भाजन बने रहना, धर्मार्थ-काम-मोक्ष की प्राप्ति एवं शिवेतर मूल्यो से रक्षा अन्य काव्य प्रयोजन है। इन शास्त्रकारो की दृष्टि तत्कालीन परम्परा मे प्राप्त धार्मिक काव्यो पर भी पहुँची है। ये इसे अकाव्य

कहकर सम्बोधित करते है। उनके अनुसार उनका उद्देश्य धर्मप्रचार एव व्याधिरक्षा है। इस प्रकार सस्कृत साहित्य मे प्राप्त काव्य मूल्यो को दो भागो मे विभक्त किया जा सकता है।

काव्य विषयक कलात्मक मूल्य एव सामाजिक मूल्य सस्कृत काव्यो मे काव्य मूल्य प्रमुख है। आरम्भ मे कहा जा चुका है कि सस्कृत कवियो एव शास्त्रकारो की दृष्टि कलात्मक रही है। ये निरन्तर कलात्मक सजगता की ही चर्चा करते है। इस प्रकार इनका काव्यमूल्य कलात्मक सजगता से ही अनुप्राणित मिलता है। काव्य मे सामाजिक मूल्यो के अन्तर्भाव का जहाँ तक प्रश्न है, ये संस्कृत की काव्य परम्परा मे काव्यमूलकता के ही माध्यम से आए है। शुद्ध-काव्य-परम्परा मे निर्मित सस्कृत का कोई भी काव्य सामाजिक समस्या को आधार बनाकर नही प्रस्तुत किया गया है। रचना का उद्देश्य, वस्तु चयन एव वाह्यसामग्री आदि मे सर्वत्र कलात्मक सजगता ही दृष्टिगत होती है। जहाँ कही भी इन कवियो ने ऊपर कथित सामाजिक आदर्शों को अपने काव्य का आधार बनाया है, उसमे उनकी सामाजिक अरुचि ही अधिक दिखाई पडती है। लोकव्यवहार आदि के सामान्य उद्देश्य यत्र तत्र कथित या व्यंग्य रूप मे प्राप्त होते है।

हिन्दी वैष्णव भक्तिकाव्य की एतद्सम्बन्धी दृष्टि इससे काफी भिन्न है। वैष्णव भक्ति का आन्दोलन सामाजिक क्रान्ति से प्रभावित है। उसमे उच्चवर्गीय सामन्तवादी परम्परा से सन्धि एव प्रतिक्रिया दोनो तत्त्व यहाँ क्रियाशील है। हिन्दी वैष्णव भक्ति काव्य जन काव्य है। इस काव्य के मूल मे भक्ति है तथा भक्ति के मूल मे लोकसरक्षणवृत्ति। इस प्रकार भक्तिकाव्य का मूलस्रोत सामाजिक एव जीवनगत आदर्शो से परिव्याप्त है। भक्तिकाव्य मे प्रयुक्त जीवनगत आदर्श सस्कृत की काव्य परम्परा से नही आए है। इनके आगमन मे भक्ति ही एक मात्र सहायक रही है। इस दृष्टि से भक्ति तथा लोक संरक्षण की मूलवृत्ति पर आधारित भक्तिकाव्य सस्कृत की शुद्ध शास्त्रीय काव्य परम्परा से भिन्न है।

हिन्दी वैष्णव भक्तिकाव्य मे प्राप्त आदर्शो को तीन भागो मे विभक्त किया जा सकता है:

१. भक्ति सम्बन्धी आदर्श २ लोकादर्श ३ काव्यादर्श

भक्ति सम्बन्धी आदर्श एव लोकादर्श काव्यादर्श से भिन्न होकर उसकी

अभिव्यक्ति से ही सम्बन्धित है अर्थात् भक्तिकाव्य का काव्यादर्श भक्तिभावना एव लोकमंगल सम्बन्धी मान्यता से पुष्ट है।

भक्ति सम्बन्धी आदर्श : यह आदर्श इन कवियो की सैद्धान्तिक उपासना का मूलाधार है। ये भक्त थे और अपने काव्य द्वारा अपने आराध्य के गुण एवं लीलोपासना मे उन्मत्त रहना चाहते है, भक्तिरस की प्राप्ति, लीलागान, कृष्णरस का गान, आराध्य का गुण एव यशगान, भक्ति की प्राप्ति, ईश्वर के अनुग्रह की प्राप्ति, काव्य के द्वारा आत्मदर्शन आदि प्रयोजन इनकी साम्प्रदायिक साधना से ही सम्बन्धित है।

यह साम्प्रदायिक साधना मात्र सैद्धान्तिक नही है। इसमे काव्य के उच्चतम गुण निहित हैं। इस प्रकार के उद्देश्यो से प्रेरित काव्य मे इन कवियो का मधुर व्यक्तित्व खोजा जा सकता है। काव्यमूलकता की दृष्टि से इस प्रकार के साहित्य की गणना आत्मविषयक काव्य (Personal Poetry) के अन्तर्गत की जा सकती है। हिन्दी साहित्य के लिए यह कम गौरव की बात नही है कि इसका आरम्भ वस्तुनिष्ठ काव्य (Objective Poetry) से न होकर व्यक्तिनिष्ठ (Subjective Poetry) से होता है, इस काव्य परम्परा मे इनका साहित्यिक व्यक्तित्व सर्वत्र प्रधान है। यही कारण है कि रस एवं सौन्दर्यवादी सिद्धान्त की सम्पूर्ण सभावनाएँ भक्ति काव्य मे निहित है। इस दृष्टि से इसकी तुलना किसी सम्पन्न साहित्य से की जा सकती है।

लोकादर्श . लोकादर्श से तात्पर्य काव्य के द्वारा लोकोपयोगी मूल्यो के सस्थापन से है। इसके अन्तर्गत लोकहित, नैतिकता का प्रचार, कलिमल से उद्धार, आत्ममुक्ति, भौतिक एषणाओं से मुक्ति, चतुर्थ पुरुषार्थो की प्राप्ति एव त्रिदोष का विनाश आदि मूल्य आते है। भक्त कवियो ने अपने काव्य के माध्यम से इस प्रकार लोकसरक्षण की वृत्ति का पोषण किया है। इस लोक सरक्षण का आधार नैतिकता है। काट, साटायना आदि सौन्दर्यशास्त्रियो ने इसको सौन्दर्य का मूल्य नही स्वीकार किया है। उनका विचार है कि नैतिकता के समावेश से काव्यमूल्य का ह्रास होने लगता है। भक्त कवि काव्य का एकमात्र मानदड नैतिकता का पोषण बताते है। भक्तिकाव्य मे नैतिकता स्वतः साध्य न होकर जीवनगत मूल्यो की सरक्षक है। इस प्रकार भक्ति-काव्य मूल्यो की दृष्टि से जीवनगत आदर्शों का प्रबल समर्थक है। भक्त कवियो ने सस्कृत के काव्यादर्शो की ओर भी कही-कही संकेत किया है, किन्तु

उसके द्वारा वे काव्यमूल्य का पोषण नही चाहते। भक्त कवि अन्त तक इसके पक्षपाती बने रहे है कि उनके काव्य मे प्राप्त कलात्मक मूल्य भक्ति एवं लोक सरक्षण सम्बन्धी आदर्शो की पुष्टि के लिए है। उन्होने काव्यमूल्य को साधन के रूप मे स्वीकार किया है। भक्ति एव लोकसंरक्षण सम्बन्धी मूल्य इसके साध्य है। इस प्रकार भक्तिकाव्य मे निहित काव्यादर्शों की दृष्टि जीवनगत एव साहित्यिक मूल्यो के समर्थन के प्रति अधिक सजग दिखाई पडती है।

भक्तिकाव्य के साहित्यिक मूल्याकन के लिए भारतीय परम्परा मे प्राप्त रससिद्धान्त का अनुसरण करना अपेक्षित है। भक्तिकाव्य की परम्परा के सदर्भ मे कहा जा चुका है कि इसका सम्बन्ध शुद्ध काव्य से न होकर भारतीय काव्य की धार्मिक परम्परा से है। इस धार्मिक परम्परा के मूल्याकन के लिए कतिपय आचार्यों ने यहाँ प्राप्त रसात्मक प्रवृत्ति को भक्तिरस के नाम से सम्बोधित किया है। भक्तिरस की परम्परा का सकेत अभिनवगुप्त से प्राप्त होने लगता है। उनका विचार है कि भक्तिरस का अन्तर्भाव शान्त-रस मे कर लिया जाना चाहिए। डॉ० राघवन् का विचार है कि शान्तरस की कल्पना ६ ठी शताब्दी के आसपास की जा चुकी थी। जहाँ तक इससे सम्बन्धित लक्ष्य ग्रन्थो का प्रश्न है ये पहली शती के आसपास से ही मिलने लगते है। इस प्रकार स्पष्ट है कि परवर्ती काव्यशास्त्रीय परम्परा मे धार्मिक काव्य के काव्यशास्त्रीय मूल्याकन सम्बन्धी सजगता आरम्भ से ही मिलने लगती है। शान्तरस इसी शास्त्रीय सजगता का प्रतिफल है। इनके अनुसार इस प्रकार का साहित्य निर्वेद, वैराग्य, तृष्णाक्षय सुख आदि मनोभावो से प्रेरित होता है। तत्कालीन भक्ति सम्बन्धी धारणा भी पूर्णरूपेण वैराग्योन्मुखी ही थी।

वैष्णव भक्तिकाव्य के विस्तार के फलस्वरूप रस सम्बन्धी इस धारणा मे भक्त आचार्यों को परिवर्तन करना पडा। भक्ति वैराग्य से हटकर आसक्ति एवं प्रेम भाव पर आधारित हो गई। आराध्य की नामोपासना के स्थान पर लीला एव गुणोपासना को प्रश्रय मिला। आराध्य की लीला के भाव भक्ति एवं काव्य दोनो के भाव बने। इस लीला के क्षेत्र मे दास्य, सख्य, वात्सल्य एव श्रृंगार सम्बन्धी भाव मूलाधार थे। भक्ति के क्षेत्र मे जहाँ दास्य, सख्य, वात्सल्य एवं माधुर्य सम्बन्धी भावों का संगठन किया गया, वही काव्य मे भी इन्ही को केन्द्र विन्दु मानकर क्रमश दास्य, सख्य, वात्सल्य एव माधुर्य रस

की अवतारणा की गई। इस प्रकार भक्ति का अर्थ इन भावो की उपासना एव काव्य का अर्थ इनकी अभिव्यक्ति से लगाया गया। निष्कर्ष रूप मे भक्त कवि भक्तिरस को अपने काव्य का मूलाधार मानते है।

रस के सदर्भ मे हिन्दी के भक्त कवियो ने इसी दृष्टि का अधिकाश रूप से पालन किया है। उनके अनुसार रस का अर्थ आनन्द है। वे अपने काव्य मे लीलारस, कृष्णरस, प्रेमरस, उज्ज्वलरस, भक्तिरस आदि की निष्पत्ति चाहते है। इनका काव्य अधिकाश रूप मे इसी रस का पोषक है। इस प्रकार काव्य रस उनके अनुसार भक्ति रस ही है।

ऊपर कहे हुए लीला के चार भाव लौकिक सम्बन्धो पर ही आधारित है। लौकिक सम्बन्धो के ये भाव मनोवैज्ञानिक दृष्टि से सासारिक प्रियता के अंग है। भक्त कवि इन सम्बन्धो को कृष्ण के प्रति अर्पित करके उनका आध्यात्मीकरण करते हैं। इस प्रकार भक्ति रस मे प्राप्त लौकिक अनुभूति रस के स्तर पर आध्यात्मिकता से पुष्ट हो जाती है।

इसके अतिरिक्त भी भक्तिकाव्य मे काव्यरस विषयक मान्यताएँ मिल जाती हैं। इसके अन्तर्गत श्रृंगार, हास्य, करुण, अद्भुत, रौद्र, भयानक, वीर, वीभत्स सभी रस भक्तिकाव्य मे प्राप्त है। भक्त कवि अपने काव्य मे इन रसो को प्रमुखता नही प्रदान करते। उनके अनुसार ये लौकिक काव्य मे प्रयुक्त होने वाले भाव है। भक्तिकाव्य मे प्रयुक्त होने पर ये मात्र अगरस हो जाते हैं। भक्ति स्वत अगीरस है, शेष काव्यरस अग। रूपगोस्वामी ने भक्तिरसामृतसिन्धु मे काव्यरस को गौण रस के नाम से पुकारा है। मधुसूदनसरस्वती भी इसी धारणा के पोषक हैं।

भक्तिकाव्य मे प्राप्त काव्यदृष्टि के मूल्याकन के लिए इसका सौन्दयशास्त्रीय अध्ययन अपेक्षित है। धार्मिक परम्परा मे ब्रह्म को रसमय या आनन्दमय कहा गया है। रस एव आनन्द सौन्दर्यशास्त्र के अन्तिम मूल्य है। भक्तिकाव्य मे भी इसी आनन्द मूल्य का समर्थन मिलता है। रस का अर्थ भी इन कवियो ने आनन्द से ही लिया है। इस प्रकार भक्तिकाव्य पूर्णरूपेण आनन्द तत्त्व का समर्थन करता है। इस आनन्द के मूलाधार कृष्ण या राम है तथा साधन भक्ति है। इस आनन्द को प्राप्त करने का सापेक्षिक साधन भक्तिकाव्य है, क्योकि उसमे भक्ति की ही अभिव्यक्ति मिलती है। इस प्रकार भक्तिकाव्य का उच्चतम मूल्य आनन्द ही है। भक्तिकाव्य मे प्राप्त आनन्द स्वभाव की दृष्टि से तीन प्रकार का है—प्रेमानन्द, भक्त्यानन्द तथा लीला-

नन्द। प्रेमानन्द के आश्रय भक्त एव विषय कृष्ण है। इस प्रकार भक्ति-काव्य अवतारी ब्रह्म के लीलानन्द से परिपूर्ण है।

इस आनन्द से पृथक् भी भक्तिकाव्य मे सौन्दर्य सिद्धान्त के अन्य मूल्य भी दृष्टिगत होते हैं। इनमे उदात्त (Sublime), प्रियता (Affection) एव प्रेम (Love) सम्बन्धी भाव पूर्णरूपेण भक्तिकाव्य को आच्छन्न किए हुए है। उदात्त भाव का प्रयोग भक्तिकाव्य मे इष्ट या आराध्य की शक्तिमत्ता एवं आसुरी शक्तियो की प्रचडता के सदर्भ मे हुआ है। इसका अवसान आनन्द, पुलक, रोमाच, अश्रुपतन, हर्ष, धृति आदि मनोभावो मे होता है। भक्तिकाव्य मे प्रियता सम्बन्धी भाव अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। रूपगोस्वामी ने इस प्रियता का समावेश दास्य, सख्य, एव वात्सत्य रस के अन्तर्गत किया है। भक्तिकाव्य में प्रयुक्त ये भाव मूलरूपेण मानव सम्बन्धो एवं आसक्तियो पर निर्भर है। भक्तिकाव्य मे ठीक इन्ही आसक्तियो की प्रियता के रूप मे इनकी अभिव्यक्ति हुई है। भक्तिकाव्य मे प्रयुक्त इस लौकिक प्रियता का आध्यात्मीकरण भी किया गया है। इसी आध्यात्मीकरण की प्रवृत्ति के कारण यह भक्तिरस का पोषक बना है। भक्तिकाव्य मे प्रयुक्त प्रेम का स्वरूप शास्त्रीय एव स्वच्छन्द दोनो है। प्रेम के इन दोनो स्वरूपो को कवि आध्यात्मिक भाव के द्वारा पुष्ट करता है। इस प्रकार प्रेम सम्बन्धी आध्यात्मिक भाव भक्तिकाव्य मे माधुर्य रस बन गया है।

भक्तिकाव्य के काव्यशास्त्रीय सिद्धान्त का तीसरा अग उपयोगिता-वाद है। भक्तिकाव्य की रचना कलात्मक उद्देश्य की पूर्ति के लिए नही हुई है। काव्य मे साहित्यिक मूल्य से अधिक महत्त्वपूर्ण जीवनगत मूल्य है। जीवन-गत मूल्य के अनेक आदर्श भक्तिकाव्य मे निहित है। समाज मे नैतिकता की पुष्टि, धार्मिकता का प्रचार, कलि-कलुष का विनाश, उच्चतम शुभ मूल्यो की समाज मे स्थापना, लोकहित एव मानव की संरक्षा इस उपयोगितावादी सिद्धान्त के मूल मे है।

सामाजिक एव वैयक्तिक उपयोगितावाद की धारणा का स्फुट सकेत सस्कृत की शुद्ध काव्य परम्परा मे मिलता है। संस्कृत कवियो की दृष्टि मे उपयोगिता का अर्थ मात्र लोकोपदेश का शिक्षण एवं धनार्जन था। धनार्जन वैयक्तिक उपयोगिता का अग था और लोकोपदेश सामाजिक। इस सामा-जिकता के अन्तर्गत उच्च सामन्तवादी वर्ग की प्रमुखता थी क्योकि उनका उद्देश्य संस्कारच्युत राजकुमारो को सस्कृत करना था। किन्तु इस काव्य से

पृथक् धार्मिक काव्य मे उपयोगिता सम्बन्धी सिद्धान्त की सम्पूर्ण सभावनाएँ निहित थी। भक्त कवियो ने धार्मिक काव्य मे निहित उपयोगिता सम्बन्धी सिद्धान्तो कापूर्णरूपेण लाभ उठाया है।

उपयोगिता काव्यमूल्य है कि नही इसके विषय मे केवल कलावादी आचार्य भी सशय करते है। हिन्दी के भक्तकवि पूर्णरूपेण उपयोगितावादी काव्य मूल्य से प्रभावित है। यह उपयोगिता सम्बन्धी सिद्धान्त वैयक्तिक स्वार्थ एव उदरपूर्ति से प्रभावित नही है। इस सिद्धान्त मे रचनात्मक मनोवृत्ति के अन्तर्गत उत्पन्न होने वाले सामाजिक रचना के प्रति असन्तोष, राजनीतिक वातावरण के प्रति कुरुचि, सामाजिक सगठन का उदात्तीकरण, जन्मजात मानव प्रवृत्तियो का परिशोधन, भौतिकता का त्याग, अनाचारगत मूल्यो के प्रति विराग आदि भाव निहित हैं। इस प्रकार भक्तिकाव्य काव्यशास्त्रीय दृष्टि से उच्चतम सामाजिक मूल्यो का पोषक है। इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि भक्तिकाव्य मे प्रयुक्त मूल्यो की दृष्टि द्विधा है। वह एक ओर शुद्ध साहित्यिक है एव दूसरी ओर जीवनगत। आदर्शों से सम्बन्धित भक्तिकाव्य की मूल व्यजना ही यही है कि यहाँ का साहित्यिक मूल्य जीवनगत मूल्यो का पोषक है। भक्तिकाव्य के काव्यशास्त्रीय अध्ययन से इसकी पुष्टि और भी अधिक हो उठती है।

सस्कृत का रससिद्धान्त शुद्ध काव्य के लिए स्वत साध्यमूल्य है। वह अपने स्पष्टीकरण के लिए काव्य के अन्य तत्त्वो का आधार या साधन के रूप मे ग्रहण करता है। ध्वनिवादी आचार्य इसीलिए काव्य के अन्य तत्त्वो अलकार, वक्रोक्ति एव रीति आदि को रस तत्त्व का साधन बताते हैं। सस्कृत काव्य मे प्राप्त रस साध्य है। हिन्दी वैष्णव भक्तिकाव्य मे प्रयुक्त काव्यशास्त्रीय रस भक्तिकाव्य एव तत्सम्बन्धी मान्यताओ का पोषक है। तुलसी जैसे सजग उपयोगितावादी कवि के काव्य मे शृगार को नैतिक उपयोगिता का अंग बनाना पडता है। यही नही, लीला मे निहित माधुर्य विषयक शृगार आनन्द का साधक है। इस प्रकार संस्कृत का काव्यशास्त्रीय रस भक्तिकाव्य मे उच्चतम काव्यमूल्य को पुष्ट करने के लिए साधन के रूप मे प्रयुक्त है।

अलंकार के विषय मे भी ठीक यही स्थिति यहाँ दिखाई पडती है। भक्तिकाव्य मे प्रयुक्त अलकारो का स्वरूप बहुत कुछ शुद्ध संस्कृत काव्य की ही भाँति है। किन्तु जहाँ तक इनके प्रयोग का प्रश्न है भक्त कवि इस विषय मे पूर्णरूप से सजग मिलते है। वे अलकार का प्रयोग रूपनियोजन

गुणकथन, शृंगार निरूपण, नैतिक कथन, भक्ति की पुष्टि, कल्पनात्मक अभिव्यक्ति आदि के सदर्भ मे करते है। किन्तु यहाँ प्रयोग की दृष्टि मे मूल अन्तर वर्तमान है। सस्कृत काव्य मे अलकरण वृत्ति की सर्वाधिक विशेषता चमत्कृति से सम्बद्ध थी। रूप नियोजन, गुणकथन आदि मे चमत्कारिक व्यजना का प्रदर्शन करना कवि अपना मूल उद्देश्य समझता था। अलकारो के अध्ययन के सदर्भ मे कहा जा चुका है कि भक्तिकाव्य मे ये साधन के रूप प्रयुक्त है। इनका मूल उद्देश्य चमत्कार उत्पन्न करना न होकर वस्तुस्थिति को स्पष्ट करना ही है। इस वस्तु के अन्तर्गत भक्ति, भक्त एवं आराध्य के माहात्म्य, गुणकथन आदि भक्तिकाव्य के विषय सन्निविष्ट है।

वक्रोक्ति एवं ध्वनिकाव्य की दृष्टि से भी भक्त कवि सस्कृत की काव्य परम्परा से पृथक् मात्र अपने मूल उद्देश्य की पूर्ति के लिए ही इनका प्रयोग करते है। भक्तिकाव्य मे प्रयुक्त वक्रोक्ति एवं ध्वनि सम्बन्धी मान्यताएँ काव्यमूल्य का समर्थन करती ही है। साथ ही इनका मूल उद्देश्य भक्तिकाव्य मे निहित उपयोगिता सम्बन्धी मूल्य का समर्थन करना है। निष्कर्ष रूप से कहा जा सकता है कि भक्तिकाव्य मे निहित शैलीगत मूल्य के ही अन्तर्गत ध्वनि आदि सिद्धान्त आते है। वे यहाँ साध्य नहीं है। भक्तकवि रूढिगत काव्यशास्त्रीय मान्यताओ की पुनरावृत्ति एव पिष्टपेषण मे विश्वास नही रखते। उनके अनुसार शैलीगत मूल्य काव्य के लिए यद्यपि आवश्यक है, किन्तु साधन के रूप मे ही। उनकी साध्यता से काव्य के मूल उद्देश्य को क्षति पहुँच सकती है। इस प्रकार शैलीगत मूल्यो का समाहार मूल उद्देश्य के सरक्षण मे हो जाता है।

जहाँ तक काव्य रूप का प्रश्न है हिन्दी वैष्णव भक्त कवियो की दृष्टि काव्यशास्त्रीय परम्परा मे प्राप्त रूढमूल्यो के पालन मे ही नही सजग रही है। मध्यकाल तक पहुँचते-पहुँचते अनेक स्वतत्र काव्यरूपो का निर्माण हो चुका था। मुक्तक या लौकिक परम्परा मे स्वीकृत अनेक सरलतम काव्य-रूप धार्मिक काव्यपरम्परा मे पूर्णरूपेण स्वीकृत हो चुके थे। वे सस्कृत के काव्यशास्त्रीय लक्षणो को 'इदमित्थ' मात्र नही स्वीकार करते थे। इनके काव्य का मूल उद्देश्य लोक रचना से सम्बन्धित था। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए इन्होने ऐसे काव्यरूपो को ग्रहण किया जो लोकजीवन मे प्रचलित थे या फिर अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए उनके लक्षणो मे किंचित् संशोधन करके उन्हे ही अपनाया। काव्यरूप के सम्बन्ध मे भक्तिकाव्य मे यही दो

प्रकार की दृष्टियाँ उपलब्ध है।

इस प्रकार मौलिकता की दृष्टि से भक्ति काव्य का भारतीय काव्य-जगत मे अपना स्वतत्र अस्तित्व है। यह परम्परा की दृष्टि से भी सस्कृत की काव्य परम्परा से अधिक प्राचीन है। इसका सम्बन्ध काव्य की धार्मिक परम्परा से था। शास्त्रीय काव्यो के प्रणयन से इस परम्परा को अधिक हानि उठानी पडी थी। किन्तु धार्मिक पुनर्संगठन एवं भक्ति सम्प्रदायो के पुष्ट हो जाने पर यह साहित्य पुन विकसित हुआ। मध्यकाल के उत्तरार्द्ध मे इसने हिन्दी क्षेत्र को ही नही अपितु सम्पूर्ण भारत के साहित्यिक सृजन को प्रभावित किया। विशेष रूप से हिन्दी क्षेत्र मे यह आन्दोलन इतना सशक्त रहा कि बीसवी शती के उत्तरार्द्ध तक इसकी परम्परा बनी रही। इस प्रकार इस परम्परा का मूल्याकन सस्कृत काव्यशास्त्र की शास्त्रीय पद्धति से नही किया जा सकता है क्योकि इसमे जिन मूल्यो का स्वीकरण मिलता है, सस्कृत काव्य शास्त्र के लिए वे सामान्य है। दूसरी ओर काव्यमूल्यो द्वारा सस्कृत के काव्यशास्त्री जिन मूल्यो को काव्य का उच्चतम गुण मानते है, भक्तिकाव्य के लिए वे अति सामान्य है। यदि शास्त्रीय शब्दावली मे कहा जाय तो कहा जा सकता है कि भक्त कवियो ने सस्कृत काव्यशास्त्रीय सिद्धान्त के शैलीगत एवं विषयगत मूल्यो को साधन-रूप मे स्वीकार करके अपने सिद्धान्तो की पुष्टि की है। इस दृष्टि से हिन्दी वैष्णव भक्ति काव्य, सस्कृत काव्य एव उसकी काव्यशास्त्रीय दृष्टि का गतानुगतिक नही है। इसमे स्वतत्र सिद्धान्त नियोजन की सम्पूर्ण अर्हताएँ वर्तमान है।

—०❀०—